कामायनी में काव्य, संस्कृति
और दर्शन

चिर संचित स्नेह और वात्सल्य की करुण-मूर्ति

परम पूज्य स्वर्गीय पितृदेव

की

पुनीत स्मृति को

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

मुझे यह जानकर अतीव हर्ष है कि 'कामायनी' के जिज्ञासु पाठकों को इस कृति से पर्याप्त सहायता मिली है। इसमें परिवर्तन एवं परिवर्द्धन करने का साहस तो नहीं कर सका हूँ, किन्तु जहाँ-तहाँ जो कुछ त्रुटियाँ रह गई थीं और जिनकी ओर विज्ञ पाठकों ने संकेत किए थे, उन्हें दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न किया है। आशा है, उदार पाठक इसी भाँति मुझे मेरी त्रुटियों से अवगत कराते रहेंगे और मेरी साधारण कृतियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते रहेंगे। प्रथम संस्करण के प्रति इतनी सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए मैं अपने सभी पाठकों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

हिन्दी-विभाग,
एन० आर० ई० सी० कॉलिज,
खुरजा
वसंत पंचमी, सं० २०१९ वि०

द्वारिकाप्रसाद

दो शब्द

'कामायनी' हिन्दी के गौरव ग्रन्थो में से है। इसमें भावों और विचारो का एक अपूर्व सामंजस्यपूर्ण गुम्फन होने के कारण यह पुस्तक एक साथ सरस और सारगर्भित बन जाती है। यद्यपि रसात्मकता काव्य का व्यावर्तक गुण है, तथापि विचारात्मकता भी एक आवश्यक गुण है। विचारों के बिना भाव खोखले रह जाते हैं और भावो के बिना विचार शक्तिहीन और पंगु रह जाते हैं। भावों और विचारो के इसी सामंजस्य को पुष्ट करने के लिए ही 'काव्य-प्रकाश' में 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' नाम का काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया गया है। 'कामायनी' मे श्रद्धा द्वारा इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के समन्वय का उपदेश तथा उसके ही द्वारा शिव अर्थात् कल्याण का मार्ग-दर्शन 'काव्यप्रकाश' की 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' वाली उक्ति को विशेष रूप से चरितार्थ करते हैं।

इस पुस्तक मे कवित्व के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शन—विशेषकर काश्मीर-शैव-दर्शन की भी अच्छी झाँकी मिलती है। डा० द्वारिका प्रसाद ने काव्य, संस्कृति और दर्शन रूपी त्रिवेणी की पवन धाराओ का अपनी इस आलोचनात्मक पुस्तक मे विश्लेषण कर हमको कामायनी काव्य का निकट और गम्भीर परिचय कराया है। यह पुस्तक मेरे निर्देशन मे आगरा विश्व-विद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के रूप मे उपस्थित की गई थी और इस पर लेखक को डॉक्टरेट् की उपाधि भी मिली है। इसका मूल्य इस उपाधि में तो है ही, किन्तु उससे अधिक कामायनी के स्रोतों की खोज मे है, जिनसे मूलकथा सम्बन्धी हमारे ज्ञान की वृद्धि हुई है। गगा-स्नान का पूरा फल गंगोत्री के जल को रामेश्वरम् तक ले जाने मे है। यद्यपि इस पुस्तक मे कामायनी का ही विशेष अध्ययन है, तथापि प्रसादजी की प्रतिभा का विकास देखने और उनके विचारो की अन्तिम परिणति कामायनी में दिखाने के लिए प्रसङ्गवश प्रसाद-साहित्य के अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेख हुआ है। किसी एक पुस्तक का एकाकी रूप मे अध्ययन नहीं हो सकता। कामायनी के अध्ययन

के लिए जितनी दार्शनिक पृष्ठभूमि चाहिए, उसको उपस्थित कर लेखक ने उसके अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन और शैवागमों के ज्ञान का दिग्दर्शन कराया है, जो प्रसादजी द्वारा प्रतिपादित समरसता आदि दार्शनिक सिद्धान्तो के समझने मे सहायक होगा। दर्शन और संस्कृति के अध्ययन के साथ काव्यशास्त्र की दृष्टि से 'कामायनी' के भावपक्ष और कलापक्ष का भी विश्लेषण हुआ है।

यह पुस्तक विद्यार्थियो के लिए उपयोगी तो है ही, किन्तु इससे 'कामायनी' के रसिक मर्मज्ञो को काव्यास्वादन मे भी सहारा मिलेगा। मुझे आशा है कि यह पुस्तक प्रसाद के ऊपर लिखे गये साहित्य में अपना उचित स्थान पायेगी।

गोमती-निवास,
आगरा
मकर-संक्रान्ति, २०१४ वि०

गुलाबराय

प्राक्कथन

खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थो मे 'कामायनी' का महत्वपूर्ण स्थान है। यह महाकाव्य हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग की एक प्रतिनिधि रचना है। इसे प्रकाशित हुए आज लगभग बीस वर्ष हो चुके है और विद्वान् आलोचको ने इस महाकाव्य की गूढ ग्रन्थियो को सुलझाने तथा इसके काव्य-सौष्ठव को स्पष्ट करने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है। परन्तु इस महाकाव्य की गूढता एवं गहनता की तुलना मे ये सब प्रयत्न अपर्याप्त है। 'कामायनी' सम्बन्धी जितनी आलोचनाएँ अब तक प्रकाशित हुई हैं, उनमे से कुछ तो पत्र-पत्रिकाओ मे मुद्रित छोटे-छोटे लेखो के रूप मे मिलती हैं और कुछ स्वतन्त्र पुस्तकाकार रूप मे भी उपलब्ध है। इनमे से छोटे-छोटे लेख तो आकार मे सीमित होने के कारण 'कामायनी' के साथ पूर्णतया न्याय नही कर सके हैं। इसी कारण न तो उन लेखो मे लिखित आलोचनाएँ वैज्ञानिक हैं और न उनमे 'कामायनी' के सर्वाङ्गीण स्वरूप को समझाने का ही प्रयत्न हुआ है। इनके अतिरिक्त पुस्तकाकार प्रकाशित आलोचनाओ मे से 'कामायनी-अनुशीलन', 'कामायनी-सौन्दर्य', 'कामायनी-दर्शन', 'कामायनी और प्रसाद की कविता-गगा', 'प्रसाद-काव्य' आदि प्रमुख हैं। ये सभी ग्रन्थ अपना-अपना महत्व रखते हैं और इन्होंने 'कामायनी' के अध्ययन को पर्याप्त गति प्रदान की है। यद्यपि इन ग्रन्थो मे 'कामायनी' के प्रतिपाद्य विषयो मे से बहुत कुछ अशो को ले लिया है, फिर भी उनके सागोपांग वर्णन मे बहुत कुछ अपेक्षित रह गया है। अधिकाश लेखकों का ध्यान 'कामायनी' के काव्यत्व को स्पष्ट करने की ओर ही गया है, किन्तु उन्होने 'कामायनी' की पृष्ठभूमि, उसकी कथा के विविध स्रोत, युगयुगीन काव्य-धारा मे उसका स्थान, उसमे वर्णित भारतीय सस्कृति, मनोविज्ञान, दार्शनिकता आदि का सम्यक् निरूपण नही किया है। अत इन सभी अभावो को ध्यान मे रखकर उनकी पूर्ति के लिए ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध (Thesis) मे 'कामायनी' के सर्वाङ्गीण स्वरूप का अध्ययन उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

यह शोध-प्रबन्ध सात प्रकरणों मे विभक्त है। इनमे से प्रथम प्रकरण मे प्रसादजी की प्रामाणिक सक्षिप्त जीवनी एव उनके व्यक्तित्व का निरूपण करते हुए उनकी बहुमुखी प्रतिभा से सम्बन्धित उन मूल प्रवृत्तियों एव प्रेरणाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जो उनके काव्य की जीवनधारायें रही हैं, जिनसे उनका समस्त साहित्य अनुप्राणित है और जिनका किसी एक ग्रन्थ मे ही सर्वाङ्गीण स्वरूप अङ्कित करने के लिए 'कामायनी' महाकाव्य की अवतारणा हुई है। इस प्रकरण मे प्रसाद-साहित्य के अन्तर्गत आए हुए युग-सघर्ष के स्वरूप का प्रदर्शन करते हुए यह भी सकेत किया गया है कि प्रसादजी अपने युग की समस्त प्रगतिशील गति विधियो स परिचित थे तथा वे एक युग-प्रवर्त्तक महा कवि थे। प्रसादजी की इन प्रेरणाओं एव प्रवृत्तियो का अध्ययन 'कामायनी' की रचना के मनोवैज्ञानिक आधार को समझने म सहायक होगा। यह अध्ययन इस दिशा मे एक नवीन और मौलिक प्रयास है।

द्वितीय प्रकरण में 'कामायनी' की कथावस्तु के विभिन्न स्रोतो का परिचय दिया गया है। इनमे से कुछ का उल्लेख तो 'कामायनी' के 'आमुख' में स्वय प्रसादजी ने ही कर दिया है। परन्तु कुछ कथा-स्रोतो के बारे में मौन रहे हैं। इस प्रकरण में भारतीय एव भारतेतर ग्रन्थो मे जहाँ भी कथा के सकेत मिले हैं, उन सभी का सकलन करते हुए मूल-कथा के परिवर्त्तन एव परिवर्द्धन के बारे में भी विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। साथ ही उन स्रोतों के आधार पर 'कामायनी' की कथावस्तु में अन्विति स्थापित करने का भी प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त 'कामायनी' के पात्रो की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निरूपण करते हुए उनके चारित्रिक विकास का भी क्रम-बद्ध उल्लेख किया गया है। इस प्रकरण में कथा के मूल-स्रोतो की खोज एव अन्विति की स्थापना में अन्य आलोचना-ग्रन्थो की अपेक्षा पाठकगण नवीनता भी पा सकते है।

तृतीय प्रकरण म 'कामायनी' के प्रबन्धकाव्यत्व, महाकाव्यत्व, रूपकत्व आदि का सागोपाग विवेचन किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि यह काव्य विविध स्फुटकल पद्यो का सकलन नही है, अपितु आदि, मध्य और अवसान से युक्त विस्तृत ऐतिहासिक कथा के आधार पर लिखा गया है, जिसमें महाकाव्य की सी विस्तृत परिधि, सरसता, रमणीयता, प्रतीकात्मकता आदि अनेक विशेषताएँ विद्यमान है। इतना ही नही, इस प्रकरण में कामायनी की सौन्दर्यानुभूति, सौंदर्य-विधान, सौंदर्य और रस आदि का पाश्चात्य एव भारतीय दृष्टिकोण से अध्ययन करते हुए उनका मूल्याकन भी किया गया है। अत भाव-पक्ष के निरूपण में यहाँ पाठकगण नवीन वैज्ञानिक प्रणाली को देख सकते है।

चतुर्थ प्रकरण मे 'कामायनी' के कला-पक्ष का सागोपाङ्ग अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस प्रकरण मे 'कामायनी' के शब्द-विधान, स्वर-विधान, अलकार, शब्द-शक्ति, औचित्य, वक्रोक्ति, छंद-विधान आदि का सम्यक् निरूपण करते हुए 'कामायनी' के कतिपय काव्यगत दोषो का भी उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, अन्त मे युगीन एव युगयुगीन साहित्य की पृष्ठभूमि मे 'कामायनी' का मूल्याकन करते हुए विश्व-साहित्य में उसका स्थान भी निर्धारित किया है। अभी तक विद्वानो ने 'कामायनी' को विश्व के महाकाव्यों के समकक्ष तो बतलाया था, परन्तु अपने कथन की पुष्टि के लिए विश्लेषणात्मक विवेचन नही किया था। इस प्रकरण मे उक्त अभाव की पूर्ति करते हुए युगीन एवं युगयुगीन काव्यो की विशेषताओ के आधार पर 'कामायनी' का मूल्याकन किया गया है। इतना अवश्य है कि यहाँ पर 'कामायनी' के कथानक, चरित्र-चित्रण आदि की तुलना विश्व के महाकाव्यो से नही की है। इसका मुख्य-कारण यह है कि ये बाते 'कामायनी-सौन्दर्य' और 'प्रसाद-काव्य' में आ गई है। अत: यहाँ अनावश्यक विस्तार से बचने के लिए केवल 'विश्व-काव्य' की विशेषताओ के आधार पर ही 'कामायनी' का स्थान निर्धारित किया गया है।

पचम प्रकरण मे 'कामायनी' के सास्कृतिक पक्ष का विस्तृत अध्ययन किया गया है। 'कामायनी' का एक विशेष जीवन-दर्शन है और उसके द्वारा भारतीय सस्कृति के मूल रूपो का उद्घाटन हुआ है। किन्तु विद्वानो द्वारा अभी तक इस पक्ष की पूर्णतया उपेक्षा की जा रही थी। यहाँ भारतीय सस्कृति के सर्वाङ्गीण स्वरूप का अध्ययन करते हुए तत्सम्बन्धी उपेक्षा का परिमार्जन किया है तथा कामायनी के सास्कृतिक महत्व एव उसकी सास्कृतिक देन का सम्यक् निरूपण किया गया है। अतः पाठकों को इस प्रकरण में भी लेखक के मौलिक प्रयास के दर्शन हो सकते हैं।

षष्ठ प्रकरण 'कामायनी' के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को प्रस्तुत करता है। इसमे भारतीय एव पाश्चात्य दृष्टिकोणो से मन का निरूपण करते हुए 'कामायनी' मे मन के क्रमिक विकास का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त फ्राइड के मनोविश्लेषण सम्बन्धी सिद्धान्तो के आधार पर 'कामायनी' के मनोवैज्ञानिक वर्णनो का मूल्याकन करते हुए काम, इच्छा, क्रिया, ज्ञान आदि के स्वरूपों का भी विश्लेषण किया गया है। अन्त में यह भी सिद्ध किया है कि ज्ञान-प्राप्ति मे केवल श्रद्धा या केवल बुद्धि (इडा) का ही सहयोग पर्याप्त नहीं होता, अपितु दोनो के सापेक्ष सहयोग द्वारा ही मानव को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस अध्ययन से पाठको को 'कामायनी' मे आए हुए तत्तद् वृत्तियो के

वर्णनों को समझने में सहायता मिलेगी और इस सम्बन्ध में पाठकों के ज्ञान का भी विस्तार होगा।

सप्तम प्रकरण में 'कामायनी' के दार्शनिक विचारों का निरूपण किया गया है। इस प्रकरण में निगम और आगमों का स्वरूप समझाते हुए शैवागमों के आधार पर विकसित प्रत्यभिज्ञादर्शन की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है और यह भी बतलाया गया है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों का 'कामायनी' में किस तरह निरूपण हुआ है। प्रायः शैवागमों का अध्ययन हिन्दी-पाठकों के लिए अछूता-सा रहा है। इस प्रकरण में मूलशैवागमों एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन के आधार पर 'कामायनी' की दार्शनिकता का अध्ययन करके प्राचीन एवं आधुनिक दार्शनिक विचारधाराओं एवं आधुनिक विज्ञान के सहारे 'कामायनी' की दार्शनिक देन का जो उल्लेख किया गया है, वह अन्य आलोचना-ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न एवं नवीन है। इस अध्ययन द्वारा 'कामायनी' की दार्शनिक गुत्थियाँ सुलझाने और पारिभाषिक शब्दावली के समझने में पाठकों को पर्याप्त सहायता मिलेगी।

अन्त में 'उपसंहार' के अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि 'कामायनी' में प्रसादजी के विचारों का चरम विकास किस भाँति दिखाई देता है। इसके साथ ही विश्व-मानव के लिए 'कामायनी' में जो जीवन-सन्देश छिपा हुआ है, उसे भी यहाँ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह जीवन-सन्देश काव्य की उपयोगिता और उसके नैतिक मूल्य पर प्रकाश डालने में पर्याप्त सहायक हो सकता है। इस तरह अपने इस शोध-प्रबन्ध में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कतिपय दोषों के रहते हुए भी 'कामायनी' महाकाव्य आधुनिक युग की एक महान् कृति है और 'रामचरितमानस' के उपरान्त हिन्दी-साहित्य के महाकाव्यों में यही एक ऐसी रचना है, जिसकी गणना विश्व-साहित्य के श्रेष्ठ-ग्रन्थों में की जा सकती है।

अपने इस शोध-कार्य के करने में मुझे जिन महानुभावों से पूर्ण प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त हुई है, उनमें से सर्वप्रथम स्थान हिन्दी-जगत के सुप्रसिद्ध साहित्यकार बाबू गुलाबराय, एम० ए०, डी० लिट्० का है। मैंने आपके निर्देशन में रहकर ही इस कार्य को पूर्ण किया है। आपने मेरे अध्ययन का मार्ग-निर्देश ही नहीं किया है, अपितु सभी प्रकार की सहायता एवं सुविधायें प्रदान करने की भी कृपा की है। इस शोध-कार्य के करने में समय-समय पर जो-जो कठिनाइयाँ मेरे सामने उपस्थित हुई, उनको दूर करने तथा अपने सत्परामर्श द्वारा मार्ग-निर्देश करने में आपने मेरी बड़ी सहायता की है। इतना ही नहीं, प्रस्तुत पुस्तक के लिए भूमिका के रूप में 'दो शब्द' लिखकर भी मुझे कृतार्थ किया है। अत

आपकी इन सभी अनुकम्पाओ के लिए मैं आपके प्रति हृदय से आभार प्रदर्शन करता हूँ।

आपके अतिरिक्त जिन विद्वानों ने इस शोध-कार्य में मेरी सहायता की है, उनमे से प्रमुख स्थान काशी के सुप्रसिद्ध लेखक, कवि और कलाकार श्रीयुत रायकृष्णदास जी का है, जिनके समीप जाकर मुझे प्रसादजी के जीवन-दर्शन एव कामायनी की प्रेरणा के मूल-स्रोतों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हुआ है। अत आपके प्रति भी हृदय से कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। इसके साथ ही काशी के अन्य साहित्यकारो में से प्रसादजी के प्रिय सखा श्री विनोदशंकर व्यास, प्रसादजी के प्रिय मित्र एव अन्तेवासी डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा, प्रसादजी के प्रिय पुत्र श्री रत्नशकर, काशी विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री पद्मनारायण आचार्य तथा डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, भारती भंडार के प्रबधक श्री वाचस्पति पाठक, हिन्दी के सुप्रसिद्ध कोशकार श्री रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी के सुप्रसिद्ध हास्य-कवि श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड 'बेढब बनारसी' से प्रसादजी की जीवन-चर्या, उनकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ, उनका स्वभाव, आचरण, विषय-ज्ञान, मित्र-गोष्ठी, पर्यटन आदि के बारे मे पर्याप्त जानकारी प्राप्त हुई है। इसके लिए भी मैं इन सभी महानुभावो का हृदय से आभारी हूँ। इनके अतिरिक्त आगरे के गण्यमान्य विद्वानो मे से सर्वश्री पडित कैलाशचन्द्र मिश्र, डा० रामविलास शर्मा, डा० सत्येन्द्र, डा० टीकमसिंह तोमर तथा डा० उदयभानुसिंह ने प्रस्तुत शोध-प्रबंध की पांडु-लिपि देखने एवं सत्परामर्श देने का कष्ट उठाया है। एतदर्थ इन सभी विद्वानो के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

शैवदर्शन सम्बन्धी गुत्थी को सुलझाने मे भारत के गण्यमान्य विद्वान् एव तंत्र-साहित्य के विशेषज्ञ महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज, भूतपूर्व प्रिंसीपल, गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, वाराणसी तथा डा० कान्तिचन्द्र पांडेय, प्राध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय के सत्परामर्शों से जो मुझे सहायता प्राप्त हुई है, इसके लिए उनके प्रति भी हृदय से आभार प्रदर्शित करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ।

इसके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, वाराणसी, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा; आगरा विश्वविद्यालय, सेंट जान्स कॉलेज आगरा, बलवन्त राजपूत कॉलेज आगरा, चिरंजीव पुस्तकालय आगरा, श्री श्वेताम्बर जैन पुस्तकालय आगरा, जौंस पब्लिक लाइब्रेरी आगरा आदि के प्रबन्धकों, अधिकारियो एव कर्मचारियो के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता

प्रकट करता हूँ, जिन्होंने अपने-अपने पुस्तकालयों से उपयोगी सामग्री देखने की अनुमति एवं सुविधायें प्रदान करके इस शोध-कार्य में मेरी पर्याप्त सहायता की है।

अन्त में मैं उन सभी महानुभावों एवं इष्ट मित्रों को धन्यवाद देता हूँ, जिनकी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहायता मुझे प्राप्त हुई है तथा जिनके शुभ आशीर्वाद एवं शुभ कामनाओं से मेरा यह शोध-कार्य सम्पन्न होकर प्रकाशित रूप में आज पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। यदि कामायनी का आस्वादन करने वाले रसिक पाठकों को इससे किंचिन्मात्र भी सहायता प्राप्त हुई, तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूँगा।

बलवन्त राजपूत कॉलेज,
आगरा
वसन्त पंचमी, २०१४ वि०

द्वारिकाप्रसाद

विषय-सूची

प्रकरण १

कामायनी की प्रेरणा और पृष्ठभूमि

प्रसादजी का जीवन-वृत्त

वंश-परिचय—जयशंकर प्रसाद का जन्म माघ शुक्ल दशमी सं० १६४६ मे काशी के गोवर्द्धन सराय नामक मुहल्ले के अन्तर्गत एक प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज हलवाई वैश्य परिवार मे हुआ था। इनके पूर्वज पहले गाजीपुर जिले मे सैदपुर नामक स्थान पर रहा करते थे।[1] वहाँ ये लोग चीनी का व्यापार करते थे, परन्तु दुर्भाग्य मे उस व्यापार में हानि हो जाने के कारण प्रसाद जी के वंश के प्रथम व्यक्ति श्री जगनसाहु सैदपुर को छोड़कर काशी चले आये। जगनसाहु के के दो पुत्र थे—गुरुसहायसाहु तथा गनपतसाहु। काशी मे आकर इन लोगो ने सबसे पहले टेढ़ीनीम हौज कटरा में एक मकान किराये पर लिया और वहीं पर एक छोटी सी तम्बाकू की दूकान खोली। गुरुसहायसाहु के एक ही लड़का हुआ, जिसका नाम गोवर्द्धनसाहु था। सं० १८२० मे गनपतसाहु तथा गोवर्द्धनसाहु ने मिलकर एक फर्म की स्थापना की, जिसका नाम "गनपतसाव-गोवर्द्धनसाव" रखा गया। गुरुसहाय की मृत्यु हो जाने पर दोनो

१—श्री रायकृष्णदास जी ने प्रसादजी के पूर्वजों को मूलतः जौनपुर का निवासी बतलाया है (देखिए, हिमालय, अंक १०, सं० २००२, पृ०, २) और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने उन्हें कानपुर का निवासी कहा है (देखिए, जयशंकरप्रसाद, पृ० १६१)। परन्तु प्रसादजी के पुत्र श्री रत्नशंकर से मिलने तथा डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा द्वारा लिखित 'प्रसादजी के संस्मरण' की पांडुलिपि के आधार पर प्रसादजी के पूर्वजों का जो प्रामाणिक विवरण प्राप्त हुआ है वही यहाँ दिया गया है।

चाचा भतीजे अलग होगये और फर्म का भी बटवारा होगया। गुरुसहाय के पुत्र गोवर्द्धनसाहु के दो लडके हुए—रामप्रसाद और गगूसाहु। गगूसाहु निस्सतान रहे और रामप्रसाद के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम राजारामसाहु था, परन्तु राजारामसाहु के भी निस्सतान रहने के कारण गुरुसहायसाहु वाली शाखा का यही अन्त होगया।

दूसरे श्री गनपतसाहु ने स० १८७० मे गगा-सप्तमी के शुभ पर्व पर नारियल बाजार मे एक अलग दूकान खोली। इनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम शिवरत्नसाहु था। शिवरत्नसाहु बडे ही दानी और उदार व्यक्ति थे। ये ही सबसे पहले "सुँघनीसाहु" के नाम से प्रसिद्ध हुए। वैसे इनके पिता गनपतसाहु ने स० १८७५ मे तम्बाकू की पत्ती से एक विशेष प्रकार के चूर्ण का आविष्कार किया था। यह चूर्ण 'सुँघनी' कहलाता था। इसका तत्कालीन काशी की जनता ने बडा स्वागत किया। इसी 'सुँघनी' का निर्माण एव व्यापार करने के कारण प्रसादजी का परिवार 'सुँघनीसाहु' के नाम से विख्यात है।

श्री शिवरत्नसाहु के छै पुत्र हुए—शीतलप्रसाद, देवीप्रसाद, बैजनाथप्रसाद, गिरिजाशकर, जित्तूसाहु और गौरीशकर। इनमे से शीतलप्रसाद, बैजनाथप्रसाद और गौरीशकर के कोई भी सतान नही हुई। देवीप्रसाद के दो पुत्र और तीन पुत्रियाँ हुई। पुत्रो के नाम थे—शम्भुरत्न और जयशकरप्रसाद तथा पुत्रियो के नाम थे—देवकी, सेवकी और प्यारी। गिरिजाशकर के दो पुत्र हुए—भोलानाथ और अमरनाथ। जित्तूसाहु के केवल एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम शिवशकर था। अपने भाई-बहनो मे प्रसादजी सबसे छोटे थे। सबसे बडी बहन देवकी के पुत्र अम्बिकाप्रसाद गुप्त हुए, जिन्हें प्रसादजी ने 'इन्दु' मासिक पत्र के निकालने का भार सौंपा था। अत प्रसादजी के पिता का नाम श्री देवीप्रसाद तथा उनकी माता का नाम श्रीमती मुन्नीदेवी था। प्रसादजी के इकलौते पुत्र श्री रत्नशकर हैं, जो अपने परिवार के साथ काशी के गोवर्द्धन सराय नामक मुहल्ले मे रहते हैं और प्रसादजी के व्यवसाय का सुचारु रूप से सचालन करते हैं।

बाल्यकाल—प्रसादजी का बचपन अत्यन्त वैभवपूर्ण परिवार मे व्यतीत हुआ था। इनके पिता श्री देवीप्रसाद अत्यन्त कुशल व्यापारी थे। दूकान पर सुँघनी की बिक्री इतनी अधिक होती थी कि हर समय भीड लगी रहती थी। बिक्री के घण्टो मे नारियल टोले मे से इस दूकान के पास से होकर निकलना तक असम्भव था। जहाँ व्यापार इतना बढा-चढा था, वहाँ पर इस परिवार की दानशीलता और आतिथ्यता भी खूब बढी-चढी थी। प्राय दूकान पर गरीबो, साधु-सन्तो को वस्त्र, कम्बल, तूम्बे, सुँघनी आदि वस्तुयें मुफ्त बाँटी जाती थी

और घर पर कवियो, पंडितो, गवैयो, वैद्यो, यांत्रिको, ज्योतिषियों, पहलवानो आदि की भीड़ लगी रहती थी। अनेक देश-विदेश के व्यापारी तथा इन्द्रजाल आदि दिखाने वाले व्यक्ति यहाँ आते रहते थे, जिनके लिए पर्याप्त मात्रा मे धन का अपव्यय किया जाता था। साथ ही प्रसादजी के पिता के पाँच भाई और थे, जो अनेक व्यसनों मे लीन रहकर धन का खूब अपव्यय किया करते थे।[1] ऐसे वैभव-सम्पन्न परिवार मे अपना बाल्यकाल व्यतीत करते हुए प्रसादजी को नाना प्रकार के व्यक्तियों, उनके कार्यों एव स्वभावो से अनायास परिचय होगया और बचपन की इसी अनुभूति के आधार पर आप अपने साहित्य मे भी भिन्न-भिन्न मानव-स्वभावों के चित्रण मे सफल हुए।

जीवन की प्रमुख घटनाएँ—प्रसादजी के कई भाई बचपन में ही काल-कवलित हो चुके थे। अत इनकी आयु-कामना के लिए झारखड के गोला-गोकर्णनाथ महादेव की मिन्नत मानी गई, जिसमे ये 'झारखडी' कहलाते थे। इनकी नाक छेद कर बुलाक पहना दी गई थी। एक बार एक दैवज्ञ ने प्रसादजी को इस वेश-भूषा के कारण इन्हे लड़की ही समझ लिया और इनके भविष्य के बारे में बतलाने लगा। तब से प्रसादजी ज्योतिष को मन के लिए घातक समझने लगे तथा उस पर से उनका विश्वास उठ गया।[2] नौ वर्ष की आयु मे ही प्रसादजी ने समस्यापूर्ति करना प्रारम्भ कर दिया था और एक समस्यापूर्ति करते हुए निम्नलिखित कविता लिखकर अपने बचपन के गुरु 'रससिद्ध' श्री मोहिनीलाल गुप्त को सुनाई थी :—

"हारे सुरेस, रमेस, धनेस, गनेस हू सेस न पावत पारे,
पारे हैं कोटिक पातकी पुञ्ज 'कलाधर' ताहि छिनो लिखि तारे।
तारने की गिनती सम नाहि, सु जेते तरे प्रभु पापी बिचारे,
चारे चले न बिरंचिहू के जो दयालु ह्वै शकर नेकु निहारे॥"[3]

जिसे सुनते ही 'रससिद्ध' चकित रह गये और प्रसन्न होकर प्रसादजी को महाकवि बनने का आशीर्वाद दिया। दस वर्ष की अवस्था में वे काशी के क्वीस कालेज में पढने के लिए प्रविष्ट हुए और ग्यारह वर्ष की आयु मे माँ के साथ

१—प्रसाद की याद, संस्मरण ३, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, दीपावली, सं २००३, पृ० ४।

२—वही, पृ० ५।

३—'प्रसादजी के संस्मरण', ले० डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा, साप्ताहिक प्रा , ता० १५-११-४३, पृ० ७-८।

धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, व्रज, अयोध्या आदि स्थानों पर यात्रा करने गये। इन स्थानों की प्राकृतिक छटा ने इनके हृदय को अत्यधिक आकृष्ट किया था।[1] बारह वर्ष की आयु में प्रसादजी के पिता का स्वर्गवास हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप परिवार में भयंकर स्थिति उत्पन्न होगई और इनकी पढ़ाई भी रुक गई। पिताजी की मृत्यु के तीन साल उपरान्त परिवार में मुकद्दमेबाजी आरम्भ हुई। चार साल तक घोर संग्राम चला और दोनों ओर से लगभग चार लाख रुपये व्यय हुए। दुकानों पर ताले लगे, रिसीवर नियुक्त हुए और व्यापार भी बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट होगया। अन्त में अदालत की ओर से फैसले में समस्त सम्पत्ति चार भागों में बाँटी गई। सम्पत्ति का एक भाग शम्भुरत्न तथा बालक प्रसाद को दिया गया, दूसरा भाग गिरजाशंकरसाहु तथा उनके लड़कों को मिला, तीसरा भाग शिवशंकरसाहु को मिला और चौथा भाग महादेवजी के दो मन्दिरों को मिला, जो प्रसादजी के पूर्वजों ने काशी में बनवाये थे।[2] पंद्रह वर्ष की अवस्था में प्रसादजी की माता का भी स्वर्गवास होगया और इस पारिवारिक कलह के समाप्त होते ही माता जी के दो वर्ष बाद प्रसादजी के बड़े भाई शम्भुरत्न भी दिवंगत होगये। बड़े भाई शम्भुरत्न ही घर तथा दूकान की देखभाल करते थे। वैसे वे बड़े ही शौकीन और रईसी ठाट के व्यक्ति थे। वे सदैव आस्ट्रेलियन वैलर घोड़ों की टमटम पर सवारी करते और उच्च कोटि के अपव्ययी थे। जिनके अपव्यय के कारण ही प्रसाद-परिवार पर्याप्त ऋण-ग्रस्त होगया था। अतः बड़े भाई के मरते ही प्रसादजी को ऋण भार से लदी हुई मूर्तिमान विडम्बना सदृश दुखद गृहस्थी का भार सँभालना पड़ा और सत्तरह वर्ष की आयु में ही व्यापार, गृहस्थी तथा अपने उत्तरदायित्व का भार प्रसाद जी के कंधों पर आगया।[3]

भाई की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही प्रसादजी ने स्वयं अपने वैवाहिक सम्बन्ध की बातें की और २० वर्ष की आयु (सं० १९६६ में) में गोरखपुर से अपना पहला विवाह किया। प्रथम पत्नी १० वर्ष तक जीवित रही। उनकी मृत्यु के एक वर्ष बाद प्रसादजी ने दूसरा विवाह किया। दूसरी पत्नी से एक वर्ष बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो प्रसूतकाल में अपनी माता के साथ ही स्वर्ग

१—कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पृ० ६।

२—डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा द्वारा लिखित 'प्रसादजी के संस्मरण' की पाण्डुलिपि से।

३—प्रसाद का जीवन और साहित्य, पृ० १४

को चला गया।[1] इसके उपरान्त वे गयाजी गये और वहाँ से महोदधि, भुवनेश्वर और पुरी की यात्रा करते हुए उन्होंने पर्वत एवं समुद्र की महान् शोभा के दर्शन किये। पर्वतों की भव्यता एवं सागर की विशालता ने उनकी भावुकता को अत्यधिक उत्तेजना प्रदान की।[2] इस यात्रा से लौटने के ४—५ वर्ष बाद प्रसादजी ने देवरिया (गोरखपुर) से अपना तीसरा विवाह किया। इसी तीसरी पत्नी से रत्नशंकर उत्पन्न हुए, जिनका नाम प्रसादजी ने अपने बड़े भाई की स्मृति में 'शम्भुरत्न' का ही परिवर्तन करके रखा था।

भाई की मृत्यु के उपरान्त लगभग तीस वर्ष—सं० १९६३ से सं० १९९३ तक प्रसादजी दूकान, घर और साहित्य की त्रिधारा में बहते रहे। उनके जीवन का अधिकांश भाग व्यवसाय के सँभालने में लगा और अपने अंतिम समय में ही ऋण से मुक्त होकर सन्तोष की साँस ली।[3] सं० १९९३ में वे एक बार डा० मोतीचन्द के छोटे भाई नारायणचन्द की शादी में दावत खाने गये। वहाँ पर दावत खाते-खाते प्रसादजी को जाड़ा लगने लगा और बुखार आगया। बहुत दिनों तक सभी लोग मलेरिया समझते रहे। अन्त में शीतकाल के आते ही उनको खाँसी भी प्रारम्भ हो गई। किन्तु रोग का ठीक निदान न हुआ। पेट में दर्द रहने लगा। प्रसादजी ने खाना भी कम कर दिया, जिससे अब वे दुर्बल होगये। परन्तु उनके उत्साह में कोई कमी नहीं हुई। सं० १९९३ के शीतकाल में वे लखनऊ प्रदर्शिनी देखने गये। वहाँ से लौटकर आने के कुछ दिन बाद वे पुनः ज्वर से पीड़ित हुए। अब की बार उनके कफ आदि की जाँच हुई, जिससे पता चला कि वे राजयक्ष्मा रोग से पीड़ित थे। सं० १९९४ के आरम्भिक दिनों में वे फिर कुछ स्वस्थ हो गये, परन्तु वर्षाकाल के आते ही रोग फिर उखड़ आया, जीभ पर छाले पड़ गये और भयंकर दशा हो गई। डाक्टरों ने प्रसादजी को स्थान-परिवर्तन की सलाह दी, परन्तु उन्हें काशी को छोड़कर कहीं भी जाना पसन्द न था। ऐसी भयंकर बीमारी के अवसर पर भी वे अपने पुत्र के विवाह की योजनायें बनाया करते थे। अंत में सं० १९९४ में शीतकाल के आते ही उन्हें चर्म-रोग ने भी सताया और उस समय सूखी हड्डियों पर सूखी चमड़ी का आवरण-मात्र शेष रह गया। उस समय डा० एच० सिंह अपनी होम्योपैथिक औषधियों से उनकी चिकित्सा करते थे, क्योंकि धार्मिक मनोवृत्ति के कारण वे अन्य अँग्रेजी औषधियाँ खाना अच्छा नहीं समझते थे।

१—डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा की पांडुलिपि से।

२—कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पृ० ६—७।

३—प्रसाद का जीवन और साहित्य, पृ० ११।

अंत में कार्तिक शुक्ला एकादशी सं० १९९४ को हिन्दी भाषा के इस अमर कवि ने अपने पार्थिव शरीर को छोड़ दिया। रात्रि के ८ बजे प्रसादजी की शवयात्रा निकली। लगभग ३०-४० व्यक्ति साथ थे। पूर्वजों की प्रथानुसार काशी के हरिश्चन्द्र घाट पर उनकी चिता का निर्माण हुआ। तदुपरान्त कुछ ही देर में अग्निदेव ने उनके पार्थिव शरीर को पंचतत्वों में विलीन कर दिया। इस तरह लगभग ४८ वर्ष की आयु में ही हिन्दी का यह अमर कवि हिन्दी-जगत से विदा हो गया।

शिक्षा तथा ज्ञानार्जन—बचपन में प्रसादजी को सबसे पहले गोवर्द्धन सराय मुहल्ले में श्री मोहिनीलाल गुप्त की अपनी निजी पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजा गया। वहाँ पर प्रसादजी ने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया और साथ ही कविताएँ लिखने की प्रेरणा भी प्राप्त की, क्योंकि मोहिनीलाल गुप्त स्वयं एक रससिद्ध कवि थे। इस छोटी-सी पाठशाला को प्रसाद जी "आरम्भिक सरस्वती पीठ" कहा करते थे।[1] इसके बाद उन्होंने क्वीन्स कालेज में सातवीं कक्षा तक शिक्षा ग्रहण की। परन्तु पिताजी की मृत्यु हो जाने के कारण अधिक न पढ़ सके और घर पर ही संस्कृत, उर्दू, हिन्दी, अँग्रेजी आदि भाषायें सीखने लगे। श्री दीनबंधु ब्रह्मचारी से उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और उपनिषद् ग्रंथ पढ़े।[2] इसके अतिरिक्त अन्य वैदिक ग्रंथों, वैष्णव और शैव दर्शनों का अध्ययन स्वतः करके इनका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया। जिसकी छाप इनकी रचनाओं पर विद्यमान है। बचपन में ही पिताजी के सामने बेनी, शिवदा आदि कवियों की समस्या पूर्तियों एवं अन्य कविताओं को सुनते-सुनते प्रसादजी को कविता लिखने की पद्धति का ज्ञान हो गया था और कभी-कभी छुप-छिपकर कुछ तुकबंदियाँ भी की थी, जो आज नहीं मिलती।[3] इनके घर के समीप काशी के गोवर्द्धन सराय मुहल्ले में कुछ कायस्थ परिवार रहते थे, जिनकी उर्दू-फारसी की शायरी का आनंद प्रसादजी को अनायास मिलता रहता था।[4] अतः उनसे इन्होंने 'इश्क मजाजी' की भावनाओं से भरी हुई उर्दू गजल लिखने का ज्ञान प्राप्त किया, जिसका प्रभाव 'आँसू' काव्य पर स्पष्ट लक्षित होता है।

१—प्रसाद की याद, संस्मरण ३, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, दीपावली अंक, सं० २००३, पृ० ७।

२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० १९-२०।

३—कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पृ० ७।

४—प्रसाद की याद, संस्मरण ३, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, दीपावली अंक, सं० २००३, पृ० ६।

इसके अतिरिक्त प्रसादजी ने भारत के अतीतकालीन इतिहास का अनुशीलन बड़ी गहराई के साथ किया और उसी अध्ययन के आधार पर उन्होंने अजातशत्रु, स्कदगुप्त चन्द्रगुप्त आदि नाटक तथा 'प्रेमराज्य', 'करुणालय', 'कामायनी' आदि काव्य लिखे। अतः प्रसादजी ने भारतीय संस्कृति एवं भारतीय इतिहास का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था तथा उनका अध्ययन विस्तृत था, जिसका प्रभाव उनकी समस्त रचनाओं पर दिखाई देता है।

मित्र-गोष्ठी—प्रसादजी की मित्र-मडली में काशी के सभी साहित्यकार सम्मिलित थे। वैसे उनके अतरग मित्र तो अधिक न थे। उनमें से श्री रायकृष्णदास, विनोदशकर व्यास, केदारनाथ पाठक, लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश' आदि प्रसिद्ध हैं। 'ईश' जी तो उनके 'आरम्भिक सरस्वती पीठ' के सहपाठी भी थे। यह मित्रमडली शाम को नारियल टोले वाली दूकान के सामने चबूतरे पर नित्य जुड़ती थी। वहाँ पर कुछ नये-नये मित्र तथा काशी के साहित्यकार भी आते रहते थे। एक महाशय जिनका नाम रामानंद था, वे भी वहाँ अवश्य पहुँचते और अपने उर्दू के चुटीले सवैये तथा घनाक्षरी सुनाया करते थे।[१] कुछ साहित्यकार प्रसादजी के घर पर यदा-कदा आते रहते थे, जिनमें से अधिकांश उनके प्रिय मित्र थे और जिनके साथ साहित्य के बारे में प्रसादजी प्रायः बड़ी देर तक बातें किया करते थे। उनमें से सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, रामचन्द्र वर्मा, प्रेमचन्द, जैनेन्द्रकुमार, केशवप्रसाद मिश्र, बालकृष्ण शर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि प्रसिद्ध हैं। शेष समय में जब प्रसादजी नागरी प्रचारिणी सभा में जाते तो वहाँ डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि से मिलते रहते थे। वहाँ के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री केदारनाथ पाठक तो प्रसादजी के अभिन्न मित्र थे। इसके अतिरिक्त कुछ बाहर से आए हुए और काशी में रहने वाले साहित्यिक भी प्रसादजी के मित्र थे, जिनमें से पं० रूपनारायण पाँडेय, श्री शिवपूजन सहाय, श्री गोविन्दवल्लभ पंत, विशम्भरनाथ जिज्जा, उग्रजी, बेढब बनारसी, 'सुमन' जी, 'बेनीपुरी' जी, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, पं० नददुलारे बाजपेयी, द्विजजी, डाक्टर राजेन्द्र, वाचस्पति पाठक आदि प्रसिद्ध हैं। अतः उस काल के लगभग सभी हिन्दी के साहित्यकारों का प्रसादजी से अच्छा परिचय था और वे प्रायः प्रसादजी की मित्र-गोष्ठियों में सम्मिलित होकर अपनी रचनाएँ सुनाते, प्रसादजी की रचनाएँ सुनते तथा इधर-उधर की गपशप भी खूब किया करते थे।

१—प्रसाद की याद, संस्मरण ३ ले० रायकृष्णदास, हिमालय, दीपावली अक, सं० २००३, पृ० ८।

दिनचर्या—प्रसादजी नित्य प्रात ब्राह्म मुहूर्त मे उठकर पहले साहित्य-रचना किया करते थे। तदुपरान्त बेनिया पार्क में टहलने के लिए जाते। वहाँ प्रेमचन्दजी, व्यासजी, गहमरीजी आदि से भेंट हो जाती और उनके साथ पर्याप्त समय तक घूमते रहते। फिर लौटते हुए डा० एच० सिंह के यहाँ पर भी कुछ देर बैठते और घर आकर दूध पीते तथा दो घट तक व्यापार-कार्य देखते। इसके बाद तेल-मालिश, स्नान एव व्यायाम किया करते थे। दोपहर को १२ बजे भोजन करके सो जाते। वे दोपहर को नित्य सोया करते थे। सोने के उपरान्त २–३ बजे उठकर कारखाने मे आते और व्यापार सबधी पत्रों तथा किरायेदारो की बातो का फैसला करते थे। शाम को लगभग ६–७ बजे दूकान पर पहुँच जाते और रात के ६ बजे तक वहाँ मित्रमडली मे खूब गपशप किया करते थे। रात के १० बजे तक घर लौट आते और भोजन करके सो जाते थे।[1]

इस तरह प्रसाद जी का जीवन अत्यत सयत एव नियमित था। उनके जीवन मे प्रवृत्ति एव निवृत्ति का पूरा सामजस्य था। उनका बचपन तो बडे लाड प्यार म व्यतीत हुआ, परन्तु युवावस्था से लेकर अन्तिम समय तक वे बराबर बाधाओ, आपत्तियो एव जटिलताओ का सामना करते रहे, जिसका आभास उनकी 'आत्मकथा मे मिलता है, जो प्रेमचदजी के बहुत कहने पर सकेत रूप मे 'हस' विशेषाक के लिए प्रसादजी ने लिखी थी।[2] इतना सघर्ष-मय जीवन व्यतीत करते हुए भी वे अपनी दूकान एव गृहस्थी की देखभाल बडे मनोयोग के साथ करते रहे और ऋण-ग्रस्त परिवार को अपने जीवन मे ही ऋण-मुक्त करके सतोष की साँस ली। साथ ही साहित्य-सृजन की ओर भी उनकी रुचि बराबर बनी रही तथा सकटो मे फँसे रहकर भी ऐसे अनेक मूल्य-वान् ग्र थ हिन्दी-जगत को भेंट किये जिनके ऊपर हिन्दी-साहित्य आज गर्व कर सकता है।

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २४।

२—उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की,
अरे खिलखिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिगन मे आते आते मुसक्या कर जो भाग गया।
× × × × ×
सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्मकथा ?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।
—हस, जनवरी-फरवरी १६३२ ई०

प्रसादजी का व्यक्तित्व

शारीरिक गठन एव वेश-भूषा—प्रसादजी अत्यन्त भव्य एव गम्भीर आकृति के पुरुष थे। उनका कद कुछ नाटा, शरीर बहुत कसा हुआ, हृष्ट-पुष्ट तथा सुगठित था। कसरत-कुश्ती ने उनके शरीर को सुडौल बना दिया था। वे उज्ज्वल गौर वर्ण के व्यक्ति थे और चेहरे पर सदैव तेज झलकता रहता था। किशोरावस्था मे वे प्रायः शेरवानी तथा पाजामा पहनकर बाहर निकालते थे। सिर पर लाल व हरी चुन्दरी की लट्टूदार पगडी धारण करते थे। युवावस्था में वे कभी-कभी पीताम्बर पहनते, उसी के जोड का उपरना ओढते तथा गले में पुष्पमाला और मस्तक पर त्रिपु ड लगाया करते थे।[1] प्रसादजी की साधारण वेश-भूषा मे पहले शान्तिपुरी धोती और ढाका की मलमल का कुर्त्ता सम्मिलित था, परन्तु पीछे वे खद्दर भी पहनने लगे थे। जाड़ो मे प्राय. वे सुँघनी रंग के पट्टू का कुरता तथा सकरपारे की सीवन का रुईदार ओवरकोट पहनते थे, आँखों पर चश्मा और हाथ मे डडा रहता था।[2] इस तरह वे अन्त मे सादा जीवन व्यतीत करने लगे थे।

योग्यता एवं कौशल—प्रसादजी को बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि प्राप्त थी। इसी कारण वे तुरन्त नई-नई बातो को सीख लेते थे और सीखकर नये ढँग से उन्हे प्रस्तुत किया करते थे। यह पहले ही सकेत किया जा चुका है कि प्रसाद जी ने ९ वर्ष की अवस्था मे ही समस्या-पूर्ति करके अपनी मित्र-मंडली एव अपने काव्य-गुरु को बौद्धिक कुशलता एवं प्रतिभा का परिचय दे दिया था। किन्तु १५ वर्ष की अवस्था से तो वे नियमित रूप से कविता, कहानी, नाटक आदि लिखने लगे थे। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। वे सदैव आडम्बर मे से तत्त्व की खोज मे लगे रहते थे। उनकी इस सूक्ष्म एव तीव्र दृष्टि की ओर सकेत करते हुए रायकृष्णदास जी ने लिखा है—''एक-एक बीज-मन्त्र में कैसे-कैसे दार्शनिक तत्त्व निहित है, यह वे भली प्रकार जानते थे तथा अपनी बुद्धि के अनुसार कभी-कभी शब्दो का अर्थ भी नये-नये ढँग से किया करते थे। जैसे एक बार 'ह्रीं' शब्द का अर्थ किया था—'सोऽहं हर इति ह्रीं'।[3] वे किसी भी लौकिक व्याख्या को सहसा स्वीकार नही करते थे और वेद-पुराणो के श्लोको की व्याख्याये भी

१—प्रसाद की याद, संस्मरण १, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, श्रावणी सं० २००३, पृ० ११ तथा हिमालय, जन्माष्टमी सं० २००३, पृ० ४।

२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३५।

३—प्रसाद की याद, संस्मरण ४, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, पौष सं० २००३, पृ० १०।

अपनी बुद्धि के अनुसार दिया करते थे, जिन्हे देखकर अच्छे-अच्छे विद्वान् भी चमत्कृत हो जाते थे। उन्हे गीता के श्लोको की साम्प्रदायिक व्याख्याये स्वीकृत न थी। अत: वे मित्रो के सम्मुख स्पष्ट, सगत एव ग्राह्य व्याख्याये किया करते थे।[1] वे किसी भी सिद्धान्त के सार को लेकर अपने ढग मे उसका ऐसा निरूपण करते थे कि जिससे वह व्यावहारिक जीवन के अनुकूल बन जाता था और सभी लोग उसे सरलता से समझ लेते थे। उनके नियतिवाद, आनन्दवाद, समरसता आदि के सिद्धान्त इसी प्रकार के हैं, जिन्हें प्रसादजी ने अपने ढग से प्रस्तुत किया है।

साहित्यिक योग्यता के अतिरिक्त वे अपने व्यापार-कार्य मे भी बडे कुशल थे। यद्यपि वे व्यापार सम्बन्धी कार्यो की देखभाल मे थोडा समय ही लगाते थे, फिर भी उतने ही काल मे वे व्यापार की वस्तुस्थिति को पूर्णत जान लेते थे। उन्हे 'सुंघनी' एव सुर्ती बनाना अच्छी तरह आता था और उसके लिए काम मे आने वाली कस्तूरी को परखना भी भली प्रकार जानते थे। 'भपका' चढने पर वे गुलाबजल और इत्रो की देख-रेख भी कर लेते थे और इत्र तथा हर तरह के 'टाइलेट' बनाना जानते थे।[2] इस तरह उन्हे अपने पैतृक व्यवसाय का पूर्ण ज्ञान था और उसे सुचारु रूप से चलाने की योग्यता भी अल्पकाल मे ही प्राप्त हो गई थी।

इसके अतिरिक्त उनकी योग्यता एव कौशल का आभास उनकी रचनाओ से मिलता है। अपने नाटको मे ऐतिहासिक खोज के आधार पर वस्तु का सकलन करके नई शैली को अपनाते हुए उन्होंने जिस उच्चकोटि के नाट्यकला-कौशल एव ऐतिहासिक ज्ञान का परिचय दिया है, वह सर्वथा सराहनीय है। ऐसे ही 'आंसू', 'लहर', 'कामायनी' काव्यो मे अभिव्यजना की अनूठी पद्धति एव भावो की विविधता का चित्रण करके प्रसादजी ने अपनी असाधारण प्रतिभा एव अलौकिक बुद्धि का प्रदर्शन किया है। अतः नई-नई रचनाओ, नई-नई शैलियों एव नई-नई भावाभिव्यक्तियो मे प्रसादजी की अनुपम योग्यता, अलौकिक ज्ञान, अद्भुत पांडित्य तथा अद्वितीय कौशल के दर्शन होते हैं।

स्वभाव—प्रसादजी अत्यन्त सौम्य एव गभीर स्वभाव के व्यक्ति थे। वे नम्र, निरभिमानी और कुचक्र से सदैव दूर रहने वाले उदार आशय व्यक्ति थे। उन्हें कभी किसी पर क्रोध नहीं आता था। रायकृष्णदास जी का कथन है कि

१—प्रसाद की याद, सस्मरण ६, ले० रायकृष्णदास, नई धारा, फाल्गुन स० २००७, पृ० २८।

२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २४।

वैसे तो वे कभी किसी पर क्रोध नहीं करते थे, किन्तु वे जीवन में एक बार एक भौतिक दर्शन के परम भक्त महाशय पर क्रुद्ध हुए, जिसने प्रसादजी की धार्मिकता पर आघात करते हुए यह कहा था कि तुम्हारा शिव क्या कर सकता है ? उस समय वे अपने को न सँभाल सके और उन महाशय के गाल पर थप्पड़ जमाकर बोले कि 'मेरा शिव यह कर सकता है ।'[1] इस घटना के अतिरिक्त वे कभी किसी व्यक्ति पर क्रुद्ध नहीं हुए और सभी से बड़े हँस कर मिला करते थे । मित्रों से खूब हँसी-मजाक करते, उन्हें छेड़ते और उनकी बातों में रस लिया करते थे । डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा का कथन है कि प्रसादजी बेनिया पार्क में टहलते हुए प्राय गोपालराम गहमरी को खूब चिढ़ाया करते थे, फिर उनकी जली-कटी बातो में उन्हें बडा आनन्द आता था ।

प्रसादजी को चाटुकारिता एव पराई असूया से बड़ी घृणा थी । वे अपने कटु से कटु आलोचक के बारे में भी कभी कोई अपशब्द कहना या उसको उचित उत्तर देना अच्छा नहीं समझते थे । यहाँ तक कि मिलने पर सदैव मुस्करा कर सज्जनोचित व्यवहार ही किया करते थे । प्रसादजी के समय में उनके प्रबल विरोधियों में से प० बनारसीदास चतुर्वेदी तथा बाबू दुलारेलाल भार्गव प्रसिद्ध है । श्री विनोदशंकर व्यास ने एक दिन बड़े क्रोध में भरकर प्रसादजी से यह कहा कि—"मैं इन लोगों का उत्तर देना चाहता हूँ ।" इस पर प्रसादजी ने इतना ही कहा—"लिखने दो, न मैं खुद उत्तर देना चाहता हूँ और न तुम्हें ही सलाह दूँगा ।" यहाँ तक कि प्रेमचन्दजी ने इनके नाटकों की आलोचना करते हुए इन्हें "गड़े मुर्दे उखाडने" वाला बतलाया था । उस आलोचना के कई मास पश्चात् एक दिन प्रेमचन्दजी प्रसादजी से मिलने आये और अपने लिखने पर खेद प्रकट करने लगे । इस पर प्रसादजी ने यही कहा कि—"मुझे उसका कोई ख्याल नहीं है ।"[2]

प्रसादजी अत्यन्त संकोची स्वभाव के व्यक्ति थे । वे कभी किसी को धन देकर नहीं माँगते थे और घर पर चाहे कैसा ही बेकार व्यक्ति क्यों न आजाय, उससे भी खूब खुलकर मिलते तथा उसका कभी अपमान करके उसे दुखी बनाना अच्छा नहीं समझते थे । वे 'इंटरव्यू' से सदैव दूर रहते थे, क्योंकि बीसवीं शताब्दी के पत्रकारों की तिल का ताड़ बनाने वाली मनोवृत्ति से उनका अच्छा परिचय था । वे मौन-गंभीरता का अभिनय नहीं किया करते थे, अपितु बड़े ही मृदुभाषी, हँस-मुख, मिलनसार, सहृदय और व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे ।[3]

१—प्रसाद की याद, संस्मरण ५, नई धारा, माघ सं० २००७, पृ० ७ ।
२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २५–२७ ।
३—वही, पृ० २५ ।

अत्यन्त सकोचशील होकर भी उनके स्वभाव में एक प्रकार की अक्खडता थी, किन्तु वह अक्खडता केवल उनकी रचनाओ तक ही सीमित थी और उन्हें नाथूराम शर्मा 'शकर' की अक्खड पद योजनाएँ भी अधिक अच्छी लगती थी।[1] फिर भी वे सदैव प्रसन्नचित्त रहकर, ईर्ष्या, द्वेष, दभ, अहकार आदि से दूर रहते हुए एक सरल एव सज्जनोचित मनस्वी स्वभाव के व्यक्ति थे।

सामाजिकता—प्रसादजी की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी थी। प्राय वे किसी के घर जाना अधिक पसद नही करते थे। वैसे तो अधिकाश व्यक्ति उनके यहाँ ही आते रहते थे। फिर भी उन्हे दूसरे के पास जाते हुए हिचकिचाहट होती थी। वे केवल विनोदशकर व्यास, रायकृष्णदास अथवा केदारनाथ पाठक के यहाँ तो निस्सकोच भाव से आया जाया करते थे। शेष सभी स्थानो पर जाते हुए उन्हे अत्यधिक सकोच होता था। इतना ही नही, वे कभी किसी कवि-सम्मेलन अथवा सभा का सभापति होना भी स्वीकार नही करते थे। कवि-सम्मेलनो मे कविता सुनाना उन्हे पसद न था। बहुत आग्रह करने पर बडी कठिनाई के साथ अपनी लिखी पुस्तक से ही बैठे बैठे कुछ पढ दिया करते थे। जीवन मे पहली बार प्रसादजी ने जनता की भीड के सम्मुख कोशोत्सव के अवसर पर नागरी प्रचारिणी सभा के अहाते मे 'नारी और लज्जा' नामक कविता पढी थी।[2]

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होने पर भी प्रसादजी को समाज के किसी भी व्यक्ति से घृणा न थी और न कभी किसी व्यक्ति को सदेह की दृष्टि से ही देखते थे। अपने परिचित व्यक्तियों के दुख-सुख का वे सदैव ध्यान रखते थे और वे निरतर एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे के बारे मे पूछताछ किया करते थे। इसी भाँति वे सभी परिचित व्यक्तियो के आर्थिक कष्ट आदि का पता सुगमता से लगा लेते थे और समय-समय गुप्त रूप से उनकी सहायता भी किया करते थे।[3]

प्रसादजी विवाद, विग्रह, विद्वेष, हो हल्ला, भीड भडक्का आदि से बहुत डरते थे। वे किसी भी गुटबदी मे पडना अच्छा नही समझते थे। साहित्यिक झगडो से सदैव दूर रहकर अपनी काव्य-साधना मे लीन रहना उन्हे अधिक

१—प्रसाद की याद, सस्मरण ४, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, पौष स० २००३, पृ० ११।

२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३६।

३—व्यक्ति प्रसाद, ले० रामऋषि, साप्ताहिक आज, ता० २-११-४४ पृ० ५।

पसंद था। वे राग-द्वेष से दूर रहकर समाज के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने में लगे रहते थे।[1] इसलिए उनमें केवल परिवार-प्रेम, मित्र-प्रेम ही अधिक प्रबल न था, उससे भी अधिक उनके हृदय में समाज, देश, धर्म, साहित्य और संस्कृति का प्रेम भी हिलोरें लेता रहता था।[2]

प्रसादजी अपनी प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा के लिए मिथ्याडम्बर पसंद नहीं करते थे। उनके व्यवहार में कोई ऐसी विचित्रता एवं कृत्रिमता न थी, जिससे व्यर्थ ही दूसरे लोग उनसे आतंकित रहें और उनकी प्रतिष्ठा करने लगें। वे अत्यन्त सादगी के साथ जीवन व्यतीत करना अधिक अच्छा समझते थे और साधारण जन-समुदाय में समाज के एक सखा-सदस्य की भाँति हिलमिल कर रहना उन्हें अधिक प्रिय था।[3] विद्या, बुद्धि, बल, वैभव, रूप, यश आदि सब कुछ पाकर भी उन्हें तनिक भी गर्व न था। इनके बारे में न वे स्वयं ही कुछ कहते और न दूसरे के मुख से कुछ सुनने की उन्हें व्यग्रता ही होती थी। कोई निन्दा करे तो चुप, प्रशंसा करे तो भी चुप रहना ही प्रसादजी को प्रिय था।[4]

प्रसादजी समाज की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का बड़ी गहराई के साथ अध्ययन करते थे और सामाजिक अभ्युत्थान के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहते थे। प्रसादजी के समाज-प्रेम की झलक उनके नाटकों, काव्यों, उपन्यासों में सर्वत्र विद्यमान है। 'कामना' नाटक में उन्होंने स्पष्ट ही समाज की बुराइयों का उल्लेख करते हुए पारस्परिक स्नेह, सौहार्द तथा भ्रातृत्व भाव को धारण करने का आग्रह किया है। साथ ही यह कामना की है कि—"उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट विश्व, जाति और वर्ण से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीडा का अभिनय करेगा।"[5]

प्रसादजी में कहीं-कहीं हमें पलायनवादी स्वर भी सुनाई पड़ता है। उनकी "ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक ! धीरे-धीरे"[6] नामक कविता, 'आँसू'

१—हंस, वर्ष ८, अङ्क ४, जनवरी १६३८, पृ० ३३७।
२—चरित्र-रेखा, ले० श्री जनार्दन द्विज, जागरण, वर्ष १, अङ्क ११, ता० ३१-१०-१६३२, पृ० १५।
३—प्रसादजी के संस्मरण, ले० डा० राजेन्द्र शर्मा, साप्ताहिक आज, सोमवार, कार्तिक २६, सं २०००, पृ० ७।
४—चरित्र-रेखा ले० श्री जनार्दन द्विज, जागरण, वर्ष १, अंक ११, ता० ३१-१०-१६३२, पृ० १५।
५—कामना, पृ० ६८।
६—लहर, पृ० १४।

काव्य तथा 'कामायनी' के कतिपय स्थलो पर मनु के कथनो[1] मे हमे पलायन-वादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। परन्तु ये सभी कथन समाज की विषमता को देखकर उनकी छटपटाहट के द्योतक हैं। समाज मे नित्यप्रति जो दु ख, हाहाकार, चीत्कार आदि उन्हे सुनाई पडते थे, उनको दूर करने के लिए वे प्रयत्नशील थे, इसी कारण कभी कभी उनके हृदय मे यह व्यग्रता होती थी, जिससे ऐसे स्वर निकल पडते थे। वैसे प्रसादजी ने पलायनवादिता का घोर विरोध किया है और समाज को उन्नत बनाने के लिए सदैव कर्मशीलता के साथ-साथ संघर्षमय जीवन व्यतीत करने तथा विघ्नो से टक्कर लेने का आदर्श प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थो मे अनेक स्थलो पर इस भावना की ओर संकेत किया है।[2]

सामर्थ्य—प्रसादजी बडे ही परिश्रमी, अध्यवसायी एव अनवरत कार्य मे लीन रहने वाले व्यक्ति थे। घोर आपत्तियो के आ जाने पर भी वे अविचल भाव से साहित्य-सेवा मे लगे रहते थे। जैसे मानो उन्होंने हिन्दी-साहित्य के भडार को सर्वांगपूर्ण करने का निश्चय कर लिया था। उनके हृदय मे अदम्य उत्साह था। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे कुछ नवीन अथवा कुछ अनूठी रचना करने के लिए वे संकल्प सा कर चुके थे।[3] वे नियमित रूप से लिखा करते थे और पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादकों का अनुरोध कभी टालते न थे। उन्हें सभी के लिए कुछ न कुछ लिखना पडता था, परन्तु कभी अपनी असमर्थता प्रकट करना नही जानते थे। उनके अदम्य उत्साह एव कर्मशीलता का ही यह परिणाम था कि काशी से 'इन्दु' जैसा उत्कृष्ट साहित्यिक मासिक पत्र निकलने लगा था। प्रेमचन्दजी को 'हस' पत्र निकालने की प्रेरणा भी प्रसादजी ने ही दी थी। श्री शिवपूजनसहाय से 'जागरण' पत्र निकलवाने की योजना भी प्रसादजी ने ही बनाई थी।[4] इन सभी पत्रों के लिए वे कविता, लेख, कहानियाँ आदि लिखा करते थे और साथ ही अपने नाटक, काव्य, उपन्यास आदि लिखने मे भी निरतर लीन रहते थे।

१—कामायनी, पृ० ४८, ४६, ५४, ६६ तथा २२६।

२—कामायनी, पृ० ५५-५६, चन्द्रगुप्त, पृ० १०७, जनमेजय का नागयज्ञ पृ० ८३, कामना, पृ० ६७-६८।

३—प्रसाद की याद, संस्मरण २, ले० रायकृष्णदास, हिमालय, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, स० २००३, पृ० ४।

४—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ ३२।

प्रसादजी की सामर्थ्य, दृढ़ता एवं सहनशीलता का पता उस समय चलता है जब इनकी नई शैली की अतुकान्त कविताएँ देखकर तत्कालीन समालोचक इनकी बड़ी कटु आलोचना करने लगे। कोई कहता 'अभी कल का छोकरा है, चला है कविता लिखने।' किसी ने कहा 'समतुकान्त कविता में मेहनत पड़ती है।' कोई-कोई, कविता करना किसी वर्ण-विशेष या जाति-विशेष की सम्पत्ति समझते थे। परन्तु इन सभी समालोचकों की परवा न करके प्रसादजी अपने मार्ग पर निरन्तर बढ़ते रहे। उन्हें कटु से कटु आलोचना भी मार्ग से तनिक भी डिगा न सकी और वे अपना पथ स्वयं बनाते हुए एक प्राकृतिक नदी की भाँति साहित्य के क्षेत्र में बढ़ते रहे।[1] उनके अनवरत परिश्रम एवं सतत उद्योगशील रहने का कारण यह था कि वे नियति में विश्वास करते थे और यह जानते थे कि जो कुछ होना है वह तो होगा ही, कायर बनने अथवा कर्म से विरक्त रहने से क्या लाभ।[2] साथ ही उनका विश्वास था कि 'उद्योगहीन मनुष्य शिथिल हो जाता है। उसका चित्त आलसी हो जाता है।'[3] अतः भविष्य की विशेष चिन्ता न करके विघ्नों के स्रोत में अकेले ही टक्कर लेते हुए वे अपने निःस्वार्थ कर्म में लीन रहते थे। उनका यह मत था, 'मनुष्य साधारण धर्मा पशु है, विचारशील होने से मनुष्य होता है और निःस्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है।'[4] वे कर्म का भोग, तथा आगामी भोगों के लिए कर्म करने को ही जड़ का चेतन आनन्द मानते थे।[5] इसी कारण वे कर्म से कभी विमुख न होकर निःस्वार्थ भाव से अनवरत परिश्रम करते रहे और उन्होंने अल्पायु में ही अनेक ग्रन्थों का निर्माण करके अपनी अटूट सामर्थ्य एवं दृढ़ सशक्तता का परिचय दिया।

रुचि एवं व्यसन—प्रसादजी सौन्दर्य-प्रेमी थे। एक वैभव-पूर्ण परिवार में जन्म लेने के कारण ललित-कलाओं की ओर बचपन से ही उनकी रुचि थी। साहित्यकला की उपासना में वे अपना अधिक से अधिक समय लगाते थे और भारतीय इतिहास का गहराई के साथ अध्ययन किया करते थे। साथ ही संगीतकला के रसास्वादन के लिए वे यदा-कदा वेश्याओं के यहाँ भी निस्संकोच भाव से जाया करते थे। काशी की सिद्धेश्वरीबाई का संगीत उन दिनों बड़ा

१—कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पृ० १०।

२—अजातशत्रु, पृ० ३८।

३—विशाख, पृ० ५४।

४—चन्द्रगुप्त, पृ० १०२।

५—कामायनी, पृ० ५६।

प्रसिद्ध था। प्रसादजी भी अपने घनिष्ट मित्रो के साथ उस सगीत का आनन्द लिया करते थे।[1] मूर्तिकला को भी वे बडे सतृष्ण नेत्रो से देखा करते थे। सारनाथ के सग्रहालय मे मूर्तियो का निरीक्षण करते हुए वे घण्टो बिता देते थे। भगवान् बुद्ध की सौम्य मूर्तियो के सौन्दर्य मे उनका मन अधिक रमता था। सारनाथ के सग्रहालय की प्राचीन स्त्रियों की मूर्तियाँ प्राय उनकी प्रथम पत्नी से अधिक मिलती-जुलती थी। अत वे यह कहा करते थे कि 'सम्भवत गोरखपुर प्रदेश के स्त्री-सौन्दर्य से ही इन मूर्तिकारो ने अपने नमूने प्राप्त किये होगे।'[2]

प्रसादजी को प्राकृतिक सौन्दर्य अधिक प्रिय था। प्रकृति की रमणीक छटा देखन के लिए वे प्राय सारनाथ घूमने जाते थे। वहाँ पर धमेख स्तूप के समीप एक प्राचीन बौद्ध विहार के ध्वस का एक टीला है, जिस पर हुमायूँ के छिपने की स्मृति मे अकबर की बनवाई हुई अठमहल गुमटी है। यह स्थल प्रसादजी को विशेष प्रिय था। वहाँ का एक एक ईट-रोडा उनसे बातें करता और उन्हें अपनी राम कहानी सुनाता था। वही से वे उन्मुक्त प्रकृति का निरीक्षण भी किया करते थे। गुमटी पर चढकर वहाँ के शीतल मद पवन के झोंके का आनन्द लेते हुए वे सूर्य का ढलना देखते और वहाँ पर उगी हुई एक-एक वनस्पति का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए प्राकृतिक छटा मे तल्लीन हो जाते थे।[3]

प्रसादजी को पान, इत्र तथा फूलो का बडा शौक था। वे इत्र परखना खूब जानते थे। उन्होंने अपन घर के समीप ही मन्दिर के प्रागण मे एक छोटा सा बगीचा तैयार किया था, जिसमे वे नित्यप्रति अपने दो-तीन घण्टे व्यतीत किया करते थे। वहाँ पर गुलाब, जुही, बेला, रजनीगधा इत्यादि जब फूलते, तो वे उन्हे सतृष्ण नेत्रो से मुग्ध होकर देखा करते थे। वर्षा-काल मे यह वाटिका अत्यन्त रमणीक जान पडती थी। वही पर पारिजात के वृक्ष के नीचे प्रसादजी ने एक पत्थर की चौकी डाल रखी थी, जिस पर बैठना उन्हें अत्यन्त प्रिय था।[4]

प्रसादजी को भोजन का भी बडा चाव था। वे स्वय बडा सुन्दर एव रुचिकर भोजन तैयार कर लेते थे। कभी-कभी मित्रो के साथ बगीचे आदि मे

१—प्रसाद का जीवन और साहित्य, पृ० २०।

२—प्रसाद की याद, सस्मरण ५, ले० रायकृष्णदास, नई धारा, माघ स० २००७, पृ० ५।

३—वही, पृ० ६।

४—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३०।

घूमने जाते, तो दिन भर वहीं रहते और अपने हाथ से भोजन तैयार करके सबके साथ खाया करते थे। प्रसादजी गोभी, आलू, मटर आदि की तरकारी बनाने एव चूरमे के लड्डू बनाने मे सिद्धहस्त थे। उनके बनाये हुए भोजनो की प्रशंसा उनके मित्र मुक्तकठ से आज भी किया करते हैं।[1]

युवावस्था मे प्रसादजी को दंड-कसरत का भी बडा शौक था। अपने शरीर को बनाने मे वे बड़े सावधान रहते थे। वे एक हजार बैठक और पाँच सौ दंड नित्य किया करते थे। उन्हे कसरत कराने वाला शिक्षक भी उनसे जोर करते हुए थक जाता था। दो-एक बार प्रसादजी ने कुश्ती-कला के विशेषज्ञो को भी परास्त कर दिया था।[2]

प्रसादजी को पहले मेला-तमाशा देखना भी अच्छा लगता था। वैसे वे भीड से घबड़ाते थे, परन्तु काशी में जो मडलियाँ होली के अवसर पर राम, लक्ष्मण आदि का वेश बनाकर गाती हुई निकलतीं, उनका आनन्द वे स्थान-स्थान पर जाकर लिया करते थे। रगभरी एकादशी के दिन वे विश्वनाथजी के मन्दिर मे शृगार देखने के लिए भी जाते थे।[3] इसके अतिरिक्त मित्रो के साथ नौका-विहार करना भी उन्हे रुचिकर प्रतीत होता था।[4]

प्रसादजी नवीनता के भी बड़े प्रेमी थे। उनके बैठने के स्थान पर नित्य-नई सजावट होती रहती थी। वे थोडे से ही परिवर्तन से नवीनता उत्पन्न किया करते थे। यदि वे ईख का रस पीते तो उसमे आम का बौर पिरवा देते, जिससे उसके स्वाद मे नवीनता आ जाती थी।[5] इसी तरह वे नवीन उक्तियों के भी बडे शौकीन थे। उन्हें निम्नलिखित दो शेरें इसीलिए बडी प्रिय थी, क्योकि इनमे उक्ति की नवीनता है :—

(१) शमा जलती है महफिल मे उड़े हैं गिर्द परवाने।
ये दोनों मिलके जलते हैं मुहब्बत का असर देखो।

(२) हमने देखी है किसी शोख की मस्ती भरी आँख।
मिलती जुलती है छलकते हुए पैमाने से।[6]

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३०।
२—वही, पृ० ३४।
३—प्रसाद की याद, संस्मरण ५, ले० रायकृष्णदास, नई धारा, माघ स० २००७, पृ ३२।
४—वही, पृ० ७।
५—प्रसाद की याद, सस्मरण ६, ले० रायकृष्णदास, नई धारा, फाल्गुन स० २००७, पृ० ३२।
६—प्रसाद की याद, संस्मरण ५, ले० रायकृष्णदास, नई धारा, माघ स० २००७, पृ० ८।

अन्य चारित्रिक विशेषताएँ—प्रसादजी अपने बड़े भाई में बड़ी आस्था रखते थे। उनके सम्मुख एक शब्द भी कहना वे मर्यादा के विरुद्ध समझते थे। वे अत्यन्त सात्विक मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। यद्यपि उनके परिवार में मांस खाना निषिद्ध न था, फिर भी वे आजीवन निरामिष आहारी बने रहे। वे कभी भी मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करते थे। केवल यदा-कदा भांग-ठंडाई अवश्य पी लिया करते थे। प्रसाद जी का सम्बन्ध श्यामा गौन्हारिन, भगवती तथा किशोरी बाई नामक वेश्याओं से बताया जाता है। परन्तु समाज के इस घृणित वर्ग में सम्बन्ध रखने पर भी वे कमलपत्रवत् उससे दूर ही रहे और कभी अपने सात्विक जीवन को कलंकित नहीं किया।[1]

प्रसादजी के हृदय में निष्कपटता एवं उदारता अत्यधिक मात्रा में थी। यदि किसी प्रकार अपनी हानि से दूसरे का भला होता, तो वे तुरन्त हानि उठाने को भी तैयार हो जाते थे, परन्तु दूसरों को कभी हानि नहीं पहुँचाते थे। इतना ही नहीं, वे निःस्वार्थ भाव से साहित्य-सेवा किया करते थे। प्रसादजी ने कभी किसी पत्र-पत्रिका से पारिश्रमिक रूप में एक पैसा भी नहीं लिया। हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी से उन्हें ५०० रुपये तथा नागरी प्रचारिणी सभा से २०० रुपये पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुए थे, किन्तु वे सब रुपये उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा काशी को अपने बड़े भाई के स्मारकस्वरूप दान कर दिये थे।[2]

प्रसादजी के हृदय में असीम करुणा एवं वेदना ने अपना घर बना लिया था। उनकी यह वेदना दीन-दुखियों की भाँति केवल द्रवीभूत ही नहीं करती थी, अपितु हृदय में मादकता की भी सृष्टि करती थी, जिससे कभी किसी का जी नहीं अघाता था। उनके करुण संगीत में रुलाने और उल्लसित करने की शक्ति थी। वे 'अभाव' को 'सर्वस्व' के रूप में ग्रहण नहीं करते थे, अपितु सर्वस्व को ही 'अभाव' से भरा हुआ पाते थे।

प्रसादजी बड़े ही धार्मिक एवं उत्सव-प्रिय व्यक्ति थे। शिव को परात्पर ब्रह्म मानते थे तथा शिवरात्रि का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया करते थे। इसके साथ ही वे निडर, निर्भीक एवं निर्द्वन्द्व मनोवृत्ति वाले पुरुष थे। उन्होंने निर्भीकता का गुण अपने ज्येष्ठ भ्राता से सीखा था और इसी निर्भीकता के कारण वे अकेले ही सम्पूर्ण आपदाओं का टटकर सामना करते रहे। भाई की मृत्यु के उपरान्त परिवार में कोई अपना कहने वाला न था। केवल एक भाभी शेष बची थी। परन्तु प्रसादजी की निर्भीक मनोवृत्ति ने ही उन्हें आगे बढ़ने

१—प्रसाद का जीवन और साहित्य, पृ० २०।

२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २६।

का साहस प्रदान किया और वे स्वयं ही सामाजिक उत्तरदायित्वों का भार अपने कंधे पर उठाकर अपने व्यवसाय एवं साहित्य-रचना के कार्यों में उत्तरोत्तर उन्नति करते रहे।

प्रसादजी के व्यक्तित्व का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वे एक अलौकिक प्रतिभा एवं उत्कृष्ट बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति थे तथा एक आदर्श व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए थे। उनका वह व्यक्तित्व अत्यन्त भव्य और आकर्षक था। उन्हें सभी प्रकार से निर्लिप्त, उदार एवं उन्नत हृदय प्राप्त हुआ था, जिससे वे प्रथम भेंट में ही प्रत्येक व्यक्ति को रिझा लेते थे, अपना बना लेते थे और वह व्यक्ति भी सदैव के लिए उनका आत्मीय बन जाता था। वे अपने युग की समस्त प्रगतिशील शक्तियों से अवगत थे। इसी कारण वे एक जागरूक नेता की भाँति साहित्य के माध्यम द्वारा समाज की उन्नति के लिए, समाज के कल्याण के लिए तथा मानवता के उत्थान के लिए सतत प्रयत्न करते रहे।

बहुमुखी प्रतिभा

प्रसादजी की प्रतिभा का विकास अनेक दिशाओं में हुआ है। उन्होंने हिन्दी साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति करते हुए उसके भण्डार को अपनी विविध रचनाओं से परिपूर्ण किया है और उसके सभी अभावों की पूर्ति करते हुए मुक्तक कविताएँ, प्रबन्धात्मक काव्य, खण्डकाव्य, महाकाव्य, गीति नाट्य, नाटक, एकांकी नाटक, कहानियाँ, कथा तथा निबन्ध पर्याप्त मात्रा में लिखे हैं।

मुक्तक-कविता—प्रसादजी की आरम्भिक ब्रजभाषा सम्बन्धी कविताओं का संग्रह 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसका प्रथम संस्करण सं० १९७५ में निकला था, जिसमें कुछ खड़ी बोली की कविताएँ भी संगृहीत थीं, परन्तु सं० १९९५ में 'चित्राधार' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें से खड़ी बोली की कवितायें निकाल दी गईं और केवल उनकी ब्रजभाषा में लिखी हुई कविताओं तथा अन्य प्राचीन रचनाओं को संकलित करके उसका प्रकाशन किया गया।[1] 'चित्राधार' का यही अन्तिम रूप है, जिसमें 'पराग', 'मकरंद बिन्दु' के अन्तर्गत कुल ६२ मुक्तक कविताएँ संगृहीत हैं।[2] इन कविताओं का अध्ययन करने पर यही ज्ञात होता है कि अधिकांश कविताएँ भारतेन्दु आदि प्राचीन कवियों के अनुकरण पर लिखी गई हैं, फिर भी उनमें पर्याप्त मौलिकता है। भाव और कला की दृष्टि से शिथिल एवं अपूर्ण नहीं

१—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन, पृ० १३।
२—चित्राधार, पृ० १३९–१४०।

हैं। इतना अवश्य है कि उनमे पद-योजना परम्परागत है, रीतिकालीन अनुप्रास-प्रियता भी है और ब्रजभाषा के प्रचलित उपमानों का ही प्रयोग हुआ है, परन्तु प्रकृति-चित्रण सुन्दर है और कहीं-कहीं पर मनोभावों का भी सजीव वर्णन मिलता है।

'चित्राधार' के अतिरिक्त प्रसादजी की खडी बोली की कविताओं का प्रथम सग्रह 'कानन-कुसुम' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम सस्करण स० १६७० मे निकला था, जिसमे केवल ४० कविताएँ थीं। स० १६७१ में इसका द्वितीय सस्करण हुआ, जिसमे कुछ और कविताएँ जोडी गई, किन्तु स० १६८६ मे इसका तृतीय सस्करण निकाला गया, जिनमे ४६ कविताएँ सगृहीत हैं। काल-क्रम से इसमे 'चित्राधार' मे सगृहीत ब्रजभाषा की कविताओं के कुछ बाद मे और कुछ उसी समय की लिखी हुई कविताएँ सकलित की गई हैं।[1] पहले 'कानन कुसुम' को 'चित्राधार' के प्रथम सस्करण में ही प्रकाशित किया गया था, परन्तु पीछे स० १६८६ मे ही इसे वह स्वतन्त्र रूप प्राप्त हुआ, जो आजकल प्रचलित है। इसकी अधिकाश कविताएँ इतिवृत्तात्मक हैं। रचना-शैली सरल है। प्रारम्भिक कविताएँ होने के कारण इनमे भावो की गहनता एव कलात्मक सौन्दर्य का सर्वथा अभाव है।

इसके अनन्तर प्रसादजी खडी बोली मे ही मुक्तक-कविताएँ लिखने लगे, जिनका सग्रह 'झरना' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम सस्करण भाद्रपद कृष्णाष्टमी स० १६७५ मे हुआ था, जिसमे केवल २५ कविताएँ थीं। किन्तु स० १६८४ मे इसका दूसरा सस्करण निकाला गया, जिसमें अन्य कविताएँ भी सकलित की गई और अब कुल ५५ कविताओं का यह सग्रह 'झरना' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे सर्वप्रथम प्रसादजी की लाक्षणिक एव प्रतीकात्मक शैली के दर्शन होते हैं। छायावादी शैली का प्रारम्भ इसी सग्रह से होता है। इसमे प्रसादजी की रहस्यवाद सम्बन्धी कविताएँ भी हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से यह रचना अपेक्षाकृत उत्कृष्ट है और इसमें नवीन भावाभिव्यक्ति एव अनुभूति की गहराई के दर्शन होते हैं।

स० १६६० मे प्रसादजी की कविताओं का तृतीय सग्रह 'लहर' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमे प्रसादजी की ४३ कविताएँ सगृहीत हैं। इनमे से 'अशोक की चिन्ता', 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'शेरसिंह का आत्म-समर्पण' तथा 'प्रलय की छाया' नामक पाँच प्रबन्धात्मक कविताएँ प्रसादजी की प्रबन्ध योजना के आरम्भिक रूप को प्रस्तुत करती हैं, जिनमे कथोपकथन, वर्णन कौशल, वस्तु-

---

१—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन, पृ० ३७-४२।

चित्रण एवं उक्ति-चमत्कार उल्लेखनीय हैं। प्रथम कविता को छोड़ कर शेष चारों कविताएँ छन्द के बन्धनों से मुक्त स्वतन्त्र शैली मे लिखी गई है, जिनमे धारावाहिकता के साथ-साथ भाव-निरूपण की अद्भुत शक्ति विद्यमान है। इनके अतिरिक्त शेष कविताओ मे जीवन की सुख-दुःखमयी अनुभूतियो, यौवन की मादक अभिलाषाओं आदि के चित्र अंकित किए गए हैं। प्रकृति-चित्रण भी यहाँ अत्यन्त सजीव है। किसी-किसी कविता मे पलायनवादी स्वर भी सुनाई पड़ता है। रचना की दृष्टि से इनमे लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, उपचार-वक्रता, मानवीकरण आदि की प्रधानता है। सभी रचनाएँ कवि की प्रौढ़ अनुभूति एव उत्कृष्ट कला की ओर संकेत करती है।

प्रबन्धात्मक काव्य—प्रसादजी का सबसे पहला प्रबन्धात्मक काव्य 'प्रेम-राज्य' है, जो स्वतन्त्र रूप से दीपावली के अवसर पर सं० १९६६ मे प्रकाशित हुआ था। उसी समय यह 'इन्दु' मासिक पत्र मे भी छपा था और आजकल 'चित्राधार' द्वितीय सस्करण मे संगृहीत है। यह एक ऐतिहासिक कथा-काव्य है, जो दो भागों मे विभाजित है। इसके पूर्वार्द्ध में विजयनगर के हिन्दू राजा सूर्यकेतु और बहमनी वश के यवन राजाओ के बीच होने वाले तालीकोट-युद्ध का वर्णन है, जिसमे मन्त्री के विश्वासघात से राजा सूर्यकेतु हार जाते हैं और उनकी मृत्यु भी हो जाती है। उत्तरार्द्ध मे राजा के पुत्र चन्द्रकेतु तथा मन्त्री की कन्या ललिता के प्रेम एव परिणय का वर्णन है। यह एक छोटा-सा काव्य है और इसकी रचना इतिवृत्तात्मक है। परन्तु इसमे युद्ध-वर्णन, प्रकृति-चित्रण तथा प्रेम-निरूपण मे प्रसादजी की कला के दर्शन होते हैं। साथ ही यहाँ शिव के विश्वम्भर रूप का वर्णन करके उन्होने अपने शैव मतावलम्बी होने का समर्थन किया है। सारा काव्य ब्रजभाषा में है और रचना-शैली मे प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया गया है।

'प्रेमराज्य' के दो मास उपरान्त पौष सं० १९६६ मे 'वन-मिलन' नामक दूसरा कथात्मक काव्य प्रकाशित हुआ। यह भी आजकल 'चित्राधार' द्वितीय संस्करण मे सकलित है। इसमे ब्रजभाषा के अन्तर्गत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक की कथा के उत्तरार्द्ध का वर्णन है अर्थात् शकुन्तला, भरत और दुष्यन्त के कण्व-आश्रम मे आने के उपरान्त अनुसूया तथा प्रियम्वदा का भी शकुन्तला के साथ हस्तिनापुर को जाने का वर्णन किया गया है। यह काव्य भी इतिवृत्तात्मक है। प्रारम्भिक प्रकृति-चित्रण तथा बीच-बीच में आए हुए उपालम्भ-पूर्ण कथोपकथन सुन्दर हैं।

सं० १९६७ मे प्रसादजी के दो छोटे-छोटे प्रबन्धात्मक काव्य प्रकाशित हुए, जो 'अयोध्या का उद्धार' तथा 'शोकोच्छ्वास' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमे से

'अयोध्या का उद्धार' नामक कथा-काव्य 'चित्राधार' के द्वितीय संस्करण में संकलित है। यह काव्य भी इतिवृत्तात्मक शैली में ब्रजभाषा के अन्तर्गत लिखा गया है। इसमें नागवंशीय कुमुद के शासन से कुश द्वारा अयोध्या के उद्धार की कथा संकलित की गई है। रचना की दृष्टि से यह काव्य अत्यन्त सरल है और इसमें विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है। दूसरा 'शोकोच्छ्वास' काव्य सम्राट् सप्तम एडवर्ड के देहावसान पर लिखा गया था। अतः यह एक छोटा सा शोक-काव्य है, जिसकी रचना रोला छन्द में ब्रजभाषा के अन्तर्गत हुई है। यह रचना भारतेन्दुजी की भाँति प्रसादजी की भी राजभक्ति का समर्थन करती है। रचना शैली सरल एवं सुबोध है।

सं० १९७१ में प्रसादजी का 'प्रेम-पथिक' काव्य स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित हुआ। यह पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था और इसका कुछ भाग इन्दु, कला १, किरण २, भाद्रपद, सं० १९६६ में प्रकाशित हुआ था। परन्तु पीछे इसे खड़ी बोली में रूपान्तरित करके प्रकाशित किया गया। पहले इसमें 'चमेली' और 'किशोर' की कथा थी, परन्तु पीछे दोनों नाम निकाल दिए गये और एक प्रेमी की प्रेम पथ द्वारा आनन्द नगर की यात्रा का वर्णन करते हुए इस काव्य की रचना की गई। इसमें प्रकृति के भावाक्षिप्त चित्र अंकित किए गये हैं और प्रेम तथा सौन्दर्य का निरूपण सुन्दर ढंग से किया गया है।

इसी वर्ष इन्दु, कला ५, खंड १, किरण ६, सं० १९७१ में 'महाराणा का महत्व' नामक एक छोटा सा ऐतिहासिक कथा-काव्य और प्रकाशित हुआ। इसमें महाराणा प्रताप के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन है तथा अरावली की घाटी में सैनिकों द्वारा पकड़ी गई नवाब पत्नी को सादर नवाब के पास लौटा देने में महाराणा प्रताप के महत्व का वर्णन किया गया है। यह काव्य नाटकीय ढंग से लिखा गया है। शैली इतिवृत्तात्मक है। अमित्राक्षर छन्द का प्रयोग किया गया है और प्रकृति के कोमल चित्रों के अतिरिक्त यहाँ पर भयानक रूप का भी सफल चित्रण किया गया है।

तदनन्तर सं० १९८२ में 'आँसू' काव्य प्रकाशित हुआ। इसके प्रथम संस्करण में केवल २५२ पंक्तियाँ थीं। परन्तु सं० १९९० में इसका द्वितीय संशोधित संस्करण निकाला गया जिसमें कुछ परिवर्तन करते हुए कुल ३८० पंक्तियाँ प्रकाशित हुईं। प्रसादजी की यही पहली काव्य-रचना है, जिसने अधिकांश लोगों को आकर्षित किया। इसमें विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत प्रसादजी ने अपने युवा जीवन की मादक स्मृतियों के चित्र अंकित किये हैं। इनकी रचना-शैली अत्यन्त प्रौढ़ है, जिसमें लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एवं उपचार-वक्रता

के साथ-साथ रहस्यमयी उक्तियों का भी समावेश हुआ है। इसमें परम्परागत उपमानों के स्थान पर नये-नये उपमानों एवं नयी पद-योजना का भी प्रयोग हुआ है। इस पर थोड़ा उर्दू-फारसी की कविता का भी प्रभाव है, जो इन्हें अपने पड़ौसी कवियों से प्राप्त हुआ था।

'आँसू' के उपरान्त स० १९९२ में 'कामायनी' महाकाव्य प्रकाशित हुआ। प्रसादजी ने 'कामायनी' का श्रीगणेश ऋषि पंचमी स० १९८५ में किया था और ७ वर्ष बाद शिवरात्रि स० १९९२ में इस महाकाव्य की समाप्ति हुई। इसका प्रथम चिन्ता सर्ग 'मनु की चिन्ता' के नाम से स० १९८५ में ही 'सुधा' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था[1] और 'काम' सर्ग का कुछ अंश नागरी प्रचारिणी सभा के 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' में 'आवरण' के नाम से प्रकाशित हुआ था।[2] आगे चलकर इनमें संशोधन एवं परिवर्द्धन करके प्रसादजी ने उन्हें 'कामायनी' में स्थान दिया। 'कामायनी' के समारम्भ काल में प्रसादजी जीर्णातिसार से पीड़ित थे और 'कामायनी' के समाप्त होने के कुछ ही दिन पश्चात् वे राजयक्ष्मा के शिकार हो गये थे।

नाटक—प्रसादजी की प्रतिभा का जैसा विकास काव्य-सृष्टि में दिखाई देता है, उससे कहीं अधिक उनकी प्रतिभा नाटकों की सृष्टि में विकसित हुई है। सबसे पहले स० १९६७ में प्रसादजी का 'सज्जन' नाटक प्रकाशित हुआ। यह नाटक आजकल 'चित्रधार' द्वितीय संस्करण में संगृहीत है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है और इसमें चित्ररथ द्वारा दुर्योधन आदि के पकड़े जाने पर अर्जुन से उन्हें मुक्त कराने में युधिष्ठिर की सज्जनता का वर्णन किया गया है। इस नाटक पर भारतेन्दुजी की शैली का पूरा-पूरा प्रभाव है और प्राचीन परम्परा के अनुसार नांदी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि का प्रयोग हुआ है। यद्यपि यह छोटा-सा नाटक है, फिर भी अपने में पूर्ण है और व्यापार की कमी नहीं है। रचना-शैली साधारण है। परिहास ठूँसने का व्यर्थ प्रयत्न किया गया है। कथोपकथनों में कविता का प्रयोग अधिक है और भाषा भी परिमार्जित नहीं है।

स० १९६९ में प्रसादजी का 'कल्याणी परिणय' नाटक प्रकाशित हुआ। इसके आरम्भ में नांदी तो है, परन्तु प्रस्तावना नहीं है। अन्त में भरत-वाक्य भी है। इसमें चाणक्य की चाल, सिल्यूकस का अभिमान एवं कातरता, कार्नेलिया का पितृप्रेम तथा चन्द्रगुप्त का शौर्य उल्लेखनीय है। यह नाटक कुछ परिवर्तित रूप में अब 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक में आगया है।

१—सुधा, वर्ष २, खंड १, संख्या ३, अक्टूबर १९२८, पृ० ४४५–४५०।
२—कोशोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० ५०७–५०९।

स० १९७० में 'करुणालय' गीति-नाट्य प्रकाशित हुआ। प्रसादजी की काव्य-सम्बन्धी स्वच्छन्द मनोवृत्ति की यह प्रथम रचना है। इसमें अनुकान्त छन्दों में अमित्राक्षर कविता के अन्तर्गत एक वैदिककालीन कथा सकलित है। यह एक प्रकार का एकांकी है, जिसमें पांच दृश्य हैं। कथोपकथन अत्यन्त सजीव एवं त्वरायुक्त हैं। प्रकृति-चित्रण भावात्मक है। नाट्य-कला की दृष्टि से तो यह रचना साधारण है, परन्तु इसमें काव्य-तत्त्व की प्रधानता है। यहाँ नान्दी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि कुछ नहीं है। इसके एक वर्ष बाद स० १९७१ में 'राज्यश्री' नाटक प्रकाशित हुआ। इसमें नान्दी तथा भरत-वाक्य का प्रयोग तो हुआ है, किन्तु प्रस्तावना नहीं है। इसी नाटक में प्रसादजी की नाट्य-कला के प्रथम दर्शन होते हैं, जहाँ वह आरम्भिक रूप में है। रचना साधारण है और चरित्र-चित्रण में अन्विति विशृंखल हो गई है, क्योंकि लेखक का उद्देश्य राज्यश्री का चरित्र-चित्रण करना रहा है, परन्तु हर्ष का चरित्र प्रधान हो गया है। फिर भी प्रारम्भिक नाटकों में यह श्रेष्ठ है।

स० १९७८ में 'विशाख' नाटक प्रकाशित हुआ। वह प्रसादजी की नाट्य-कला का सुन्दर प्रयास जान पड़ता है। इसकी कथा ऐतिहासिक है और इसमें 'विशाख' आदि के चरित्र-चित्रण सुन्दर हैं। यहाँ समय, स्थान, व्यापार आदि सभी की अन्विति मिलती है। कथोपकथन सरल एवं सुन्दर हैं। 'विशाख' के बाद स० १९७९ में 'अजातशत्रु' नाटक प्रकाशित हुआ। यह नाटक उनकी श्रेष्ठ रचनाओं में गिना जाता है। इसकी कथावस्तु जटिल है, परन्तु चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक सफल है। इनकी भाषा अपेक्षाकृत कठिन है। दार्शनिकता भी इसमें अधिक है। इस पर बौद्ध दर्शन का अधिक प्रभाव है। परन्तु इसमें नान्दी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि का प्रयोग न करके नवीन नाट्य-शैली का प्रयोग किया गया है।

'अजातशत्रु' के उपरान्त स० १९८३ में 'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रकाशित हुआ। पौराणिक युग के इतिहास से कथा लेकर प्रसादजी ने इसकी सृष्टि की है। इसमें नागों को क्षत्रिय बतलाते हुए एक सफल राष्ट्र का रूप दिया है। यह रचना नाट्य-कला की दृष्टि से सुन्दर है, परन्तु श्रेष्ठ नाटकों में इसका चतुर्थ स्थान है। स० १९८३ में ही प्रसादजी का 'कामना' नाटक प्रकाशित हुआ। इसमें मनोविकारों का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए उनका मानवीकरण किया गया है। इसे 'कॉमेडी ऑफ ह्यूमर्स' कहा जा सकता है। यह नाटक 'कामयनी' की पृष्ठभूमि के रूप में है, क्योंकि मनोविकारों को मूर्तरूप देने का जो प्रयत्न यहाँ आरम्भ हुआ है, उसका चरम विकास 'कामायनी' में हुआ है।

यह एक रूपक नाटक है और इसमें देश की स्थिति पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया गया है। इसमें सभी चरित्रों का चित्रण प्रसादजी की प्रतिभा का द्योतक है।

सं० १९८५ में 'स्कदगुप्त' नाटक प्रकाशित हुआ। प्रसादजी की नाट्यकला का यह दूसरा सुन्दर नाटक है। कथावस्तु यहाँ भी जटिल होगई है। परन्तु चरित्र-चित्रण सफल है। अभी तक प्रसादजी तीन अक का ही नाटक लिखते थे, परन्तु यह नाटक पांच अंको मे समाप्त हुआ है। इस नाटक मे अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओ, संधियों आदि का ध्यान रखकर वस्तु की योजना की गई है। स्कदगुप्त के उपरान्त सं० १९८६ में 'एक घूंट' नामक छोटा सा एकाकी नाटक प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी का प्रथम एकाकी नाटक है। इसमे एक ही दृश्य है और पात्रों का परिचय पूर्ण है। यह एक प्रतीकात्मक नाटक है। इसमे अरुणाचल आश्रम, कुंज, रसाल, वनलता, मुकुल, प्रेमलता, आनद आदि सभी प्रतीक हैं। यहां पात्रो की भरमार नही है। रचना-शैली सुन्दर है, कथोपकथन सजीव हैं और कुछ-कुछ यथार्थवादी दृष्टिकोण का भी समावेश हुआ है।

स० १९८८ मे 'चन्द्रगुप्त' नाटक प्रकाशित हुआ। इसमे नवीन ऐतिहासिक खोजो के आधार पर वस्तु का संकलन किया गया है। प्रसादजी के नाटको की वृहत्त्रयी मे यह सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु शुक्लजी 'स्कदगुप्त को प्रसादजी का सर्वश्रेष्ठ नाटक मानते हैं।[1] उनके चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी, ये तीन नाटक वृहत्त्रयी मे आते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक मे समय की अन्विति नही है। इसमे २२ वर्षों का समय लिया गया है। यह नाटक चार अको मे समाप्त हुआ है, जिसके प्रत्येक अंक मे कितने ही दृश्य आते हैं। फिर भी यह नाटक भारतीय संस्कृति, भारतीय नाट्यकला, राष्ट्रीयता एव काव्य के अनेक गुणो से युक्त है।

चन्द्रगुप्त के दो वर्ष उपरान्त स० १९९० मे 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक प्रकाशित हुआ। यह नाटक तीन अंको मे विभाजित है और भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यकला का मिश्रित रूप प्रस्तुत करता है। अन्य नाटकों की अपेक्षा यह सरलतापूर्वक अभिनेय है। इसके प्रत्येक अक मे केवल एक ही दृश्य है। यह एक समस्या-प्रधान नाटक है, परन्तु इसकी कथा ऐतिहासिक है। इसमे मोक्ष (तलाक) की समस्या पर विचार किया गया है और 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की भांति रमणी को भी वीरभोग्या ठहराया गया है तथा यह बतलाया गया है कि जो व्यक्ति रमणी की रक्षा नही कर सकता उसे उसके रखने का भी अधिकार नही है। नाट्यकला की दृष्टि से यह नाटक भी प्रसादजी के नाट्यकौशल का द्योतक है।

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५१।

इस तरह प्रसादजी ने छोटे-बडे कुल १२ नाटक लिखे हैं, जिनमे उन्होंने अपने नाटकीय कौशल को प्रदर्शित करते हुए अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है।

कहानी—सबसे पहले प्रसादजी ने 'ब्रह्मर्षि' तथा 'पचायत' नामक दो कथायें लिखी थीं, जो क्रमश स० १६६६ तथा स० १६६७ मे इन्दु के अतर्गत प्रकाशित हुई थी। य पौराणिक आधार पर लिखी हुई प्रसादजी की प्रारम्भिक कहानियाँ हैं। 'ब्रह्मर्षि मे विश्वामित्र तथा वशिष्ठ के सघर्ष की कथा है और 'पचायत' मे इस प्रश्न का उत्तर है कि स्कद और गणेश मे कौन बडा है। इसमे भव रूप पिता की पहले परिक्रमा कर आने के कारण गणेश विजयी होते हैं। 'पचायत' मे हास्य एव मनोविनोद अधिक है।

इन दो कथाओ के उपरान्त प्रसादजी की कहानियो के पाँच कहानी-सग्रह निकले, जिनमे से 'छाया' कहानी-सग्रह स० १६६६ मे, 'प्रतिध्वनि' स० १६८३ मे, 'आकाश-दीप' स० १६८६ मे, 'आँधी' स० १६८६ मे और 'इन्द्रजाल' स० १६६३ म प्रकाशित हुआ। इन सभी सग्रहो म ७० कहानियाँ सग्रहीत हैं, जिनमे से 'आकाश-दीप', 'पुरस्कार', 'मधुआ', 'गुण्डा', 'बेडी', 'देवरथ' आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी ये ऐतिहासिक तथा सामाजिक कहानियाँ हैं। इन कहानियो मे प्रसादजी का ऐतिहासिक तथा सामाजिक ज्ञान विद्यमान है। कला की दृष्टि से उनकी प्राय सभी कहानियाँ घटना और सम्वाद की गूढ व्यजना, चित्रण-कौशल और रमणीय कल्पना के सुन्दर समन्वय को प्रस्तुत करती हैं।[1]

उपन्यास—प्रसादजी ने तीन उपन्यास लिखे हैं, जिनमे से दो पूर्ण हैं और एक अपूर्ण। उनका प्रथम 'ककाल' उपन्यास स० १६८६ मे प्रकाशित हुआ। यह उनकी अत्यन्त प्रौढ रचना है। इसकी शैली सस्कृत-बहुल तत्सम-प्रधान है। इसमे समाज के धर्मावलम्बियो पर करारा व्यग्य है और समाज के खोखलेपन का यथार्थवादी चित्रण किया गया है। इसके वर्णन अत्यत सजीव हैं। इसमे अधिकाश ऐसे पात्रो का सकलन किया गया है, जो वर्णसकर हैं और समाज से बहिष्कृत होने के कारण समाज की परम्पराओ को तोडने वाले हैं। दूसरा 'तितली' उपन्यास स० १६६१ मे प्रकाशित हुआ। इसमे अभिजात्य परिवारो एव साधारण गृहस्थो के जीवन का सफल चित्रण है और ग्राम-सुधार की बौद्धिक योजना प्रस्तुत की गई है। तीसरा 'इरावती' एक ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसे प्रसादजी अधूरा ही छोड गये। इस अधूरे उपन्यास को उनकी मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित किया गया। इसके कथानक को देखने से यही ज्ञात होता है कि प्रसाद

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५४४।

जी का यह उपन्यास अत्यन्त उत्कृष्ट होता। इसमे जितने वर्णन मिलते हैं, वे सभी ऐतिहासिक वातावरण को प्रस्तुत करने मे अत्यन्त सफल सिद्ध हुए है।

निबन्ध—प्रसादजी की प्रतिभा का विकास जहाँ काव्यो, नाटकों, कहानियो और उपन्यासो मे हुआ है, वहाँ निबन्धो मे भी उनकी उत्कृष्ट प्रतिभा के दर्शन होते हैं। प्रसादजी के निबंध तीन वर्गो मे बाँटे जा सकते है—(१) साहित्यिक निबंध, (२) ऐतिहासिक निबन्ध, और (३) समीक्षात्मक निबन्ध। साहित्यिक निबन्धो के अन्तर्गत 'प्रकृति-सौन्दर्य', 'भक्ति,' 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', 'सरोज' तथा 'हिन्दी कविता का विकास'—ये पाँच निबंध आते हैं, जो इन्दु मासिक पत्र मे सं० १६६६ से लेकर स० १६६६ तक प्रकाशित हुए थे। इनमे से 'प्रकृति-सौंदर्य' तथा 'सरोज' भावात्मक निबध हैं, जिनकी भाषा तत्सम-प्रधान है तथा जिसमे संस्कृत की समासान्त पदावली का अनुकरण किया गया है परन्तु भावो का प्रवाह गद्य-काव्य के अनुकूल है। 'भक्ति' निबंध शुक्लजी के मनोविकारो पर लिखे हुए निबंधो का पूर्व रूप प्रस्तुत करता है। शेष निबंधों मे से ऐतिहासिक निबन्धो मे 'सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य' (स० १६६६), 'मौर्यो का राज्य परिवर्तन' (स० १६६६), 'आर्यावर्त का प्रथम सम्राट्'(सं० १६८५) तथा 'दाशराज्ञ युद्ध' (सं० १६८८) नामक निबन्ध आते हैं, जिनमे गवेषणात्मक सामग्री भरी पडी है। इनके अतिरिक्त प्रसादजी ने अपने नाटकों की भूमिकाएँ तथा 'कामायनी' का जो 'आमुख' लिखा है, वे भी ऐतिहासिक निबन्धो की ही कोटि मे आते हैं, क्योकि वहाँ पर भी ऐतिहासिक खोज के आधार पर सामग्री सकलित की गई है।

तीसरे समीक्षात्मक निबन्धो की कोटि मे आपके ये ग्यारह निबन्ध आते है—(१) चम्पू, (२) कवि और कविता, (३) कविता रसास्वाद, (४) काव्य और कला, (५) रहस्यवाद, (६) रस, (७) नाटको मे रस का प्रयोग, (८) नाटको का आरम्भ, (६) रगमच, (१०) आरम्भिक पाठ्य काव्य, तथा (११) यथार्थवाद और छायावाद। इनमें से अन्तिम आठ निबन्ध 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' के नाम से सकलित किये गये हैं। इन सभी निबन्धो की शैली अत्यन्त उत्कृष्ट एव समालोचनात्मक है। इनमे प्रसादजी ने शुक्लजी का विरोध करते हुए रहस्यवाद और छायावाद को विदेशी सौगात न मानकर उन्हे भारत की निजी सम्पत्ति बतलाया है। साथ ही इन निबन्धो के पढने से यह ज्ञात होता है कि प्रसादजी का अध्ययन अत्यंत विस्तृत था और वे किसी बात को समझाने की कला मे भी निपुण थे।

प्रसादजी की प्रकाशित रचनाओ की विविधता, उत्कृष्टता एवं नवीनता को देखने पर यही ज्ञात होता है कि प्रसादजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे साहित्य

की सर्वाङ्गीण उन्नति मे लगे हुए थे और अपनी रचनाओ से हिन्दी के भडार की पर्याप्त पूर्ति करना चाहते थे । आज हिन्दी साहित्य के भडार की ओर दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि प्रसादजी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से जो-जो रचनाएँ प्रस्तुत की है, वे वास्तव मे अद्वितीय हैं और उनके बिना हिन्दी साहित्य मे अभाव के दर्शन हो सकते थे । इतना ही नही, प्रसादजी ने अपनी प्रतिभा द्वारा जिन नई शैलियो एव नई विधाओ को जन्म दिया है, वे सभी हिन्दी साहित्य की अनूठी निधियाँ हैं और साहित्य के ऐतिहासिक विकास मे उनका महत्वपूर्ण स्थान है ।

प्रसाद-साहित्य मे युग-सघर्ष का स्वरूप

प्रसाद-साहित्य मे युग की साहित्यिक स्थिति का उन्मेष—प्रसादजी की सर्वप्रथम कविता स० १९६३ मे 'भारतेन्दु' मासिक पत्र मे प्रकाशित हुई थी । इससे पूर्व उनकी कोई भी प्रकाशित रचना उपलब्ध नही होती और प्रसादजी ने अपने भानजे श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्त से 'इन्दु' मासिक पत्र का प्रकाशन श्रावण सुदी २, स० १९६६ से प्रारम्भ कराया था । इन्दु के प्रकाशित होने के उपरान्त वे निरन्तर लिखते रहे । इधर 'कामायनी' स० १९९२ मे प्रकाशित हुई और उसके दो वर्ष उपरान्त स० १९९४ मे प्रसादजी का स्वर्गवास हुआ । अतः प्रसादजी का रचनाकाल स० १९६३ से स० १९९४ तक ३१ वर्ष का ठहरता है ।

भारतेन्दु-युग (स० १९२२-१९५७ वि०)—प्रसादजी ने जिस समय साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया, उससे तीन वर्ष पूर्व ही स० १९६० से प० महावीरप्रसाद द्विवेदी (स० १९२७—१९९५) ने 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य आरम्भ कर दिया था । परन्तु अभी तक उनका प्रभाव हिन्दी-क्षेत्र मे व्याप्त नही हुआ था । काशी मे अभी तक भारतेन्दु युग ही चल रहा था और हनुमान, रसीले, बेनी 'द्विज', रामकृष्ण वर्मा, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', किशोरीलाल गोस्वामी आदि सभी कवि भारतेन्दु-कालीन रचना-शैली को अपनाते हुए ब्रज-भाषा मे ही कविता कर रहे थे ।[1] अत उस समय के वातावरण से प्रसादजी भी प्रभावित हुए और उन्होंने सर्वप्रथम भारतेन्दु के साहित्य का अनुकरण करते हुए ही साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया । इसी कारण उनकी आरम्भिक रचनाओ पर भारतेन्दु एव भारतेन्दु-युग का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । भारतेन्दु ने 'रामलीला' नामक एक चम्पू लिखा था, तो प्रसादजी ने 'उर्वशी'

१—प्रसाद की याद, सस्मरण २—ले० रायकृष्णदास, हिमालय, कृष्ण-जन्माष्टमी, स० २००३, पृ० ६ ।

तथा 'बभ्रूवाहन' नामक दो चम्पू लिखे । भारतेन्दु ने 'देवीछद्मलीला', 'रानी-छद्मलीला', 'तन्मय छद्मलीला' आदि छोटे-छोटे प्रबन्धात्मक काव्य लिखे, तो प्रसादजी ने भी प्रारम्भ में 'अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन', 'प्रेमराज्य', प्रेम-पथिक', आदि प्रबन्धात्मक काव्य लिखे । भारतेन्दु ने यदि 'प्रातः समीरन', 'बकरी-विलाप', 'हिन्दी भाषा', आदि पद्य-निबन्ध लिखे थे, तो प्रसादजी ने भी 'भारतेन्दु प्रकाश', 'विदाई', 'मानस' 'शरदपूर्णिमा' आदि २२ पद्य-निबन्ध लिखे, जो 'पराग' के अन्तर्गत 'चित्राधार' मे संगृहीत हैं ।[1] भारतेन्दु ने यदि कवित्त, सवैया एवं पदो के रूप में अनेक फुटकर कविताओ की रचना की, तो प्रसादजी ने भी प्रारम्भ मे ऐसी ही मुक्तक कविताओं की रचना की, जिनमे से २३ कवित्त, ३ सवैया तथा १४ पद 'मकरन्द बिन्दु' के अन्तर्गत 'चित्राधार' मे संगृहीत हैं ।[2] ऐसे ही भारतेन्दु के पौराणिक नाटक'सत्य-हरिश्चन्द्र'की ही भाँति प्रसादजी ने 'सज्जन' नाटक लिखा और उनके ऐतिहासिक नाटक 'नीलदेवी' की भाँति प्रसादजी ने 'प्रायश्चित्त' नाटक लिखा । इतना ही नहीं, भारतेन्दु ने जिस तरह 'प्रिंस एलबर्ट' की मृत्यु पर शोक-काव्य लिखा था, उसी तरह सम्राट् सप्तम एड्वर्ड की मृत्यु पर 'शोकोच्छ्वास' लिखकर प्रसादजी ने भी उसे काशी मे वितरित कराया ।[3]

इस तरह भारतेन्दु का पूरा-पूरा अनुकरण करते हुए प्रसादजी ने अपने प्रारम्भिक साहित्य की सृष्टि की, जिससे भारतेन्दु-युग की कुछ प्रमुख विशेषताएँ भी उनके साहित्य मे मिल जाती हैं । जैसे इस युग में ब्रजभाषा की शृंगार-प्रधान कविताओं एवं समस्या-पूर्तियों की प्रधानता थी, प्रसादजी के 'चित्राधार' द्वितीय संस्करण मे 'मकरन्द बिन्दु' के अन्तर्गत सकलित अधिकाश कविताएँ शृंगार-प्रधान हैं, जो संयोग एवं वियोग की भावनाओं को लेकर ही लिखी गई हैं तथा जिनमे से कुछ कविताएँ 'बेगि प्रान प्यारे नेंक कण्ठ सो लगाओ तो', 'बिछुरन मीन की औ मिलन पतंग की', 'अखियाँ अब तो हरजाई भई' आदि समस्याओं की पूर्ति पर लिखी गई जान पड़ती हैं ।[4] इसके साथ ही भारतेन्दु-युग के विविध वर्ण्य-विषयों को अपनाते हुए प्रसादजी ने 'रसाल', 'मानस', 'उद्यान-लता', 'विदाई', 'नीरद', 'शरद-पूर्णिमा', 'इन्द्र-धनुप', 'संध्यातारा', आदि कविताएँ लिखी हैं, जिनमे दोहा, रोला, लावनी, कजरी, सवैया आदि विभिन्न छन्दो को अपनाते हुए प्रकृति के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए

१—चित्राधार, पृ० १३६–१७० ।
२—वही, पृ० १७१–१६० ।
३—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन, पृ० १६ ।
४—चित्राधार, पृ० १७४-१८३ ।

हैं।[1] भारतेन्दु-युग मे जिन प्रकार के लोक-गीतों का लिखना प्रारम्भ हो गया था, वैसे लोकगीत तो प्रसादजी ने नही लिखे हैं, किन्तु उन्हें लोक-गीतो से प्रेम था। इसी कारण प्रसादजी ने अपनी कहानियो एव उपन्यासो मे स्थान-स्थान पर लोकगीतों को उद्धृत किया है। जैसे—'बरजोरी बसे हो नयनवां में'[2] 'कही बैंगन वाली मिले तो बुला देना'[3] 'बिलमि विदेश रहे'[4] 'लगे नैन बालेपन से'[5] आदि। इसके अतिरिक्त नाटकों मे तो प्रसादजी ने भारतेन्दु-युग की शैली का अनुकरण किया, परन्तु व्यग्यात्मक निबन्धो मे वे इस युग का अनुकरण न कर सके।

द्विवेदी युग (स० १६५७-१६७१ वि०)—प्रसाद-साहित्य मे द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता एव बौद्धिकता प्रधान भावनाओ का भी थोड़ा-बहुत उन्मेष दिखाई देता है। 'चित्राधार' के उपरान्त प्रकाशित 'कानन-कुसुम' कविता सग्रह, 'करुणालय' गीति-नाट्य, 'महाराणा का महत्व' आदि प्रारम्भिक रचनाएं इतिवृत्तात्मक, उपदेशपूर्ण, नीतिपरक एवं बाह्य-वर्णन-प्रधान हैं। इनमे कल्पना की अपेक्षा बौद्धिकता का पुट अधिक है तथा विवरणात्मक वर्णन अधिक दिये गये हैं। वैसे 'प्रेम-पथिक' भी इसी काल की रचना है, परन्तु उसमे हमे प्रसादजी की स्वच्छन्द मनोवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। शेष प्रकृति चित्रण आदि म द्विवेदी-कालीन प्रभाव ही विद्यमान है। इतना अवश्य है कि प्रसादजी की इन रचनाओ मे खडी बोली का शुद्ध रूप अपनाया गया है और नवीन छदों का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त इस काल में 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' (स० १६६७), 'कवि और कविता' (स० १६६७), 'कविता रसास्वाद' (सं० १६६७), सरोज (स० १६६६), 'हिन्दी कविता का विकास'(स० १६६६) आदि निबध भी लिखे गये, जिनमे द्विवेदीकालीन भावात्मक एव विचारात्मक शैली की प्रधानता है। प्रसादजी की कई छोटी कहानियां भी इसी काल मे प्रकाशित हुई, जिनमें से ग्राम (स० १६६७), चदा (स० १६६७), मदन मृणालिनी (स० १६६८), जहांनारा (स० १६६६), अशोक (स० १६६६), सिकदर की शपथ(स० १६६६), तानसेन (स० १६६६) आदि प्रसिद्ध हैं। इन कहानियों में हमें मार्मिकता तथा शैली की शुद्धता के साथ-साथ भाव प्रधानता के भी दर्शन होते हैं और सामाजिक जीवन

१—चित्राधार, पृ० १३६-१७०।

२—आंधी, पृ० ८७।

३—इन्द्रजाल, पृ० ६२।

४—वही, पृ० ६३।

५—तितली, पृ० १५६।

का भी विश्लेषण मिल जाता है। इस काल मे प्रसादजी का कोई भी कलापूर्ण नाटक प्रकाशित नही हुआ। कल्याणी-परिणय (सं० १९६९), प्रायश्चित (सं० १९७१) आदि जो नाटक प्रकाशित हुए, इन पर भारतेन्दु का ही प्रभाव है।

छायावादी युग (सं० १९७१-१९९२ वि०)—आगे चलकर द्विवेदी-युग की स्थूल, नीति-परक, वाह्यार्थनिरूपिणी एवं इतिवृत्तात्मक कविता-प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, जिसके परिणामस्वरूप एक नये युग का श्रीगणेश हुआ, जो छायावादी युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग का प्रारम्भ प्रथम विश्व युद्ध (सं० १९७१) से माना जाता है। वैसे तो इस युग की स्वच्छंद मनोवृत्तियों का आभास द्विवेदी-युग मे श्रीधर पाठक, प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय, बद्रीनाथ भट्ट आदि की तत्कालीन रचनाओं में ही मिल जाता है, परन्तु इस युग के प्रमुख कवियो मे प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि आते हैं। प्रसादजी तो छायावादी युग के प्रवर्त्तक ही माने जाते हैं।[1] परन्तु शुक्लजी ने मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय तथा बद्रीनाथ भट्ट को छायावाद का प्रवर्त्तक बतलाया है[2] और गुप्तजी की 'नक्षत्र-निपात'[3] (सं० १९७१) कविता

१—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन, पृ० ७३।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४८।

३—गुप्तजी की "नक्षत्र-निपात" कविता इस प्रकार है—

जो स्वजनों के बीच चमकता था अभी,
आशा-पूर्वक जिसे देखते थे सभी।
होने को था अभी बहुत कुछ जो बड़ा,
हाय! वही नक्षत्र अचानक खस पड़ा।
निशि का सारा शान्त भाव हत हो गया,
नभ के उर का एक रत्न सा खो गया।
आभा उसके अमन्द अन्तिमालोक की
रेखा सी कर गई हृदय पर शोक की!
सारे तारे उसे देखते ही रहे,
हिम कण रूपी कोटि-कोटि आँसू बहे।
किन्तु न उसको बचा सका फिर इन्दु भी,
काम न कुछ कर सके अमृत के बिन्दु भी।
भूतल का भी इसी तरह का हाल है—
सचमुच निष्ठुर काल बड़ा विकराल है।

—सरस्वती, ज्येष्ठ शुक्ल ८, १९७१ वि०, पृ० १०४।

को छायावाद की प्रथम रचना कहा है। इसका मूल कारण यह है कि आपने 'इन्दु' मासिक पत्र की फाइलें उलटने का कष्ट नहीं किया और केवल 'सरस्वती' की फाइलों के आधार पर ही अपनी यह राय स्थिर की है। यदि 'इन्दु' की फाइलें उठाकर देखी जायँ तो पता चलेगा कि छायावाद मे जिस स्वच्छद मनोवृत्ति के अनुकूल नय-नये छद विधान और अभिव्यजना की नई प्रणालियो को अपनाया गया है, उनमे से नयेन्नये मात्रिक एव अतुकान्त छदो का प्रयोग तो प्रसादजी 'करुणालय' (माघ स० १६६६), 'महाराणा का महत्व' (स० १९७१), और प्रेमपथिक (स० १६७१) से ही करने लगे थे। इसके अतिरिक्त अनूठी अभिव्यजना भी 'करुणालय' मे यत्किंचित् विद्यमान है। जैसे—

> "सघन लता दल मिले जहाँ हैं प्रेम से,
> शीतल जल का स्रोत जहाँ है वह रहा।
> सिह के आसन बिछे पवन परिमल मिला,
> वहता है दिन रात, वहाँ जाना तुम्हे ?
> सुनो ग्रीष्म के पथिक न ठहरो फिर यहाँ
> चलो, बढो ! वह रम्य भवन अति दूर है।"[1]

अत 'करुणालय' के आधार पर ही प्रसादजी 'छायावाद' के प्रवर्त्तक माने जा सकते हैं। परन्तु शुक्लजी ने लिखा है कि–" 'झरना' की उन २४ कविताओ म उस समय नूतन पद्धति पर निकली हुई कविताओ से कोई ऐसी विशिष्टता नही थी जिस पर ध्यान जाता। दूसरे सस्करण मे, जो बहुत पीछे स० १९८४ मे निकला, पुस्तक का स्वरूप ही बदल गया। उसमे आधी से ऊपर अर्थात् ३१ नई रचनाएँ जोडी गई, जिनमे पूरा रहस्यवाद, अभिव्यजना का अनूठापन, व्यजक चित्र-विधान सब कुछ मिल जाता है। 'विषाद', बालू की वेला', 'खोलो द्वार', 'बिखरा हुआ प्रेम', 'किरण', 'वसत की प्रतीक्षा' इत्यादि उन्ही पीछे जोडी हुई रचनाओ मे हैं, जो पहले (स० १९७५) के सस्करण मे नही थी। इस द्वितीय सस्करण मे ही छायावाद कही जाने वाली विशेषताएँ स्फुट रूप में दिखाई पडी।"[2]

इस कथन के आधार पर यह सिद्ध होता है कि उक्त सग्रह की 'खोलो द्वार' कविता छायावादी शैली पर लिखी गई है। यह कविता 'इन्दु' मे पौष

१—करुणालय, पृ० ६।
२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६७६।

सं० १९७० (जनवरी १९१४ ई० में) प्रकाशित हुई थी[1], और उधर शुक्लजी ने गुप्तजी की 'नक्षत्र-निपात' कविता को छायावाद की प्रथम कविता कहा है। किन्तु वह कविता सरस्वती में ज्येष्ठ सं० १९७१ (जून १९१४ ई०) में प्रकाशित हुई थी। अतः इस आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि गुप्तजी की अपेक्षा प्रसादजी ही छायावाद के प्रारम्भकर्त्ता हैं और उनकी 'इन्दु' सं० १९६९ तथा १९७० में प्रकाशित अधिकांश कविताएँ छायावाद का स्वरूप प्रस्तुत करती हैं, जिनको पीछे 'झरना' के रूप में संगृहीत करके प्रकाशित किया गया था।

'झरना' के अतिरिक्त 'आँसू' और 'लहर' भी इस युग के प्रमुख काव्य हैं, जिनमे 'छायावाद' की प्रौढ कला का विकसित रूप दिखाई देता है। इन कविताओं मे प्रकृति के सचेतन रूप के साथ-साथ मानव-जीवन के रहस्यात्मक चित्र भी विद्यमान हैं और सुख-दुख की आँख-मिचौनी के साथ ही जीवन की अनुभूति-प्रधान झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जिनमे द्विवेदीकालीन नीति-परक कविता के विरुद्ध शृङ्गार के शुद्ध एवं परिमार्जित रूप के दर्शन होते हैं। प्रसादजी की प्रौढ़तम रचनाओं का यही स्वर्ण-युग है। इसी युग मे आपने 'कंकाल', 'तितली' और

१—प्रसादजी की 'खोलो द्वार' कविता इस प्रकार है—

"शिशिर कणों से लदी हुई, कमली के भीगे हैं सब तार।
चलता है पश्चिम मारुत, लेकर शीतलता का भार॥
भीग रहा है रजनी का वह, सुन्दर कोमल कबरी-भार।
अरुण किरण सम कर से छू लो, खोलो प्रियतम! खोलो द्वार॥
धूल लगी है, पद काँटों से बिधा हुआ, है दुःख अपार।
किसी तरह से भूला-भटका, आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार॥
डरो न इतना, धूलि-धूसरित, होगा नहीं तुम्हारा द्वार।
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार॥
मेरे धूलि लगे पैरों से, इतना करो न घृणा प्रकाश।
मेरे ऐसे धूल कणों से, कब, तेरे पद को अवकाश॥
पैरों ही से लिपटा-लिपटा कर लूँगा निज पद निर्धार।
अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ, पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार।
सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार—
मिट जावे जो तुमको देखूँ खोलो, प्रियतम! खोलो द्वार॥"

—इन्दु कला ५, खंड १, पौष, १९७० वि०।

इरावती (अपूर्ण) जैसे सुन्दर उपन्यास लिखे और इसी युग मे अनूठी अभिव्यजना के साथ लिखी हुई कहानियो के सग्रह 'प्रतिध्वनि' (स० १९८३), 'आकाशदीप (स० १९८६), 'आँधी' (स० १९८६), इन्द्रजाल' (स० १९९३) के नाम से प्रकाशित हुए, जिनम जीवन की मार्मिक व्याख्या की गई है। इसी युग मे प्रसादजी के 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि श्रेष्ठ नाटक प्रकाशित हुए, जिनमे सवाद एव घटना की गूढ व्यजना के साथ-साथ ऐतिहासिक तत्त्व की भी रक्षा हुई है और नाटय-कला के अभिनव रूप को अपनाते हुए उत्कृष्ट शैली, उपयुक्त चरित्र-चित्रण, देश-प्रेम, मानवता आदि का भी सम्यक् निरूपण हुआ है। इतना अवश्य है कि उनके श्रेष्ठ नाटक सरलता से अभिनेय नही हैं, परन्तु थोडा-बहुत परिवर्तन करके उन्हे सफलता के साथ रगमच के अनुकूल बनाया जा सकता है।

इस युग मे लिखा हुआ प्रसादजी का निबध-साहित्य भी उत्कृष्ट है, जिसमे से अच्छे-अच्छे निबधो का सकलन 'काव्य और कला तथा अन्य निबध' के नाम से किया गया है। इन निबधो मे उनकी गूढ समीक्षा-पद्धति एव गवेषणात्मक शैली के दर्शन होते हैं। 'काव्य और कला' 'रहस्यवाद', 'छायावाद', जैसे निबधो मे युग प्रवृति का ऐतिहासिक आधार पर सम्यक् विवेचन किया गया है। इन निबधो मे प्रसादजी की उत्कृष्ट समालोचना-शैली के भी दर्शन होते हैं।

निष्कर्ष यह है कि छायावादी युग मे ही प्रसाद-साहित्य के चरम विकास के दर्शन होते हैं, जिसमे वे द्विवेदी युग की नीति परक इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया के रूप मे शृगार के स्वस्थ, शुद्ध एव सर्वजनीन रूप को लेकर अवतीर्ण हुए। इस युग की उनकी समस्त रचनाओ मे अभिव्यजना की अनूठी पद्धति विद्यमान है। इस युग मे आते-आते उनकी शैली इतनी मँज गई थी कि क्या कविता, क्या नाटक, क्या कहानी और क्या निबन्ध, सभी मे लाक्षणिकता एव व्यग्य का प्राधान्य हो गया और वे सर्वत्र एक सी शैली का ही प्रयोग करने लगे। इसी का पूर्ण विकास 'कामयनी' मे हुआ है।

टैगोर का सौन्दर्य-परक प्रभाव—विश्व-विश्रुत कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर को स० १९७० मे गीताजलि पर नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ, जिसका प्रभाव हिन्दी जगत पर भी पडा और अधिकाश हिन्दी के युवक-कवि गीताजलि की सौन्दर्य-प्रधान कविताओं से प्रभावित होकर हिन्दी मे रचना करने लगे। टैगोर की इन कविताओं मे एक दिव्य एव व्यापक सौन्दर्यानुभूति के दर्शन होते हैं। उन्होंने सौन्दर्य को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया है और अपने दिव्य नेत्रो से इस विश्व-व्यापी सौन्दर्य की वह झलक देखी है, जो कण-कण मे विद्यमान है, सत्य है,

अखड है, शाश्वत है और जिसमें भोग और त्याग का पूर्ण सामंजस्य है। वे इसी विश्वव्यापी सौन्दर्य के उपासक होने के कारण ससार में ब्रह्म की झलक देखते थे, संसार को सत्य बतलाते थे तथा भोग और त्याग के सामंजस्य मे अथवा प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय मे ही जीवन की सार्थकता सिद्ध करते थे। वे सौन्दर्य का उपभोग करने के लिए हृदय की पवित्रता तथा संयम को अत्यावश्यक समझते थे और कहा करते थे कि—"ससार के समस्त सौन्दर्य के, समस्त महिमा के अन्त पुर मे जो सती लक्ष्मी विराजमान है, वह भी हमारे सम्मुख ही है, किन्तु शुद्ध न होने के कारण हम उसे नही देख सकते। जब हम विलास मे खूब गोते खाते हैं, भोग के नशे मे मस्त होकर घूमते हैं, तब समस्त ससार की आलोक-वसना सती लक्ष्मी हमारी दृष्टि के सामने से अन्तर्हित हो जाती है।"[1] वे सत्य, शिवं, सुन्दरम् का पूर्ण सामजस्य करने वाली दृष्टि के लिये ही अपने दिव्य सौन्दर्य को गोचर कहा करते थे और इसी सौन्दर्यानुभूति में आनन्द की अनुभूति का होना भी बतलाया करते थे। उनका कहना था कि—"सौन्दर्य विश्व की प्रत्येक वस्तु मे व्याप्त है, इसलिये प्रत्येक वस्तु हमारे आनन्द का स्रोत बन सकती है।"[2]

टैगोर की इस व्यापक सौन्दर्यानुभूति के समान ही प्रसादजी की भी सौन्दर्य सम्बन्धी भावनायें दृष्टिगोचर होती हैं। वे भी सौन्दर्य को प्रियदर्शन कहते हुए सर्वत्र व्याप्त बतलाते हैं[3] और उसमे 'सत्य एव शिव' का भी समावेश स्वीकार करते हैं।[4] इतनी ही नही, टैगोर की ही भाँति वे भी विश्वात्मा को सुन्दरतम कहते हैं तथा उसके स्निग्ध, शान्त एवं गम्भीर महासौंदर्य-सुधासागर के कणों को ही इस विश्व में सर्वत्र फैला हुआ बतलाते हैं।[5] इसी कारण प्रसादजी की दृष्टि मे भी सृष्टि का सब कुछ अभिराम है तथा एक से मनोहर दृश्य यहाँ भरे पड़े हैं।[6] इस तरह प्रसादजी भी दिव्य एवं आध्यात्मिक सौन्दर्य के उपासक हैं और उन्हे भी 'उस सुन्दरतम की सुन्दरता' ही विश्वमात्र मे छाई हुई दिखलाई देती है।[7] इतना ही नही, प्रसादजी ने भी सौन्दर्यानुभूति मे भोग एव त्याग तथा मिलन एवं विरह का सफल सामजस्य स्थापित किया है।[8] इसके अतिरिक्त टैगोर की भाँति प्रसादजी ने भी सौन्दर्य और आनन्द का अटूट सम्बन्ध

१—साहित्य, पृ० २८। २—साधना, पृ० १०६।
३—कानन-कुसुम, पृ० ५१। ४—आँसू, पृ० १६।
५—प्रेम-पथिक, पृ २५। ६—झरना, पृ० ५२।
७—प्रेम-पथिक, पृ० २४। ८—प्रेम-पथिक, पृ० २६, आँसू, पृ० ४६।

स्थापित किया है है[1] तथा लिखा है कि 'आनन्द का अतरग सरलता है और बहिरग सौन्दर्य है, इसी मे वह स्वस्थ रहता है।'[2] अत पवित्र एव सरल हृदय मे ही इस दिव्य सौन्दर्य की अनुभूति हो सकती है और उसी को आन्तरिक आनन्द का अनुभव हो सकता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी की सौन्दर्य-भावना महाकवि टैगोर की सौन्दर्य-भावना के ही समकक्ष ठहरती है। कुछ स्थलो पर वह टैगोर से प्रभावित भी है, परन्तु यह दिव्य सौन्दर्यानुभूति छायावादी कवियो की अपनी वस्तु है, क्योकि इन कवियो ने सर्वत्र व्यापक सौन्दर्य के दर्शन किए है और उसी से प्रभावित होकर अपनी भावनाओ को व्यक्त किया है।

प्रसाद-साहित्य मे युग की सामाजिक स्थिति का उन्मेष—प्रसाद-साहित्य तत्कालीन ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना-समाज आदि सम्पूर्ण सुधारवादी सामाजिक सस्थाओ के विचारो से प्रभावित है। इस युग मे सभी सामाजिक सस्थाओ द्वारा ईश्वर की व्यापक सत्ता मे विश्वास प्रगट किया गया है और धार्मिक सकीर्णता का उच्छेद करके सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता का वर्त्ताव करने का आग्रह किया गया है। प्रसादजी की 'नमस्कार' तथा 'मन्दिर' कविताओ मे भी उक्त भावनाएँ बडे सयत ढग से व्यक्त हुई है और उस ईश्वर को सर्वत्र व्याप्त बतलाते हुए मन्दिर पगोडा, गिरजा आदि को भक्ति भावना के छोटे-बडे नमूने बतलाया गया है।[3]

वर्ण व्यवस्था की बुराइयो को प्रसादजी भी अच्छी तरह समझते थे, क्योकि ऊँच-नीच, छूआछूत, छोटा-बडा आदि की भावनाओ का प्रचार इसी वर्ण व्यवस्था द्वारा हुआ है। वे यह जानते थे कि 'भारतवर्ष आज वर्णों और जातियो के बन्धन मे जकड कर कष्ट पारहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी छूँछी महत्ता पर इतराता हुआ दूसरे को नीचा—अपने से छोटा समझता है, जिससे सामाजिक विषमता का विषमय प्रभाव फैल रहा है।'[4] अत उन्होंने भी समस्त जातियो एव सम्पूर्ण जगत को उस प्रेममय सर्वेश का अग बतलाया[5] और निम्न वर्ग के व्यक्तियो के प्रति सहानुभूति प्रकट करने, उनकी पीडा सुनने, सात्वना देने, उनकी सुधबुध लेने आदि की सलाह दी[6] साथ ही सामाजिक एकता एव समानता की घोषणा करते हुए कहा कि 'एक बार फिर स्मरण रखना चाहिए

१—प्रेम पथिक, पृ० २५। २—एक घूंट, पृ० २०।
३—कानन-कुसुम, पृ० ४-६। ४—कंकाल, पृ० ३४८-३५०।
५—कानन-कुसुम, पृ० ३१। ६—कानन-कुसुम, पृ० ४५।

कि हम लोग एक है, ठीक उसी प्रकार जैसे श्रीकृष्ण ने कहा है—'अविभक्तं च भूतेषु विभक्त विभक्तमिव च स्थितम्'—यह विभक्त होना कर्म के लिए है, चक्र प्रवर्त्तन को नियमित रखने के लिए है।[1] अत. यह विभाजन ईश्वर-कृत नही हैं, अपितु सम्पत्ति-अधिकार और विद्या के कारण हो गया है।[2] इसी कारण प्रसादजी ने मत-धर्म आदि को दूर करके मानव-मात्र से प्रेम करने, ससार भर को मित्र बनाने तथा सभी को उस परमपिता की प्यारी सतान बतलाकर परस्पर अभिन्न होकर रहने का आग्रह किया है।[3]

प्रसादजी के साहित्य मे सीमित मानव-समाज की एकता या समानता का वर्णन नही है, अपितु वहाँ विश्व-बधुत्व की भावना अथवा सम्पूर्ण मानवता के प्रेम का वर्णन मिलता है। उन्होने 'कामना' नाटक मे स्पष्ट लिखा है—"आत्म-प्रतारको ! उस दिन की प्रतीक्षा मे कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासको का भेद विलीन होकर विराट विश्व, जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अनुभव करेगा।"[4] वे विश्व-भर में एक कुटुम्ब स्थापित होने की कामना करते हैं और मानव-मात्र से स्नेह करते हुए ऐसी मानवता के अनुयायी हैं, जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूल कर मनुष्य मनुष्य से प्यार करता है।[5]

प्रसाद-साहित्य मे स्त्री-स्वातन्त्र्य, स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री-पुरुष की समानता के विचार भी स्थान-स्थान पर व्यक्त हुए हैं। 'अजातशत्रु' नाटक मे आपने नारी-पुरुष की समानता, नारी-स्वातन्त्र्य एव नारी के विद्रोह की झाँकी प्रस्तुत की है। अन्त मे इस समस्या का समाधान करते हुए आपने बतलाया है कि नारी और पुरुष में समानता कैसे हो सकती है, नारी तो पुरुष की अपेक्षा कही महान् है, 'वह तो स्नेह, सेवा और करुणा की मूर्ति है, सान्त्वना के लिए अभय-वरद हस्त है, मानव-समाज की सारी वृत्तियो की कुंजी है और विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति-स्वरूपा है, उसके राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की सकीर्ण।'[6] इतना ही नही, उन्होने एक कुलवती गृहिणी को धैर्य, सहिष्णुता, शील और कल्याण-कामना से युक्त सुख-दुख में सर्वदा प्रसन्न रहने वाली तथा अन्नपूर्णा कहा है।[7] साथ ही नारी के लिए ऐसे पुरुष का परित्याग करने की भी सलाह दी है, जो क्लीव हो, अपनी पत्नी को दूसरे की अकगामिनी बनाने मे सकोच न करे और जो पत्नी का सुख-दुख मे साथ न दे।[8] अतः आप

१—कंकाल, पृ० ३५१।
२—कंकाल, पृ० ३८८।
३—कानन-कुसुम, पृ० ३१-३२।
४—कामना, पृ० ६८।
५—इन्द्रजाल, पृ० २१।
६—अजातशत्रु, पृ० १२४-१२५।
७—इरावती, पृ० ८७।
८—ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६३।

नारी-स्वातन्त्र्य तो चाहते हैं, परन्तु स्त्री-पुरुष की समानता को यथेष्ट नहीं समझते और नारी को पुरुष की अपेक्षा कही महान् एव मानवमात्र पर शासन करने वाली शक्ति मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'तितली' उपन्यास मे कन्या पाठशाला की व्यवस्था तथा कन्या गुरुकुल की कल्पना द्वारा प्रसादजी ने स्त्री शिक्षा पर भी जोर दिया है।[1]

प्रसाद-साहित्य मे सामाजिक सेवा-भाव को भी अधिक महत्व दिया गया है। उनके नाटको मे यह सेवा-भाव अधिक मुखरित हुआ है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक का पर्णदत्त क्षत्रिय होकर भी देश के बहुत से दुर्दशा-ग्रस्त वीर-हृदयो की सेवा मे अपना जीवन व्यतीत करता है। वहाँ देवसेना भी आश्रम मे रहकर दीन-हीनो की सेवा मे लीन रहती है।[2] 'अजातशत्रु' नाटक मे मल्लिका अपने पति का वध करने वाला की सेवा-शुश्रूषा बडी तन्मयता के साथ करती है।[3] 'तितली' उपन्यास मे शैला तथा तितली अपनी अनवरत समाज-सेवा द्वारा धामपुर गाँव मे सुन्दर सगठन स्थापित करती हैं, पाठशाला, बैंक और चिकित्सालय आदि खोलती हैं और समस्त गाँव मे नया उल्लास एव नई उमग भर देती हैं।[4]

प्रसादजी ने सप्तम एडवर्ड की मृत्यु पर लिखी हुई अपनी कविता 'समाधि सुमन'[5] तथा सम्राट पचम जार्ज के आगमन पर रचित 'गजराजेश्वर'[6] कविता मे अँग्रेजी राज्य तथा अँग्रेज सम्राटो की प्रशसा अवश्य की है, किन्तु उनकी शासन-व्यवस्था एव उनके सामाजिक सुधारों की व्यग्यपूर्ण आलोचना भी की है, जैसा कि वे 'कामना' मे लिखते हैं—'देश मे धनवान और निर्धन, शासको का तीव्र तेज, दीनो की विनम्र दयनीय दासता, सैनिक बल का प्रचड प्रताप, किसानो की भारवाही पशु की सी पराधीनता, ऊँच और नीच, अभिजात और वर्बर, सैनिक और किसान, शिल्पी और व्यापारी और इन सभी के ऊपर सम्य व्यवस्थापक सब कुछ तो हैं। नये-नये सदेश, नये-नये उद्देश्य, नई-नई सस्थाओ का प्रचार सब कुछ सोना और मदिरा के बल पर हो रहा है।'[7] इसके साथ ही 'ग्राम' कहानी मे उन्होंने अँग्रेजो द्वारा स्थापित जमीदारी प्रथा का उल्लेख करते हुए यह भी बतलाया है कि किस प्रकार महाजन-जमीदार किसानो से रुपया वसूल करके अँग्रेजों की नीति के अनुसार ग्रामो का शोषण किया करते थे।[8] वे भली

१—तितली, पृ० २३२,२३७। २—स्कन्दगुप्त, पृ० १३६।
३—अजातशत्रु, पृ० ११६। ४—तितली, पृ० २६५।
५—इन्दु, कला १, किरण ११, ज्येष्ठ १६६७, पृ० १६४-१६५।
६—इन्दु, कला ३, किरण ३, फरवरी १६१२ ई०, पृ० २०३।
७—कामना, पृ० ७६। ८—छाया, पृ० २३-२८।

प्रकार जानते थे कि इन साहसी उद्योगी अंग्रेजों ने भारत का अकूत धन ले जाकर अपने कोष मे जमा किया है, और इसी धन के बल पर उनके यहाँ 'सुगन्ध-जल के फौवारे छूटते हैं, बिजली के गरम कमरों मे जाते ही कपड़े उतार देने की आवश्यकता होती है'[1], और दूसरी ओर इस भारत में प्राकृतिक पदार्थों का अपव्यय करके 'जनता को दरिद्र बनाया जा रहा है, उनकी वृत्ति के उद्गम को बन्द कर देने का उपक्रम हो रहा है, जिससे इस देश के बच्चे दुर्बल, चिन्ताग्रस्त और झुके हुए दिखाई देते हैं ··· छिपकर बातें करना, कानों मे मत्रणा करना, छुरों की चमक से आँखों मे त्रास उत्पन्न करना, वीरता के नाम से किसी अद्भुत पदार्थ की ओर दौड़ना—युवकों का कर्त्तव्य हो रहा है। कहते हैं, हम धीरे-धीरे सभ्य हो रहे हैं।'[2]

इस प्रकार प्रसाद-साहित्य मे चित्रित सामाजिक स्थिति का विवेचन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रसादजी ने अपने युग की सामाजिक दशा का अच्छी तरह निरीक्षण किया था। इसी कारण उन्होंने अपने साहित्य मे उसका स्वरूप अंकित करके समाज को उसकी भलाई-बुराई आदि से अवगत कराने का प्रयत्न किया और सुधार के लिए जो-जो उपयुक्त प्रयत्न हो सकते थे, उनको भी बतलाने की चेष्टा की। उनका लक्ष्य ही समाज की बुराइयों को दूर करके सर्वत्र एक स्वस्थ, सम्पन्न एव उन्नतशील समाज की स्थापना करना था। इसी-लिए वे अतीत और वर्तमान से सामग्री लेकर ऐसे साहित्य की सृष्टि करते रहे, जिसमे मानवता-प्रेम को प्रश्रय मिले, विश्व-बन्धुत्व के भाव जाग्रत हों, समाज-सेवा की ओर जनता अग्रसर हो और समाज के स्त्री-पुरुष पारस्परिक कलह, द्वेष आदि से दूर होकर अपनी वर्तमान आर्थिक दशा को देखते हुए देश और समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए प्रयत्नशील हों। 'कामायनी' से पूर्व प्रसाद-साहित्य की यही समाज के लिए देन है और अन्त में इसी का पूर्ण विकास 'कामायनी' मे हुआ है।

प्रसाद-साहित्य में ऐतिहासिक एव राजनीतिक स्थिति का उन्मेष—प्रसाद-युग मे राजनीतिक क्षेत्र के अन्तर्गत पर्याप्त जागृति थी। अंग्रेजों के अत्याचारों से पीड़ित जनता स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए क्रान्ति मचा रही थी और उस क्रान्ति में सक्रिय भाग लेकर देश मे सुशासन एवं सुव्यवस्था स्थिर कराने का प्रयत्न कर रही थी। साथ ही गांधीजी के सत्य, अहिंसा, सेवा, ग्राम-सुधार, सर्वोदय की भावना आदि को अपनाकर सारा देश एक नवीन प्रकार के आन्दोलन में भाग ले रहा था और अंग्रेजो की दमन-नीति का साहस, दृढ़ता,

१—तितली, पृ० १८-१९। २—कामना, पृ० ८३, ४३-४४।

शान्ति एवं संयम के साथ सामना करता हुआ स्वतन्त्रता-संग्राम में अग्रसर हो रहा था।

यद्यपि प्रसाद-साहित्य में समस्त ऐतिहासिक एवं राजनीतिक घटनाओं की ओर तो संकेत नहीं मिलते, फिर भी उनके साहित्य में प्रमुख-प्रमुख घटनाओं के संकेत मिल जाते हैं। सर्वप्रथम सं० १९१४ में होने वाले प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम या सिपाही विद्रोह का उल्लेख करते हुए प्रसादजी ने दो कहानियाँ लिखी हैं—'शरणागत' तथा 'गुण्डा'। 'शरणागत' कहानी में भारतीयों की अँग्रेज शरणागतों के प्रति की गई सहानुभूति का उल्लेख किया है।[1] तथा 'गुण्डा' कहानी में अँग्रेजी अफसर हेस्टिंग्ज द्वारा तत्कालीन काशीराजा चेतसिंह के साथ किए गए दुर्व्यवहार का वर्णन है।[2] प्रसादजी ने अँग्रेजों के समय में सं० १९३८, १९५५, १९५६ आदि में पड़ने वाले दुर्भिक्षों का वर्णन भी बड़ी सजीवता के साथ किया है। उनके 'करुणालय'[3] तथा 'तितली'[4] उपन्यास में उक्त दुर्भिक्षों का संकेत विद्यमान है।

सं० १९४३ में कांग्रेस की स्थापना के उपरान्त देश में राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, स्वतन्त्रता आदि की जो भावनाएँ विकसित हुईं तथा विपिनचन्द्रपाल, अरविंद घोष, तिलक आदि ने देश को संगठित करके विदेशी सत्ता एवं विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने का जो प्रयत्न किया, उसका आभास प्रसाद के 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना', 'स्कंदगुप्त', चन्द्रगुप्त' आदि नाटकों में मिलता है। जैसे, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में मनसा तथा उसकी दो सखियों के गाने में देश के युवकों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संगठित होने का संकेत किया है।[5] 'कामना' नाटक में विदेशी विलास की शासन-सभा, राज्य व्यवस्था आदि का उल्लेख करके विदेशी सत्ता एवं विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करते हुए अँग्रेजों की दमन-नीति पूर्ण शासन-व्यवस्था पर करारा व्यंग किया है।[6] 'स्कन्दगुप्त, में देश प्रेम की भावना जाग्रत करते हुए भारतवर्ष पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए जोर देते हुए लिखा है —

"जिएँ तो सदा उसी के लिए यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर करदें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष॥"[7]

१—छाया, पृ० ४३-४८।
२—इन्द्रजाल, पृ० ६१-१०६।
३—करुणालय, पृ० ११-१२।
४—तितली, पृ० ७-८।
५—जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ८३।
६—कामना, पृ० ३२, ७२, ७६, ६७।
७—स्कंदगुप्त, पृ० १५१।

इसी तरह 'चन्द्रगुप्त' नाटक मे गाधर की राजपुत्री अलका अपने हाथ मे झंडा लेकर स्वातंत्र्य गान गाती हुई देश के युवको को विदेशी आक्रमणकारियो के विरुद्ध युद्ध करने की भावना जाग्रत करती है।[1]

सं० १९६८ मे जार्ज पचम के आगमन पर प्रसादजी ने 'राज-राजेश्वर' कविता लिखी, जो 'स्वागत,' 'दरबार' तथा 'विदा'—इन तीन शीर्षको मे बँटी हुई है तथा जिसमें दिल्ली के दरबार का वर्णन किया है।[2]

सं० १९७१ से सं० १९७५ तक जो प्रथम विश्व-युद्ध हुआ उसका सकेत 'अजातशत्रु' नाटक मे विद्यमान हैं, क्योकि वहाँ स्थान-स्थान पर ससार भर के युद्ध, विप्लव, विद्रोह, सघर्ष आदि का उल्लेख किया गया है।[3]

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त भारत की स्वतन्त्रता के प्राप्त न होने पर जो यहाँ पर बम-विस्फोट, हत्याकाण्ड आदि हुए तथा जिनके परिणामस्वरूप देश के कितने ही नेताओं एवं व्यक्तियो को बन्दी बनाया गया, उन सभी बातो की ओर संकेत करते हुए प्रसादजी ने 'अजातशत्रु' नाटक मे लिखा है कि—"क्या विप्लव हो रहा है। ·· ··अधी जनता अँधेरे मे दौड रही है·· ···मनुष्य मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्र-कला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओ को लेकर कवि कविता करते हैं, बर्बर रक्त मे और भी उष्णता उत्पन्न करते हैं। राजमन्दिर बंदीगृह मे बदल गये हैं। कभी सौहार्द से जिसका आतिथ्य कर सकते थे उसी को बन्दी बनाकर रखा है।"[4]

इसके अनन्तर गाधीजी ने राजनीति के क्षेत्र मे पदार्पण करके सत्य को अपनाते हुए सत्याग्रह करने तथा नैतिकता का आधार लेकर सविनयअवज्ञा-आन्दोलन करने की प्रणालियो द्वारा राजनीति का सम्बन्ध नीति एव धर्म मे स्थापित किया। प्रसादजी ने भी गाधीजी की विचारधारा से सहमत होकर 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक मे लिखा है—"राजनीति ही मनुष्यों के लिए सब कुछ नही है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ धो न बैठो, जिसका विश्व मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है।"[5] तदनन्तर 'जनमेजय का नागयज्ञ' मे उन्होंने स्पष्ट घोषित किया है—"क्या धर्म कोई इतर वस्तु है? वह तो व्यापक है। भला बिना उसके कही राष्ट्रनीति चल सकती है?" आगे चल कर सत्याग्रह के आन्दोलन की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं—"अन्त मे वही विजयी होता

१—चंद्रगुप्त, पृ० २१७–२१८।
२—इन्दु, कला ३, किरण ३, फरवरी सन् १९१८, पृ० २०३।
३—अजातशत्रु, पृ० ८७, ९०।
४—वही, पृ० ११३।
५—ध्रुवस्वामिनी, पृ० ४४।

है, जो सत्य को परम ध्येय समझता है।"[1] साथ ही गांधीजी की विचारधारा का पालन करते हुए प्रसादजी ने 'तितली' उपन्यास मे ग्राम-सुधार पर भी जोर दिया है, और तितली तथा शैला के निरन्तर उद्योग द्वारा धामपुर ग्राम मे चकबन्दी कराते हुए समस्त किसानो की सुख-सुविधाओ का ध्यान रखा है और उनके लिए अस्पताल, रात्रि-पाठशाला, बैंक आदि खुलवाये हैं। वहाँ पर साफ-सुथरी सडकें, नालो पर पुल तथा अनेक करघो की व्यवस्था की गई है और इतना सुधार दिखलाया गया है कि जिससे वह साधारण गाँव नगर से भी अधिक सुन्दर बन गया है।[2] इस तरह प्रसाद-साहित्य मे गांधीजी की नीति का पर्याप्त समर्थन मिलता है कि वे गांधीजी की निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्धति को नही मानते थे और इसी कारण उन्होंने अपने नाटको मे सर्वत्र सक्रिय प्रतिरोध को महत्व देते हुए देश मे सु-व्यवस्था स्थापित करान का उपक्रम किया है।

प्रसादजी का अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्मन्थन—'कामायनी' की पृष्ठभूमि को जानने के लिए अभी तक युग की जिन प्रवृत्तिया एव प्रेरणाओं का दिग्दर्शन कराया गया है, उनमे ही प्रसाद-साहित्य का अन्तर्द्वन्द्व एव अन्तर्मन्थन भी आ जाता है, क्याकि प्रसादजी के हृदय मे व्याप्त अन्तर्द्वन्द्व उनके समस्त नाटको एव कविताओं मे व्यक्त हुआ है और इसी के आधार पर आगे चलकर 'कामायनी' म भी इसकी प्रधानता हो गई है। श्री कृष्णदास जी के मतानुसार प्रसादजी के नाटक केवल बाह्यद्वन्द्व से ही भरे हुए नही हैं, अपितु उतना ही उनम अन्तद्वन्द्व भी विद्यमान है और इन दोनो के समुचित सम्मिश्रण के कारण ही उनके नाटक 'मानवता के उच्चतम आदर्श के पूर्ण व्यजक' तथा 'मानवता की की एक बडी भारी पूँजी हैं।'[3] प्रसादजी ने अपन अन्तर्द्वन्द्व एव अन्तर्मन्थन को प्रकट करने के लिए नाटको मे कुछ विशेष पात्रो की सृष्टि की है, जो यद्यपि ऐतिहासिक हैं, फिर भी उनके चरित्र का विकास प्रसादजी की मनोवृत्ति के आधार पर हुआ है। इसी कारण उनमे बाह्यद्वन्द्व की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व का ही प्राधान्य है। 'अजातशत्रु' का बिम्बसार, 'कामना' का विवेक, 'स्कन्दगुप्त' के मातृगुप्त और पर्णदत्त, 'जनमेजय का नागयज्ञ के सरमा और आस्तीक, 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य इत्यादि ऐसे ही पात्र हैं, जिनका जीवन सकल्प-विकल्प पूर्ण अन्तर्द्वन्द्व से भरा हुआ है। उदाहरण क लिए 'अजातशत्रु' के बिम्बसार का निम्नलिखित कथन लिया जा सकता है—"आह, जीवन की क्षण-भगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नीव देना चाहता है। ······मनुष्य व्यर्थ महत्व

१—जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ८२, ६५। २—तितली, पृ० २६५।

३—अजातशत्रु (प्राक्कथन), पृ० ५।

की आकांक्षा मे मरता है, अपनी नीची, किन्तु सुदृढ परिस्थिति मे उसे संतोष नही होता, नीचे से ऊँचे चढना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या ।"[1]

इसी प्रकार के मानव-जीवन एव उसके आतरिक सघर्ष से सम्बधित विचार उनके नाटको में स्थान-स्थान पर व्यक्त हुए हैं,[2] उन सभी स्थलो पर हमे दार्शनिकता के साथ-साथ मानव-हृदय मे चलने वाली भावनाओं के सघर्ष का भी पता चल जाता है।

नाटको के अतिरिक्त उनकी कहानियो एव उपन्यासो मे भी अन्तर्द्वन्द्व एव अन्तर्मन्थन की ही प्रधानता है। उनकी अन्तर्द्वन्द्व प्रधान कहानियो मे से 'आकाशदीप', 'देवदासी', 'आंधी', 'पुरस्कार', 'मदन-मृणालिनी' आदि प्रसिद्ध हैं।[3] इन कहानियो मे सर्वत्र मानव-जीवन की ऊँची-नीची स्थितियो, उनमे व्याप्त भावनाओ एव विचारो तथा हृदयस्थ भाव-सघर्षों के दर्शन होते हैं। यही दशा प्रसादजी के उपन्यासो की है। उनके 'कंकाल' तथा 'तितली' उपन्यास तो अन्तर्द्वन्द्व के साक्षात् मूर्तिमत रूप हैं। 'कंकाल' उपन्यास के मंगल, विजय, यमुना, घंटी, किशोरी आदि अधिकाश पात्र अन्तर्द्वन्द्व प्रधान हैं, जिनके जीवन मे निरंतर मानसिक सघर्ष चलता रहता है, जो समाज की आँखो मे धूल झोंक कर भी अपने मन एव हृदय से बच नही पाते और मन के सकल्प-विकल्प एव हृदय के भावगत सघर्ष मे अंत तक पडे रहते है। यही दशा 'तितली' उपन्यास की है, जिसमे इन्द्रदेव, शैला, मधुवन, तितली आदि के मानसिक सघर्ष एव हृदयगत उथल-पुथल का चित्रण करते हुए प्रसादजी ने मानव-जीवन मे व्याप्त अन्तर्द्वन्द्व एव अतर्मन्थन के सजीव चित्र अकित किए हैं। तीसरे 'इरावती' नामक अपूर्ण उपन्यास में भी प्रसादजी ने इरावती, कालिन्दी, अग्निमित्र, ब्रह्मचारी आदि का जितना चित्रण किया है, उसमे अन्तर्द्वन्द्व का ही प्राधान्य है।

प्रसादजी के नाटक एव कथा-साहित्य मे भी अधिक उनके काव्यो एव मुक्तक कविताओ मे अन्तर्द्वन्द्व एव मानसिक संघर्ष की प्रधानता है। आरम्भिक रचनाओ मे से 'प्रेमराज्य', 'प्रेमपथिक', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व' तथा

१—अजातशत्रु, पृ० २८।

२—देखिए, क्रमशः कामना, पृ० २५-२६, स्कंदगुप्त, पृ० २३, २४, ११८; जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ७६, ७७, ८७, ८८, और चंद्रगुप्त, पृ० ८७, १७३।

३—देखिए, क्रमशः आकाशदीप (कहानी संग्रह), पृ० १, ८७, आंधी (कहानी संग्रह), पृ० १, ११२, और छाया (कहानी संग्रह), पृ० १०३।

'चित्राधार' एवं 'झरना' में संकलित अनेक कविताओं में हृदय के विप्लव एवं मानवीय भावनाओं के संघर्ष का रूप विद्यमान है, जिनमें अन्तःकरण की प्रेम सम्बन्धी भावनायें, वासनात्मक मन की चंचलता, चित्तवृत्तियों की विविधता, व्यथित मन की वेदनात्मक अनुभूति आदि का चित्रण करते हुए कवि ने मानव-जीवन के संघर्षपूर्ण चित्र अंकित किए हैं और उन चित्रों में अन्तर्द्वन्द्व को प्रमुख स्थान दिया है।

इसके अनन्तर 'आँसू' काव्य तो अन्तःप्रकृति के सजीव चित्र अंकित करने के लिये ही लिखा गया है। उसकी सारी कविता अन्तर्द्वन्द्व एवं अन्तर्मन्थन का का ही शब्द-रूप है और उसमें हृदय की उन मधुर एवं प्रेममयी भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है, जो यौवन को झकझोर डालती हैं तथा जिनके संघर्ष में पड़ कर असाधारण मानव भी कुछ क्षणों के लिए तड़प उठता है। 'आँसू' की आरंभिक पंक्ति "इस करुणा कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती"[1] ही अन्तर्द्वन्द्व का सजीव चित्र अंकित करती हुई आगे बढ़ी है।

'आँसू' के पश्चात् प्रकाशित 'लहर' कविता संग्रह में 'आत्मकथा', 'अशोक की चिन्ता', 'प्रलय की छाया' आदि कविताओं में तो अन्तर्द्वन्द्व का प्राधान्य है ही, इनके अतिरिक्त 'हे सागर संगम अरुण नील', 'आह रे, वह अधीर यौवन', वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ?'[2] आदि कविताओं में भी मानस-जगत के सतत संघर्ष, असफलता, निराशा, व्यथा, वेदना आदि का वर्णन हुआ है, जिनमें हृदय की अतृप्त-वासनाओं के विप्लव एवं मानसिक उथल-पुथल के सजीव चित्र विद्यमान हैं और जो प्रसादजी के अन्तर्द्वन्द्व एवं अन्तर्मन्थन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सारांश यह है कि प्रसाद-साहित्य में अन्तर्द्वन्द्व का प्राधान्य है। इसके मूल में पारिवारिक संघर्ष और संकट, असमय में ही प्रियजनों का वियोग, देश की पराधीनता, स्वतन्त्रता-संग्राम की असफलताएँ, सामाजिक विषमताएँ आदि हो सकती हैं। साथ ही प्रसादजी का सारा जीवन भी संघर्षमय रहा और वे अपने परिवार की स्थिति सुधारने में लगे रहे। अतः इन सभी कारणों से उनकी रचनाओं में हार्दिक एवं मानसिक संघर्ष की प्रधानता हो सकती है। परन्तु यह अन्तर्द्वन्द्व एवं अन्तर्मन्थन केवल प्रसादजी के संघर्षमय जीवन का ही चित्र प्रस्तुत नहीं करता, अपितु तत्कालीन मानव-समाज की आन्तरिक स्थिति का भी द्योतक है और इसी का चरम विकास 'कामायनी' काव्य में हुआ है।

'करुणालय' की प्रवृत्ति का 'कामायनी' में पर्यवसान—प्रसादजी मुख्यतया

१—आँसू, पृ० ७-८। २—लहर, पृ० १५, २७-३१।

स्वच्छन्दतावादी कवि हैं और उनकी इस प्रवृत्ति का सर्वप्रथम क्षीण आभास हमें 'करुणालय' मे मिलता है। यही पर वे नवीन ढग की कविता का प्रयोग करते हुए अपने नवीन विचारो, नवीन सिद्धान्तो एव नवीन प्रेरणाओ को लेकर अवतीर्ण हुए है। यहां पर प्रसादजी की मनोवृत्तियो एवं प्रवृत्तियो के वे बीज विद्यमान है, जो 'आंसू', 'कामना', 'चन्द्रगुप्त' आदि मे अकुरित होते हुए 'कामायनी' मे जाकर पल्लवित एव पूर्ण विकसित हुए हैं।

वैदिककालीन शुन शेप के आख्यान को लेकर 'करुणालय' की सृष्टि हुई है, जिसमे यज्ञ के अन्तर्गत की जाने वाली बलि, हिंसा आदि को क्रूर एव आसुरी क्रिया बतलाया है। 'कामायनी' मे भी आगे चलकर मनु द्वारा की गई पशु-बलि को निन्दनीय ठहराया है और हिंसा-कर्म से विरत होने की सलाह दी है। दूसरे, 'करुणालय' में नर-बलि से शुन शेप को मुक्त कराकर जिस मानवता-प्रेम, अहिंसा विश्वबन्धुत्व आदि की ओर सकेत किया गया है, उसी का चरम विकास आगे चलकर 'कामायनी' में हुआ है। तीसरे, राजा हरिश्चन्द्र को देवशक्ति मे विश्वास करने वाले तथा विश्वामित्र को विश्वात्मा की सर्वत्र सत्ता स्वीकार करते हुए उसे समस्त प्राणियों का मगलकारक मानने वाले बतलाकर नियतिवाद मे विश्वास प्रकट किया है, जिसका चरम विकास 'कामायनी' में हुआ है। चौथे, *पति-परित्यक्ता सुव्रता को अपने पति विश्वामित्र एव पुत्र शुन शेप* से मिलाकर उसकी सुशीलता, पुत्र-वत्सलता, पति-परायणता आदि का जैसा उल्लेख 'करुणालय' मे है, वैसा ही 'कामायनी' मे श्रद्धा, मनु, इड़ा, मानव आदि के मिलन पर हुआ है। पाँचवें, यज्ञ के भौतिक-विधान का निराकरण करते हुए समवेत स्वर मे स्तवन करने एव अन्त.साधना की जिस पद्धति का उल्लेख 'करुणालय' मे हुआ है, वही पद्धति अधिक विकसित रूप मे 'कामायनी' के अन्तर्गत विद्यमान है। छठे, राजा हरिश्चन्द्र की राज्य तक उत्सर्ग करने की भावना, सुव्रता की सुशीलता, वसिष्ठ मुनि की वध से पराड्मुखता, विश्वामित्र की सहृदयता आदि का उल्लेख करते हुए उत्सर्ग, दया, क्षमा, परोपकार, सेवा-वृत्ति, त्याग, ममता आदि का जो उल्लेख 'करुणालय' मे मिलता है, उसी का चरम विकास 'कामायनी' मे हुआ है। सातवें, 'करुणालय' मे 'चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है' या 'बढो-बढो, हां रुको नही इस भूमि मे' अथवा 'चलो पवन की तरह रुकावट है कहाँ'[1] आदि कहकर जिस कर्मशील जीवन की *ओर सकेत किया गया है वैसा ही 'कामयानी' में श्रद्धा के सन्देश में विद्यमान* है, किन्तु वहाँ अधिक विकसित रूप मे ये भाव व्यक्त हुए हैं। अत: 'करुणालय'

१—करुणालय, पृ० ८

प्रमादजी की उन अधिकाश प्रवृत्तियो का मूल आधार है, जिस पर प्रसाद-साहित्य का शिलान्यास हुआ है और आगे चलकर जिसके ऊपर 'कामायनी' के काव्य-भवन का निर्माण हुआ है।

यद्यपि 'करुणालय' मे लक्षित प्रसादजी की प्रवृत्तियाँ उनके सभी ग्रन्थो में विद्यमान हैं, फिर भी इन प्रवृत्तियो की शृङ्खला को 'कामायनी' से जोडने वाली उनकी दो कृतियाँ प्रमुख हैं—'आँसू' और 'कामना'। 'आसू' काव्य मे अभिव्यजना की अनूठी पद्धति का प्रयोग करते हुए मानव के प्रेम, सौंदर्य, विरह-वेदना आदि को आध्यत्मिक रूप प्रदान किया गया है। यहाँ नियतिवादी भावना अधिक उच्च स्वर मे सुनाई देती है, मानव की अन्त प्रकृति का चित्रण अधिक सजीवता के साथ हुआ है, ससार के अपावन कालुष्य को मिटाकर सर्वत्र निर्मलता की याचना करते हुए विश्व-कल्याण की कामना की गई है और अन्त मे जीवन के लिए आशाप्रद सन्देश देकर मानवता के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति की व्यजना हुई है।

इसके अनन्तर उनकी दूसरी कृति 'कामना' आती है, जिसमे प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग करते हुए अधिकाश मनोविकारो को मूर्तरूप प्रदान करके चित्रित किया गया है। यहाँ पर कामना, लालसा, लीला, करुणा प्रमदा, सन्तोष, विनोद, विलास, विवेक, शान्तिदेव, दम्भ आदि सभी पात्र मनोविकारो के प्रतीक हैं, और इसी प्रतीक शैली को 'कामायनी' मे भी अपनाया गया है। 'कामना' मे भौतिकवादी विलास-प्रिय जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुए, उनके कारण सर्वत्र अशान्ति, दम्भ, क्रूरता, अतृप्ति, लालसा आदि की वृद्धि दिखलाकर अन्त मे आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का जैसा सकेत किया गया है, उसी का चरम विकास 'कामायनी' मे हुआ है। 'कामना' मे ईश्वर-मनुष्य, राजा-प्रजा, शासक-शासित, ईश्वर-सृष्टि आदि का समन्वय करते हुए जिस समन्वयवाद एव समरसता के सिद्धान्त की ओर सकेत है, उसी का विकसित रूप 'कामायनी' मे विद्यमान है। 'कामना' मे आडम्बर-पूर्ण, छल-छद्म से भरी हुई विकासशील सभ्यता का सकेत करके पुन सात्विक एव सरल जीवन व्यतीत करने का जैसा आग्रह किया गया है, उसका पूर्ण विकास 'कामायनी' मे हुआ है। इसके साथ ही प्रसादजी ने पहले 'कामना' को 'विलास' से चगुल मे फँसाकर अत्यन्त अतृप्त, विवेक शून्य, असन्तुष्ट, अशान्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए दिखलाया है और अन्त मे उसका विवाह सन्तोष से कराकर उसे पुन सुखी एव आनन्द-मग्न चित्रित किया है। इस रूपक प्रणाली द्वारा उन्होंने यह सकेत किया है कि मानव जब तक विलास-मग्न रहता है, तब तक उसकी कामना सदैव अतृप्त, असन्तुष्ट एव अशान्त बनी रहती है, परन्तु जैसे ही उसकी 'कामना' सन्तोष को

अपनाकर विलास का परित्याग कर देती है, वैसे ही उसे पुन: शान्ति, सुख, आनन्द आदि की प्राप्ति हो जाती है। प्रसादजी की यही रूपक-कल्पना आगे चलकर 'कामायनी' में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई है।

उपरिलिखित तीन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रसादजी के अन्य ग्रन्थ भी 'कामायनी' की पृष्ठभूमि के रूप में अपना यत्किंचित् महत्व रखते हैं। जैसे 'झरना' संग्रह मे जीवन की विविधता का जैसा चित्रण हुआ है, उसी का विकसित रूप 'कामायनी' में भी विद्यमान है। 'लहर' कविता-संग्रह मे जिस गहन अनुभूति एवं सौंदर्य की व्यापक कल्पना के दर्शन होते हैं, उनका भी विकास कामायनी मे हुआ है। साथ ही 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' आदि में देश-प्रेम, स्वतंत्रता-प्रेम, मानवता की सेवा, भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट श्रद्धा, इतिहास-प्रेम आदि का जैसा निरूपण हुआ है, उसी का सामूहिक विकास 'कामायनी' काव्य मे हुआ है। सम्भवत: इसी कारण श्री प्रफुल्लचन्द्र पट्टनायक ने लिखा है—"'झरना' की विविधता, 'आँसू' की व्यथामयी अनुभूति, 'लहर' का अनुभूतिमय सौंदर्य, कुछ-कुछ 'कामना' के प्रतीक तथा 'अजातशत्रु' की विचारधारा एकत्रित होकर कला के सहज-सरल, पर गम्भीर आवरण मे 'कामायनी' का रूप निर्माण कर गये हैं।"[1]

अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रसादजी की प्रवृत्तियों का जो आरम्भिक स्वरूप सर्वप्रथम 'करुणालय' मे व्यक्त हुआ है, वही क्रमश: विकसित होता हुआ उनके नाटकों, काव्यों तथा अन्य रचनाओं में विद्यमान है और उसी की चरम परिणति 'कामायनी' मे हुई है। इतना अवश्य है कि 'कामायनी' तक पहुँचते-पहुँचते प्रसादजी की विचारधारा पर्याप्त परिपक्व हो चुकी थी और उसमें युग की अन्य प्रगतिशील भावनायें भी सम्मिलित होगई थीं। इसलिए 'कामायनी' मे केवल उनकी पूर्व विचारधाराओं का ही एकमात्र विकास नही है, अपितु कुछ नवीन विचारों का भी समावेश हुआ है, जिनका स्वरूप पहले नही दिखाई देता।

'करुणालय' से 'कामायनी' तक प्रसादजी की प्रेरणा एवं प्रवृत्तियों का स्वरूप—'करुणालय' प्रसादजी की स्वच्छन्द मनोवृत्ति एवं अभिव्यंजना की नूतन पद्धति का सबसे पहला काव्य है। इससे पूर्व प्रसाद-साहित्य मे अनुकरण की प्रधानता है और उसमे कोई नवीन प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः प्रसाद-कालीन युग-प्रवृत्ति एवं प्रेरणाओं का विश्लेषण करने के उपरान्त जब हम प्रसाद-साहित्य पर दृष्टि डालते हैं, तो 'करुणालय' से लेकर 'कामायनी' का प्रारम्भ करने तक प्रसादजी की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ ज्ञात होती हैं :—

१—हंस, वर्ष १०, अंक २, नवम्बर १६३६, पृ० १७६।

(१) वे नियतिवादी हैं और विश्व की नियामिका शक्ति—नियति के समस्त कार्यों को स्वतन्त्र मानते हुए उसे विश्व का सन्तुलन, मानव अतिवादों की रोक-थाम, प्रकृति का नियमन, मानता की सृष्टि तथा मानव-कल्याण करने वाली शक्ति मानते है।

(२) वे कर्मण्यतावादी हैं और मानवों के जीवन की सार्थकता इसी में मानते हैं कि वे निरन्तर सत्कर्मों मे लीन रह, कर्म-फल की चिन्ता न करें तथा ससार के अभीष्ट फलो—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के लिए सतत प्रयत्नशील रहें।

(३) वे आनन्दवादी हैं। जीवन का चरम लक्ष्य 'आनन्द' मानते हैं, और उपनिषदो की भाति उनका भी यही विश्वास है कि आनन्द मे ही जीवो की सृष्टि होती है, आनन्द मे ही वे निवास करते हैं और अन्त मे आनन्द मे ही सब विलीन हो जाते हैं।[१]

(४) वे मानवतावादी हैं और समस्त विश्व मे मानव की उत्तम भावनाओं का प्रसार करते हुए सर्वत्र एकता, समता, भ्रातृत्व भाव, समन्वयशीलता, विश्वबन्धुत्व आदि की स्थापना करना चाहते हैं और समाज की सर्वांगीण उन्नति के पक्षपाती हैं।

(५) वे सौंदर्यवादी हैं और विश्व मे व्याप्त आध्यात्मिक सौंदर्य की छटा का दर्शन करते हैं। इसी कारण उन्हें कही भी कोई असुन्दर प्रतीत नही होता और सृष्टि का कण-कण एवं अणु-अणु अनन्त सौंदर्य से ओतप्रोत दिखाई देता है।

(६) वे भारतीय सस्कृति के अनन्य प्रेमी हैं। अत अनेकता मे एकता एव भेद मे अभेद देखते हैं तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान को ससार मे सर्वश्रेष्ठ मानते हुए भारतीय सस्कृति को ससार मे सर्वश्रेष्ठ, सर्वोच्च तथा सर्वाधिक मानव-कल्याण की भावनाएँ सिखाने वाली मानते है।

(७) वे देश और राष्ट्र के अनन्य प्रेमी हैं। इसी कारण स्थान-स्थान पर देश के अनन्त सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत करते हुए, उसे स्वतन्त्र बनाने के लिए प्रेरणा प्रदान करते हैं और पराधीनता को मानव के लिए अभिशाप बतलाते हैं।

(८) वे अध्यात्मवादी हैं और भौतिकवाद के यान्त्रिक सभ्यता के आडम्बर-पूर्ण छल-छद्मयुक्त, विलासिता-सम्पन्न एव सुरा, स्वर्ण तथा सुन्दरी मे ही आसक्त रहने वाले जीवन की कटु आलोचना करते हुए शुद्ध, सरल, सात्विक एव सन्तोषपूर्ण जीवन व्यतीत करने का आग्रह करते हैं।

१—तैत्तिरीय उपनिषद् ३।६

(९) वे भारतीय इतिहास के परम भक्त हैं और ऋग्वेद से ही भारत की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हुए 'इन्द्र' को भारत का प्रथम सम्राट् घोषित करते हैं[1] तथा इतिहास के लुप्त एवं अप्रकाशित करुण अंशों को अपने साहित्य के माध्यम से जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते हैं; क्योंकि उनके हृदय को वही साहित्य अधिक आकर्षित करता है, जिसमे अतीत और करुणा का अंश विद्यमान रहता है।[2]

(१०) वे *मानव की अन्त प्रकृति के कवि हैं। इसी कारण उनके साहित्य* में मानसिक संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व, अन्तर्मन्थन आदि की प्रधानता है।

(११) वे आदर्शवादी कवि हैं। अत जहाँ वे रूढि एवं परम्परा का विच्छेद करने की सलाह देते हैं, वहाँ वे भारतीय जीवन के मौलिक सिद्धान्तों की अवहेलना नही करते, अपितु उनका पालन करते हुए नवीन भावों एवं विचारों को ग्रहण करने की सलाह देते हैं। अतः उनका यह आदर्शवाद यथार्थोन्मुख है।

(१२) वे दार्शनिक है और दर्शन का व्यावहारिक पक्ष ही उन्हे अधिक प्रिय है। वे ऐसे किसी दर्शन को मानने के लिए तैयार नही, जो संसार की असत्यता का प्रतिपादन करता हुआ मानव को वैराग्य, अकर्मण्यता, कर्त्तव्य-पराङ्मुखता आदि की शिक्षा देता है। इसी कारण वे मुख्यत. शैव दर्शन की ओर उन्मुख हुए हैं, जहाँ अपने विचारो के अनुकूल उन्हे अधिक सामग्री मिली है।

(१३) वे स्वच्छन्दतावादी हैं। इसी कारण युग की समस्त प्रगतिशील शक्तियों एवं भावनाओं का अध्ययन करते हुए मानव को रूढिगत विचारो एवं परम्परा का विच्छेद करने की सलाह देते हैं।

(१४) वे नव-अभिव्यंजनावादी हैं अर्थात् अभिव्यंजना की अनूठी पद्धतियो के आविष्कार से उन्हे अधिक मोह है तथा वे नई-नई उक्तियों के प्रेमी हैं। इसी कारण वे परम्परा के विरुद्ध अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली के प्रवर्त्तक हैं, जिसमे प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता, व्यंग्य आदि की प्रधानता है।

सारांश यह है कि प्रसादजी की ये ही वे प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके आधार पर उनके साहित्य की सृष्टि हुई है, इनमे ही उनका जीवन-दर्शन भी अन्तर्निहित है और इनके आधार पर ही वे एक युग-स्रष्टा, स्मृतिकार, समाज के पथ-प्रदर्शक एवं क्रान्तदर्शी कवि प्रतीत होते हैं।

१—कोशोत्सव-स्मारक संग्रह, पृ० १५५–१९४।

२—प्रतिध्वनि, पृ० ३६।

कामायनी की अवतारणा—प्रसादजी की जिन प्रवृत्तियों की ओर अभी सकेत किया गया है, वे उन सभी प्रवृत्तियों को सम्भवत किसी एक महानाटक अथवा महाकाव्य में अंकित करना चाहते थे। उनका पहले यह विचार था कि इन्द्र की कथा के आधार पर कोई वृहत् रचना प्रस्तुत की जाय और इसीलिए वे वैदिक तथा पौराणिक ग्रन्थों का अध्ययन करके इन्द्र' सम्बन्धी सामग्री सकलित कर रहे थे। उनके पास बहुत कुछ सामग्री सकलित भी हो चुकी थी, जिसका आभास वे 'कोशोत्सव-स्मारक सग्रह' में प्रकाशित 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' में दे चुके थे। परन्तु इन्द्र की कथा का अन्वेषण करते-करते उन्हें मानव-सृष्टि के आदि प्रवर्तक वैवस्वत मनु तथा श्रद्धा की कथा के सकेत मिले और पहले वे इसी कथा के आधार पर 'कामायनी' लिखने लगे। इसकी समाप्ति पर उनका विचार 'इन्द्र' पर नाटक लिखने का था।[1] परन्तु असमय म ही निधन हो जाने के कारण उनका वह मन्तव्य पूरा न हो सका। फिर भी उनके अन्तरग मित्र श्री विनोदशकर व्यास के कथनानुसार 'कामायिनी' लिखकर उन्हें पूर्ण सतोष हुआ था और जिस समय 'कामायनी' समाप्त हुई, उनके चेहरे पर एक अपूर्व शान्ति विराज रही थी।[2] इससे यही सिद्ध होता है कि प्रसादजी अपनी प्रवृत्तियों को अंकित करते हुए जैसा महाकाव्य लिखना चाहते थे, वह 'कामायनी' ही है। अत प्रसादजी की समस्त प्रवृत्तियों के सामूहिक चित्रण के रूप में 'कामायनी' की अवतारणा हुई है।

'कामायनी' की अवतारणा का दूसरा कारण यह भी प्रतीत होता है कि वे इतिहास के बड़े प्रेमी थे और साहित्य के माध्यम से भारत के विगत इतिहास को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक के इतिहास का अनुशीलन किया और उसमें से अपनी धारणाओं के अनुकूल सामग्री चुनकर कभी गीति-नाट्य, तो कभी कहानी, कभी नाटक, तो कभी निबन्ध आदि के रूप में उस सामग्री को जनता के सामने उपस्थित किया। जैसे, मुस्लिम युग की घटनाओं को 'महाराणा का महत्व', 'वीर बालक', 'शेरसिंह का आत्म-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'प्रलय की छाया' आदि कविताओं तथा 'चित्तौर उद्धार, 'गुलाम', 'जहाँनारा' आदि कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। मध्ययुगीन हिन्दू राजाओं की घटनाओं को 'विशाख', 'राज्यश्री', 'प्रायश्चित' आदि नाटकों द्वारा जनता के सम्मुख रखा गया है। बौद्धकालीन घटनाओं को 'अशोक', 'सिकन्दर की शपथ' आदि

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० १३३।

२—वही, पृ० २७।

कहानियों तथा 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटकों के माध्यम से उपस्थित किया गया है। रामायण-महाभारतकालीन घटनाओं को 'अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन', 'भरत', 'कुरुक्षेत्र' आदि कविताओं तथा 'सज्जन', 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि नाटकों मे अंकित किया गया है और वैदिक-कालीन घटनाओं को 'उर्वशी' नामक चम्पू मे, 'ब्रह्मर्षि' तथा 'पंचायत' नामक कथाओं मे, 'करुणालय' नामक गीत-नाट्य मे तथा 'प्राचीन आर्यावर्त्त और उसका प्रथम सम्राट्', 'दाशराज्ञ युद्ध' आदि गवेषणात्मक निबंधों मे प्रस्तुतत किया गया है। इसी कारण इससे और आगे बढ़कर मानवता के विकास को वे 'कामायनी' मे अंकित कर गये है। इतना ही नही, 'कामायनी' के प्रारम्भिक सर्ग 'चिन्ता' मे प्रसादजी ने यह भी संकेत किया है कि इस मानव-सृष्टि से पूर्व जो देवसृष्टि थी, उसका इतिहास भी भारतीय जीवन से सम्बद्ध है और वे उस इतिहास की घटनाओं को ही संभवत 'इन्द्र नाटक' मे दिखाना चाहते थे। अतः ऐतिहासिक परम्परा का पूर्ण चित्र अंकित करने की अभिलाषा से ही वे 'कामायनी' की ओर उन्मुख हुए और इसीलिए उन्होंने मानव-इतिहास के प्रारम्भिक पृष्ठों के रूप में 'कामायनी' का निर्माण किया।

इसके अतिरिक्त कामायनी की अवतारणा के बारे मे भिन्न-भिन्न विद्वानों की भिन्न-भिन्न राय है। जैसे श्री नन्ददुलारे बाजपेयी का मत है कि मनु या मनस्तत्व का विवेचन करने के लिए 'कामायनी' का निर्माण हुआ है।[1] श्री रामनाथ 'सुमन' का विचार है कि मानव-सभ्यता का विकास दिखलाने के लिए 'कामायनी' की रचना हुई है।[2] पं रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि 'आनन्दवाद' की प्रतिष्ठा के लिए 'कामायनी' रची गई है।[3] और श्री इलाचन्द्र जोशी का मत है कि 'कामायनी' की रचना मुक्तात्मा की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो आदिकाल से चिर अमर आनन्द-भास के अन्वेषण की आकांक्षा से व्याकुल है।[4] किन्तु सामूहिक रूप से सभी आलोचकों का विचार यह है कि मानव-मन एवं मानवता के क्रमिक विकास को प्रस्तुत करने के लिए 'कामायनी' की अवतारणा हुई है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी के हृदय को एक तो वे प्रवृत्तियाँ प्रेरित कर रही थी, जिनका कि उल्लेख इसमे पूर्व किया जा चुका है। दूसरे, इतिहास-

१— जयशंकर प्रसाद, पृ० ८४।
२—कवि प्रसाद की काव्य साधना, पृ० ४०।
३—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६०।
४—साहित्य-सर्जना, पृ० ११७।

प्रेम एवं मानवता का इतिहास भी उन्हें महाकाव्य लिखने के लिए प्रोत्साहित कर रहा था। तीसरे, वे आज के भ्रमित मानव को आधुनिक जीवन की विषमताओं एवं उसकी भयंकर स्थितियों का दिग्दर्शन भी कराना चाहते थे, जिससे कि उसे मार्गदर्शन की अनुभूति प्राप्त हो और वह आडम्बर प्रियता को छोड़कर शुद्ध सात्विकता को अपनाने की चेष्टा करे। चौथे, सम्भवतः वे यह भी जानते थे कि जिस छायावादी प्रवृत्ति का पर्याप्त उत्कर्ष हो चुका है और कितनी ही मुक्तक कविताएँ भी लिखी जा चुकी हैं, परन्तु उस प्रवृत्ति को लेकर अभी तक कोई महाकाव्य नहीं लिखा गया है। अतः इन सभी भावनाओं, धारणाओं एवं प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर प्रसादजी ने 'कामायनी' की अवतारणा की।

प्रकरण २

कामायनी की वस्तु

संक्षिप्त कथा---कामायनी की आधारभूत कथा तो अत्यन्त लघु है, परन्तु प्रसादजी ने अपनी उर्वर कल्पना द्वारा उसे विस्तृत रूप प्रदान किया है। उसकी संक्षिप्त रूप-रेखा इस प्रकार है। एक भयंकर जलप्लावन के कारण सम्पूर्ण देव-सृष्टि नष्ट हो जाती है और उसमें से केवल मनु शेष रहते हैं। मनु की नौका एक महामत्स्य का चपेटा खाकर उत्तर में हिमगिरि पर आ पहुँचती है। मनु इसी स्थान पर उतर पड़ते हैं। जलप्लावन के उतर जाने पर पहले वे शालियाँ बीन कर पाकयज्ञ करते हैं। तदुपरान्त उनकी भेंट एक परम सुन्दरी युवती से होती है, जिसका नाम श्रद्धा है। वह निराश, व्यथित एवं किंकर्तव्यविमूढ़ मनु को आशा, दृढ़ता और कर्मण्यता का सन्देश देती है तथा मनु के लिए अपना जीवन समर्पित करती हुई पशुपालन, कृषि आदि कार्यों द्वारा मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक उपकरणों का संग्रह करती है। इसी समय प्रलय के कारण भटकते हुए आकुलि-किलात नामक दो असुर-पुरोहित मनु के समीप आते हैं और मनु से पशु-बलि द्वारा मित्रावरुण-यज्ञ कराते हैं। इस हिंसा-कार्य से श्रद्धा रूठ जाती है और वह मनु को इस कार्य से पराङ्मुख करने का भरसक प्रयत्न करती है। परन्तु मनु आखेट में लीन रहकर इस कार्य को नहीं छोड़ते। इसी बीच में श्रद्धा गर्भवती होजाती है और वह अपनी भावी सन्तान के लिए ऊनी

वस्त्र, सुन्दर कुटीर आदि का निर्माण करती है। मनु श्रद्धा के इन सभी कार्यों को अपने प्रणय-सुख में बाधक समझते हैं। अतः उनके हृदय में गर्भस्थ शिशु के प्रति ईर्ष्या होती है और वे आसन्नगर्भा श्रद्धा को छोड़कर चल देते हैं। वहाँ से चलकर मनु उजड़े हुए सारस्वत नगर में पहुँचते हैं। इस नगर की रानी इड़ा से उनकी भेंट होती है और वह मनु को अपने नगर का शासक नियुक्त करके उन्हें नगर की उन्नति करने की प्रेरणा देती है। मनु अपने प्रयत्नों द्वारा नगर की पर्याप्त श्रीवृद्धि करते हैं। परन्तु अपनी वासना की तृप्ति के लिए वे नगर की रानी इड़ा के साथ अनैतिक व्यवहार करने के लिए उद्यत होजाते हैं। इसके परिणामस्वरूप समस्त नगर में जन-क्रान्ति मच जाती है। देवता भी रुष्ट होजाते हैं और मनु तथा उनकी प्रजा में घमासान युद्ध होता है। प्रजा का नेतृत्व करने वाले आकुलि-किलात हैं। मनु सबसे पहले इन दोनों असुर पुरोहितों को मार गिराते हैं, परन्तु अन्त में प्रजा से पराजित होकर वे मुमूर्षु दशा में पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।

इधर पुत्रवती श्रद्धा विरहिणी के रूप में अपना जीवन व्यतीत करती है। परन्तु एक रात को उसे मनु से सम्बन्धित उक्त दुर्घटना स्वप्न में दिखाई देती है और वह अपने कुमार को साथ लेकर खोजती-खोजती उसी स्थान पर आ पहुँचती है, जहाँ मनु मूर्छित पड़े हैं। सेवा-सुश्रूषा से मनु ठीक होजाते हैं, परन्तु ग्लानिवश फिर वे एक रात को श्रद्धा के समीप से भाग जाते हैं। प्रातः होते ही श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा की शासन-व्यवस्था सँभालने के लिए वहीं सारस्वत नगर में छोड़ जाती है और मनु को खोजने चल देती है। मनु निकट ही सरस्वती नदी के किनारे तपश्चर्या करते हुए मिल जाते हैं। श्रद्धा के आते ही मनु को नटराज शिव के दर्शन होते हैं और वे उनके चरणों तक ले चलने के लिए श्रद्धा से आग्रह करते हैं। श्रद्धा उनका पथ-प्रदर्शन करती हुई मार्ग में त्रिपुर या त्रिकोण का रहस्य समझाती है। इस त्रिपुर में इच्छा, क्रिया और ज्ञान नामक तीन शक्तियों से सम्बन्धित भावलोक, कर्मलोक और ज्ञानलोक है, जो पृथक्-पृथक् रहने के कारण अपूर्ण हैं। तदनन्तर श्रद्धा अपनी स्मिति से इन तीनों लोकों का समन्वय कर देती है, जिससे समस्त विश्व में मनु को दिव्य अनाहत नाद सुनाई पड़ता है उनके स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि नष्ट हो जाते हैं और वे श्रद्धा-सहित तन्मय होकर अखण्ड आनन्द को प्राप्त होते हैं। जिस स्थान पर मनु को यह आनन्द प्राप्त होता है, उसे कैलाश गिरि कहा गया है। कुछ काल के उपरान्त इड़ा तथा मानव भी अपनी समस्त प्रजा को लेकर कैलाश की यात्रा करने आते हैं। वहाँ आकर श्रद्धा तथा मनु से उनकी भेंट होती है और सभी एक संयुक्त परिवार के सदस्य बन जाते हैं। सभी के

हृदयों से भेद-भाव की भावना तिरोहित हो जाती है तथा सभी समरसता को प्राप्त करके अखंड आनन्द में मग्न हो जाते है ।

वस्तु का स्रोत और उसका विकास

कामायनी की इस कथा का विश्लेषण करने पर इसके चार भाग प्रतीत होते है—(१) जलप्लावन तथा मनु, (२) मनु-श्रद्धा का मिलन और उनका गृहस्थ जीवन, (३) मनु-इडा-मिलन तथा सारस्वत नगर की दुर्घटना, और (४) मनु की कैलाश-यात्रा तथा तत्त्वदर्शन । अब इन चारो भागो के आधार पर ही कथा के मूल स्रोतो की खोज करने का प्रयत्न किया जायगा और यह देखने की चेष्टा की जायगी कि कथा मे कितना अश ऐतिहासिक तथा कितना अश कल्पित है ।

(१) *जलप्लावन तथा मनु*—विश्व के इतिहास मे जलप्लावन एक अत्यन्त प्राचीन घटना है । शतपथब्राह्मण मे इसे 'ओघ' कहा गया है ।[1] परन्तु पुराणों मे इसका वर्णन प्रलय के रूप मे मिलता है । ब्रह्म तथा विष्णुपुराण मे तीन प्रकार की प्रलयों का उल्लेख मिलता है—नैमित्तिक, प्राकृतिक तथा आत्यतिक । एक कल्प के अन्त मे होने वाली प्रलय को 'नैमित्तिक', दो परार्द्ध मे होने वाली प्रलय को 'प्राकृतिक' तथा सम्पूर्ण सृष्टि का नाश करने वाली प्रलय को 'आत्यतिक' प्रलय कहा गया है ।[2] इन तीनो के अतिरिक्त अग्नि तथा श्रीमद्भागवत पुराण मे नित्य-प्रति प्राणियो का विनाश करने वाली एक चौथी 'नित्य' प्रलय का उल्लेख और मिलता है ।[3] परन्तु कामायनी मे जिस प्रलय का वर्णन आया है, उसे अग्निपुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराण मे 'ब्राह्म' नामक नैमित्तिक प्रलय कहा गया है ।[4] यह प्रलय एक भयंकर जलप्लावन द्वारा हुई थी । इस जलप्लावन का उल्लेख ऋग्वेद मे नहीं मिलता । वहाँ पर नासदीय सूक्त मे केवल इतना ही कहा गया है कि सृष्टि के विकास से पूर्व यहाँ चारो ओर अन्धकार छाया हुआ था और सर्वत्र जल ही जल व्याप्त था ।[5] यजुर्वेद तथा सामवेद मे भी इस जलप्लावन की चर्चा नही है । परन्तु अथर्ववेद मे अवश्य इसका सकेत मिलता है । वहाँ

१—शतपथब्राह्मण १।८।१।२

२—ब्रह्मपुराण २३१।१, विष्णुपुराण ६।३।१-२

३—अग्निपुराण ३६८।१-२ तथा श्रीमद्भागवतपुराण १२।४।३५

४—अग्निपुराण २।८।२ तथा श्रीमद्भागवतपुराण ८।२४।७

५—ऋग्वेद १०।१२६।३

'कुष्ठ' नामक औषधि का वर्णन करते हुए उसे हिमालय की उस चोटी पर उत्पन्न होते हुए बतलाया है, जहां पर शून्य में भटकती हुई एक स्वर्णिम नाव पहले उतरी थी।[1] अतः सर्वप्रथम यहीं पर प्रलय तथा उसमें बचने वाली मनु की नाव के हिमालय पर पहुँचने का क्षीण संकेत मिलता है।

इसके अनन्तर जलप्लावन होने तथा मनु के नौका द्वारा हिमालय पर पहुँचने की विस्तृत कथा शतपथ ब्राह्मण में मिलती है। इस कथा में यह बतलाया गया है कि एक बार प्रभात के समय हाथ धोने के लिए जल लेते समय मनु के हाथ में एक छोटी सी मछली आगई और उसने मनु से अपनी रक्षा की प्रार्थना की। साथ ही उस मछली ने मनु को प्रलय होने की भी सूचना दी और कहा कि तुम एक नौका बनाकर उसमें चढ़ जाना, मैं बड़ी होकर उस प्रलय से तुम्हें बचा लूँगी। मनु ने उस मछली की रक्षा की और वह बहुत बड़ा मत्स्य होगई। कालान्तर में उस मत्स्य के बतलाये हुए समय पर ही जलप्लावन हुआ, जिसमें सारी प्रजा डूब गई। परन्तु अकेले मनु मत्स्य के सींग में अपनी नौका बाँधकर उत्तरगिरि की चोटी पर पहुंच गये और उस प्रलय से बच गये। उत्तरगिरि की यह चोटी 'मनोरवसर्पण' कहलाती है।[2]

इस कथा का क्षीण आभास जैमिनीय ब्राह्मण में भी मिलता है। परन्तु वहाँ पर जलप्लावन से मनु को मत्स्य नहीं बचाता, अपितु सामवेद की ऋचायें स्वयं स्वर्णिम नौका बनकर मनु की रक्षा करती हैं।[3] काल-क्रम से यह कथा पुनः महाभारत में बड़े विस्तार के साथ मिलती है। परन्तु यहाँ पर शतपथब्राह्मण की कथा में पर्याप्त परिवर्तन होगया है। प्रथम तो यहाँ बदरिकाश्रम में तप करते हुए, उसके समीप चीरिणी नदी के किनारे मनु की मत्स्य से भेंट हुई है। दूसरे, मनु को विवस्वान् का पुत्र तथा एक प्रतापी महर्षि बतलाया गया है। तीसरे, मत्स्य ने यहाँ यह कहा है कि अब पदार्थों के विनाश का समय आगया है और उसके लिए ही जलप्लावन होगा। चौथे, मत्स्य ने स्वयं को प्रजापति ब्रह्मा बतलाया है और कहा है कि मेरी ही कृपा से तुम आगामी सृष्टि-रचना में सफल होंगे। पांचवें, यहाँ केवल मनु ही जलप्लावन से शेष नहीं रहते, अपितु समस्त पदार्थों के बीज और सप्तर्षि भी मनु के साथ उस नौका में बचे रहते हैं। छठे, जिस स्थान पर मनु उतरे थे, उसका नाम यहाँ 'नौबन्धन' दिया गया है। सातवें, महाभारत में सर्वप्रथम जलप्लावन की भयंकरता का अत्यन्त काव्यात्मक वर्णन मिलता है।[4] इस तरह शतपथब्राह्मण

१—अथर्ववेद १६।३६।७–८ २—शतपथब्राह्मण १।८।१–६
३—जैमिनीयब्राह्मण ३।६६ ४—महाभारत, वनपर्व १८७।२–५५

की साधारण कथा महाभारत मे आकर असाधारण काव्यरूप धारण कर लेती है और उस पर धार्मिकता का गहरा प्रभाव दिखाई देता है।

महाभारत के अनन्तर जलप्लावन तथा मनु की यह कथा मत्स्यपुराण में और भी विस्तार के साथ मिलती है। यहाँ आकर इस कथा मे और भी परिवर्तन होगया है। पहले तो मनु को दक्षिण देश का राजा कहकर मलय पर्वत पर तपस्या करते हुए बतलाया गया है और उसी पर्वत के समीप तर्पण करते हुए मत्स्य से भेंट करायी है। दूसरे, मत्स्य को यहाँ बीस अयुत योजन लम्बे आकार का लिखा है। तीसरे, मत्स्य को प्रजापति ब्रह्मा न कहकर विष्णु भगवान् का अवतार बतलाया गया है। चौथे, यहाँ पर मत्स्य ने मनु को यह संदेश दिया है कि इस प्रलय के अनन्तर जब नवीन सृष्टि का विकास होगा तब सतयुग के प्रारम्भ मे तुम्ही इस चराचर जगत के प्रजापति होगे और मन्वन्तर के अधिपति होकर समस्त देवताओं के भी पूज्य होगे। पाँचवें, यहाँ पर मनु के साथ तीन वेद—ऋक्, यजु, साम, समस्त विद्याओ के साथ सभी पुराण, चन्द्रमा, सूर्य, नर्मदा नदी, महर्षि मार्कण्डेय तथा शकर के अवशिष्ट रहने का उल्लेख मिलता है। छठे, मनु नौका का स्वय निर्माण नही करते, अपितु देवताओ द्वारा बनी हुई नाव प्रलय के समय उपस्थित होती है। सातवें, यहाँ यह वर्णन नही मिलता कि मनु किस स्थान पर सबसे पहले नौका से उतरे थे।[1] मत्स्यपुराण की इस कथा पर धार्मिक प्रभाव की प्रधानता है, इसी कारण यह विस्तृत होगई है और इसीलिए इसमे असाधारण बातो का उल्लेख अधिक मिलता है।

इसके अनन्तर श्रीमद्भागवतपुराण मे यह कथा आई है। यहाँ पर मत्स्यपुराण से अधिक अन्तर तो नही मिलता, फिर भी कुछ बाते पृथक् ढग से बतलाई गई हैं। जैसे, *यहाँ पर मनु का नाम राजा सत्यव्रत लिखा है,* उन्हें द्रविड देश का राजा बतलाया है, वे मलय पर्वत के समीप कृतमाला नदी मे तर्पण करते हुए मत्सय से भेंट करते हैं, मत्स्य ने ठीक सातवें दिन प्रलय का होना बतलाया है, यहाँ सभी प्राणियो के एक-एक जोडे, सब तरह के बीज तथा सभी प्रकार की औषधियों का मनु के साथ शेष रहना लिखा है, मत्स्यपुराण की भाँति यहाँ सूर्य-चन्द्र के शेष रहने का नही, अपितु नष्ट होने का वर्णन मिलता है और इनके अभाव मे सप्तर्षियो के प्रकाश मे ही मनु का नौका द्वारा बचना बतलाया गया है। यहाँ पर मत्स्य का आकार एक लाख योजन लम्बा तथा उसे स्वर्णिम रंग का भी बतलाया गया है। शेष समस्त कथा मत्स्य-

१—मत्स्यपुराण १।१०—३४

पुराण के ही समान है और यहाँ पर भी मत्स्य को विष्णु भगवान् का अवतार कहकर देवताओं द्वारा मनु के समीप स्वयं नौका का आना लिखा है।[1]

श्रीमद्भागवतपुराण के अतिरिक्त यह कथा अग्निपुराण के द्वितीय अध्याय में मिलती है। यहाँ पर संक्षेप में भागवतपुराण के समान ही सारी कथा आई है।[2]

अग्निपुराण के अतिरिक्त भविष्यपुराण में भी मनु-मत्स्य कथा मिलती है, किन्तु मनु का नाम यहाँ न्यूह दिया गया है और उन्हें आदम की संतान कहा गया है। ये न्यूह भारतवर्ष के विष्णु-भक्त राजा बतलाये गये हैं। एक दिन इन्हें स्वप्न में विष्णु भगवान् यह आदेश देते हैं कि आज से सातवें दिन प्रलय होगा। अतः तुम एक नाव बनाकर अपने परिवार सहित उस पर चढ़ जाना। न्यूह ने विष्णु के कथनानुसार एक ५० हाथ चौड़ी तथा ३०० हाथ लम्बी नाव बनाई और समस्त भारत के जलमग्न हो जाने पर उस नौका द्वारा प्रलय से अपनी रक्षा की। न्यूह अपने साथ समस्त जीवों तथा परिवार के लोगों को भी नौका पर चढ़ा ले गये और हिमालय पर्वत की जिस चोटी पर जाकर सर्वप्रथम नौका से उतरे, उसका नाम यहाँ 'शिशिणा' बताया गया है।[3]

भविष्यपुराण की यह कथा बाइबिल की कथा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। बाइबिल में हजरत नूह का भी ऐसा ही आख्यान मिलता है। इसका उल्लेख आगे किया गया है। यहाँ इतना ही स्पष्टीकरण न्यायसंगत दिखाई देता है कि भविष्यपुराण में न्यूह को आदम की सन्तान कहा है। हमारे यहाँ भी वैवस्वत मनु आदिमनु स्वायंभुव की सन्तान माने जाते हैं, क्योंकि अग्निपुराण में विष्णु के पुत्र ब्रह्मा या आदिमनु, उसके पुत्र मरीचि हुए, मरीचि के कश्यप तथा कश्यप के सूर्य और सूर्य के पुत्र वैवस्वत मनु बतलाये गये है।[4] अतः आदम का सम्बन्ध आदिमनु से तथा मनु का न्यूह से जोड़ा जा सकता है, क्योंकि 'आदिमनु' शब्द में से अन्तिम 'नु' तथा मध्यवर्ती 'इ' के लोप होने पर 'आदम' शब्द बना होगा तथा 'मनु' शब्द में से प्रथम 'म' का लोप होने पर 'नुह' या 'नूह' या 'न्यूह' का बनना प्रतीत होता है। जो भी हो, भविष्यपुराण तथा बाइबिल की कथा एक-सी ही जान पड़ती है।

बौद्धजातक कथाओं में जलप्लावन तथा प्रलय का वर्णन तो नहीं मिलता। यहाँ पर 'मच्छजातक' में बोधिसत्व के मछली की योनि में जन्म लेकर तथा

१—श्रीमद्भागवतपुराण ८।२४।४१–४६ २—अग्निपुराण २।१–१७

३—भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व ३।४।१–५८ ४—अग्निपुराण ४।२

५—जातक, खंड १, पृ० ४३०।

जल-वृष्टि करा कर संसार का कल्याण करने तथा 'सीलानिमस जातक'[1] में समुद्र देवता द्वारा एक सदाचारी नाई को नौका में बैठाकर समुद्र से पार करने तथा अन्य सभी दुराचारी जनों के जल-मग्न कर देने का उल्लेख अवश्य मिलता है। परन्तु जैन-ग्रन्थों में जलप्लावन एवं मनु सम्बन्धी वर्णन मिलता है। श्री धर्मघोष सूरि विरचित 'कालसप्ततिका' नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत 'अग्रतन अर' (प्रथम युग) का वर्णन करते हुए लिखा है कि इस 'अर' (युग) के अन्तर्गत क्रमश क्षार, अग्नि, विष, अम्ल तथा विद्युत् से युक्त होकर मेघ पृथक्-पृथक् सात दिन तक वर्षा करेंगे। उस समय कुत्सित पवन चलेंगी, अत्यन्त रुग्णकारी जल-वृष्टि होगी और वह समस्त गिरि तथा स्थल प्रदेशों को सम बना देगी। अग्नि-वर्षा के कारण पहले पृथ्वी तृणादि-विहीन हो जायगी और सर्वत्र 'हा दैव ! हा दैव ! कैसे जीवित रहेंगे' ऐसी करुण पुकार सुनाई देगी। समस्त पक्षी, कच्छ-मच्छ तथा गंगादि नदियाँ समुद्र में विलीन हो जायेंगी। इसके अनन्तर द्वितीय अर (दूसरा युग) के आने पर विमलवाहन नामक प्रथम मनु होंगे। वे अपनी योग्यता से जगत की ठीक व्यवस्था करेंगे।[2] इस प्रकार इस ग्रन्थ में भविष्यपुराण की भाँति भविष्य की चर्चा करते हुए प्राकृत भाषा में प्रलय का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रलय तथा विमलवाहन मनु या कुल-कर का उल्लेख श्री जिनसेनाचार्य कृत 'महापुराण' में भी मिलता है, किन्तु वहाँ पर इन्हें सातवाँ मनु कहा गया है और कल्पवृक्ष आदि प्रत्येक उत्तम वस्तु के क्षीण हो जाने पर इनका उत्पन्न होना लिखा है। इतना ही नहीं, इन्हें भोगलक्ष्मी से युक्त भी बतलाया है।[3] इन उल्लेखों से दो बातें स्पष्टतया ज्ञात होती हैं कि विमलवाहन नामक मनु से पूर्व प्रलय हुआ था और विमलवाहन सातवें मनु हैं। अतः यह प्रलय कामायनी में उल्लिखित नैमित्तिक प्रलय के समकक्ष ठहरती है।

जलप्लावन सम्बन्धी मनु की यह कथा अन्य भारतीय ग्रन्थों में नहीं मिलती। वैसे यहाँ पर समस्त इतिहास तथा पुराणों में नैमित्तिक प्रलय तथा वैवस्वत मनु का पृथक्-पृथक् उल्लेख मिलता है और उनमें प्रलय की भयंकर स्थिति एवं जन-संहार का बड़ा ही भयावना चित्र प्रस्तुत किया गया है, परन्तु उस प्रलय का मनु से सम्बन्ध नहीं दिखलाया गया है। वाल्मीकि रामायण में प्रलय जैसी भीषण स्थिति का उल्लेख युद्ध-कांड में मिलता है। वहाँ पर समुद्र को सोखने के लिए जैसे ही भगवान् राम ने धनुष पर बाण रखा, तुरन्त सर्वत्र

१—जातक, खंड, २, पृ० २७४। २—कालसप्ततिका, ५६–६२

३—महापुराण, ३।१५८ तथा १३।११६–११७

प्रलयकालीन दृश्य उपस्थित हो गया, सूर्य-चंद्र की गति अवरुद्ध हो गई, उल्कापात होने लगा, बिजली कड़कती हुई तुमुल नाद करने लगी, पवन का वेग भी तीव्र हो गया, आकाश में वज्रपात होने लगा, समस्त जीवधारी चीत्कार करने लगे, समुद्र के जलचर व्याकुल होकर कराहने लगे तथा समुद्र ने भी अपनी मर्यादा भंग करदी।[1]

इसी प्रकार विष्णुपुराण में नैमित्तिक प्रलय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि चतुर्युग सहस्र के बीत जाने पर पृथ्वी दुर्भिक्षादि से क्षीण हो जाती है। लगभग १०० वर्ष तक अनावृष्टि रहती है, जिससे समस्त सत्वधारी जीव पीड़ित होकर नष्ट होने लगते हैं। पुनः भगवान् विष्णु रुद्र का वेष धारण करके समस्त प्रजा का नाश करते हैं और भानु का प्रचंड रूप धारण कर समस्त जल का शोषण कर लेते हैं। उस समय सारी पृथ्वी जल-हीन हो जाती है। समुद्र, नदी, सरोवर आदि सब सूख जाते हैं। यहाँ तक कि पाताल तक का समस्त जल सूख जाता है। उस क्षण विष्णु की सात किरणों से सात सूर्य अत्यंत तीक्ष्णता के साथ चमकते हैं, जिससे पृथ्वी, आकाश और पाताल सभी संतप्त हो उठते हैं। इतना ही नहीं, वे सूर्य तीनों लोकों को जला डालते हैं और सभी स्थान जल-रहित हो जाते हैं। उस समय जली हुई पृथ्वी कछुए की पीठ के समान होजाती है। जब सम्पूर्ण लोक जलने लगते हैं, तब रुद्र रूपी जनार्दन अपने मुख से निश्वास छोड़ते हुए मेघों को उत्पन्न करते हैं। वे संवर्तक आदि मेघ समस्त आकाश में व्याप्त हो जाते हैं और महावृष्टि करते हुए समस्त जगत को जलमग्न कर देते हैं।[2]

नैमित्तिक प्रलय का ऐसा ही वर्णन ब्रह्मपुराण[3], मार्कण्डेयपुराण[4], स्कंद-पुराण[5], पद्मपुराण[6], वायुपुराण[7] आदि में भी मिलता है और सर्वत्र प्रलयकालीन भीषणता, भयंकर जल-वृष्टि, भयानक संहार आदि के दर्शन होते हैं। इन्हीं आधारों पर 'कामायनी' के अंतर्गत प्रलय के भीषण दृश्य का वर्णन किया गया है।[8]

१—वाल्मीकि रामायण, युद्धकांड, २६।७–१५

२—विष्णुपुराण ६।३।११–४०

३—कल्याण, संक्षिप्त मार्कण्डेयब्रह्मपुराणांक, पृ० २६२।

४—मार्कण्डेयपुराण ४६।२८–३६

५—स्कंदपुराण, वैष्णवखंड, पुरुषोत्तम महात्म्य खंड २।३

६—पद्मपुराण, सृष्टि खंड ३।१६–२५ तथा ३६।६६–७६

७—वायुपुराण ६।१–३५ ८—कामायनी, पृ० १३–१५।

इस नैमित्तिक प्रलय एवं जलप्लावन का उल्लेख दक्षिण भारत के प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। तमिल भाषा में लिखी हुई 'तमिलम् तमिलरम्' नामक पुस्तक के अंतर्गत प्रलय का वर्णन करते हुए लिखा है कि पहले दक्षिण में लेमूरिया या कुमारिखंड नाम का भूखंड लंका से दक्षिणी ध्रुव तक तथा अफ्रीका से सुमात्रा-जावा द्वीप-समूह तक फैला हुआ था, परन्तु जलप्लावन के कारण वह भूखंड समुद्र में डूब गया और उसका अवशिष्ट भाग ही आज लंका के रूप में विद्यमान है।[1] इस जलप्लावन के कारण का उल्लेख करते हुए आगे लिखा है कि लंका में देवताओं के रुष्ट होजाने पर ही यह जलप्लावन हुआ था और इसमें चार लाख गलियाँ, पच्चीस राजमहल तथा रावण के कितने ही दुर्ग डूब गये थे, जो तूतुकुडी से लेकर मन्नार तक बने हुए थे। यह जलप्लावन प्राचीन युग में हुआ था। इसके अतिरिक्त वहाँ एक दूसरे जलप्लावन का और उल्लेख मिलता है जो कलनी के राजा दिशाराज के समय में हुआ था। इसमें एक लाख नगर, नौ सौ सत्तर मछुओं के गाँव तथा चार सौ मोती निकालने वालों के गाँव नष्ट हो गये थे।[2]

भारतेतर ग्रन्थों में जलप्लावन सम्बन्धी कथायें—भारतीय ग्रन्थों के अतिरिक्त विश्व के अन्य साहित्यों में भी जलप्लावन की कथायें मिलती हैं। यूनानी साहित्य में ड्यूकलियन (Deucalion) तथा उनकी पत्नी पीरिया (Pyrrha) की कथा में मनु जैसा ही वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है कि लौहयुग में पाप तथा अत्याचार अधिक बढ़ गये थे। मानव-समाज अत्यधिक पतित होगया था। उस समय ज्यूज़ (Zeus) नामक देवता ने जल-वृष्टि करके इस पतित मानव-सृष्टि के विनाश का निश्चय किया। तत्काल घोर वर्षा होने लगी और समस्त सृष्टि जल में निमग्न होगई; परन्तु ड्यूकलियन ने एक पोत का निर्माण किया और उसके द्वारा पत्नी सहित अपनी रक्षा की। जब जल कम हुआ तब उनका पोत थिसली (Thessaly) में औथरस पर्वत (Mount Othrys) पर जाकर ठहरा और वहाँ पहुँचकर इन दोनों ने पुनः नवीन सृष्टि का विकास किया।[3] ड्यूकलियन तथा पीरिया की यह कथा स्पष्ट रूप से मनु और श्रद्धा की कथा से मिलती-जुलती है तथा पापियों का विनाश करने के लिए जैसे यूनान में जलप्लावन हुआ था, वैसा ही वर्णन कामायनी में भी मिलता है।

यूनान के अतिरिक्त बेबीलोनिया के साहित्य में भी जलप्लावन सम्बन्धी

१—तमिलम् तमिलरम् पृ० १०। २—वही, पृ० १८-१६।

३—Myth of Ancient Greece and Rome, pp. 22–23.

अनेक कथायें मिलती हैं। अत्रहसिस (Atra-Hasis) महाकाव्य में आई हुई एक कथा के अनुसार पता चलता है कि अर्डेटीज (Ardates) की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र जिसुथ्रस (Xisuthros) राजगद्दी पर बैठा। उसने अठारह सर (१८×३६०० वर्ष) तक राज्य किया। उसी के समय में एक बार भीषण बाढ़ आई। राजा को उस बाढ़ का पता स्वप्न में ही चल गया था। अतः वह अपनी नौका में ही बना रहा और जल के कम हो जाने पर उसने तीन बार नौका में पक्षी उड़ाये। दो बार तो पक्षी लौटकर नौका पर ही आगये, किन्तु तीसरी बार पक्षी लौटकर नहीं आये तब उसने यह समझ लिया कि अब जल-प्लावन उतर चुका है और भूमि भी निकल आई है। अतः वह बाहर निकला और उसने देवों को बलि देकर बेबीलोनिया नगर का पुनः निर्माण किया।[1] यह कथा भी मनु की कथा से मिलती-जुलती है, क्योंकि जिस तरह जिसुथ्रस जलप्लावन से नौका द्वारा अपनी रक्षा करता है तथा वही आगामी सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, वैसे ही कामायनी में मनु का भी वर्णन मिलता है।

बेबीलोनिया के साहित्य में 'गिलगमेश' महाकाव्य के अन्तर्गत एक और जलप्लावन का उल्लेख मिलता है। वहाँ पर लिखा है कि जनता में दुष्कर्म एवं पापाचार अधिक बढ़ गये थे। अतः परमेश्वर ई (God Ea) ने महान् जल वृष्टि द्वारा उनके विनाश का निश्चय किया। तुरन्त ही ऐसी घनघोर वर्षा हुई, जिसमें पृथ्वी के सभी भाग जल-मग्न हो गये। केवल तत्कालीन धार्मिक व्यक्ति उत्नपिश्तम (Utnapishtam) एक नौका द्वारा उस जलप्लावन से बचे। शेष सभी व्यक्ति नष्ट हो गये। उत्नपिश्तम ने अपनी नौका में सभी प्रकार के जीवों के जोड़े कोष, सभी प्रकार के कारीगर तथा कलाकारों को अपने साथ ले लिया था। अन्त में यह पोत एक पर्वत पर जाकर रुका और जलप्लावन के कम हो जाने पर देवों को बलि देकर उत्नपिश्तम ने पुनः बेबीलोनिया की सभ्यता का विकास किया।[2] यह कथा भी मनु की कथा से मिलती-जुलती है, क्योंकि यहाँ पर जलप्लावन का कारण तत्कालीन जनता का दुष्कर्मों में लीन रहना बतलाया गया है और उत्नपिश्तम की नौका द्वारा रक्षा का उल्लेख करते हुए उसके साथ अन्य जीवों एवं पदार्थों का भी शेष रहना सिद्ध किया गया है। इतना ही नहीं, उसी अवशिष्ट व्यक्ति द्वारा पुनः नवीन सभ्यता के विकास की भी सूचना दी गई है। ये सभी बातें 'कामायनी' की कथा में भी विद्यमान हैं।

1—The Flood Legend in Sanskrit Literature, pp. 148–149.

2—Encyclopaedea Britanica, Vol 7, p 176.

जलप्लावन की यह कथा बड़े विस्तार के साथ ईसाई धर्म-ग्रन्थ बाइबिल में भी विद्यमान है। वहाँ लिखा है कि आदम की वंश परम्परा मे नूह नाम के एक बड़े ही धर्मात्मा व्यक्ति हुए। वे बड़े ईश्वर-भक्त थे। उनके समय मे सारी पृथ्वी अनाचार एवं दुष्कर्मों से परिपूर्ण होगई। सारी जनता चरित्र-भ्रष्ट होगयी। तब परमेश्वर यहोवा ने इनके विनाश का निश्चय किया तथा नूह से अपनी रक्षा के लिए एक ३०० हाथ लम्बी, ५० हाथ चौडी तथा ३० हाथ ऊँची नौका बनाने के लिए कहा। परमेश्वर के कथनानुसार ठीक सातवें दिन जलप्लावन आरम्भ हो गया और नूह अपने साथ अपना परिवार, प्रत्येक प्राणियो के एक-एक जोडे तथा अन्य आवश्यक सामग्री लेकर नौका पर चढ गये। नूह की यह नौका अराराट पर्वत पर जाकर रुकी और वहाँ आकर नूह ने पहले देवताओ को बलि प्रदान की तथा एक नई सृष्टि का विकास किया।[1] बाइबिल की यह कथा कामायनी की कथा मे मिलती है, क्योकि प्रलय के कारण मे बाइबिल की भाँति प्रसादजी ने जनता के स्थान पर देवों के अनाचार आदि का उल्लेख किया है। शेष कथा मे अन्य कथाओ की ही भाँति मनु की कथा से पूर्णतया साम्य है।

इसके अतिरिक्त चैल्डिया के साहित्य मे भी जलप्लावन सम्बन्धी कथा मिलती है। उस कथा के अनुसार पता चलता है कि जनता के पापाचारो से रुष्ट होकर परमेश्वर ई (God Ea) ने महावृष्टि द्वारा सृष्टि के विनाश का निश्चय किया और तत्कालीन धार्मिक पुरुष हसीसद्रा (Hasisadra) को यह आदेश दिया कि जब मैं महावृष्टि द्वारा सृष्टि का विनाश करना आरम्भ करूँ, तुम उससे पूर्व ही एक नौका बनाकर उसमे अपनी पत्नी, मित्र तथा अन्य परिवार के व्यक्तियो को लेकर साथ ही समस्त पदार्थों के बीज अपने पास रखकर चढ जाना। अन्त मे नियत समय पर परमेश्वर ई ने भीषण जलप्लावन से समस्त पापियो को नष्ट कर दिया और धर्मात्मा हसीसद्रा ही अपने परिवार के साथ नौका द्वारा उस जलप्लावन से बचे।[2] यह कथा बाइबिल की कथा मे बहुत कुछ मिलती-जुलती है और इससे इस बात की और पुष्टि होती है कि प्रलय एकमात्र पापियों के विनाश के लिए ही हुई थी।

जलप्लावन सम्बन्धी यह कथा कुरानशरीफ मे भी आई है। यह कथा बाइबिल से पूर्णतया मिलती है, क्योंकि इसमे भी हजरत नूह के नौका द्वारा जलप्लावन से बचने का वर्णन मिलता है। साथ ही ईश्वर मे अविश्वास करने

१—बाइबिल, (हिन्दी) उत्पत्ति खंड, अध्याय ६,७,८।

2—Vedic India by Regozin, p 340

वाले लोगो का विनाश करने के लिए जलप्लावन का होना बतलाया गया है। अन्तर इतना ही है कि बाइबिल मे हजरत नूह की नाव अराराट पर्वत पर आकर रुकती है, जबकि कुरान मे उस पर्वत का नाम 'जूदी' दिया गया है। इस कथा से भी मनु की भाँति नूह मानव-सृष्टि के आदि प्रवर्त्तक सिद्ध होते हैं और कामायनी मे जलप्लावन मे जो देव-सृष्टि का विनाश दिखाया गया है, उस बात की पुष्टि भी कुरानशरीफ से होजाती है।[1]

उपर्युक्त कथाओ के अतिरिक्त पहलवी ग्रन्थो मे भी ऐसे सकेत मिलते हैं, जिनसे जलप्लावन का होना सिद्ध होता है। वहाँ पर सृष्टि के प्रारम्भ मे आकाश, जल, वायु आदि से दानवो के सघर्ष का पता चलता है, जिनसे जल-वृष्टि एव बाढ आदि के होने का सकेत मिल जाता है।[2] इसके साथ ही पारसी धार्मिक ग्रन्थ 'वेंदीदाद' मे भी यह उल्लेख मिलता है कि देवताओ ने बहुत कुछ सोचकर अपार शीत के साथ हिमपात द्वारा एक भीषण बाढ लाने का निश्चय किया था। परन्तु यीमा को अपनी रक्षा करने की सूचना दे दी थी। अन्त मे देवो के निश्चय के अनुसार जलप्लावन हुआ और उसमे यीमा ही शेष रहे।[3] इनके अलावा सुमेरियन ग्रन्थो मे भी जलप्लावन का वर्णन आया है। वहाँ लिखा है कि राजा जियूसुद्दू (Zi-u-Suddu) को स्वप्न मे जलप्लावन का सदेश दिया गया। यह जलप्लावन सात दिन तक रहा। एक बडी नौका द्वारा जियूसुद्दू ने अपनी रक्षा की और अन्त मे सृष्टि का विनाश होजाने पर धर्मात्मा राजा जियूसुद्दू ने नवीन सृष्टि का विकास किया।[4] इसी तरह असीरिया के साहित्य मे भी जलप्लावन सम्बन्धी कथा मिलती है, जिससे पता चलता है कि जलप्लावन से बचने के लिए नायक ने एक नौका बनाई थी, जिसकी योजना परमेश्वर ई ने उसके सम्मुख रखी थी और उस नौका पर अपने परिवार, कुशल कारीगरो, जानवरो आदि को चढाकर नायक ने उस भीषण बाढ मे अपनी रक्षा की थी।[5]

इनके अतिरिक्त वेल्स, लियुआनिया और आइसलैंड मे भी जलप्लावन सम्बन्धी कथायें मिलती हैं। परन्तु वहाँ पर यह जलप्लावन जल-वृष्टि द्वारा नही होता, अपितु राक्षस के रक्त की धारा के बहने से होता है।[6] इसके साथ

1—The Holy Quran 11/3/25-49

२—आलोचना, वर्ष २, अंक ४, पूर्णाङ्क ८, जुलाई १९५३, पृ० ३१।

३—वही, पृ० ३१।

4—The Flood Legend in Sanskrit Literature, pp 138-140.

5—Ibid, pp. 137 138.

6—Encyclopaedea Britanica, Vol. 7, p, 176.

ही चीन, ब्रह्मा, इंडोचीन, मलाया, आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, मैलैनेशिया पालीनेशिया, उत्तरी-दक्षिणी अमरीका आदि देशो मे भी जलप्लावन सम्बन्धी कथायें मिलती हैं। परन्तु ससार भर की समस्त जलप्लावन सम्बन्धी कथाओ की तुलना करने पर यही ज्ञात होता है कि दक्षिणी एशिया की समस्त कथायें समान हैं, क्योकि उनमे सर्वत्र सम्पूर्ण पृथ्वी के डूबने एव अधिकाश पदार्थों के नष्ट होने का उल्लेख मिलता है। उत्तरी एशिया की कथाओं मे से चीन, जापान की कथाओं मे पूर्ण विनाश का वर्णन नही मिलता। यूरोप मे भी ऐसे विनाश के वर्णन कम मिलते हैं और अफ्रीका की कथाओ मे तो जलप्लावन के वर्णन नही के बराबर हैं।[1]

ससार-भर की जलप्लावन सम्बन्धी कथाओ का अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिकाश कथाओ मे सर्वप्रथम जलप्लावन होने का कारण तत्कालीन जनता का दुष्कर्मों, पापाचारों एव अनैतिक आचरणो मे लीन होकर ईश्वर मे अविश्वास करना बतलाया गया है। 'कामायनी' के कवि ने भी देवो की विलास-प्रियता एव उनके किसी अन्य शक्ति मे विश्वास न रखने के कारण ही जलप्लावन का होना सिद्ध किया है। दूसरे, अधिकाश कथाओ में नायक जलप्लावन मे बचने के लिए नौका का प्रयोग करता है और वह नौका किसी पर्वत की चोटी पर आकर रुकती है, जहां से कि आगामी नवीन-सृष्टि का विकास होता है। 'कामायनी' की कथा मे भी उक्त सभी बातें स्वीकार की गई हैं और मनु नौका द्वारा हिमगिरि की चोटी पर पहुँच कर वही से नवीन मानव-सृष्टि का विकास करते हैं। तीसरे, अधिकाश कथाओ मे लिखा है कि उस जलप्लावन मे नायक के साथ कुछ अन्य प्राणी एवं पदार्थ भी शेष रहते हैं। 'कामायनी' मे प्रसादजी ने भी इस विश्व-विश्रुत बात का अनुसरण करते हुए मनु के साथ जल, अग्नि, धान्य, पशु, श्रद्धा, इडा, आकुलि-किलात, सारस्वत नगर के निवासी आदि का जलप्लावन से शेष रहना सिद्ध किया है। चौथे, सर्वत्र जलप्लावन किसी देवता या परमेश्वर के रुष्ट हो जाने पर हुआ है। 'कामायनी' मे भी विराट् शक्ति के रुष्ट हो जाने पर इस जलप्लावन का होना सिद्ध किया है। पाचवे, अधिकाश कथाओ मे यह बतलाया गया है कि नायक की नौका द्वारा रक्षा करने मे स्वय ईश्वर या उसके किसी सहायक का हाथ रहा है। 'कामायनी' के लेखक ने भारतीय कथा का अनुसरण करते हुए नौका

1. Encyclopaedea Britanica, Vol. 7, p. 177.

की रक्षा करने मे मत्स्य की सहायता स्वीकार की और उसी के एक चपेटे से मनु की नौका को हिमगिरि पर पहुँचाया है।

साधारणतया 'कामायनी' मे वर्णित मनु तथा जलप्लावन की कथा के मूलाधार तो भारतीय ग्रन्थ ही हैं, परन्तु उस कथा को अधिक न्यायसगत एव तर्कसम्मत बनाने के लिए प्रसादजी ने अन्य कथाओं का आधार भी लिया है। कुछ विद्वान् शतपथब्राह्मण मे वर्णित जलप्लावन की कथा को सेमेटिक जाति के बैबिलोनिया वालो मे उधार ली हुई बतलाते हैं। इस पर प्रसादजी ने लिखा है कि 'प्रथम तो मैकडानल ही उक्त बात को स्वीकार नही करते। दूसरे, हिमालय की खोज करने वाले डा० ई० ट्रिंकलर का विचार है कि बालू मे दबे हुए प्राचीन नगरो के चिह्न हिमालय तथा उसके निकटवर्ती प्रान्त मे जलप्रलय या ओघ का होना सिद्ध करते हैं।'[1] अत भारतीय जलप्लावन की कथा कहीं बाहर से उधार नही ली गई है, अपितु भारत म होने वाली घटना का ही सत्य रूप प्रस्तुत करती है।

(२) **मनु-श्रद्धा का मिलन और उनका गृहस्थ जीवन**—जलप्लावन के अनन्तर कामायनी की कथा-वस्तु के दूसरे अग की पूर्तिमनु-श्रद्धा के मिलन और उनके गृहस्थ जीवन की झाँकी से होती है। कामायनी के चरित्रनायक वैवस्वत मनु हैं।[2] पुराणो मे चौदह मन्वन्तरो की कल्पना की गई है और प्रत्येक मन्वन्तर का एक एक मनु माना गया है, जो उस मन्वन्तर का आदि प्रवर्त्तक माना जाता है तथा जिसके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की व्यवस्था होती है। वहाँ पर चौदह मनुओ के नाम क्रमश स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, भौत्य, रौच्य, तथा चार मेरुसावर्ण्य दिये गये हैं। इनमे से वैवस्वत मनु आधुनिक सातवें मन्वन्तर के प्रवर्त्तक माने गये हैं।[3] वैवस्वत मनु के जन्म की कथा ऋग्वेद के दसवें मण्डल मे मिलती है। वहाँ लिखा है कि त्वष्टा नामक देवता की सरण्यू तथा त्रिशिरा नामक दो पुत्रियाँ थी, जिनमे से सरण्यू का विवाह विवस्वान् (सूर्य) के साथ हुआ। सरण्यू से विवस्वान् को दो सन्तान प्राप्त हुई--यम तथा यमी। तदनन्तर सरण्यू अपने समान किसी अन्य देवपुत्री को विवस्वान् के समीप छोड एक घोडी का रूप धारण कर उत्तरकुरु मे चली गई। विवस्वान् उस देवपुत्री को ही सरण्यू

१—कोशोत्सव स्मारक सग्रह, पृ० १६०–१६१।

२—कामायनी, आमुख, पृ० १।

३—कल्याण सक्षिप्त मार्कण्डेय-ब्रह्मपुराणाक, पृ० २८३।

समझते रहे और उसी से राजर्षि वैवस्वत् मनु का जन्म हुआ।[1] मनु के जन्म से सम्बन्धित यही कथा शौनक कृत 'बृहद्देवता' मे भी मिलती है।[2] परन्तु पुराणों मे आकर इस कथा मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। प्रथम तो विवस्वान् की पत्नी का नाम सरण्यू न देकर 'संज्ञा' दिया गया है और विवस्वान् के असहनीय तेज को न सहने के कारण उन्हें छोड़कर चले जाने का वर्णन मिलता है। दूसरे, जिस देव-पुत्री को संज्ञा अपने पति विवस्वान् के पास छोड़ कर जाती है उसका नाम 'छाया' दिया है और इसी छाया के गर्भ से वैवस्वत मनु का जन्म होना बतलाया है। शेष कथा पुराणो मे ऋग्वेद के ही समान है।[3] इतना अवश्य है कि ब्रह्मपुराण मे सरण्यू के स्थान पर पहले ही छाया नाम मिलता है और उसके बाद उसका नाम 'उषा' दिया है, जिससे यम, यमी और वैवस्वत मनु का उत्पन्न होना बतलाया है।[4] इन कथाओ से इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि वैवस्वत मनु सूर्य-वंश के हैं, आधुनिक मानव-सृष्टि के प्रवर्त्तक हैं और एक ऐतिहासिक पुरुष हैं। प्रसादजी ने मनु के जन्म आदि का उल्लेख नहीं किया है। केवल उन्हे ऐतिहासिक पुरुष मानकर मानव सृष्टि का आदि-प्रवर्त्तक सिद्ध किया है।[5] जिसकी पुष्टि उक्त कथाओ से हो जाती है।

जलप्लावन के अनन्तर मनु एक विस्तृत रमणीय गुहा को ठीक करके उसमे अपने रहने के लिए सुन्दर, स्वच्छ और वरणीय स्थान बनाते हैं।[6] 'कामायनी' के इस कथन की पुष्टि श्री आर० सी० मजूमदार के इस कथन से होती है कि 'आदि मानव ने अपने जीवन के प्रभात मे सर्वप्रथम गुहा को ही अपने रहने का स्थान बनाया था और वहीं से उसने जानवरों का आखेट तथा उनका पालन करना आरम्भ किया था। कुरनूल की गुफाओ मे आदि मानव के निवासस्थान सम्बन्धी चिह्न आज भी विद्यमान हैं।'[7]

गुहा को ठीक करके मनु अपने समीप सचित अग्नि से अग्निहोत्र करते हैं और शालियो को चुनकर फिर पाकयज्ञ की व्यवस्था करते हैं।[8] 'कामायनी' की इन बातों का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद मे ही मिलता है। वहां पर आठवें मण्डल मे वैवस्वत मनु के रचे गये पाँच सूक्त मिलते हैं, जिनमे वे विश्वेदेवा

१—ऋग्वेद १०।१७।१-२ २—बृहद्देवता ६।१-६

३—देखिए मत्स्यपुराण अध्ययन ११, वायुपुराण अध्याय ८४, मार्कण्डेय-पुराण अध्याय ७७ तथा ब्रह्माण्डपुराण अध्याय ६०-६१।

४—ब्रह्मपुराण ६-१०-१६ ५—कामायनी, आमुख, पृ० १।

६—कामायनी, पृ० ३०। 7—The Vedic Age, p. 84.

८—कामायनी, पृ० ३१-३२

की प्रार्थना करते हुए उनसे यज्ञ-पशु, पृथ्वी, वनस्पति, उषा, रात्रि, औषधि, सन्तान आदि की याचना करते हैं और सदैव ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए अग्निहोत्र आदि मे लीन रहने की कामना प्रकट करते हैं।[1] इसके अतिरिक्त शतपथब्राह्मण मे जलप्लावन के उपरान्त मनु को आगामी सृष्टि की कामना से दधि, घृत आदि के द्वारा पाकयज्ञ करते हुए बतलाया है।[2] इसके साथ ही ऐतरेय[3] तथा तैत्तरीय[4] ब्राह्मण मे लिखा है कि प्रजापति न जब सृष्टि के विकास की इच्छा की, तब सबसे पहले उसने तप किया और तप करने के उपरान्त ही सृष्टि का विकास किया। इनके अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् मे यह उल्लेख मिलता है कि सृष्टि-रचना से पूर्व वह अकेला ही था। अत पहले उसकी यह इच्छा हुई कि सृष्टि उत्पन्न करने के लिये मेरी जाया हो और फिर मैं उसमे सन्तान रूप मे उत्पन्न होऊँ।[5]

उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध होता है कि सृष्टिकर्त्ता ने पहले सृष्टि की कामना से तप या यज्ञ किया और उसके उपरान्त जाया या भार्या की कामना की। प्रसादजी भी 'कामायनी' मे पहले मनु को तपश्चर्या, पाकयज्ञ आदि मे लीन दिखाते हैं। इसके अनन्तर प्रकृति के मनोरम वातावरण एव मित्रवरुण की बालाओ के अक्षय शृ गार को देखकर मनु के हृदय मे भी वही अनादि वासना जाग्रत होती है तथा वे भी अपनी जीवन-सगिनी के मिलन की उत्कठा प्रकट करते हैं।[6]

शतपथब्राह्मण मे मनु के पाकयज्ञ से एक योषिता की उत्पत्ति बतलाई गई है, जिसका नाम इडा दिया है और उसी से मनु को सृष्टि का विकास करते हुए लिखा है।[7] परन्तु 'कामायनी' मे प्रसादजी ने इडा से पूर्व श्रद्धा से मनु की भेंट कराई है। यह श्रद्धा मनु के द्वारा किये गये पाकयज्ञ का अवशिष्ट अन्न रखा हुआ देखकर यह अनुमान करती है कि प्रलय से यहाँ भी कोई प्राणी बचा हुआ है, इसीलिए उसने दयार्द्र होकर अन्य प्राणियो के लिये यह अन्न रखा है। यह सोचकर जैसे ही वह मनु की गुहा के निकट आती है, तुरन्त उसे मनु के दर्शन होते हैं और वह मनु को कर्म की प्रेरणा देकर आगामी सृष्टि का विकास करने के लिये प्रोत्साहित करती है तथा वे दोनो आगे चलकर पति-पत्नि के रूप मे गृहस्थी का निर्माण करते हैं।

१—ऋग्वेद ८।२७।२–२२ तथा ८।२६।६–१०
२—शतपथब्राह्मण १।८।१।७ ३—ऐतरेयब्राह्मण ५।५।३२
४—तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।३।१ ५—बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१७
६—कामायनी, पृ० ३५–४१। ७—शतपथब्राह्मण १।८।१।७।११

श्रद्धा के जीवन-परिचय के बारे मे भारतीय वाङ्मय मे अनेक परस्पर विरुद्ध बातें मिलती हैं। ऋग्वेद मे श्रद्धा को देवता तथा ऋषि दोनो रूपों मे स्वीकार किया गया है और श्रद्धा-सूक्त की श्रद्धा ही देवता तथा श्रद्धा ही ऋषि मानी गई है। इसके साथ ही श्रद्धा-सूक्त की अनुक्रमणिका मे उसे कामगोत्र मे उत्पन्न कामायनी कहा गया है।[1] इससे श्रद्धा का जन्म काम के वश मे होना सिद्ध होता है और काम उसके पूर्वज या वश मे श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध होते हैं। आगे चलकर ऋग्वेद के बालखिल्य सूक्त मे "श्रद्धा या दुहिता तपस" कहकर श्रद्धा को सूर्य की पुत्री बतलाया है।[2] इसके अनन्तर यजुर्वेद तथा शतपथब्राह्मण मे भी "श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता" कहकर श्रद्धा को सूर्य की पुत्री कहा गया है।[3] परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण मे उसे ऋत की पुत्री तथा काम की माता कहा गया है।[4] अत. जो काम ऋग्वेद मे श्रद्धा के पूर्वज थे, अब वे तैत्तिरीय ब्राह्मण मे आकर उसके पुत्र हो जाते हैं। इसके उपरान्त मुण्डक तथा प्रश्न उपनिषद् में श्रद्धा को परम ब्रह्म की पुत्री माना गया है।[5] किन्तु पुराणो में जाकर श्रद्धा सर्वत्र दक्ष प्रजापति की पुत्री मानी गई है[6] और काम को उसका पुत्र ही माना गया है।[7] इस तरह उसके वश का कोई निश्चित मत नही मिलता। कामायनी में उसे काम और रति की पुत्री कहा गया है। इसका आधार केवल ऋग्वेद की अनुक्रमणिका मे आया हुआ 'काम-गोत्रजा कामायनी' शब्द है। प्रसादजी ने इसी आधार पर श्रद्धा और कामायनी दोनो को एक करके उसे केवल काम-पुत्री ही माना है। इसका एक कारण यह भी है कि ऋग्वेद मे 'काम' को सृष्टि के आदि में सबसे पहले विद्यमान बतलाया है।[8] अब अगर पौराणिक आधार पर श्रद्धा को दक्ष की पुत्री मानकर काम को उसका पुत्र मानते हैं तो उक्त ऋग्वेद की बात का खडन

१—कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्षिका। तथा चानुक्रम्यते। श्रद्धया श्रद्धा कामायनी श्राद्धामानुष्टभत्विति। ऋग्वेद १०।१५६ (अनुक्रमणिका)

२—ऋग्वेद ६।१।६

३—यजुर्वेद १६।४, शतपथब्राह्मण १२।७।३।११

४—'श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य' (तैत्तरीयब्राह्मण ३।१२।१–२) 'श्रद्धा कामस्य मातरम्' (तै० ब्रा० २।८।८।८)

५—मुंडक उपनिषद् २।१।७, प्रश्नोपनिषद् ६।४

६—मार्कण्डेयपुराण ५०।१६।२०, विष्णुपुराण १।७

७—विष्णुपुराण १।७।२८, कूर्मपुराण अध्याय ८, वायुपुराण १०।३४, मार्कण्डेयपुराण ५०।२८

८—ऋग्वेद १०।१२६।४

होता है। दूसरे यदि ब्राह्मण-ग्रन्थो के आधार पर श्रद्धा को सूर्य की पुत्री मानते हैं और उधर मनु भी सूर्य के पुत्र माने गये हैं, तब दोनो एक ही वश के हो जाते हैं और दोनो का वैवाहिक सम्बन्ध उचित नही ठहरता। उपनिषदो का आधार कुछ अधिक महत्वपूर्ण नही है, क्योकि परम ब्रह्म की तो सभी सन्तान हैं। इसी कारण प्रसादजी ने केवल ऋग्वेद के 'कामायनी' शब्द को आधार बनाकर श्रद्धा को काम और रति की पुत्री माना है, जिससे एक तो ऋग्वेद से कथा-सूत्र की सगत बैठ जाती है और दूसरे आगे चलकर श्रद्धा-मनु के विवाह म कोई गडबडी नही पडती।

श्रद्धा के विवाह के बारे म भी भारतीय ग्रन्थो म भिन्न भिन्न बातें मिलती हैं। जैसे ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण म श्रद्धा को सत्य की पत्नी माना गया है।[1] परन्तु शतपथब्राह्मण म स्थान स्थान पर मनु के लिए 'श्रद्धादेव' शब्द आया है।[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे भी मनु को 'श्रद्धादेव' कहा गया है।[3] इतना ही नही विष्णु देवीभागवत, ब्रह्मवैवर्त्त, हरिवश और शिवपुराण मे भी समान रूप से सातवे मन्वन्तर के प्रवर्त्तक वैवस्वत मनु को 'श्रद्धादेव' तथा 'श्राद्धदेव' कहकर सम्बोधन किया गया है।[4] इससे श्रद्धा मनु की पत्नी सिद्ध होती है। परन्तु पुराणो म श्रद्धा को धर्म की पत्नी भी कहा गया है।[5] इससे फिर यह समस्या खडी हो जाती है कि जो पुराण एक ओर मनु को श्रद्धादेव कहते हैं, वे ही पुराण श्रद्धा को धर्म की पत्नी भी घोषित करते हैं। परन्तु इस समस्या का समाधान श्रीमद्भागवतपुराण से हो जाता है, क्योकि वहाँ पर स्पष्ट ही श्रद्धा वैवस्वत मनु की पत्नी बतलाई गई है[6] और उससे दस पुत्र होने का भी उल्लेख मिलता है, जिनके नाम क्रमश इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दृष्ट, धृष्ट करूपक, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि दिये गये हैं[7]

---

१ ऐतरेयब्राह्मण ७।२।१०

२—शतपथब्राह्मण १।४।१।१६,१।१।४।१५ आदि।

३—तैत्तिरीयब्राह्मण ३।२।५।६

४—विष्णुपुराण ३।१।३०, देवीभागवत १०।१०।१, ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृति खड, ५४।६३, हरिवशपुराण ६।८ तथा शिवपुराण, उमासहिता अध्याय १।

५—मार्कण्डेयपुराण ५०।२१ तथा विष्णुपुराण १।७

६—तत्र श्रद्धा मनो पत्नी होतार समयाचन—श्रीमद्भागवतपुराण ६।१।१४

७—ततो मनु श्राद्धदेव सज्ञायामास भारत।
श्रद्धाया जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्॥
इक्ष्वाकु नृग शर्याति दिष्ट-धृष्ट-करूपकान्।
नरिष्यन्त-पृषध्र च नभग च कवि विभु॥
—श्रीमद्भागवतपुराण ६।१।११-१२

तया ये ही आगे चलकर सूर्यवंश की स्थापना करने वाले भी माने गये हैं। इसी आधार पर प्रसादजी ने श्रद्धा को मनु की पत्नी के रूप मे स्वीकार किया है और उसी से मानव-सृष्टि का विकास दिखलाया है।

आकुलि-किलात एवं पशुयज्ञ—श्रद्धा के साथ प्रणय-बंधन में बँध जाने के उपरान्त कामायनी मे मनु का साक्षात्कार दो असुर पुरोहितो से होता है, जो जलप्लावन के उपरान्त अनेक कष्ट सहते हुए इधर-उधर भटक रहे थे तथा जो श्रद्धा द्वारा पालित पशु को खाने की लालसा से अधीर होकर उसे मारने की युक्तियाँ सोच रहे थे। वे तुरन्त मनु के समीप आकर मैत्रावरुण-यज्ञ करने की प्रेरणा देते हैं तथा मनु भी प्राचीन सस्कारो के कारण इन असुर पुरोहितो की प्रेरणा से पशु-बलि द्वारा यज्ञ करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। इन असुर पुरोहितो का नाम आकुलि तथा किलात दिया गया है।[1]

आकुलि-किलात दोनो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। ऋग्वेद के दशममडल मे इन दोनो से सम्बन्धित एक कथा का उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है कि—"राजा असमाति के बधु, सुबधु, श्रुतबधु तथा विप्रबधु नामक चार पुरोहित थे। वे सभी गौपायन थे। उस राजा ने इन चारो पुरोहितो को निकाल कर अन्त मे आकुलि-किलात को अपना पुरोहित बना लिया। ये दोनो व्यक्ति असुर एवं मायावी थे। जब सुबधु आदि पुरोहितो ने राजा असमाति पर आक्रमण किया, तब आकुलि-किलात दोनो असुर पुरोहितो ने अपने छल-कपट से सुबधु को मार दिया।"[2] अतः इस कथा मे ये दोनो असुर पुरोहित बतलाए गये हैं। इसके अतिरिक्त 'बृहद्देवता' मे भी यही कथा मिलती है और यहाँ पर आकुलि-किलात को मायावी एवं असुर पुरोहित बतलाते हुए इनके द्वारा कपोत बनकर सुबधु को मारने का उल्लेख किया गया है।[3] तांड्य ब्राह्मण में इन दोनो का उल्लेख स्त्रीलिंग द्विवचन मे मिलता है। परन्तु मैक्समूलर का मत है कि ये दोनों पुरुष हैं और असुर पुरोहित के रूप मे आये हैं।[4] शतपथब्राह्मण मे इन दोनो असुर पुरोहितों का सम्बन्ध श्रद्धादेव मनु से बतलाया गया है। वहाँ पर ये श्रद्धादेव मनु को मैत्रावरुण यज्ञ करने की प्रेरणा देते हैं।[5] अतः उक्त प्रमाणो द्वारा आकुलि-किलात दोनो असुर पुरोहित ठहरते हैं और मनु को यज्ञ करने की प्रेरणा देते हैं। इन्ही आधारों पर प्रसाद जी ने कामायनी मे इन दोनो की कथा का

१—कामायनी, पृ० १११–११५।

२—ऋग्वेद १०।५७ की अनुक्रमणिका। ३—बृहद्देवता ७।८५-८८

४—ऋग्वेद, भाग ४, मैक्समूलर द्वारा लिखित भूमिका, पृ० १०३।

५—शतपथब्राह्मण १।१।४।१४–१६

प्रयोग किया है। मुख्यत प्रसाद जी ने शतपथब्राह्मण को ही अपना आधार बनाया है और उसी आधार पर कामायनी में आकुलि-किलात द्वारा मनु से मैत्रावरुण यज्ञ के लिए पशुबलि करायी है। ऋग्वेद की कथा का मनु से कोई सम्बन्ध न होने के कारण उसका कोई विशेष उपयोग 'कामायनी' में नहीं हुआ है। हाँ, इतना अवश्य दिखाई देता है कि सारस्वत नगर में जब आकुलि-किलात जनता का नेतृत्व करके मनु के विरुद्ध लड़ते हैं[1], तब वहाँ ऋग्वेद की कथा का कुछ आधार प्रतीत होता है, क्योंकि जिस तरह ऋग्वेद में ये सुबधु को मारने का प्रयत्न करते हैं, सभवत उसी आधार पर प्रसादजी ने इन्हें मनु के विरुद्ध आक्रमण करने वाला मान लिया है।

कामायनी में जिस पशु-यज्ञ का वर्णन मिलता है, उसका मूल आधार यजुर्वेद है। वहाँ पर यज्ञ-यूप खड़ा करना तथा उसमें बाधकर पशुओं का वध करने का बड़ा ही विस्तृत उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद में धनु या रज्जु से बाँधकर इस तरह की प्रार्थना का विधान मिलता है कि 'हे पशो ! तेरा मन देवताओं के मन से और तेरे प्राण देवताओं के प्राणों में मिल जायें।' इस प्रार्थना के उपरान्त घृत-मिश्रित पशु की वसा को यजमान द्वारा खाने का वर्णन मिलता है। शतपथब्राह्मण में भी पशु को यूप से बाँधने, उसका वध करने, उसको हवि रूप में देवों को समर्पित करने तथा उसके अवशिष्ट भाग को यजमान द्वारा खाने का उल्लेख आया है।[3]

यज्ञ के साथ सुरा तथा सोम पान का वर्णन भी ऋग्वेद में ही मिल जाता है। वहाँ सोम-सूक्त में सोम की बड़ी प्रशंसा की गई है और उसे पीकर वैभव-सम्पन्न होने का उल्लेख मिलता है।[4] यजुर्वेद में सोम को धनप्रदाता, बुद्धि-वर्द्धक, बलप्रदायक, शत्रुविनाशक आदि कहा है।[5] और सोम को अन्न का रूप भी बतलाया है। इतना ही नहीं यह भी लिखा है कि प्रजापति ने अन्न-रस-रूप सोम पीकर ही क्षत्रिय को वश में किया था।[6] इससे यह सिद्ध है कि सोम अन्न या धान्य से बनाया जाता होगा और सभी देवता इसका पान करते थे। शतपथब्राह्मण में सौत्रामणी यज्ञ के वर्णन में सोम तथा सुरा दोनों की बड़ी प्रशंसा की गई है, दोनों को मादक कहा गया है तथा दोनों का पान करके देवो

१—कामायनी, पृ० २०१।

२—शुक्लयजुर्वेद ६।६-१३

३—शतपथब्राह्मण ३।७।३।२।-४

४—ऋग्वेद ८।४८।८

५—शुक्लयजुर्वेद ५।३५

६—शुक्लयजुर्वेद १६।७५

को मदोन्मत्त होते हुए लिखा है।[१] ईसाई धर्म-ग्रन्थ बाइबिल में भी यह उल्लेख मिलता है कि हजरत नूह ने पहले दाख की बारी लगाई और दाख के मधु को पीकर वे उन्मत्त हो गये तथा अपने डेरे मे नगे हो गये।[२]

उक्त आधारो पर कामायनी मे भी प्रसादजी ने मनु से पशु-यज्ञ कराया है। उस यज्ञ मे श्रद्धा द्वारा पालित पशु की बलि दी जाती है, जिससे यज्ञ-वेदी का दृश्य बडा भयंकर हो जाता है, क्योंकि वेदी के चारो ओर रुधिर के छींटे और अस्थियों के टुकड़े पड़े हुए दिखाई देते हैं, वेदी पर निरीह पशु की कातर वाणी सुनाई देती है तथा सारा वातावरण अत्यंत घृणास्पद बन जाता है। यज्ञ के उपरान्त मनु सोमरस के साथ पुरोडाश खाते हुए भी बतलाये गये हैं।[३]

यहाँ तक कथा का ऐतिहासिक आधार मिलता है। इसके उपरान्त 'कामायनी' मे इस पशु-यज्ञ से श्रद्धा के रूठने, उसके गर्भवती होने तथा एक सुन्दर गृहस्थी का निर्माण करने का जो वर्णन आया है, उसका कोई ऐतिहासिक एवं पौराणिक आधार नही मिलता। वह सब प्रसादजी की अपनी कल्पना का विलास है।

(२) मनु-इडा मिलन तथा सारस्वत नगर की दुर्घटना—श्रद्धा के सुन्दर गृहस्थ-जीवन से पराङ्मुख होकर मनु हिमगिरि की गुहा से नीचे उतर कर सारस्वत प्रदेश मे आते है। यहाँ उनकी भेंट उस नगर की रानी इडा से होती हैं। उसका सारस्वत नगर भौतिक हलचलो से विनष्ट हो चुका है। अतः वह इसे पुनः बसाना चाहती है। परन्तु योग्य शासक के अभाव मे अभी तक उसकी मनोकामना पूर्ण नही हुई है। मनु को पाकर वह उन्हे अपने नगर का शासक नियुक्त कर देती है। मनु नगर की आशातीत उन्नति करते हैं, परन्तु नगर की रानी इडा के साथ अपनी अतृप्त वासना की पूर्ति करने के कारण वहाँ भयानक जनक्रान्ति होती है, जिसमे मनु घायल होकर मूर्च्छित हो जाते हैं।

कामायनी की इस कथा का ऐतिहासिक आधार खोजने पर पता चलता है कि यहाँ जिस सारस्वत प्रदेश का वर्णन आया है, वह सरस्वती नदी के किनारे का प्रदेश है। ऋग्वेद मे इस सरस्वती नदी की बड़ी प्रशंसा मिलती है और उसे नदियों मे श्रेष्ठ, पवित्र तथा सरस ऊर्मि वाली कहा है।[४] इसी के किनारे

१—शतपथब्राह्मण १२।७।३।१२

२—बाइबिल (हिन्दी) उत्पत्ति खंड, ९।२१–२२

३—कामायनी, पृ० ११६–११७।

४—ऋग्वेद ७।९५।१–२ तथा ७।९६।५

इन्द्र ने वृत्र का वध किया था, इस कारण ऋग्वेद मे इसे वृत्रघ्नी भी कहा है।[1] परन्तु यह सरस्वती नदी कहाँ थी ? इसके बारे मे विद्वानो की भिन्न-भिन्न राय हैं। अधिकाश विद्वान् इस सरस्वती नदी का पजाव में बहते हुए राजस्थान के समुद्र मे गिरना सिद्ध करते हैं। परन्तु प्रसादजी ने ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि देवताओं की यश-गाथा से सम्बन्धित यह सरस्वती नदी पजाब की सरस्वती से भिन्न पश्चिमी अफगानिस्तान के पास गाधार प्रान्त मे बहती थी। यही पर प्राचीन सप्त सिन्धु-प्रदेश था, जिसका वर्णन अवेस्ता मे भी मिलता है और यही देवो की वह आवास-भूमि थी, जिसके चारो ओर समुद्र था तथा जो उत्तर-पश्चिम मे गाधार प्रान्त के द्वारा पश्चिमी एशिया माइनर से मिली हुई थी। अपनी इस खोज के आधार पर प्रसादजी ने कधार के समीपवर्ती स्थान को सारस्वत प्रदेश माना है और इसी कारण उसे उन्नत शैल शृङ्गो से घिरा हुआ बतलाया है।[2]

पुराणों मे सरस्वती नदी की प्रशसा तो मिलती है,[3] परन्तु वहाँ सारस्वत प्रदेश का उल्लेख नही मिलता। स्कन्दपुराण[4] मे सरस्वती के जिस प्रदेश का का वर्णन मिलता है, उसका नाम वहाँ द्वारावती नगरी दिया गया है, जो स्पष्ट ही पजाब की सरस्वती नदी के किनारे बसी हुई कोई नगरी जान पडती है। इसके अतिरिक्त पुराणो मे इलावृत्त या इडावृत्त का भी उल्लेख मिलता है। ब्रह्मपुराण मे लिखा है कि मेरु के दक्षिण मे भारतवर्ष है। उसके उत्तर मे किम्पुरुषवर्ष तथा उसके उत्तर मे हरिवर्ष है। इसी तरह मेरु के उत्तरी भाग मे सबसे अन्त मे रम्यकवर्ष, उसके दक्षिण मे हिरण्मयवर्ष और उसके भी दक्षिण मे उत्तरकुरु है। साथ ही इन छै वर्षों के बीच मे इडावृत्तवर्ष है, जिसके मध्य-भाग मे सुवर्णमय ऊँचा मेरु पर्वत खडा हुआ है। यह इडावृत्तवर्ष मेरु के चारों ओर नौ हजार योजन तक फैला हुआ है। उसमे मेरु के पूर्व मे मन्दराचल पर्वत, दक्षिण मे गधमादन, पश्चिम मे विपुल तथा उत्तर मे सुपार्श्व की स्थिति है।[5] मार्कण्डेयपुराण मे लिखा है कि जम्बूद्वीप के तीन खण्ड दक्षिण मे हैं, इनके मध्य मे इडावृत्तवर्ष है, जो अर्धचन्द्राकार है तथा जिसके पूर्व में भद्राश्व-

---

१—ऋग्वेद ६।६१।७

२—कोशोत्सव-स्मारक-सग्रह, पृ० १७२–१७३।

३—पद्मपुराण, सरस्वती आख्यान, सृष्टि खड, अध्याय १८।

४—स्कदपुराण, ब्राह्मखंड, धर्मारण्यमाहात्म्य, अध्याय २६।

५—कल्याण-सक्षिप्त मार्कण्डेयब्रह्मपुराणाक, पृ० ३०७ ;

वर्ष, पश्चिम मे केतुमालवर्ष और मध्य मे मेरु पर्वत है।[1] इडावृत्तवर्ष की यही स्थिति मत्स्यपुराण[2], वायुपुराण[3] तथा अग्निपुराण[4] मे भी दी गई है।

उपर्युक्त स्थिति के आधार पर जब मेरु पर्वत भारत के उत्तर में हिन्दुकुश पर्वत के आसपास आधुनिक कोहमूर माना जाता है[5], तब इडावृत्तवर्ष उसके नीचे अफगानिस्तान मे कंधार के आसपास ठहरता है और इसी आधार पर सारस्वत प्रदेश तथा इडावृत्तवर्ष दोनों एक ही जान पडते हैं। वैसे भी इडा के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम इडावृत्तवर्ष पड सकता है और मेरु पर्वत से नीचे उतर कर मनु का इसी प्रदेश मे आना ठीक भी जान पडता है, क्योकि उक्त वर्णन के आधार पर पुराणो में इसी प्रदेश के मध्य मे मेरु पर्वत की स्थिति मानी गई है।

इसी इडावृतवर्ष या सारस्वत प्रदेश मे मनु की भेंट यहाँ की रानी इडा से होती है। ऋग्वेद मे इडा की चर्चा स्थान-स्थान पर मिलती है। वहाँ पर इसे मनु की धर्मोपदेशिका अथवा मनुष्यो पर शासन करने वाली[6], शोभनशील योद्धाओं वाली एव प्रकर्ष हिंसाकारिणी[7], पशु-यूथ की माता[8], मैत्रावरुण की पुत्री[9] तथा मनुष्यो मे कर्म-चेतना उत्पन्न करने वाली[10] कहा है। इसके साथ ही सरस्वती एव मही के साथ इड़ा को देवी कहकर स्थान-स्थान पर सम्बोधन किया गया है।[11] ऋग्वेद तथा यजुर्वेद मे अग्नि को इडा का पुत्र कहा गया है।[12] इड़ा के जन्म की कथा वेदो में नहीं मिलती। सर्वप्रथम शतपथब्राह्मण में मनु द्वारा किए गये मैत्रावरुण यज्ञ से इड़ा की उत्पत्ति बतलाई गई है तथा उसे मनु की पुत्री कहकर उसी से फिर मनु को आगामी सृष्टि का विकास करते हुए लिखा है।[13] यहाँ पर मनु-पुत्री होने के कारण उसका नाम मानवी[14]

१—वही, कल्याण, पृ० १५१। २—मत्स्यपुराण (हिन्दी) पृ० २६०।
३—वायुपुराण (हिन्दी) पृ० ११४।
४—अग्निपुराण, अध्याय १०७–१०८।
५—कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, पृ० १६४।
६—ऋग्वेद १।३१।११
७—वही १।४०।४ ८—वही ५।४१।१६
९—वही ७।६५।४ १०—वही १०।११०।८
११—ऋग्वेद १।१३।६, ५।५।८, १।१४२।६ आदि।
१२—ऋग्वेद ३।२६।४ तथा शुक्लयजुर्वेद ३४।१४
१३—शतपथब्राह्मण १।८।१।६–११
१४—वही १।८।१।२६

तथा मैत्रावरण यज्ञ मे उत्पन्न होने के कारण उसका नाम मैत्रावरणी[1] भी दिया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इडा को मानवी तथा यज्ञो का अनुशासन करने वाली कहा है।[2] इसके अतिरिक्त हरिवंश[3], ब्रह्म[4] मत्स्य[5], पद्म[6], विष्णु[7], वायु[8], श्रीमद्भागवत[9], आदि पुराणो मे भी मनु द्वारा किए गये मैत्रावरण यज्ञ से इडा के जन्म का उल्लेख मिलता है। इन प्रमाणो से यही ज्ञात होता है कि इडा मित्रावरण की पुत्री है और उसका मनु से सम्बन्ध हुआ है, इस कारण वह मानवी भी कहलाती है। प्रसादजी ने इडा को मनु-पुत्री न मानकर केवल इडा से मनु के सम्बन्ध की ही चर्चा की है।

कामायनी मे मनु और इडा के जिस अनैतिक आचरण का वर्णन किया गया है उसका उल्लेख वेदों में तो नही मिलता। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण मे अवश्य एक कथा मिलती है। यहां लिखा है कि एक बार प्रजापति ने अपनी दुहिता के साथ अनैतिक आचरण किया। प्रजापति के इस आचरण को देखकर देवता लोग चिल्ला उठे और प्रजापति को दड देने के लिए किसी व्यक्ति की खोज करने लगे। जब उन्हें कोई व्यक्ति दिखाई न दिया, तब उन देवताओ ने मिलकर एक ऐसे रौद्र शरीर का निर्माण किया, जो 'भूतवन्' कहलाया तथा उससे देवो ने प्रजापति को दड देने के लिए कहा। तब उस रौद्र मूर्ति ने पशुओ का आधिपत्य मांगा। देवो ने उसे पशुपति बना दिया। तब वह रौद्रमूर्ति 'पशुमान्' कहलाने लगी। इसके उपरान्त उस रौद्रमूर्ति ने प्रजापति के पाप-प्रक्षालन के लिए उन पर आक्रमण किया और प्रजापति के शरीर को बेध डाला।[10] यही कथा शतपथब्राह्मण[11], मत्स्यपुराण[12] आदि मे भी मिलती है। शिव-महिम्न-स्तोत्र मे भी इसी कथा का सकेत मिलता है, क्योकि वहाँ पर भी काम-मोहित प्रजापति पर शिव अपना बाण चलाते हैं।[13] इन कथाओ के आधार पर यही ज्ञात होता है कि प्रजापति अपनी दुहिता अथवा देवो की भगिनि के साथ जैसे ही अनैतिक आचरण करते है वैसे ही देवता रुष्ट हो जाते

१—शतपथब्राह्मण १।८।१।२७

२—तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।४।४

३—हरिवंशपुराण, अध्याय १०।

४—ब्राह्मपुराण, अध्याय ७।

५—मत्स्यपुराण अध्याय ११–१२।

६—पद्मपुराण, सृष्टि खंड, अध्याय ८।

७—विष्णु पुराण, अध्याय ४।

८—वायुपुराण २५।१–३४

९—श्रीमद्भागवतपुराण ६।१।१३-४२

१०—ऐतरेयब्राह्मण ३।३।३३

११—शतपथब्राह्मण १।७।४।१–३

१२—मत्स्यपुराण ३।३१–४०

१३—शिव-महिम्न-स्तोत्र २२।

है और रुद्र के द्वारा प्रजापति को दड दिलवाते है। 'कामायनी' मे भी प्रसादजी ने इसी आधार पर पहले मनु को प्रजापति के रूप मे अङ्कित किया है। तदुपरान्त जब वे वहाँ की रानी अथवा अपनी 'आत्मजा प्रजा' इडा के साथ अनैतिक आचरण करते है, तब देवशक्तियाँ क्षुब्ध हो जाती है, रुद्र का तीसरा नेत्र खुल जाता है और वे ही रुद्र देवता अपने बाण से मनु को मूर्च्छित कर देते हैं।[1] प्रसादजी ने इस ऐतिहासिक कथा मे अपनी कल्पना से इतना और जोड दिया है कि देवो के साथ ही सारस्वत नगर की जनता भी मनु के विरुद्ध क्रान्ति मचाती है और उनका नेतृत्व असुर-पुरोहित आकुलि तथा किलात करते हैं। उनमे घमासान युद्ध होता है, जिसमें मनु असुर-पुरोहितो को तो मार गिराते है, परन्तु स्वयं रुद्र के बाण का शिकार बनकर धराशायी हो जाते हैं। इस कथा द्वारा प्रसादजी ने आधुनिक शासन एव शासितो के वर्ग-सघर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है तथा जनता की विजय दिखाकर जनता को शासकों का नियमन करने वाली भी बतलाया है।

(४) श्रद्धा तथा मनु की कैलाश-यात्रा और तत्त्वदर्शन—कामायनी की कथा के अन्तिम भाग मे प्रसादजी ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार पर कथा को एक अप्रत्याशित मोड दिया है, जिससे उसमें ऐतिहासिक तत्वों का सर्वथा अभाव होगया है और दार्शनिकता की प्रधानता होगई है। इस कथा-भाग मे प्रसादजी ने तीन बातें दिखलाई हैं—प्रथम तो मनु को ताडव नृत्य करते हुए नटराज शिव के दर्शन होते है। दूसरे, मनु को त्रिपुर या त्रिकोण की वास्तविकता का ज्ञान होता है और तीसरे, कैलाश शिखर पर पहुँच कर वे समरसता को अपनाते हुए अखण्ड आनन्द का अनुभव करते हैं। वही पर इडा, मानव, सारस्वत नगर की प्रजा आदि भी पहुँच जाते हैं, जिससे एक सयुक्त परिवार बस जाता है और सभी सम्मिलित रूप मे भौतिकता से परे आध्यात्मिकता एव भौतिकता के समन्वित रूप को अपनाते हुए अखण्ड आनन्द को प्राप्त करते हैं।

शिव का तांडव नृत्य—प्रायः सहार कार्य करने के लिए शिव जो नृत्य किया करते हैं, उसे ताडव नृत्य के नाम से पुकारा जाता है। दशरूपककार ने नृत्य के लास्य और ताडव दो भेद किए हैं, जिनमे से लास्य को मधुर और ताडव को उद्धत नृत्य कहा है।[2] कहा जाता है कि पार्वती ने लास्य नृत्य की सृष्टि की है, इसी कारण वह मधुर है और सहारकारी शिव से ताडव नृत्य का जन्म हुआ है, इसी कारण उसमें उद्धत एव भीषण रूप के दर्शन होते हैं।

१—कामायनी, पृ० १८५,२०२। २—दशरूपक १।१०

वैदिक ग्रन्थों में शिव के ताडव नृत्य का वर्णन नहीं मिलता। ब्रह्मपुराण में शिव ताडव नृत्य करने वाले, मुख से बाजा बजाने वाले तथा गीत-वादन आदि कार्यों में लीन रहने वाले बतलाये गये हैं।[1] लिंगपुराण में शिव के ताडव नृत्य के बारे में एक कथा मिलती है। वहाँ लिखा है कि एक बार दारुक नामक राक्षस का वध करने के लिए जब पार्वती ने काली रूप धारण किया और उसका वध करके शिव के पास लौटी, तो भगवान् शिव ने सन्ध्या के समय पार्वती को प्रसन्न करने के लिए ताडव नृत्य किया था।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि शिव का ताडव नृत्य केवल सहार के लिए ही नहीं होता था, अपितु मनोरंजन के लिए भी होता था। 'शिव-ताडव-स्तोत्र' में ताडव नृत्य का विशद वर्णन मिलता है। यह स्तोत्र अत्यन्त प्राचीन माना जाता है और जनश्रुति के आधार पर रावण का रचा हुआ कहा जाता है। इसमें लिखा है कि 'शिव अपनी जटाओं से गिरते हुए जल-प्रवाह द्वारा पवित्र कण्ठ में बड़े-बड़े सर्पों की माला पहन कर डम-डम शब्दकारी डमरू को बजाते हुए नृत्य किया करते हैं। इस नृत्य के समय उनकी जटाओं में गंगा अपनी चचल तरंगों के साथ घूमने लगती है, ललाट में अग्नि धक धक् जलने लगती है, सर्पों की मणियों का प्रकाश चतुर्दिक फैल जाता है, अधिक वेग से घूमने के कारण सर्पों के श्वास भी वेग से चलने लगते हैं, भालाग्नि भी और तीव्र हो जाती है तथा डमरू की धिमि धिमि ध्वनि भी बढ़ जाती है, जिससे उनके ताडव नृत्य की गति में भी तीव्रता आजाती है।'[3]

इसके अतिरिक्त 'शिव-महिम्न-स्तोत्र' में भी शिव के ताडव नृत्य का वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है कि शिव का ताडव नृत्य विश्व का कल्याणकारी है। शिव के ताडव नृत्य करते समय उनके चरणों के आघात से पृथ्वी धँसने लगती है, विशाल बाहुओं के सघर्ष से नक्षत्रयुक्त आकाश पीडित होने लगता है और चचल जटाओं से प्रताडित स्वर्गलोक भी कम्पायमान हो उठता है।[4] साथ ही 'देवी-नाम विलास' नामक ग्रन्थ में भी शिव के ताडव नृत्य का वर्णन मिलता है।[5]

प्रसादजी ने इन्ही आधारों पर कामायनी में शिव के ताडव नृत्य का वर्णन किया है और लिखा है कि—"अन्धकार में से अपार ज्योत्स्ना का रूप धारण करते हुए भगवान् शिव अपनी ताडव लीला से सृष्टि के कण-कण में आह्लाद-

१—कल्याण—सक्षिप्त मार्कण्डेयब्रह्मपुराणाक, पृ० ३४२–३४४।

२—लिंगपुराण २०६, २७-२८। ३—शिव ताडव-स्तोत्र १, २,४, १६।

४—शिव-महिम्न स्तोत्र १६,२२। ५—कामायनी-सौंदर्य, पृ० ३३६–३३८

कारिणी हलचल उत्पन्न करने लगे । परिश्रम के कारण उनके मस्तक से पसीने की बूँदें झर रही थी जो सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि का रूप धारण करके आकाश में बिखर रही थी । उनके चरणों के आघात से पर्वत भी धूल के कण सदृश उड़ रहे थे, चारों ओर असंख्य ब्रह्माड फैल रहे थे, सारा संसार कांप रहा था, अनन्त चेतन परिमाणु बिखर कर विलीन हो रहे थे और संसार में क्षण-क्षण पर परिवर्तन हो रहा था । समस्त प्रकृति गल-गल कर उनके अनंत तेज मे मिल रही थी और उस क्षण उनकी स्वच्छ हँसी के कारण भीषणता भी सुन्दरता मे परिणत हो रही थी ।"[1]

त्रिकोण या त्रिपुर—इस कथा मे दूसरा वर्णन त्रिकोण या त्रिपुर का मिलता है । इस त्रिपुर की कल्पना का आधार ऋग्वेद प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ पर अग्नि के तीन रूपो की कल्पना की गई है तथा उसे त्रिधातु भी बतलाया गया है ।[2] यजुर्वेद मे आकर स्पष्ट ही अग्नि को लोहमय, रजतमय तथा स्वर्णमय गृहो मे निवास करने वाली कहा गया है ।[3] इसके अनन्तर शतपथब्राह्मण मे एक कथा मिलती है, जिसमें लिखा है कि देवताओं से पराजित होकर असुरों ने प्रजापति की तपस्या करके तीन पुरो का निर्माण किया । जिसमे पृथ्वी मे लोहे का, अन्तरिक्ष में चांदी का और द्युलोक मे सुवर्ण का पुर बनाया गया, तब उन असुरों के पुरों का नाश करने के लिए देवो ने 'उपसद' नामक अग्नि की उपासना की, जिससे उस अग्नि ने उत्पन्न होकर तीनो पुरो को भस्मसात् कर दिया ।[4]

वैदिक साहित्य के अनंतर त्रिपुर की कथाये लौकिक साहित्य मे पर्याप्त मात्रा मे मिलती हैं । महाभारत[5], शिवपुराण[6], लिंगपुराण[7], श्रीमद्भागवत-पुराण[8], मत्स्यपुराण[9] आदि मे त्रिपुर-सम्बन्धी कथा का उल्लेख मिलता है और सर्वत्र असुरों के लोहे, चांदी तथा स्वर्ण के तीन पुरो का निर्माण देवताओं से सुरक्षित होने के लिए हुआ है । परन्तु शतपथब्राह्मण की कथा से इन लौकिक कथाओं मे यह अन्तर मिलता है कि यहाँ पर शिव के द्वारा उन तीनो पुरों का विध्वंस कराया गया है तथा उन असुरो के नाम भी दिये गये हैं ।

१—कामायनी, पृ० २५२—२५४ । २—ऋग्वेद ३।२६।७

३—शुक्लयजुर्वेद ५।८ ४—शतपथब्राह्मण ३।४।४।३-४

५—महाभारत कर्णपर्व, अध्याय ३३-३४ ।

६—शिवपुराण, रुद्रसंहिता, युद्ध-खंड ५।१-१०

७—लिंगपुराण, अध्याय ७१ । ८—श्रीमद्भागवतपुराण ७।१०।५३-७०

९—मत्स्यपुराण, अध्याय, १२९—१४०

इनके अतिरिक्त शैवागमों[1] में इस त्रिपुर का वर्णन कुछ और ही ढंग से मिलता है। वहाँ पर त्रिपुर के तीन कोण माने गये हैं, जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहलाते हैं। ये तीनों कोण तीन शक्तियों से व्याप्त रहते हैं, जो क्रमशः इच्छा शक्ति ज्ञानशक्ति एवं क्रिया शक्ति कहलाती हैं। इनमें से इच्छाशक्ति सृष्टि की कामना उत्पन्न करती है और नाना कर्मों में लीन होने की प्रेरणा देती है।[2] दूसरी ज्ञान शक्ति दो प्रकार की है—ज्ञेयाधिवय और ज्ञेयानधिवय। ज्ञेयाधिवय ज्ञानशक्ति अपूर्णता का आभास कराती है और ज्ञेयानधिवयशक्ति शुद्धाशुद्ध मार्ग का ज्ञान कराती है।[3] तीसरी, क्रियाशक्ति वह है जिसमें समस्त शक्तियों का पारस्परिक संघट्टन वैचित्र्य होता है।[4] इस तरह इन तीनों शक्तियों के भिन्न-भिन्न कार्यों से पूर्ण ही यह त्रिपुर या त्रिकोण है, जो त्रिलोक या संसार भी कहलाता है तथा जिसकी अधिष्ठात्री त्रिपुरादेवी मानी जाती है, जो ब्रह्मा, विष्णु एवं शिवा रूपा है तथा जो इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया-शक्ति से सम्पन्न होकर अपने चन्द्रमा-रूप से सृष्टि-कार्य करती है, अग्नि रूप से संहार कार्य करती है और रवि-रूप से संसार की स्थिति का कार्य करती है।[5] जब तक ये तीनों पुर या त्रिकोण पृथक् पृथक् बने रहते हैं, तब तक उपाधियुक्त संसार का रूप प्रस्तुत करते हैं, परन्तु जैसे ही ये समरस होकर एक हो जाते हैं तब इनकी पृथक् सत्ता नहीं रहती और समस्त उपाधियों से शून्य होकर एकमात्र आनन्द-रूप में परिणत हो जाते हैं। इस एकरूपता की अवस्था को ही तन्त्रों में 'निरंजनावस्था' कहा है, जिसको प्राप्त करके योगी समस्त भेद-भाव पूर्ण उपाधियों से रहित होकर अखण्ड आनन्दघन शिवरूप को प्राप्त हो जाता है।[6] इसके साथ ही 'त्रिपुरारहस्य' में श्रद्धा को ही त्रिपुरादेवी के रूप में स्वीकार किया है और उसी को अपनी अनन्त शक्ति के द्वारा त्रिपुरों या त्रिकोणों को एक करने वाली बतलाया है।[7]

उक्त आधारों पर ही प्रसादजी ने कामायनी में त्रिपुर या त्रिकोण का वर्णन किया है। वैदिक एवम् लौकिक साहित्य से तो आपने तीनों पुरों के रंग की कल्पना ली है और उनके आधार पर ही इच्छा के भावलोक को रागारुण, ज्ञानलोक को श्वेत तथा कर्मलोक को श्याम रंग का बतलाया है,

---

१—तन्त्रालोक, भाग २, पृ० १०४।
२—वही पृ० ८४। ३—वही, पृ० ८५-८७।
४—वही, पृ० १११। ५—वही, पृ० ७८-७९।
६—वही, पृ० ११४-११५।
७—त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड, अध्याय ६।

जो स्पष्टतया स्वर्ण, रजत एवं लोहे के पुरों से सम्बन्ध रखते हैं। साथ ही शैवागमों से आपने इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की कल्पना ली है और उसी के आधार पर तीनों लोकों का वर्णन करते हुए इच्छा-लोक में भाव की प्रधानता, कर्मलोक में नाना प्रकार की एषणाओं से व्याप्त कर्मों की प्रधानता तथा ज्ञानलोक में शुद्धाशुद्ध मार्ग की खोज और शुष्क ज्ञानार्जन की प्रधानता बतलाई है। इसके अनन्तर तीनों की पृथक्ता के कारण ही संसार के विडम्बनापूर्ण जीवन की ओर भी संकेत किया है। पुनः 'त्रिपुरारहस्य' के आधार पर आपने श्रद्धा की मुस्कान द्वारा तीनों को मिलाकर इन तीनों लोकों की पृथक्ता दूर की है। इस तरह उक्त ग्रन्थों के आधार पर ही प्रसादजी ने कामायनी के त्रिपुर या त्रिकोण का वर्णन किया है, जो स्पष्टतया त्रिलोक या संसार के जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है और जिसके द्वारा प्रसादजी ने आधुनिक विडम्बना-पूर्ण मानव-जीवन को आनन्द-मग्न बनाने का सुझाव भी रखा है।

कैलाश पर अखंड आनन्द की प्राप्ति—यजुर्वेद में केवल भगवान् शंकर को गिरि पर स्थित होकर प्राणियों को सुख देने वाले तथा गिरि पर शयन करने वाले कहा है।[1] परन्तु पुराणों में उस गिरि का नाम कैलाश दिया है और उसे हिमालय के मध्य पृष्ठ भाग में स्थित बतलाते हुए वहाँ पर एक सुन्दर एवं दिव्य मानसरोवर का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, उस कैलाश पर्वत की अनुपम शोभा का वर्णन भी पुराणों में स्थान-स्थान पर मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त महाभारत में 'शिव-सहस्र-नाम-स्तोत्र' मिलता है, जिसमें शिव को सर्वोपरि, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी आदि बतलाते हुए विश्व को आनन्द देने वाले भी सिद्ध किया है। इस स्तोत्र की परम्परा का उल्लेख करते हुए महाभारत में लिखा है कि यह 'शिव-सहस्र-नाम-स्तोत्र' ब्रह्माजी ने इन्द्र को, इन्द्र ने मृत्यु को, मृत्यु ने रुद्रों को, रुद्रों ने तण्डि को, तण्डि ने शुक्र को, शुक्र ने गौतम को और गौतम ऋषि ने वैवस्वत मनु को बतलाया था।[3] इस प्रकार शिव-भक्तों एवं शिव-स्तोत्र के ज्ञाताओं की परम्परा में कामायनी के चरित्र-नायक वैवस्वत मनु का भी वर्णन मिलता है। सम्भवतः इसी आधार पर प्रसाद जी ने मनु को अन्त में नटराज शिव के चरणों में अखण्ड आनन्द उपलब्ध करते

१—शुक्लयजुर्वेद १६।२ तथा १६।२६

२—देखिए, मत्स्यपुराण अध्याय १२१, वायुपुराण अध्याय ४१ तथा मार्कण्डेयपुराण ५४–२४।

३—महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १६०–१६१।

हुए दिखलाया है। इसके अतिरिक्त 'कामायनी' के अन्त मे जिस अविनाशी योग का साधन करते हुए मनु को चित्रित किया गया है, उसकी परम्परा भी श्रीमद्-भगवद्गीता मे मिलती है। वहाँ पर लिखा है कि इस अविनाशी योग की क्रियाओं का ज्ञान कल्प के आरम्भ मे स्वय ब्रह्मा ने सूर्य को दिया, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को बतलाया, मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु को समझाया और अन्त में यही योग परम्परा से अन्य राजर्षियो को भी प्राप्त हुआ।[1] इस परम्परा मे वैवस्वत मनु का नाम होने के कारण प्रसादजी ने सम्भवत उन्हें कर्म योग के रहस्य को जानने वाला तथा अपने पुत्र मानव एव इडा आदि के सम्मुख उसका निरूपण करने वाला अकित किया है। इसके अतिरिक्त कैलास पर्वत पर जिस प्रकार दिव्य मानसरोवर आदि की स्थिति बतलाकर वहाँ की अलौकिक एव पावन शोभा का वर्णन पुराणो मे मिलता है, उसी के आधार पर प्रसादजी ने भी 'कामायनी' मे कैलासगिरि एव मानसरोवर की दिव्य झाँकी प्रस्तुत की है तथा वहाँ अखण्ड आनन्द का साम्राज्य बतलाया है।[2]

इस आनन्द के भिन्न भिन्न रूपो का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् मे मिलता है। उसके आधार पर पता चलता है कि एक मानव के लिए युवा, दृढ, बलिष्ट, धनी, स्वामी आदि होना महान् आनन्द को प्राप्त करना है। परन्तु सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मानद है।[3] वह आनन्द सर्वोपरि है, क्योंकि उसी मे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी मे जीवित रहते हैं और अन्त म उसी के अन्दर विलीन हो जाते हैं।[4] परन्तु यह ब्रह्मानन्द प्राप्त कैसे हो? इसके लिए 'त्रिपुरारहस्य' मे लिखा है कि मनुष्य श्रद्धा को प्राप्त होकर ही इस आत्यतिक सुख या आनन्द को प्राप्त करता है।[5] इसी तरह श्रीमद्भगवद्गीता मे लिखा है कि श्रद्धावान् व्यक्ति ही सयतेन्द्रिय होकर ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञान के प्राप्त होने पर ही उसे शीघ्र परमशान्ति या अखड आनन्द की प्राप्ति होती है।[6] इसके अतिरिक्त 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' भी यही कहता है कि जब तक मनुष्य को ससार की वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता, तब तक वह मुग्ध बना रहता है और ससार के भोगो मे लीन रहता है, परन्तु जैसे ही उसे वास्तविकता का ज्ञान

१—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।१–२

२—कामायनी, पृ० २८७–२८६।

३—तैत्तिरीय उपनिषद् ३।८

४—वही, ३।६

५—त्रिपुरारहस्य ज्ञानखड, अध्याय ६।

६—श्रीमद्भगवद्गीता ४।३६

हो जाता है, वैसे ही वह संसारी जीव चिन्मयी पराभूमि पर पहुँचकर चिदानन्द को प्राप्त कर लेता है।[1]

प्रसादजी ने उक्त आधारों पर ही इस अन्तिम कथा-भाग की पूर्ति की है और श्रद्धा के द्वारा मनु को संसार की वास्तविकता का ज्ञान करा कर उन्हें कैलाश के उस शिखर पर पहुँचाया है, जहाँ शीतल एवं अत्यन्त शान्त तपोवन है, जहाँ निर्झर उछलते हुए बहा करते हैं, जहा दिव्य एवं निर्मल मानसरोवर है, जो मन की प्यास बुझाया करता है, जहाँ अखंड महिमा से मंडित पर्वतीय शोभा सदैव विद्यमान रहती है, जहाँ किन्नरियाँ एवं अप्सरायें मागलिक नृत्य करती रहती हैं, जहाँ जीवन की मुरली से मनोहर सगीत की ध्वनि निकलती रहती है, जहाँ समस्त भेद-भाव दूर होकर सभी अपने प्रतीत होते हैं, जहाँ जड़-चेतन समरस होकर एक चेतनता से ही परिपूर्ण दिखाई देते हैं और जहाँ पर अखण्ड आनन्द विद्यमान रहता है।[2]

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने वैदिक, लौकिक, तान्त्रिक आदि ग्रन्थो में बिखरी हुई कथा सामग्री को लेकर अपनी उर्वर कल्पना द्वारा कामायनी की कथा-वस्तु रूपी भवन का निर्माण किया है, जिसमे अन्य ग्रन्थो का आधार तो मिट्टी के रूप मे ही है, उसे कल्पना के सांचे मे ढालकर एक काव्य-रूप देने का कार्य उनकी प्रतिभा ने किया है। इसी कारण दूर से देखने पर कामायनी की सारी कथा कल्पना-प्रसूत ही ज्ञात होती है, परन्तु जैसा कि ऊपर सिद्ध किया गया है, इसका ऐतिहासिक आधार भी है। फिर भी वह ऐतिहासिक आधार इतना अपर्याप्त है कि कामायनी की कथा को प्रसादजी को कल्पना का सहारा अधिक लेना पड़ा है और इसी कारण यहाँ ऐतिहासिक तत्त्व की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व का प्राधान्य हो गया है।

वैदिक काल से 'कामायनी' तक वस्तु के रूपान्तर—कामायनी के वस्तु-स्रोतो की विवेचना करने के उपरान्त यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद-संहिता मे कामायनी की कथा का केवल धुँधला सा आभास ही मिलता है, क्योकि वहाँ पर केवल मनु, श्रद्धा, इडा, मानव, आकुलि-किलात आदि के नाम ही आये हैं और उन नामो को पढकर इनके पारस्परिक सम्बन्ध का कोई निश्चित रूप नही मिलता। केवल इड़ा का मनु से कुछ सम्बन्ध अवश्य दिखाई देता है, क्योकि उसे ऋग्वेद मे मनु या मानवों पर शासन करने वाली कहा है। ऐसे ही ऋग्वेद काल मे प्रलय का तो कोई चिह्न ही नही मिलता, केवल सृष्टि के

१—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् १२, १३ और १७।

२—कामायनी, पृ० २८०—२९४।

आरम्भ मे सर्वत्र जल ही जल होने के संकेत मात्र मिलते हैं। यजुर्वेद में भी न इस प्रलय का संकेत मिलता है और न श्रद्धा, मनु, असुर पुरोहितों आदि के सम्बन्ध का उल्लेख हुआ है। वहाँ भी इडा तथा मनु के सम्बन्ध का ही क्षीण आभास मिलता है। अथर्ववेद में आकर अवश्य प्रलय का संकेत मिलता है, परन्तु शेष बाते अन्य वेदों के समान ही हैं। इस प्रकार संहिता-काल में कामायनी की कथावस्तु का भ्रूण रूप ही विद्यमान है और उसमे कोई अन्विति नही मिलती।

ब्राह्मण-काल मे आकर ऋषियो ने वेदो के अर्थ को समझने और समझाने का अत्यधिक प्रयत्न किया था और इसी प्रयत्न के परिणामस्वरूप प्रत्येक वेद-संहिता के कितने ही ब्राह्मण-ग्रन्थ बने। वेदो का अर्थ बताने के लिए ऋषियों ने लोक-प्रचलित आख्यानो को भी उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया, जिससे कितनी ही बातें जो वेदों में अस्पष्ट थी, यहाँ आकर स्पष्ट होने लगीं। लगभग सभी वेदो के ब्राह्मण-ग्रन्थ बने। इन समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थो मे वेदो के अर्थ को समझाने का स्तुत्य प्रयत्न हुआ, परन्तु सभी ब्राह्मण-ग्रंथ उतने लोक-प्रिय न न हो सके, जितना कि शुक्ल यजुर्वेद का शतपथब्राह्मण हुआ। विद्वानो के विचार मे समस्त वैदिक साहित्य मे ऋग्वेद के उपरान्त इसी ग्रंथ की प्रतिष्ठा है। इसी शतपथब्राह्मण मे हमे सर्वप्रथम कामायनी की संक्षिप्त मूल-कथा मिलती है। यहाँ भी यद्यपि कथा यत्र-तत्र उदाहरणो के रूप में बिखरी हुई है, फिर भी लगभग कथा का यत्किंचित् आभास मिल जाता है। संहिता काल मे मनु, श्रद्धा आदि का जो सम्बन्ध हमे ज्ञात नहीं होता था, वह इस ग्रंथ में आकर स्पष्ट होने लगता है और मनु को 'श्रद्धादेव' कहकर तथा आकुलि-किलात द्वारा मनु को यज्ञ की ओर प्रेरित करने के कारण हमे मनु, श्रद्धा तथा असुर-पुरोहितो के सम्बन्ध के विषय मे कोई सन्देह नहीं रहता। प्रलय अथवा जलप्लावन की कथा तो पूर्ण रूप से ही इसी ग्रंथ मे मिल जाती है। इसके अतिरिक्त वेद-संहिताओं में मनु और इडा के सम्बन्ध का भी कोई विशेष स्पष्टीकरण नही हुआ था। शतपथब्राह्मण मे आकर इडा को मनु की दुहिता कहा है, उसका जन्म मनु द्वारा किये गये मैत्रावरुणी यज्ञ मे होता है और मनु द्वारा हविरूप मे घृत, दधि आदि दिये जाने पर उनमे ही इडा का पालन होता है। अतः वह मनु से सम्बन्धित प्रतीत होती है। इतना ही नहीं इस ग्रंथ मे प्रजापति द्वारा अपनी दुहिता पर किये गये अनैतिक व्यवहार का भी उल्लेख मिलता है तथा इस अनैतिक व्यवहार के कारण देवताओं के रुष्ट होने एवं रुद्र के द्वारा बाण-संधान करने की भी चर्चा यहाँ मिल जाती है। इसके साथ ही मनु ने आगामी सृष्टि का विकास श्रद्धा द्वारा न करके इडा के द्वारा किया

है, ऐसा उल्लेख भी शतपथब्राह्मण मे मिलता है। इस प्रकार 'कामायनी' से कुछ भिन्न कथा का रूप ब्राह्मण-ग्रंथो मे मिलता है। परन्तु कवि प्रसाद ने 'कामायनी' मे उस कथा को फिर अपनी इच्छा के अनुसार अधिक सरस और उपयुक्त बनाने के लिए कुछ परिवर्तन किये है, जिनका उल्लेख आगे किया गया है। फिर भी अधिकाश कथा शतपथब्राह्मण से ही ली गई है।

रामायण तथा महाभारत-काल मे आकर इस कथा का कुछ भाग तो लुप्तप्राय-सा दिखाई देता है, परन्तु जो कुछ भाग मिलता है, उसमे पर्याप्त परिवर्तन एव परिवर्द्धन मिलते है। बाल्मीकि रामायण मे इडा का आख्यान आया है, जिसमे उसे कर्दम प्रजापति का पुत्र कहा गया है और वही पुत्र पुन शिवजी के विहार वन मे प्रविष्ट होने के कारण शाप से स्त्री रूप मे परिणत होकर इडा रूप धारण कर लेता है।[1] इस प्रकार यहाँ इडा की स्त्री एवम् पुरुष— दोनो रूपों मे चर्चा मिलती है। साथ ही उसका वैवस्वत मनु से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। इसके अतिरिक्त अन्य सभी घटनाये रामायण मे कही नही मिलती। महाभारत मे जलप्लावन की कथा तो विस्तार के साथ मिलती है, उस पर शतपथब्राह्मण का पूर्ण प्रभाव भी ज्ञात होता है और श्रद्धा एव मनु के सम्बन्ध का भी पता 'श्रद्धादेव' शब्द से चल जाता है, परन्तु इडा और मनु तथा असुर-पुरोहितो के सम्बन्ध की चर्चा यहाँ नही मिलती। महाभारत से सम्बन्धित 'हरिवश' मे अवश्य मनु और इडा के सम्बन्ध की चर्चा मिल जाती है, परन्तु वहाँ पर पुन इडा को वैवस्वत मनु की ही पुत्री बतलाया गया है। इतना ही नही, उसे बाल्मीकि रामायण की भाँति स्त्री तथा पुरुष दोनो रूप धारण करते हुए लिखा है 'हरिवश' में श्रद्धा तथा मनु के सम्बन्ध की चर्चा नही मिलती। इतना ही नही, यहाँ पर हमे सर्वप्रथम मनु के दस पुत्रो का भी उल्लेख मिल जाता है। परन्तु यह ज्ञात नही होता कि इन दस पुत्रो की माता अथवा मनु-पत्नी कौन है।[2]

पुराण-काल मे आकर ये वैदिक कथाये पूर्णतया नया रूप धारण कर लेती हैं। यद्यपि इन कथाओं का आधार हमारे वैदिक ग्रथ ही है, तथापि पुराण-कारो ने कुछ अपनी ओर से भी मिलाकर उन कथाओ को अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। वैदिक ग्रथो एव रामायण-महाभारत मे जलप्लावन, इडा, मनु, श्रद्धा आदि की कथाओ का जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप मिलता था, पुराणों में आकर उन सभी कथाओं ने विस्तृत रूप धारण कर लिया है। कही-

---

१—बाल्मीकि रामायण, उत्तर कांड (उत्तरार्द्ध), सर्ग ८७,८८,८९।

२—हरिवंशपुराण, अध्याय १०।

कहीं तो दस-दस और बारह-बारह अध्यायों में छोटी-सी कथा प्रस्तुत की गई है। जैसे त्रिपुर-दाह का वर्णन शिव-पुराण में दस अध्यायों के अन्तर्गत दिया गया है और मत्स्यपुराण में यही कथा बारह अध्यायों में आई है। पुराणों में जलप्लावन तथा मनु-इडा सम्बन्धी कथायें तो ब्राह्मण-ग्रंथों एवं रामायण-महाभारत के समान ही दी गई हैं, परन्तु श्रद्धा तथा मनु के सम्बन्ध का यहाँ अधिक स्पष्टीकरण हुआ है। अभी तक मनु को 'श्रद्धादेव' कहकर केवल यही बतलाया गया था कि वे श्रद्धा से सम्बन्धित तो हैं, परन्तु क्या श्रद्धा अपना पार्थिव रूप भी रखती है अथवा क्या यह मनु की पत्नी भी है, इन बातों का कुछ ज्ञान नहीं होता था। पुराणकाल में आकर श्रीमद्भागवतपुराण में श्रद्धा को स्पष्ट ही मनु की पत्नी घोषित कर दिया गया और श्रद्धा से ही मनु को दस पुत्रों की प्राप्ति बतलाई गई। इसके साथ ही पुराणों में मन्वन्तरों की गणना करके क्रमश: सभी मन्वन्तरों का इतिहास भी दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट पता चल जाता है कि इस आधुनिक मानव सृष्टि के प्रारम्भकर्त्ता हमारे कथानायक वैवस्वत मनु ही हैं और इनसे ही मानव-सभ्यता का विकास हुआ है।

पुराण-काल के उपरान्त श्रद्धा मनु एवं इडा-सम्बन्धी कथा के प्रति पूर्णत उदासीनता मिलती है। संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के सभी कवि राम, कृष्ण, शिव तथा रामायण, महाभारत के अन्य आख्यानों को लेकर ही ग्रंथ रचना करते रहे और किसी ने भी मानव-सृष्टि के इस धुँधले प्रभात की ओर ध्यान नहीं दिया। भारतीय साहित्य-स्रष्टाओं में प्रसादजी ही प्रथम कवि हैं, जिन्होंने आधुनिक कविता के ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर मानव-सभ्यता के इस भव्य एवं दिव्य विहान के दर्शन किए और इस धुँधले प्रकाश में ही अपने आदि-मानव की दिव्य झाँकी देखी। साथ ही उसमें से एक ज्योतिर्मयी किरण लेकर उसे अपनी उर्वर कल्पना द्वारा ऐसा आलोकपूर्ण काव्य-रूप दिया जो वर्तमान मानव के लिए ही नहीं, अपितु भविष्य में भूले-भटकों के लिए भी प्रकाश-स्तम्भ की भाँति पथ-प्रदर्शक बना रहेगा।

प्रसादजी द्वारा कथावस्तु में परिवर्तन और उसके कारण—अब प्रश्न यह उठता है कि प्रसादजी ने कथा में कहाँ-कहाँ परिवर्तन किया है, और उस परिवर्तन का क्या सभव कारण हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए भारतीय धार्मिक एवं ऐतिहासिक ग्रंथों का अध्ययन करने के उपरान्त यह पता चलता है कि प्रसादजी ने अपनी कामायनी में कथा-शृंखला मिलाने के लिए निम्न-लिखित परिवर्तन किए हैं और उनके कारण भी क्रमश: इस प्रकार हैं :—

(१) कामायनी में सर्वप्रथम जलप्लावन का वर्णन आता है। यह कथा इतनी प्रसिद्ध है कि भारतीय तथा ईसाई, इस्लामी, यूनानी आदि विश्व के सभी

प्राचीन साहित्यों में इसका उल्लेख मिलता है। अतः प्रसादजी ने इतनी विश्व-विश्रुत कथा को विस्तारपूर्वक अपने ग्रंथ में देकर व्यर्थ काव्य-कलेवर को विस्तीर्ण करना उपयुक्त नहीं समझा, किन्तु उसे एक सिद्ध घटना मानकर केवल संक्षेप में उसका विवरण दे दिया है। भारतीय ग्रंथों में प्रायः मनु की नौका मत्स्य के सींग में बाँधी जाकर अन्त में उसी के द्वारा हिमालय पर्वत पर पहुँचती है, परन्तु प्रसादजी ने मत्स्य के सींग तथा उससे नाव के बाँधने का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि प्रसादजी ने स्वाभाविकता की रक्षा करने के लिए उपर्युक्त सभी बातें छोड़ दी हैं, क्योंकि एक तो मत्स्य के सींग नहीं होता, दूसरे ऐसे भयंकर जलप्लावन के समय यह कहाँ संभव था कि मनु सावधानी के साथ नौका को मत्स्य के सींग से बाँधने के लिए तैयार बैठे रहते और उस महामत्स्य के आते ही उसके सींग में उसे बाँध देते। वह स्थिति तो बड़ी ही भयंकर रही होगी। दूसरे इस वैज्ञानिक युग में मनु और मत्स्य के वार्त्तालाप आदि में कौन विश्वास कर सकता है। यह सब अस्वाभाविक ही है। इसी कारण कथा के पूर्व भाग, अर्थात् मनु-मत्स्य के वार्त्तालाप तथा नौका के शृंग से बाँधने आदि का परित्याग करके प्रसादजी ने सीधी-सीधी तर्क-संगत कथा को अपनाया है और मनु की नौका को महामत्स्य के चपेटे द्वारा हिमालय की उन्नत चोटी पर पहुँचा दिया है।

(२) भारतीय ग्रंथों में मनु द्वारा किये गये मैत्रावरुण यज्ञ से इड़ा की उत्पत्ति बतलाई गई है। साथ ही वह मनु की दुहिता भी मानी गई है। वह मनु को उनके निवास-स्थान पर ही मिलती है और उसके द्वारा ही मनु अपनी मानव-सृष्टि का विकास करते हैं। परन्तु प्रसादजी ने मनु की भेंट पहले इड़ा से न कराकर श्रद्धा से कराई है, इड़ा तो उन्हें हिमगिरि से दूर सारस्वत नगर में मिलती है। दूसरे, इड़ा को मनु की पुत्री न कहकर मनु की 'आत्मजा प्रजा' तथा सारस्वत प्रदेश की रानी बतलाया है। तीसरे, प्रसादजी मैत्रावरुण यज्ञ से उत्पन्न होने वाली इड़ा की घटना के बारे में पूर्णतया मौन हैं। इन तीनों परिवर्तनों के ये कारण जान पड़ते हैं कि सर्वप्रथम तो मनु के लिए शतपथब्राह्मण में ही 'श्रद्धादेव' शब्द मिल जाता है और श्रीमद्भागवतपुराण में श्रद्धा को स्पष्ट ही मनु की पत्नी मान लिया है। अतः इड़ा को मनु की पत्नी बनाना या उससे ही मानव-सृष्टि का विकास दिखाना उपयुक्त नहीं दिखाई देता। श्रीमद्भागवतपुराण में श्रद्धा द्वारा ही मनु को दस पुत्रों की उपलब्धि होती है, इड़ा से मनु को कोई पुत्र प्राप्त नहीं होता। अतः मनु और श्रद्धा का मिलन एवं दोनों को पति-पत्नि रूप में दिखाना उचित जान पड़ता है। दूसरे, इड़ा को मनु-पुत्री न बताकर प्रसादजी ने अपने काव्य को अस्वाभाविकता से भी बचाया

है, क्योंकि मनु इडा के साथ जो अनैतिक व्यवहार करते हैं, वह 'कामायनी' में आपत्तिजनक एवं अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। यदि इडा को मनु-पुत्री बताकर पुनः ऐसे अनैतिक व्यवहार का वर्णन किया जाता, तो वह अत्यन्त अस्वाभाविक एवं अशोभनीय होता। परन्तु कामना से कलुषित मनु का हृदय एक दिव्य सौन्दर्य-सम्पन्न युवती को देखकर मचल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। ऐसा करके प्रसादजी ने मनु को घोर नैतिक पतन से भी बचा लिया है। तीसरे, मैत्रावरुण यज्ञ का वर्णन भी फिर इसीलिए नहीं किया, क्योंकि इडा को जब मनु की दुहिता का रूप में स्वीकार ही नहीं किया गया है, तो फिर यह सब वर्णन व्यर्थ है। केवल इडा को हिमगिरि से दूर एक स्वतन्त्र प्रदेश की रानी बनलाकर उसकी ओर मनु को आकृष्ट होता हुआ बतला दिया है, जिससे प्रसादजी को अपनी कथा में रूपक का निर्वाह करने में भी सफलता मिली है।

(३) भारतीय ग्रंथों में मनु जलप्लावन के उपरान्त सृष्टि की कामना से मैत्रावरुण यज्ञ करते हुए दिखलाये गए हैं, परन्तु 'कामायनी' में वे पहले पाक-यज्ञ करते हैं जिसमें वे अपनी तथा अन्य प्राणियों की क्षुधा का निवारण करते हैं। इस परिवर्तन का कारण यह प्रतीत होता है कि प्रसादजी यहाँ निष्काम कर्म की सफलता दिखलाना चाहते हैं, क्योंकि मनु किसी कामना से पाक-यज्ञ नहीं करते और उस यज्ञ के उपरान्त ही उन्हें श्रद्धा जैसी जीवन-संगिनी प्राप्त होती है, जैसे मानो मनु को अपनी खोई हुई शक्ति मिल गई हो। दूसरे, प्रलय से बचकर एकदम मनु को पुत्रेष्टि-यज्ञ करना अस्वाभाविक भी रहता, इसी कारण पहले वे निष्काम पाक-यज्ञ करते हैं परन्तु श्रद्धा के मिल जाने के उपरान्त वे आकुलि-किलात की प्रेरणा से मैत्रावरुण यज्ञ भी करते हैं। ऐसा वर्णन करके प्रसादजी ने अपनी कथा को मूल-कथा से भी सम्बद्ध कर दिया है और उसमें उचित सतुलन भी स्थापित किया है।

(४) भारतीय साहित्य में श्रद्धा एवं इडा दोनों नारियों के महान् व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है। फिर भी प्रसादजी का यह कैसा पक्षपात है कि वे श्रद्धा का अत्यन्त दिव्य एवं असाधारण चरित्र अंकित करते हैं और इडा को श्रद्धा की अपेक्षा तुच्छ ठहराते हैं। इसका पहला कारण तो यह प्रतीत होता है कि केवल श्रद्धा में ही प्रसादजी को भारतीय नारी की पूर्णता के दर्शन हुए हैं। दूसरे, 'कामायनी' का चरम लक्ष्य बुद्धि (इडा) के वशीभूत मन (मनु) को हृदय (श्रद्धा) के सहयोग से अखण्ड आनन्द की प्राप्ति कराना है और उसकी पूर्ति श्रद्धा जैसी पतिव्रता एवं सच्चरित्र नारी से ही हो सकती है। तीसरे, इडा के

चरित्र में कहीं-कहीं दोष भी मिलते हैं, जैसे ग्रन्थों में उसे कभी बुध के साथ[1] कभी मनु के साथ और कभी मैत्रावरुण के साथ[2] समागम करते हुए बतलाया गया है, जबकि श्रद्धा के चरित्र में कहीं भी कोई दोष किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता तथा सर्वत्र उसकी महानता के ही दर्शन होते हैं।

(५) सभी भारतीय ग्रन्थों में प्रजापति द्वारा अपनी दुहिता के साथ अनैतिक व्यवहार की चर्चा मिलती है और कहीं भी न तो प्रजापति का नाम वैवस्वत मनु दिया है और न दुहिता का नाम इडा मिलता है। फिर प्रसादजी ने कैसे इसे मनु-इडा से सम्बद्ध कर दिया है? इसका प्रथम कारण तो यह जान पड़ता है कि शतपथ-ब्राह्मण में मनु को भी प्रजापति माना गया है और इडा को स्पष्ट ही मनु के पाक-यज्ञ में उत्पन्न होने के कारण उनकी दुहिता बतलाया है। अतः इस घटना का सम्बन्ध मनु एवं इडा से हो सकता है। दूसरे, रूपक का निर्वाह करने के लिए भी ऐसा परिवर्तन किया गया जान पड़ता है क्योंकि बौद्धिक जगत में भ्रमण करने वाले मन (मनु) का ऐसा अतिचार दिखाने के लिए प्रसादजी ने इस भिन्न कथा से भी मनु का सम्बन्ध जोड़ दिया है।

(६) यदि प्रजापति और मनु को एक मान लें तो दुहिता के साथ अनैतिक आचरण करने पर देवताओं के रुष्ट होने का उल्लेख तो शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिल जाता है, परन्तु प्रसादजी ने कामायनी में केवल देवताओं को ही रुष्ट होते हुए नहीं दिखलाया, अपितु एक जन-क्रान्ति दिखाकर उसका नेतृत्व आकुलि-किलात नामक असुर-पुरोहितों से कराया है। इस परिवर्तन का कारण यह प्रतीत होता है कि प्रसादजी आसुरी प्रवृत्तियों को सभी संघर्षों का मूल बताना चाहते हैं, फिर विलासी मन के लिए तो आसुरी भावनायें ही नेतृत्व करके हलचल उत्पन्न किया करती हैं। इसीलिए आकुलि-किलात को क्रान्ति का नेतृत्व करने वाला लिखा है। गीता में भी आसुरी प्रवृत्ति वाले को द्वेष करने वाला, पापाचारी, क्रूरकर्मी, नराधम तथा बारम्बार जन्म लेने वाला बताया गया है।[3] दूसरे, जन-क्रान्ति आदि दिखाने का मूल कारण शासक एवं शासित वर्ग के संघर्ष का प्रदर्शन करना है। प्रसादजी की यह धारणा सर्वत्र दिखाई देती है कि वे अतीत के विस्मृत कथानक में वर्तमान घटनाओं को दिखा कर उसके परिणाम से पाठकों को परिचित कराया करते हैं।

१—देखिए क्रमशः हरिवंशपुराण अध्याय १०, वाल्मीकि रामायण, उत्तर-काण्ड, सर्ग ८७-८९।

२—शतपथब्राह्मण १।८।१।११ व १।८।१।२७

३—श्रीमद्भगवद्गीता १६।१६

(७) अन्य भारतीय ग्रन्थो मे मनु के दस पुत्रो का उल्लेख मिलता है, परन्तु प्रसादजी ने 'कामायनी' मे केवल एक ही पुत्र 'मानव' या 'कुमार' का उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि कामायनी एक प्रबन्ध-काव्य है, इतिहास-ग्रन्थ नही। प्रबन्ध के लिए अनावश्यक विस्तार अपेक्षित नही। अत केवल एक पुत्र का उल्लेख करके प्रसादजी ने शेष पुत्रो का विवरण नही दिया है।

(८) सारस्वत नगर मे वैवस्वत मनु एक स्मृतिकार के रूप मे प्रसादजी ने चित्रित किए हैं, परन्तु भारतीय परम्परा के आधार पर मनु-स्मृति के प्रणेता स्वयाभुव मनु माने जाते है[1] और वैवस्वत मनु तो उनके उपरान्त छै मन्वन्तरो के बीत जाने पर सातवें मनु के रूप मे आते हैं। इस परिवर्तन का कारण यह है कि यह मन्वन्तर की कल्पना पौराणिक है। ऋग्वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थो मे इसका उल्लेख नहीं मिलता। अत यह कहना सर्वथा कठिन है कि स्वायंभुव मनु ने ही मनुस्मृति बनाई थी। वैसे मानव-सृष्टि के साथ-साथ ही उसके नियत्रण के लिए नियमादि की स्थापना का होना सर्वथा स्वाभाविक जान पडता है। *यही सोचकर सभवत प्रसादजी ने मनु का प्रजापति एव स्मृतिकार दोनो* रूपो म चित्रित किया है। दूसरे जलप्लावन मे पहली सभी बातें नष्ट हो चुकी थी, तो नयी व्यवस्था स्थापित करने के लिए स्मृति-ग्रन्थो का बनाना वैवस्वत मनु द्वारा भी सभव हो सकता है।

वस्तु मे नवीन उद्भावनाएँ—इसके साथ ही प्रसादजी ने कथावस्तु की क्रमबद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए 'कामायनी' मे कितनी ही मौलिक एव नवीन उद्भावनाएँ की हैं, जो सक्षेप मे इस प्रकार हैं —

(१) प्रसादजी ने देवताओ के निर्बाध विलास के कारण ही जलप्लावन द्वारा देव-सृष्टि का विनाश बतलाया है। यह कल्पना सम्भवत महाकाव्य को एक नैतिक रूप प्रदान करने के लिए की गई है।

(२) प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करके मनु के हृदय मे जीवन-सगिनी के प्रति भावो को उद्दीप्त किया गया है। प्रसादजी की यह कल्पना उनके प्रगाढ प्रकृति-प्रेम की द्योतक है, साथ ही इस कल्पना द्वारा शृङ्गार के उद्दीपन का भी प्रस्तुत किया गया है।

(३) निराश मनु को कर्मण्य बनाने के लिए श्रद्धा के एक ओजस्वी भाषण एव मानवता के सन्देश की उद्भावना की गई है। इस उद्भावना का कारण यह जान पडता है कि प्रसादजी निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग को अच्छा

१—हिन्दुत्व, पृ० ४४६।

समझते हैं, इसी से यहाँ पलायनवाद के विरुद्ध श्रद्धा द्वारा मनु को प्रवृत्ति मार्ग पर लेजाकर उसमें लोकमगल के दर्शन करने की प्रेरणा प्रदान की गई है।

(४) श्रद्धा के प्रणय-सूत्र मे बँधने से पूर्व काम-सदेश की कल्पना की गई है। इस कल्पना का प्रथम कारण तो यह है कि प्रसादजी प्रकृति के मूल मे व्याप्त काम के विशुद्ध रूप का आभास देना चाहते हैं। दूसरे, पिता ही अपनी पुत्री को एक योग्य वर के हाथ मे सौंपा करता है, इस भारतीय परम्परा को दिखाने के लिए भी इसकी कल्पना की गई है। तीसरे, सृष्टि-कार्य मे काम का महत्व स्थापित करने एव दाम्पत्य प्रेम मे परस्पर अनुकूलता सिद्ध करने के लिए इस काम-सदेश की अवतारणा हुई है।

(५) प्रसादजी ने श्रद्धा के हृदय मे स्त्रियोचित स्वाभाविक लज्जा के उदय का उल्लेख बडी ही सजीवता के साथ किया है। इस कल्पना मे प्रसादजी का सौन्दर्य-प्रेम हिलोरें ले रहा है। साथ ही यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है, किन्तु अबाधित विलास से बचाने के लिए तथा सयम का पाठ पढाने के लिए भी इसकी कल्पना की गई जान पड़ती है।

(६) श्रद्धा का अहिंसा-प्रेम, वात्सल्य भाव, गृह-निर्माण तथा ईर्ष्यावश मनु का श्रद्धा से दूर भाग जाना आदि भी प्रसादजी की मौलिक कल्पना के अन्तर्गत आते हैं। इनका कारण यह है कि यहाँ प्रसादजी ने गाधीवादी भावनाओं से प्रेरित होकर श्रद्धा के चरित्र का निर्माण किया है। दूसरे, श्रद्धा नामक भाव को अपने यहाँ समस्त भारतीय ग्रन्थो मे अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अतः उसी भावना की मूर्त्तिमती देवी मे उन सभी उदात्त भावनाओ को भरने का प्रयत्न हुआ है। मनु के भागने मे मानव-दुर्बलता को चित्रित किया गया है। साथ ही मनोवैज्ञानिकता का पुट देने के लिए भी मनु को पुत्र के प्रति ईर्ष्या-भाव रखते हुए दिखाया है।

(७) मनु के शासन मे जन-क्रान्ति का उल्लेख पूर्णतया कल्पना-प्रसूत है। इसमें प्रसादजी ने आधुनिक राजनीति का रूप प्रस्तुत किया है और यन्त्रवाद एवं भौतिक उन्नति की विफलता का चित्र अकित करने के लिए ऐसी कल्पना की है।

(८) श्रद्धा के स्वप्न की घटना, उसका अपने पुत्र के साथ सारस्वत नगर मे आना और वहाँ आकर इडा के साथ वार्त्तालाप करने आदि का वर्णन भी पूर्णतया काल्पनिक है। यहाँ पर प्रसादजी ने भारतीय परम्परा की दृष्टि से पातिव्रत धर्म एव नारी की सहज उदारता का चित्र अकित करने के लिए ऐसी कल्पना की है।

(९) इडा तथा मनु-पुत्र मानव का मिलन पूर्णतया काल्पनिक है। इस कल्पना के द्वारा एक ओर तो प्रसादजी ने रूपक का निर्वाह किया है, क्योंकि बुद्धि और हृदय का सामंजस्य इन दोनों के मिलन द्वारा दिखाया है। दूसरे, शासन के लिए केवल कठोर राजनीति ही अपेक्षित नहीं, उदात्त भावनाओं से सम्पन्न हृदय की भी आवश्यकता होती है, यह भी बतलाने की चेष्टा की है।

(१०) मनु का त्रिपुर-दर्शन तथा कैलाश पर भगवान् शिव के नृत्य में लीन होने की भावना का भी प्रसादजी ने अपनी कल्पना के योग से ही काव्य में प्रस्तुत किया है। इन दोनों घटनाओं को अपने दार्शनिक पक्ष का समर्थन करने के लिए चित्रित किया है। एक ओर तो प्रसादजी शैव थे और शिव को ही अखंड आनन्द के अधिष्ठाता मानते थे। दूसरे, संसार का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करने के लिए त्रिपुर की कल्पना की है और उसके उपरान्त समरसता एवं आनन्द का प्रचार करने के लिए मनु को कैलाश पर्वत पर शिव के चरणों में पहुँचाया है। इस तरह इन घटनाओं का उल्लेख प्रसादजी ने अपने आनन्द-वाद के समर्थन के लिए किया है।

(११) अन्त में इडा, मानव तथा समस्त सारस्वतनगर-निवासियों का कैलाशगिरि की यात्रा करना भी पूर्णतया कल्पित है। इस कल्पना का कारण प्रसादजी की सांस्कृतिक समन्वय की भावना है। इस समन्वय द्वारा उन्होंने समरसता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है और यह कार्य सभी पात्रों को एक स्थान पर एकत्रित किए बिना सम्पन्न नहीं हो सकता था। अतः इसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अन्तिम घटना की योजना की गई है, जिसके द्वारा सभी पात्र उन्नत हिमगिरि पर पहुँच कर पारस्परिक भेदभाव को भूल जाते हैं और अखंड आनन्द का अनुभव करते हैं।

कामायनी की वस्तु का शास्त्रीय विधान

भारतीय साहित्यशास्त्रों में कथावस्तु का जितना सूक्ष्म विवेचन मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं भी दिखाई नहीं देता। यह विवेचन किसी सीमा तक वैज्ञानिक भी है, क्योंकि यहाँ पर कथावस्तु कितने प्रकार की होती है, उसमें सन्धियों और सन्ध्यंगों की योजना किस प्रकार की जाती है, कितनी अर्थ-प्रकृतियाँ तथा कार्यावस्थायें होती हैं, इत्यादि अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का विवेचन भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने किया है। भारत के साहित्यशास्त्रों में भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र का सर्वप्रथम स्थान है। यद्यपि यह ग्रन्थ नाट्य के विषय को लेकर लिखा गया है, तथापि काव्योचित तथा संगीत विषयक अन्य बातों का समावेश भी प्रसंगवश होगया है। नाट्य भी काव्य ही होता है और भरतमुनि ने काव्य

मात्र के लिए पाँच सन्धियों से युक्त इतिवृत्त आवश्यक माना है।[1] इतना होने पर भी यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि इतिवृत्त का यह उल्लेख रूपक के प्रसंग में होने के कारण क्या इसका सम्बन्ध केवल नाटक से ही है, प्रबन्ध-काव्य से नहीं ? परन्तु इस शंका का समाधान आनन्द-वर्धनाचार्य ने कर दिया है, क्योंकि उन्होंने प्रबन्ध-काव्य की कथावस्तु का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि उसमें केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नहीं, अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी सन्धि और सन्ध्यंगों की रचना आवश्यक होती है।[2] आगे चलकर साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी महाकाव्य के लक्षणों का उल्लेख करते हुए "सर्वे नाटक सन्धय"[3] लिखकर उसके इतिवृत्त में नाटक की सभी सन्धियों का होना आवश्यक माना है।

साहित्यशास्त्रों में कथावस्तु दो प्रकार की मानी गई है—आधिकारिक तथा प्रासंगिक। मुख्य कथावस्तु आधिकारिक होती है और मुख्य कथावस्तु में ही जिसके स्वार्थ की सिद्धि हो, वह प्रासंगिक कहलाती है। यह प्रासंगिक वस्तु पुन दो प्रकार की मानी गई है—पताका और प्रकरी। जब कोई प्रासंगिक कथा मध्य में से प्रारम्भ होकर अन्त तक चले, तब वह 'पताका' कहलाती है और बीच में ही समाप्त हो जाय तो उसे 'प्रकरी' कहा जाता है। पुन यह कथा यदि ऐतिहासिक होती है तब इसे 'प्रख्यात' कहते हैं, यदि कवि-कल्पित होती है तो 'उत्पाद्य' कहलाती है और कुछ ऐतिहासिक और कुछ उत्पाद्य हो तो ऐसी कथा को 'मिश्र' कहते हैं। इसके साथ ही दिव्य और मर्त्य के भेद से और भी कथावस्तु का विभाजन किया जाता है अर्थात् जिसमें देवताओं का वर्णन हो वह 'दिव्य' और जिसमें साधारण मर्त्यलोक के पुरुषों का वर्णन हो वह 'मर्त्य' कहलाती है।[4]

कामायनी की कथावस्तु का निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि इस काव्य का फल 'आनन्द' की प्राप्ति है, और उस फल को मनु प्राप्त करते हैं। अतः मनु इस कथावस्तु के स्वामी हैं। ये मनु ही अनेक कष्ट उठाने के उपरान्त श्रद्धा के सहयोग से 'आनन्द' को प्राप्त करते हैं। इसी कारण मनु एवं श्रद्धा

१—इतिवृत्तं तु काव्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।
पंचभि सधिभिस्तस्य विभागः परिकीर्तित ॥ नाट्यशास्त्र २१।१

२—संधि· सन्ध्यंगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्र-स्थिति सपादनेच्छया ॥ ध्वन्यालोक ३।१२

३—साहित्यदर्पण, ६।३०२

४—दशरूपक १।१२–१६

की कथा आधिकारिक वस्तु है। दूसरी प्रासंगिक वस्तु में से 'पताका' नाम की कथावस्तु के अन्तर्गत इडा सम्बन्धी कथा आती है, क्योंकि काव्य के मध्य में मनु को सारस्वत प्रदेश में इडा का साक्षात्कार होता है। इसके उपरान्त मनु की राज्य-व्यवस्था, संघर्ष, इडा तथा कुमार का राज्य-संचालन और अन्त में समस्त सारस्वत प्रदेश के निवासियों सहित इडा एवं मानव की कैलाश-यात्रा तक इडा का वर्णन चलता है। इस प्रकार यह कथा जहाँ से प्रारम्भ हुई है वहाँ से लेकर अन्त में मनु एवं श्रद्धा की कथा के साथ ही समाप्त होती है। तीसरी 'प्रकरी' कथा के अन्तर्गत आकुलि-किलात का पौरोहित्य कर्म तथा पशु यज्ञ आदि आते हैं, क्योंकि ये प्रासंगिक वृत्त काव्य के मध्य में उत्पन्न होकर मध्य में ही विलीन हो जाते हैं और इनका अपना स्वतन्त्र कोई उद्देश्य नहीं है।

इनके अतिरिक्त प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र—इन तीनों भेदों में से कामायनी की आधिकारिक कथावस्तु तो 'प्रख्यात' की ही कोटि में आती है, क्योंकि उसका ऐतिहासिक आधार उपस्थित है। शेष प्रासंगिक कथाओं में से काम-संदेश तथा सारस्वत निवासियों की कैलाश-यात्रा वाले प्रसंग पूर्णत कवि-कल्पित हैं अत 'उत्पाद्य' हैं। परन्तु शेष सभी प्रसंगों के ऐतिहासिक आधार उपस्थित होने के कारण वे 'प्रख्यात' की ही कोटि में आते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि यत्र-तत्र कथा की संगति मिलाने के लिए कवि ने अपनी कल्पना का प्रयोग किया है और उसमें चमत्कार उत्पन्न करके धारावाहिकता लाने का प्रयत्न किया है। दिव्य, मर्त्य आदि भेदों में से कामायनी की कथावस्तु 'दिव्य' की कोटि में आती है, क्योंकि इसमें आये हुए मनु, श्रद्धा, इडा आदि सभी प्रमुख पात्र देवता हैं।

पताका स्थानक—शास्त्रीय दृष्टि से वस्तु में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए तथा आगामी कथा की सूचना देने के लिए पताकास्थानकों का प्रयोग किया जाता है। मुख्यतया आगामी कथा की सूचना दो प्रकार से दी जाती है. या तो तुल्य संविधान द्वारा या तुल्य-विशेषणों द्वारा। जहाँ तुल्य-संविधान या समान इतिवृत्त द्वारा आगामी कथा सूचित की जाती है, वहाँ अन्योक्तिमूलक पताका-स्थानक होता है और जहाँ तुल्य विशेषणों अथवा श्लिष्ट पदावली द्वारा आगामी कथा की सूचना दी जाती है, वहाँ पर समासोक्तिमूलक पताका-स्थानक होता है। इस तरह प्रमुख रूप से दो प्रकार के पताकास्थानक होते हैं।[1] कुछ

१—प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम्॥ दशरूपक १। १४

विद्वान् चार प्रकार के पताकास्थानकों का होना भी सिद्ध करते है।[1] परन्तु विचारपूर्वक देखने पर उक्त दोनों भेदो के अन्तर्गत ही अन्य सभी भेद आजाते हैं।

कामायनी की कथावस्तु मे अधिक पताकास्थानको का स्वरूप तो नही मिलता, क्योकि इनका प्रयोग नाटको मे ही अधिक किया जाता है और वहाँ पर कथोपकथनों का प्राधान्य होने के कारण अनायास ही आगामी कथा सूचित भी करदी जाती है। परन्तु एक प्रबन्ध-काव्य मे कवि को अपनी ओर से बहुत कुछ कहना पडता है तथा पात्रो के कथोपकथन कम होते हैं। अतः यहाँ पताकास्थानकों के लिए अधिक अवकाश नही होता। फिर भी जिन दो पताकास्थानको का वर्णन ऊपर किया गया है, उनके कुछ उदाहरण कामायनी मे भी मिल जाते है।

तुल्य सविधान या समान कथा की योजना वाले अन्योक्तिमूलक पताकास्थानक का रूप हमे कामायनी के 'आशा' सर्ग मे आई हुई 'जब कामना सिन्धु-तट आई ले सध्या का तारा दीप' से लेकर 'तुहिन कणो, फेनिल लहरो मे, मच जावेगी फिर अधेर'[2] तक की पक्तियो मे मिलता है। क्योकि यहाँ पहले तो कवि ने रजनी को संध्या सुन्दरी की स्वर्णिम साडी फाडकर उसके विपरीत आचरण करने वाली बतलाया है। दूसरे, सध्या जब विश्व के काले दामन का इतिहास लिख रही थी, तब रजनी को उसकी उपेक्षा करके हँसने वाली कहा है। तीसरे, रजनी यहाँ विश्वकमल पर मधुकरी के समान जादू डालने वाली बतलाई गई है। चौथे, अपने अभीष्ट सम्पादन के लिए रजनी को हाँफती हुई आगे बढने वाली कहा है। पाँचवें, रजनी को खिलखिलाकर हँसने वाली बतलाया है तथा उसकी उन्मुक्त हँसी से प्रकृति मे पुन: हलचल उत्पन्न होने की आशंका प्रकट की गई है। ये पाँच बातें आगे चलकर हमे इडा की कथा मे भी पूर्णतया मिल जाती हैं, क्योंकि मनु से मिलते ही इडा सचमुच श्रद्धा के विपरीत आचरण करती है। जैसे, वह मनु को विश्वास-हीन घोर भौतिकवादी बना डालती है। दूसरे, रजनी की भाँति इडा भी इस विश्व-नियता के सारे वाले कारनामों पर हँसती हुई उसे निष्ठुर, दुखीजनों की पुकार न सुनने वाला, और किसी की भी सहायता न करने वाला बतलाती है तथा इस दैवी विधान से परे मनु को एकमात्र बुद्धि की शरण मे जाने का आग्रह करती

१—साहित्यदर्पण ६।९८—९९

२—कामायनी, पृ० ३८—३९।

है ।[1] तीसरे, इडा 'नयन महोत्सव की प्रतीक' एवं 'अम्लान कुसुम की नवमाला' जैसी परम सुन्दरी होने के कारण मधुकरी की गूंज के समान अपनी वाणी से मनु के हृदय पर जादू सा डाल देती है और मनु तुरत मन्त्रमुग्ध से होकर उसके बतलाए हुए मार्ग पर चल देते हैं। चौथे, रजनी की भांति इडा भी अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये, अर्थात् उजडे सारस्वत नगर को बसाने के लिये सदैव उल्लासपूर्वक आगे बढकर मनु का पथ आलोकित करती है।[2] पांचवे, इडा के प्रथम दर्शन से मनु को जो मृदुल मुस्कान से भरा हुआ सुषमापूर्ण मुख-मडल दिखाई दिया था[3] वही आगे चलकर मनु को अनैतिक आचरण करने के लिए बाध्य कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप सारे सारस्वत नगर मे फिर अंधेर मच जाती है। इस तरह 'कामायनी' के अतर्गत प्रथम पताकास्थानक के दर्शन 'आशा' सर्ग की उक्त पक्तियो मे होते हैं।

दूसरे श्लिष्टवचनयुक्त समासोक्तिमूलक पताकास्थानक का स्वरूप 'कामायनी' के 'श्रद्धा' सर्ग मे आई हुई 'कौन हो तुम वसत के दूत' से लेकर 'कर रही मानस हलचल शान्त' तक की पक्तियो मे मिलता है।[4] क्योंकि वहां पर कवि ने श्रद्धा को क्रमश वसत की सूचना देने वाली कोकिल, नीरस पतझड मे वसत की सुषमा का सचार करने वाली वासतिक छटा, घने अधकार मे प्रकाश करने वाली विद्युत् रेखा, ग्रीष्म की भयकर गर्मी मे आनन्द देने वाली शीतल-मद पवन, घोर निराशा के समय आशा प्रदान करने वाली नक्षत्र की आशा-किरण तथा मानस की हलचल को शान्त करने वाली कोमलकान्त कल्पना वाले कवि की लघु कल्पना-लहरी कहा है। ये सभी शब्द अपने लाक्षणिक प्रयोगों के साथ-साथ श्लिष्ट भी हैं क्योंकि वसत, पतझड, तिमिर, नक्षत्र-किरण, दिव्य

१—उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत,
तब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी,
उसका अधिपति ! होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गई ॥
—कामायनी, पृ० १७० ।

२—इडा अग्नि ज्वाला सी आगे जलती है उल्लास भरी,
मनु का पथ आलोकित करती विपद-नदी मे बनी तरी ।
—कामायनी, पृ० १८१ ।

३—सुषमा का मण्डल सुस्मित सा बिखराता ससृति पर सुराग ।
—कामायनी, पृ० १६८ ।

४—कामायनी, पृ० ५० ।

लहर आदि शब्द लाक्षणिक हैं और विरस, तपन, मानस, शान्त करना आदि शब्द श्लिष्ट हैं, इनके द्वारा एक ओर प्रकृति मे होने वाले ऋतु-परिवर्तन का उल्लेख किया जारहा है और दूसरी ओर मानव-जीवन मे उत्पन्न होने वाली स्थितियों का भी आभास मिल रहा है, क्योंकि आगे चलकर श्रद्धा ही मनु के नीरस अथवा राग-अनुराग-रहित जीवन को वासन्तिक छटा के तुल्य सुखमय बना देती है, सारस्वत प्रदेश मे अत्यंत उष्णता अथवा क्रान्ति के कारण सतप्त मनु को शीतल और मंद पवन के तुल्य चेतना प्रदान करती है, ससार से दुखी, संतप्त और निराश मनु को त्रिपुर की वास्तविकता बतलाकर तथा अखण्ड-आनन्द-घन शिव के दर्शन कराकर उन्हे आनन्द की आशा बंधा देती है और अन्त मे कैलाश-गिरि पर ले जाकर उनकी मानसिक हलचल को पूर्णतया शान्त भी कर देती है। इस प्रकार मनु के प्रथम परिचयात्मक कथन में 'कामायनी' की अग्रिम कथा का स्पष्ट सकेत मिल जाता है, जो श्लिष्ट पदावली द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

अर्थप्रकृतियाँ—कथावस्तु के प्रधान फल की प्राप्ति के लिए जो-जो उपाय दिखलाये जाते है, वे ही अर्थप्रकृतियाँ कहलाते हैं।[1] ये अर्थप्रकृतियाँ प्रयोजन की सिद्धि कराती हैं और इनकी सख्या पाँच मानी गई है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।[2] 'बीज' अर्थप्रकृति वह है जिसका पहले अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे कथन किया जाता है, किन्तु फल के अवसान तक वह क्रमशः विस्तृत होती जाती है।[3] 'कामायनी' मे यह 'बीज' अर्थप्रकृति 'चिन्ता' सर्ग की 'बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता' से लेकर 'आज शून्य मेरा भरदे'[4] तक की पंक्तियों मे है, क्योंकि यहाँ पर मनु बुद्धि या चिन्ता आदि को दूर भगाकर, विस्मृति एवं जडता का आह्वान करते हुए अपने हृदय मे शून्यता भरना चाहते हैं, जिससे उनके हृदय की समस्त हलचल शान्त हो जाय और उन्हे चिरशान्ति या आनन्द प्राप्त हो सके। 'कामायनी' का मुख्य कार्य भी अखड आनन्द की प्राप्ति है और इस कथन के अनन्तर आगामी सर्गों मे मनु बराबर आनन्द की ही खोज मे लीन रहते है तथा अन्त मे वे उस आनन्द या चिरशान्ति को प्राप्त भी कर लेते हैं, जिसके लिए उक्त पंक्तियों मे बेचैन हैं। अतः इन्हीं पंक्तियों मे कथावस्तु का बीज दिखाई देता है।

१—रूपक-रहस्य, पृ० ४२।
२—दशरूपक १।१८
३—नाट्यशास्त्र २१।२३
४—कामायनी, पृ० ६।

दूसरी 'बिन्दु' अर्थप्रकृति निमित्त बनकर समाप्त होने वाली अवान्तर कथा को आगे बढाया करती है।[1] यह बिन्दु अर्थप्रकृति कामायनी के 'काम' सर्ग मे वर्णित 'प्यासा हूँ मैं अब भी प्यासा' से लेकर 'जैसे मुरली चुप हो रहती'[2] तक की पक्तियो मे है, क्योकि इससे पूर्व मनु सोचते-सोचते यह निश्चय कर बैठ हैं कि अब मैं न तो श्रद्धा के साथ अपना कोई सबध स्थापित करूँगा और न जीवन के इस मधुर भार को ही उठाऊँगा। क्योकि इस भोगमय जीवन का दु खद परिणाम मैं पहले ही देख चुका हूँ। ऐसा निश्चय करते-करते उन्हे नींद आ जाती है और स्वप्न मे उन्हें काम का सदेश सुनाई देता है। इस सदेश मे पूर्व कथा समाप्त सी हो रही थी, परन्तु काम का कथन उसमे पुन गति उत्पन्न कर देता है और काम के इस सदेश को सुनते ही मनु के हृदय मे श्रद्धा को पाने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। अत उक्त पक्तियो मे बिन्दु अर्थप्रकृति है।

'पताका' और 'प्रकरी' अर्थप्रकृतियो का वर्णन कथावस्तु के प्रसग मे पहले ही किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त पाँचवीं 'कार्य' अर्थप्रकृति वह कहलाती है, जिसके लिये समस्त उपायो का आरम्भ किया जाता है अथवा जिसकी सिद्धि के लिये समस्त सामग्री सकलित की जाती है।[3] कामायनी मे इस अर्थप्रकृति का दर्शन तो हमे 'रहस्य' सर्ग मे ही होने लगता है, क्योकि त्रिपुर के रहस्यो-द्घाटन एव इच्छा-क्रिया-ज्ञान का समन्वय हो जाने पर 'कार्य' आरभ हो गया है, परन्तु स्पष्ट रूप मे इस अर्थप्रकृति का दर्शन 'मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर' से लेकर 'आनद अखड घना था'[4] तक की पक्तियो मे होता है क्योकि यहीं मनु जीवन मे समरसता को अपनाते हुए अखड आनद की अनुभूति मे लीन दिखलाये गये हैं।

कार्यावस्थायें—प्रबन्ध-काव्यो मे प्राय यह देखा जाता है कि नायक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मे से किसी एक फल की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाया करता है और पुनः उसकी समस्त चेष्टायें उस लक्ष्य प्राप्ति के लिए होती हैं। वह अपने निश्चय के अनुसार जैसे ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, वैसे ही मार्ग मे अनेक बाधायें भी आती है और वह उनका प्रतिकार करता हुआ आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। कभी-कभी वे बाधायें इतनी प्रबल हो जाती है कि उनके कारण नायक को अपनी लक्ष्य-प्राप्ति मे सन्देह होने लगता है। परन्तु

१—नाट्यशास्त्र २१।२४ २—कामायनी, पृ० ७१-७७।

३—नाट्यशास्त्र १३।२७ ४—कामायनी, पृ० २८७-२९४।

जैसे ही वह दृढता के साथ बाधाओ का सामना करता हुआ सतत आगे बढने की तैयारी करता है, वैसे ही उसकी दृढता के कारण बाधायें भी विलीन होने लगती हैं और वह अपने लक्ष्य के समीप पहुँच जाता है। अब उसे निश्चय भी होने लगता है कि मैं लक्ष्य को प्राप्त कर लूँगा तथा अन्त मे लक्ष्य-प्राप्ति होते ही कथा समाप्त हो जाती है। इस तरह औत्सुक्य बनाये रखने, सघर्ष द्वारा मानव-प्रयत्नों की सार्थकता दिखाने तथा इतिवृत्त को यथार्थ रूप देने के लिए उक्त ढग से कार्य या व्यापार की कुछ अवस्थाओ का चित्रण प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य किया जाता है। पाश्चात्य विद्वानो ने उन अवस्थाओ को छ भागो मे विभक्त किया है— (१) आरम्भ या व्याख्या (Exposition), (२) प्रारम्भिक सघर्षमयी घटना (Incident), (३) कार्य का चरमसीमा की ओर बढना (Rising Action), (४) चरमसीमा (Crisis), (५) निगति या कार्य की ओर झुकाव (Denoument), और (६) अन्तिम फल (Catastrophe)।[1]

परन्तु भारतीय साहित्य-शास्त्रियो ने इन कार्यावस्थाओ को केवल पाँच भागो में विभक्त किया है—(१) प्रारम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति, और (५) फलागम।[2] इन पाश्चात्य एव पौरस्त्य विभाजनो को देखने पर ज्ञात होता है कि उक्त दोनों विभाजनो मे कोई विशेष अन्तर नही है। आचार्य गुलाबरायजी ने दोनों के अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि—"हमारे यहाँ भी कथावस्तु मे सघर्ष अवश्य दिखाया जाता था, परन्तु उसकी ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया जाता था। पाश्चात्य कथानकों मे सघर्ष की ही प्रधानता रहती है और अन्तर्बाह्य दोनो प्रकार के सघर्षों को कथानक की आत्मा माना जाता है। हमारे यहाँ संघर्ष को केवल फल-सिद्धि मे बाधा के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसी कारण यहाँ के कथानकों मे संघर्ष अनुमेय रहता है, स्पष्ट नही होता और फल भी लगभग निश्चित सा ही रहता है, अर्थात् नेता की अभीष्ट सिद्धि ही यहाँ पर फल मानी जाती है। नाट्यशास्त्र मे मानी हुई पाँच अवस्थाओ तथा पाश्चात्य छ अवस्थाओ में पूरी-पूरी समानता तो नही है। परन्तु वे इनसे मिलती-जुलती अवश्य हैं। जैसे आरम्भ नाम की कार्यावस्था पहली अवस्था से मिलती है, प्रयत्न दूसरी मे, प्राप्त्याशा मे तीसरी और चौथी की कुछ झलक आजाती है, नियताप्ति पाँचवीं अवस्था मे मिल जाती है और फलागम छठी मे।"[3]

१—काव्य के रूप, पृ० १७।   २—नाट्यशास्त्र २१।९

३—काव्य के रूप, पृ० १७–१८।

कामायनी की कथावस्तु में इन कार्यावस्थाओं का स्वरूप देखने पर ज्ञात होता है कि प्रथम 'आरम्भ' कार्यावस्था यहाँ 'चिन्ता,' 'आशा' तथा 'श्रद्धा' सर्ग में विद्यमान है, क्योंकि इन तीनों सर्गों में से प्रथम 'चिन्ता' सर्ग में तो मनु ने स्मृति के रूप में प्रलय सम्बन्धी घटना का वर्णन किया है और दूसरे 'आशा' सर्ग में उनके चिन्तित जीवन में प्राकृतिक विकास को देखकर कुछ आशा का संचार होता है, किन्तु तीसरे 'श्रद्धा' सर्ग में श्रद्धा के मिलन से ही सचमुच कार्य का आरम्भ होता है। अतः इन प्रारम्भिक तीनों सर्गों में ही फल प्राप्ति के लिए चिन्तित, व्यथित एवं मननशील मनु में औत्सुक्य का प्राधान्य दिखाया गया है। दूसरी 'प्रयत्न' कार्यावस्था कामायनी के 'काम' सर्ग से लेकर 'स्वप्न' सर्ग तक सात सर्गों में फैली हुई है। इसका कारण यह है कि श्रद्धा से भेंट होने के उपरान्त ही मनु के आनन्द-प्राप्ति सम्बन्धी प्रयत्न प्रारम्भ होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वे श्रद्धा-प्राप्ति, पशु-यज्ञ, सोमपान, आखेट, सारस्वत नगर की व्यवस्था, इडा-प्राप्ति की असफल चेष्टा आदि कार्यों में लीन दिखाये जाते हैं। तीसरी 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था का स्वरूप 'स्वप्न' सर्ग के अन्त से लेकर 'दर्शन' सर्ग के मध्य में मनु के सारस्वत नगर से भाग जाने पर पुनः श्रद्धा और मनु के मिलन तक मिलता है,[1] क्योंकि इन सर्गों में मनु की सफलता एवं विफलता का घोर संघर्ष दिखाया जाता है तथा भागे हुए मनु के समीप पुनः श्रद्धा को भेजकर फल प्राप्ति की आशा भी बँधाई जाती है। चौथी 'नियताप्ति' नामक कार्यावस्था कामायनी के 'दर्शन' सर्ग के मध्य में 'कौन तुम रमणी तुम नहीं आह'[2] पंक्ति से लेकर 'रहस्य' सर्ग के अन्त तक मिलती है, क्योंकि इन दोनों सर्गों में श्रद्धा जैसे ही मनु को पुनः प्राप्त करती है, वैसे ही उन्हें श्रद्धा के गौरव का ज्ञान होता है, हृदय में श्रद्धा की अधिकता होने के कारण नटराज शिव के दर्शन होते हैं और वे शिव के चरणों तक पहुँचने के लिए आतुर हो जाते हैं। फिर श्रद्धा मनु को भावलोक, कर्मलोक तथा ज्ञानलोक का दर्शन कराती हुई उनका समन्वय कर देती है, जिससे मनु को अखण्ड आनन्द की प्राप्ति पूर्णतया निश्चित हो जाती है। इसके अतिरिक्त पाँचवी 'फलागम' नामक कार्यावस्था कामायनी के अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में विद्यमान है, क्योंकि इसी सर्ग में आकर मनु को पूर्ण समरसता की अनुभूति होती है, इडा-मानव आदि भी उनके समीप आजाते हैं और वे सब भी मनु के अखण्ड आनन्द में लीन दिखाई देते हैं। कामायनी के कार्य की समाप्ति इसी अन्तिम सर्ग में होती है और यहीं मनु अपने अभीष्ट फल 'आनन्द' को प्राप्त करते हैं।

१—कामायनी, पृ० २४३।
२—वही, पृ० २४८।

संधियाँ—प्राय प्रबन्ध-काव्य की कथा कितने ही भागो मे विभक्त रहती है, परन्तु उन समस्त भागो को परस्पर अन्वित करके मुख्य कथा के प्रमुख प्रयोजन से उन्हे सम्बद्ध करने का कार्य सधियाँ किया करती हैं। ये सधियाँ पाँच बतलाई गई हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण या उपसहृति।[1] कामायनी मे प्रथम 'मुख' संधि की योजना 'चिन्ता', 'आशा' तथा 'श्रद्धा' सर्ग मे की गई है, क्योकि इन तीनों सर्गो मे ही 'बीज' अर्थ-प्रकृति एव 'आरम्भ' नामक कार्यावस्था भी मिलती हैं। दूसरी 'प्रतिमुख' सधि का स्वरूप कामायनी के 'काम' सर्ग से लेकर 'सघर्ष' सर्ग तक मिलता है, क्योकि इन सर्गों मे ही 'बिन्दु' अर्थप्रकृति और 'प्रयत्न' कार्यावस्था मिलती हैं। इसके साथ ही मनु के जीवन मे आने वाले उत्थान-पतनो मे बीज का लक्षित एव अलक्षित होना भी दिखाई देता है। जैसे श्रद्धा द्वारा स्थापित गृहस्थ-जीवन की झाँकी मे न्यस्त बीज दिखाई देता रहता है, परन्तु उस गृहस्थ-जीवन को लात मार कर मनु के भाग जाने पर वह बीज अलक्षित हो जाता है। बीज की यही लक्षित-अलक्षित दशा 'सघर्ष' सर्ग मे मनु के मूर्छित होने तक चलती है। तीसरी 'गर्भ' सधि कामायनी मे 'स्वप्न' सर्ग के अन्त से लेकर 'दर्शन' सर्ग के मध्य तक मिलती है, क्योंकि यही पर 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था विद्यमान है। और इन सर्गों मे इडा की कथा आजाने से 'पताका' अर्थप्रकृति भी मिल जाती है। चौथी 'अवमर्श' सधि का प्रारम्भ 'दर्शन' सर्ग के मध्य से होता है और 'रहस्य' सर्ग के अन्त तक इस सधि की योजना मिलती है, क्योकि इन सर्गो मे 'नियताप्ति' कार्यावस्था विद्यमान है। नियमानुसार इसमे 'पताका' अर्थप्रकृति मिलनी चाहिए, परन्तु उसका होना कोई आवश्यक नहीं है।[2] इसके साथ ही ताडव मे लीन नटराज शिव के दर्शन, ऊर्ध्व देश की ऊँची चढाई वात-चक्र की भयकरता, त्रिपुर की विषम स्थिति, महाकाल का विषम नृत्य आदि यहाँ पर भय, क्रोध, विपत्ति, विघ्न आदि को उपस्थित करते हैं। पाँचवी 'निर्वहण या उपसहृति' सधि का स्वरूप कामायनी के अन्तिम 'आनन्द' सर्ग मे दृष्टिगोचर होता है, क्योकि यही पर आकर मनु को समरसता द्वारा 'आनन्द' फल की प्राप्ति होती है और सारी कथा का समाहार भी यही होता है।

इस प्रकार कामायनी की कथावस्तु मे जहाँ-तहाँ, पताकास्थानक, कार्यावस्थाये, अर्थप्रकृतियाँ, सधियाँ आदि मिलती हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि प्रसादजी ने शास्त्र को सम्मुख रखकर और उसके आधार पर 'कामायनी'

१—नाट्यशास्त्र २१।३७

२—रूपक-रहस्य, पृ० ६६।

की रचना की है। ये सभी बातें तो अनायास ही आगई हैं और बहुधा महाकवियो के काव्यो मे शास्त्र-सम्मत अनेक बातें बिना प्रयत्न किए हुए ही आजाया करती हैं, क्योंकि शास्त्रो मे जो नियम रहते हैं, वे सभी उत्कृष्ट रचनाओं को देखकर ही बनाये जाते हैं। अत महाकवियों की अनेक बातें स्वभावत समान हो सकती हैं। कामायनी काव्य मे भी यद्यपि वस्तु-सगठन किसी निश्चित शास्त्र के आधार पर नही हुआ है, तथापि जो शास्त्र-सम्मत बातें दिखाई देती हैं, वे अनायास ही अपरिहार्य होने के कारण आगई हैं। वैसे तो कामायनी का निर्माण कवि की अपनी उर्वर कल्पना, अलौकिक प्रतिभा एव गहन अनुभूति के आधार पर हुआ है, परन्तु जो कुछ बातें शास्त्रानुकूल दिखाई देती हैं वे कवि की महानता एव श्रेष्ठता की परिचायक हैं।

दु.खान्त काव्य के अनुसार कामायनी की वस्तु-योजना

साधारणतया कथा की अन्तिम घटना के आधार पर काव्य दो प्रकार का माना जाता है—सुखान्त और दु खान्त अर्थात् जिसमे नायक-नायिका का मिलन या उनकी अभीष्ट सिद्धि दिखलाकर कथा की समाप्ति होती है, वह सुखान्त तथा जिसमे किसी प्रमुख पात्र या नायक नायिका के वध, मृत्यु आदि दिखलाकर कथा का समाप्त किया जाता है, वह काव्य दु खान्त कहलाता है। भारतीय प्रणाली के अनुसार प्राय काव्यो का अन्त सुखमय ही दिखाया जाता है और यहाँ काव्य के दु खद अन्त को महत्व नही दिया जाता। इसी कारण यहाँ न तो दु खान्त रचनाएँ ही अधिक मिलती है और न ऐसे काव्यो का विवेचन ही यहाँ के साहित्य-शास्त्रियो ने किया है। परन्तु पाश्चात्य देशो मे उक्त दोनो प्रकार के काव्य लिखे जाते हैं और सुखान्त की अपेक्षा दु.खान्त को अधिक महत्व दिया जाता है।

अङ्गरेजी मे सुखान्त के लिए 'कामेडी' तथा दु खान्त के लिए 'ट्रेजडी' शब्द का व्यवहार होता है। अरस्तू ने कामेडी तथा ट्रेजडी का भेद करते हुए कामेडी काव्य को मनुष्य के वास्तविक जीवन की अपेक्षा निम्नतर जीवन को प्रस्तुत करने वाला और ट्रेजडी काव्य को मानव के उच्चतर जीवन की अभिव्यक्ति करने वाला बतलाया है।[1] उसका मत है कि ट्रेजडी के व्यापार मे महानता, पूर्णता एव समुचित विस्तार होता है, उसकी भाषा हर प्रकार के

1—Tragedy, also, and Comedy, are distinguished in the same manner, the aim of comedy being *to exhibit* men worse than we find them, that of tragedy better
—Poetics I-III, p 7.

कलात्मक अलंकारो से सुसज्जित होती है, उसमे अनेक विभाषाये रहती है, उसकी शैली वर्णनात्मक न होकर अभिनयात्मक होती है और वह काव्य करुणा एवं भय का प्रदर्शन करके हमारे मनोवेगो का परिष्कार एवं परिमार्जन करता है।[1] अरस्तू ने ट्रेजडी को केवल दुखान्त काव्य नही माना है, अपितु उसकी दृष्टि मे ट्रेजडी काव्य दुखान्त एवं सुखान्त दोनो प्रकार के व्यापारो से समन्वित रहता है।[2] परन्तु उनके परवर्ती आलोचको एव लेखको ने कामेडी को सुखान्त काव्य और ट्रेजडी को दुखान्त काव्य माना है। प्रो० निकोल ने उनके मतो को उद्धृत करते हुए बतलाया है कि ट्रेजडी मे साधारणतया किसी राजा या सम्राट के दुर्भाग्यपूर्ण जीवन या सकटो का वर्णन होता है और अन्त मे उसकी मृत्यु दिखाई जाती है या किसी साम्राज्य का अन्त दिखाया जाता है, जबकि कामेडी मे मध्यम श्रेणी के देहाती नागरिक जीवन का हास-विलास-पूर्ण चित्र अङ्कित किया जाता है। ट्रेजडी का प्रारम्भ कामेडी की अपेक्षा शान्ति एव गम्भीरता के साथ होता है, किन्तु इसका अन्त भयपूर्ण होता है। यह काव्य दर्शको एव पाठको पर अपना गहरा प्रभाव डालता है, उनके मर्म को स्पर्श करता है, सहानुभूति जाग्रत करता है, जबकि कामेडी मे यह शक्ति नही होती।[3]

1—Tragedy, then, is an imitation of some action that is important, entire, and of a proper magnitude—by language, embellished and rendered pleasurable, but by different means in different parts—in the way, not of narration, but of action—effecting through pity and terror the correction and refinement of such passions —Poetics II-I, p.14

2—Traedy is an imitation, not of men, but of action—of life, of happiness and unhappiness.
—Poetics II-III, p. 15.

3—The one (tragedy), it was said, dealt with adversity *and unhappiness, employing for that purpose* exalted characters, the other (comedy) dealt with joyousness and mirth, making use of humbler figures...the tragic poets treat of the deaths of high kings and the ruins of great empires......while comedy recognized the middle sections of society—common people of the city or the country......comedy introduces characters from rustic, or

परवर्ती लेखकों एवं आलोचकों ने 'ट्रेजडी' को जो एक दुःखान्त काव्य माना है, उसका कारण यह जान पड़ता है कि अरस्तू ने जिन करुणा एवं भय नामक मनोवेगों के प्रदर्शन का भार ट्रेजडी को सौंपा था, वह कार्य कथा को दुःखान्त बनाये बिना नहीं हो सकता था। अतः अधिकांश लेखक दुःखान्त कथा लेकर ही ट्रेजडी की रचना करने लगे और अन्त में करुणा एवं भय दिखाने के लिए प्रमुख पात्रों की मृत्यु या कोई अन्य दुर्घटना दिखाने लगे, जिससे आगे चलकर ट्रेजडी का अर्थ ही करुण काव्य या दुःखान्त काव्य हो गया और उसमें प्रायः *किसी नायक या नायिका की मृत्यु किसी राज्य का विध्वंस आदि* दुर्घटना के साथ ही काव्य का अन्त दिखाया जाने लगा।

अरस्तू ने 'ट्रेजडी' के छः अङ्ग बतलाये हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, शैली, रस, नाट्य-कौशल तथा संगीत। इनमें से 'कथानक' को सबसे अधिक महत्व दिया है।[1] उसका मत है कि ट्रेजडी का कथानक एक हो, पूर्ण हो तथा उससे सम्बद्ध जितनी प्रासंगिक कथाएँ हों, वे सभी सुसम्बद्ध हों। उसमें आदि, मध्य एवं अवसान स्पष्ट लक्षित हों। उसका कथानक प्रख्यात एवं उत्पाद्य दो प्रकार का हो अथवा दोनों का मिश्रित रूप भी हो सकता है और उसमें परिवर्तन (revolution), अनुसन्धान (discovery) और आपत्ति (disaster) नामक तीन अङ्ग हों, साथ ही उसमें कल्पित घटनाएँ ऐसी दिखाई गई हों कि वे पूर्णतः सत्य जान पड़ें। इसके अतिरिक्त उसका कथानक सदैव दुहरे परिणाम की अपेक्षा इकहरे परिणाम वाला हो, जिसमें नायक का भाग्य दुर्भाग्य से सौभाग्य में परिणत होता हुआ न दिखाकर इसके विपरीत दिखाया गया हो तथा वह

---

low city life. Tragedy, on the contrary, introduces kings and princes. A tragedy begins more tranquilly than a comedy, but the ending is full of horror ..... in tragedy we are deeply moved and our sympathies profoundly stirred, in comedy the impression because lighter, is less penetrating and our sympathies are not so freely called into play

—The Theory of Drama by A. Nicoll, pp 85 87

1—*Hence all tragedy necessarily contains six parts, which* together constitutes its peculiar character or quality fable, manners, diction, sentiments, decoration and music But all these parts the most important is the combination of incidents or the fable.

—Poetics II-IV, p 15.

परिणाम किसी बुराई या पाप से उत्पन्न होने की अपेक्षा व्यक्ति की किसी महान् दुर्बलता से उत्पन्न हुआ हो ।[1]

अरस्तू की कथानक सम्बन्धी ट्रेजडी की उक्त विशेषतायें उनके परवर्ती सभी लेखकों ने स्वीकार की हैं। इसके साथ ही प्रो० ब्रेडले ने लिखा है कि ट्रेजडी के कथानक में सदैव संघर्ष की प्रधानता रहनी चाहिए। वह संघर्ष कभी भावों का, कभी विचारों, इच्छाओं, अभिलाषाओं तथा प्रयोजनों का या कभी परस्पर व्यक्तियों का अथवा व्यक्तियों और परिस्थितियों आदि का होना चाहिये।[2] इसी तरह एबरक्रोम्बी का मत है कि ट्रेजडी में किसी दुराचारी व्यक्ति के कष्टों का वर्णन न करके सदैव किसी सदाचारी या सज्जन व्यक्ति को अपनी भूलों के कारण कष्ट उठाते हुए दिखाना चाहिए।[3]

उक्त विवेचन के आधार पर जब कामायनी के कथानक का विश्लेषण किया जाता है, तो पता चलता है कि यह कथानक भी जीवन के संघर्षों से ही परिपूर्ण है, आरम्भ में ही कष्ट एवं विपदाओं की बाढ़ आती है और बहुत दूर तक चलती रहती है। इतना ही नहीं, उस बाढ़ में कथा-नायक मनु इतने व्यथित एवं बेचैन दिखाये जाते है कि प्रलय में तो उनकी रक्षा भी हो गई थी, परन्तु यहाँ उनके बचने तक की आशा नहीं रहती। इस तरह कामायनी की कथा ट्रेजडी के अनुकूल दिखाई देती है। अरस्तू ने तो ट्रेजडी का अन्त सुखमय तथा दुःखमय दोनों प्रकार का स्वीकार किया है। उस दृष्टि से तो कामायनी का सुखमय अन्त भी पाश्चात्य ट्रेजडी के कथानक से विरुद्ध ज्ञात नहीं होता, परन्तु परवर्ती आलोचकों ने ट्रेजडी का अन्त केवल दुःखमय ही स्वीकार किया है। इस आधार पर केवल 'चिन्ता' सर्ग से लेकर 'संघर्ष' सर्ग तक की कथा पूर्णतया ट्रेजडी या दुःखान्त काव्य के अनुकूल ठहरती है, क्योंकि 'संघर्ष' सर्ग में ही विपदाओं की भयंकर बाढ़ से थका हुआ नायक विपत्तियों के विरुद्ध शस्त्र लेकर युद्ध करता है, उसके विरुद्ध जनता ही नहीं है, देव-शक्तियाँ भी कोप करती हैं और रुद्र अपने भयंकर बाण से उसे मूर्छित कर देते हैं।

1—Poetics II-VIII, IX, XII, XIV, pp. 17-30.

2—It will be agreed, further that in all tragedy there is some sort of collision or conflict—conflict of *feelings, modes of thoughts, desires, wills, purposes;* conflict of persons with one another or with circumstances or with themselves.

—Oxford Lectures on Poetry, pp 70-71.

3—The Idea of Great Poetry, p. 168.

ट्रेजडी के कथानक की विशेषताओं के आधार पर देखें तो 'चिन्ता' सर्ग से संघर्ष' सर्ग तक के इस कथानक मे आदि, मध्य और अवसान के भी दर्शन होते हैं। 'चिन्ता' सर्ग से 'काम' सर्ग तक कथा का 'आदि' है, क्योंकि अभी तक मानसिक संघर्ष की ही प्रबलता दिखलाई गई है और मनु ने श्रद्धा को पत्नी रूप मे स्वीकार नहीं किया है। 'वासना' सर्ग से लेकर 'ईर्ष्या' सर्ग तक कथा का 'मध्य' है, क्योंकि इस बीच मे मनु एक छोटी-सी गृहस्थी का निर्माण करते हैं और जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनकी भूलो के कारण फिर नई-नई आपत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं, जैसे असुर-पुरोहितों के बहकावे मे आकर वे पशु-यज्ञ कर डालते हैं, शिकार खेलने लगते हैं, मादकता से मोह हो जाता है और ऐसी बातो में फँस रहने से उनकी पत्नी उनसे विमुख बनी रहती है, जिसका परिणाम यह होता है कि दोनों मे मेल नहीं रहता और एक दिन मनु घर छोडकर अन्य विपत्तियो का आह्वान करते हैं। इसके उपरान्त 'इडा' सर्ग से लेकर 'संघर्ष सर्ग तक कथा का अवसान है, क्योंकि इन सर्गों मे वे सारस्वत नगर के शासक बनते हैं, नये-नये अस्त्र-शस्त्र बनाते है और यह भूल जाते हैं कि वे एकमात्र शासक ही हैं, स्वामी नहीं हैं। इसी भूल के कारण वे उस देश की रानी इडा के साथ अनैतिक आचरण कर बैठते हैं, जिससे प्रजा क्षुब्ध हो जाती है और प्रजा ही नहीं, उन्हें देवो के कोप का भी भाजन बनना पडता है।

इसके अतिरिक्त इस इतनी सी कथा मे जलप्लावन, काम-सन्देश, किलात-आकुलि का मिलन, पशु-यज्ञ, इडा के राज्य की व्यवस्था, जनक्रान्ति आदि कई प्रासगिक घटनायें आती है, जो मुख्य कथा से पूर्णतया सम्बद्ध हैं तथा जिनके निकाल देने से मुख्य कथा विशृंखलित भी हो सकती है। साथ ही यह कथा भी मिश्रित है, जिसमे मनु के पशु-यज्ञ, सुरापान, सन्तान के प्रति ईर्ष्या आदि मे 'परिवर्तन' अङ्ग है, सारस्वत नगर की व्यवस्था और इडा के साथ किये गये अनैतिक आचरण मे 'अनुसन्धान' अङ्ग तथा मनु के घायल होकर मूच्छित गिरने मे 'आपत्ति' नामक अग भी विद्यमान है। इसके अलावा इतने कथानक म मनु की दयनीय स्थिति, मानसिक संघर्ष एव आपत्तियो की शृंखला भी ऐसी दिखाई गई है, जिससे करुणा एव भय का सचार होता है और मनु के सौभाग्य की दुर्भाग्य मे परिणति देखकर कोई अस्वाभाविकता भी प्रतीत नही होती।

इस तरह 'चिन्ता' सर्ग से 'संघर्ष' सर्ग तक की कथा निस्सन्देह दुःखान्त काव्य के अनुकूल दिखाई देती है, परन्तु इसके आगे कवि ने 'निर्वेद', 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' नामक चार सर्गों का निर्माण और किया है। इन

आगामी चार सर्गों मे कथा को इस तरह मोडा है कि वह दु:खान्त न रहकर सुखान्त बन गई है और भारतीय काव्य-परम्परा का पालन करने के कारण उसका अन्त मगलमय हो गया है। इतना अवश्य है कि कथा का यह अन्त स्वाभाविक प्रतीत नही होता और केवल अपने सिद्धान्तो को दिखाने के लिए ही यह सब जोड-तोड किया गया जान पड़ता है, फिर भी कवि ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए तथा भारतीयता की रक्षा के लिए यह जो अप्रत्याशित परिवर्तन किया है, उसमे हमे उसके रचना-कौशल के दर्शन होते हैं। इसका कारण यह है कि कवि न तो कोरा यथार्थवादी है और न कोरा आदर्शवादी। उसे समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसका चित्रण करके अन्त मे उसमे आदर्शवाद का पुट देना अधिक प्रिय है, क्योकि उसकी यह मान्यता है कि—"दु:खदग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग—दोनो का एकीकरण ही साहित्य है।"[1] अपनी इसी मान्यता के आधार पर कवि ने कामायनी को दु:खान्त न बनाकर सुखान्त बना दिया है, जिसे 'प्रसादान्त' कहना अधिक उपयुक्त है। भले ही उसका यह प्रयत्न कथानक की दृष्टि से असफल हो, परन्तु आधुनिक मानव के मार्गदर्शन तथा भारतीय संस्कृति की स्थापना की दृष्टि से वह सर्वथा सराहनीय है।

कामायनी की पात्र-कल्पना और उसका विकास

कामायनी की कथा-सृष्टि अत्यन्त अल्प पात्रो द्वारा हुई है। इसमे कुल मिलाकर सात पात्रों का प्रयोग हुआ है, जिनमे से मनु, श्रद्धा तथा इडा ये तीन प्रमुख पात्र हैं। मानव, आकुलि तथा किलात गौण पात्र हैं और काम एक अशरीरी पात्र है, जिसका प्रयोग केवल आकाशवाणी के रूप मे हुआ है। इन पात्रो का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेदादि वेद-सहिताओ मे ही मिल जाता है, परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों मे कुछ स्पष्ट व्याख्यायें होने के कारण वहाँ इनके स्वरूप का विवेचन अच्छी तरह किया गया है। इसके अनन्तर उपनिषदो, इतिहास, पुराणो एव आगम-ग्रन्थो मे गाथाओ के रूप मे इनका चित्रण मिलता है। इस तरह उक्त पात्रो का स्वरूप एक ओर तो वैदिक ग्रन्थो मे मिलता है और दूसरी ओर उसकी कुछ झाँकी इतिहास-पुराण अथवा आगम-ग्रन्थों मे भी मिल जाती है। इसी कारण कामायनी की पात्र-कल्पना का विकास वैदिक एवं लौकिक ग्रन्थो के आधार पर हुआ है, जिनमें से प्रसादजी का झुकाव वैदिक ग्रन्थों की ओर अधिक है। कामायनी की पात्र-कल्पना का विकास इस प्रकार हुआ है.—

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२३।

मनु—कामायनी की कथा के केन्द्र मनु हैं। ये ही कथा-नायक है और सारी कथा इनके चारों ओर ही मकड़ी के जाल की भाँति फैली हुई है। इनका पूरा नाम वैवस्वत मनु है। ऋग्वेद में मनु को स्थान-स्थान पर पिता कहा गया है।[1] सायणाचार्य ने भाष्य करते समय मनु को प्रजापति कहा है तथा पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'मन्' धातु में जानने के अर्थ में 'उ' प्रत्यय लगाकर इस शब्द की व्युत्पत्ति की गई है। इसी 'मन्' धातु से मन शब्द भी बना है और निरुक्तकार ने 'मनन' से मनु शब्द का विकास बतलाया है।[2] अतः मन, मनन, ज्ञान आदि से मनु का सबंध जुड़ जाता है। ऋग्वेद में वैवस्वत मनु को कुछ सूक्तों का देवता[3] तथा कुछ सूक्तों का मन्त्र-द्रष्टा ऋषि[4] कहा गया है। ऋषिरूप में मनु विश्वेदेवा की प्रार्थना करते हुए कभी यज्ञ पशु, पृथ्वी वनस्पति, औषधि आदि की याचना करते हैं तो कभी वरुण, मित्र अग्नि आदि की कृपा एवं शरण प्राप्त करने की कामना करते हैं। साथ ही उन सूक्तों में वे ऐसे यजमान की प्रशंसा करते हैं जो पुरोडाश हवि सोम आदि से देवों का यज्ञ करता है।[5] ऋग्वेद में कुछ स्थलों पर मनु को मानवों का प्रकृष्ट बुद्धि वाला पिता, मानवों में अग्रगण्य, तथा उनमें सर्वप्रथम यज्ञकर्त्ता भी बतलाया गया है।[6] ऋग्वेद में एक स्थल पर किलाताकुलि असुर पुरोहित धान्य की हवि न देकर मांस की हवि देते हुए बतलाए गये हैं और उस सूक्त का देवता मनु को ही कहा गया है। अतः मनु का पशु-बलि से सबंध ऋग्वेद में ही दिखाई देता है।[7] अथर्ववेद में वैवस्वत मनु को मनुष्यों के लिए पृथ्वी रूपी पात्र में कृषि एवं सस्य दुहने वाला विराज-गाय का वत्स कहा गया है।[8] जिससे वे पृथ्वी पर प्रथम कृषि करने वाले एवं मनुष्यों के रक्षक सिद्ध होते हैं। इसके साथ ही आगे चलकर वहीं पर मनु को मानवों के स्वभाव का ज्ञाता, मननशील, पृथ्वी का विस्तारक, रक्षक अथवा शासक आदि भी बतलाया गया है।[9] शतपथब्राह्मण में वैवस्वत मनु को राजा तथा मनुष्यों को उनकी प्रजा कहा गया है।[10] इतना ही नहीं, वे यहाँ पर पृथ्वी-

---

१—ऋग्वेद १।८०।१६, १।११४।२, २।३३।१३

२—ऋग्वेद १।११३।४, १।२६।४ की सायणकृत टीका तथा निरुक्त, दैवत-कांड १२।३४।

३—ऋग्वेद १०।५७   ४—वही, ८।२७-३१

५—वही, ८।२७।२, ८।२८।२-४ तथा ८।३१।१-४

६—वही, १०।६३।७, १०।१००।५   ७—वही, १०।५७

८—अथर्ववेद ८।१०।४

९—वही ८।१०।१०   १०—शतपथब्राह्मण १३।४।३।३

पति,[1] प्रजापति,[2] श्रद्धादेव,[3] प्रथम पाकयज्ञ-कर्त्ता,[4] आदि बतलाए गये हैं। तैत्तिरीयब्राह्मण मे प्रजापति तथा श्रद्धा एव प्रजापति तथा काम के परस्पर वार्त्तालाप का भी उल्लेख मिलता है और श्रद्धा तथा काम दोनों ही अपने-अपने यज्ञ के लिए प्रजापति से आग्रह करते हुए दिखलाये गये हैं।[5] वैदिक ग्रथो मे सर्वत्र प्रजापति को सृष्टि-कामना से पहले तपस्या या यज्ञ करते हुए अकित किया गया है और तपस्या या यज्ञ के उपरान्त उनके द्वारा प्रजा की सृष्टि बतलाई गई है।[6] इसके साथ ही उपनिषदो मे तपस्या के उपरान्त प्रजापति को सृष्टि की इच्छा से जाया की कामना करते हुए भी अकित किया गया है।[7] इसके अतिरिक्त भारतीय ग्रथो मे मनु का सबध मन से स्थापित करते हुए उसे अत्यन्त चचल, बलिष्ट, इन्द्रियो का स्वामी, ससार का प्रवर्त्तक, सकल्प-विकल्पशील और अभीष्ट कार्य का सम्पादक बतलाया गया है।[8] इस तरह भारतीय ग्रंथों में मनु देवता, मत्रद्रष्टा ऋषि, यज्ञकर्त्ता, मानवो के पिता, प्रजापति, पृथ्वीपति, मन्वन्तर के प्रवर्त्तक आदि बतलाये गये है। साथ ही मन से उनका सबध होने के कारण चंचल स्वभाव वाले, मननशील, अस्थिर, सकल्प-विकल्पयुक्त, बुद्धिवादी आदि भी सिद्ध होते है। प्रसादजी ने भारतीय ग्रंथों के आधार पर ही मनु-पात्र की कल्पना की है और उक्त सभी बातो को स्वीकार करते हुए एक नये रूप की ओर अवतारणा की है ; अर्थात् उक्त रूपो के अतिरिक्त मनु को आनन्द-पथ का पथिक और बनाया है। कामायनी मे मनु-पात्र का विकास इस प्रकार दिखलाया गया है —

देवता मनु—*सर्वप्रथम कामायनी मे देवता मनु के दर्शन होते हैं*, जो अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल चिन्तन, मनन आदि मे लीन हैं। वे हिमगिरि के उच्च शिखर पर बैठे-बैठे जलप्लावन के उतरने का दृश्य देख रहे हैं और देवो की पूर्व स्थिति पर विचार करते हुए उनकी विलास-भावना, मिथ्या गर्व आदि

१—शतपथब्राह्मण १४।१।३।२५ २—वही, ६।६।१।१९

३—वही, १।१।४।१५ ४—वही, १।८।१।७

५—तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।४।३, ३।११।२।३

६—शतपथब्राह्मण १।८।१।७, तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।३।१, ऐतरेयब्राह्मण ५।५।३२ तथा तैत्तिरीयोपनिषद् २।६

७—*बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१७*

८—कठोपनिषद् १।३।६-९, कल्याण उपनिषद् अंक, पृ० १६४, श्रीमद्भगवद्गीता ६।३४,३५,४०, ४३, योगवाशिष्ठ (हिन्दी), पृ० ११, ३४, ४४, १४७-१४८।

का स्मरण करते-करते व्यथित हो रहे हैं। फिर वे एक तरुण तपस्वी से जान पड़ते हैं, उनका शरीर अत्यन्त दृढ़ मांस-पेशियों से बना हुआ है, जिसमें ऊर्जस्वित वीर्य अपार मात्रा में भरा है, जिनकी शिराएँ स्फीत हैं और उनमें स्वस्थ रक्त का संचार हो रहा है। अपार पौरुष एवं यौवन से प्रदीप्त मनु का मुख चिन्ता-कातर बना हुआ है।[1] इस चिन्ता का प्रमुख कारण है अचानक ही जलप्लावन द्वारा विशाल शक्ति सम्पन्न देव-सृष्टि का विनाश। अतः देवता के रूप में मनु केवल अपनी जाति के विनाश एवं उसके कारणों का चिन्तन करते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं।

ऋषि मनु—देवता मनु के उपरान्त कामायनी में ऋषि मनु के स्वरूप का दर्शन होता है। जलप्लावन के उपरान्त सृष्टि के नवीन विकास को देख कर मनु को अपनी जातिगत भूल प्रतीत होती है और मिथ्या गर्व, अहंता की भावना, विलास-वैभव एवं अमरता का स्वप्न विच्छिन्न होकर उनके मुख से सहसा यह निकल पड़ता है कि—"न तो हम ही देवता थे और न ये प्रकृति के चिह्न ही देवता हैं, सभी परिवर्तन के पुतले हैं।"[2] अब उन्हें विराट शक्ति में भी विश्वास होने लगा है और वे यह जानने लगे हैं कि देवगण जो मिथ्या गर्व के कारण अपनी शक्ति के सम्मुख संसार में किसी और की सत्ता स्वीकार ही नहीं करते थे, यह एक भयंकर भूल थी। अब उन्हें स्पष्ट ज्ञात होने लगता है कि कोई विराट् सत्ता अवश्य है जिसका शासन सभी प्राकृतिक शक्तियाँ मानती हैं। इसी कारण वैदिक ऋषि जिस तरह यह कहते हैं कि "कस्मै देवाय हविषा विधेम"[3] अर्थात् किस देवता के लिए हम अपनी हवि प्रदान करें, उसी तरह मनु भी हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?"[4] कहकर वैदिक ऋषियों की ही भाँति उस अज्ञात शक्ति का निरूपण करते हैं। उस शक्ति की प्रतीति होते ही मनु ऋषियों की तरह अग्निहोत्र, पाकयज्ञ आदि में लीन हो जाते हैं और एक तपस्वी का-सा जीवन व्यतीत करने लगते हैं।

ऋषि मनु के मन में वासना का प्रवेश—इस तरह तपश्चर्या करते हुए उन्हें कितने ही दिन व्यतीत हो जाते हैं, परन्तु एक रात्रि को अचानक चन्द्र-ज्योत्स्ना से प्रवलित निशीथ को देखकर उनका मन व्यथित हो उठता है और हृदय में अनादि वासना जाग्रत हो जाती है, जिससे वे वेदना, पीड़ा, व्यथा आदि से बेचैन दिखाई देते हैं।[5] यहाँ मनु के रूप में मन की चंचलता एवं विवशता का

१—कामायनी, पृ० ३-४।
२—वही, पृ० २४।
३—ऋग्वेद १०।१२१।१
४—कामायनी, पृ० २६।
५—कामायनी, पृ० ३५-३६।

भी चित्रण किया गया है, क्योंकि अनन्त सौन्दर्य की गोद में पड़े हुए मन के अन्तर्में वासना का जाग्रत होना स्वाभाविक ही है। अतः यहाँ आते-आते मनु देवता एवं ऋषि रूप का परित्याग करके एक साधारण व्यक्ति की भाँति जीवन की कटुता से क्षुब्ध एवं वासना से अभिभूत दिखाई देते हैं।

जीवन-संगिनी के इच्छुक किन्तु काम से भयभीत मनु—वासना के उदय होते ही मनु के हृदय में अत्यन्त संघर्ष चलता है। सहसा उनका साक्षात्कार दिव्य सौन्दर्यमयी श्रद्धा से होता है, जिसे देखते ही उनके हृदय में एक झटका सा लगता है और वे उसके अद्भुत रूप को लुटे हुए से देखने लगते हैं। परन्तु जब वह मनु से परिचय पूछती है, तब वे अत्यन्त निराशापूर्ण शब्दों में अपनी दयनीय स्थिति, असहायावस्था, कातरता, जीवन की विषमता, संसार से विरक्ति आदि को प्रकट करते हैं। उनकी बातें सुनकर श्रद्धा मनु को सांसारिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है तथा आत्म-समर्पण करती हुई मनु को भावी मानव-सृष्टि के प्रवर्त्तक होने का प्रलोभन देती है। परन्तु श्रद्धा की प्रेरणामयी वाणी भी मनु पर कुछ प्रभाव नहीं डालती और वे प्रथम तो यही निश्चय करते हैं कि इस गृहस्थी के भार को उठाना ठीक नहीं। ऐसा सोचते-सोचते उन्हें नींद आ जाती है, परन्तु स्वप्न में उन्हें काम का संदेश सुनाई पड़ता है। उसमें काम अपने उद्भव और विकास का रूप समझाते हुए श्रद्धा की विशेषताएँ एवं सृष्टि के विकसित होने की बात कहता है। साथ ही वह मनु को [illegible]नात्मक काम की अपेक्षा सृजनात्मक काम की प्रेरणा देता है जिससे मनु श्रद्धा को अपनी जीवन-संगिनी बनाने को तत्पर दिखाई देते हैं।

मनु का गृहस्थ जीवन—श्रद्धा को पत्नी रूप में स्वीकार करने से पूर्व ही वह दिव्य बाला अन्न, पशु आदि का संग्रह करके मनु की गृहस्थी का निर्माण करने लगती है। उसकी इस कर्म-कुशलता एवं संलग्नता के कारण मनु का उसके प्रति अधिकाधिक आकर्षण होता है और वे दोनों प्रणय-सूत्र में बँध जाते हैं। यहाँ से मनु के जीवन का वास्तविक स्वरूप आरम्भ होता है। अब वे एक गृहस्थ बनकर यज्ञादि में लीन रहते हैं। परन्तु असुर पुरोहितों के मिल जाने पर उन्हें पशु-वध एवं पशु-यज्ञ की प्रेरणा मिलती है, जिससे वे मांस, सुरा, सोम आदि में लीन होकर अपने पुराने संस्कारों के जाग्रत हो जाने पर फिर कर्मकांड में लग जाते हैं। श्रद्धा को हिंसा सम्बन्धी बातें उचित नहीं जान पड़तीं। वह इसका विरोध करती है; परन्तु मनु को नित्य मृगया, पशु-वध, सुरापान आदि में ही अधिक आनन्द आता है और श्रद्धा के बार-बार समझाने पर भी वे इन हिंसा के कार्यों से पराङ्मुख नहीं होते। इतना ही नहीं, वे काम

के वासनात्मक रूप में रँग कर एक साधारण व्यक्ति की भाँति तृष्णा, इन्द्रिय-सुख, लालसा, अहकार, ईर्ष्या, आदि से भरे हुए जीवन को सुखकर मान बैठते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि सुन्दर गृहस्थी को लात मार कर अपनी अतृप्त विलास-भावना की पूर्ति के लिए उन्हें आसन्न-गर्भा श्रद्धा को छोडकर भाग जाना पडता है।

प्रजापति मनु—श्रद्धा से विमुख होकर मनु सारस्वत नगर मे आते हैं। यहाँ प्रथम तो उन्हे काम की शाप-ध्वनि सुनाई पडती है, जिसम काम श्रद्धा-विहीन मनु को उनकी भूलों से अवगत कराता है तथा नाना सकटो से भरे हुए उनके अधकारपूर्ण भविष्य की ओर सकेत करता है। इसके अनन्तर उनकी भेंट 'नयन महोत्सव की प्रतीक सुन्दरी इडा से होती है, जो अपने तर्कपूर्ण विचारो से मनु को आकृष्ट कर अपने उजडे हुए सारस्वत नगर की व्यवस्था का भार मनु का सौंप देती है। मनु भी उसके आग्रह एव उसकी प्रेरणा से नगर की सुन्दर व्यवस्था करते हैं, वैज्ञानिक आधारो पर सभी क्षेत्रों मे आशातीत सफलता प्राप्त करते हैं और नगर सुख-समृद्धि से पूर्ण हो जाता है, जिसमें यान्त्रिक सभ्यता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इतना होने पर भी मनु की अतृप्त आकाक्षा अथवा विलास-भावना पूर्ण नही होती और वे उस नगर की रानी अथवा राष्ट्र-स्वामिनी इडा पर भी अपना अधिकार करके वासना की पूर्ति करना चाहते हैं। यहाँ मनु की भौतिक लालसा, इन्द्रिय-लिप्सा तथा कामुकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि जन-समूह और दैवी शक्तियो के द्वारा प्रजापति अथवा शासक मनु के विरुद्ध हलचल मच जाती है, भयकर क्रान्ति होती है और मनु अपनी वासना के फलस्वरूप घायल होकर मुमूर्षु अवस्था को प्राप्त होते हैं। यहाँ पर मनु एक ओर तो प्रजापति, शासक एव पृथ्वीपति के रूप मे चित्रित किए गये हैं और दूसरी ओर वे नियम-प्रणेता स्मृतिकार के रूप मे भी दिखाई देते हैं। यहाँ मनु मे कितने ही विरोधाभासो के दर्शन होते हैं, क्योंकि वे एक सफल नियामक हैं, परन्तु अपना निर्बाधित एव निरकुश अधिकार भी चाहते हैं। वे एक विवेकशील स्मृतिकार हैं, परन्तु कामुकता एव अविवेक की पराकाष्ठा भी उनमे दिखाई देती है। वे एक वीर एव पराक्रमी योद्धा हैं, आकुलि-किलात आदि जनता के नेताओं को अपने धनुष-बाण से मार गिराते है और जनता का अकेले ही सामना करते हैं, परन्तु अन्त मे वे पराजित भी दिखाये गये हैं। वे एक विज्ञान-वेत्ता एव सफल शासक हैं, परन्तु अन्त मे उनकी व्यवस्था एव उनके अनुसधान उनकी ही असफलता के द्योतक बन जाते हैं।

आनन्द के अधिकारी मनु—यहाँ तक मनु के जीवन का विकास एक साधारण मानव की भाँति दिखलाया गया है, किन्तु मूर्छित होने के उपरान्त उनके जीवन में असाधारण तत्त्वों का भी समावेश किया गया है। अब श्रद्धा आकर उन्हें सचेत करती है और स्वार्थी, लोभी, विलासी, इन्द्रिय-लिप्सु एवं भौतिकता-प्रेमी मनु में एक साथ परिवर्तन प्रस्तुत हो जाता है। वे श्रद्धा का पुनः सम्पर्क पाते ही संसार से पराङ्मुख होकर निवृत्ति-मार्ग के अनुगामी हो जाते हैं और भौतिकता का आवरण दूर फेंककर आध्यात्मिक मार्ग को अपना लेते हैं। वे श्रद्धा के साथ जीवन की ऊँचाई पर चढ़ने लगते हैं और उन्हे इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के रहस्य का ज्ञान होता है। इतना ही नहीं, वे इनके पृथक् रहने पर जीवन की विडम्बना और समन्वय होने पर जीवन की सफलता का रहस्य भी जान जाते हैं। अन्त मे श्रद्धा इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय करके मनु के जीवन में समरसता का सचार करती है और मनु अपने-पराये की भेद-बुद्धि से ऊपर उठकर जीवन-वसुधा की समतल आनंद-भूमि में पहुँच जाते हैं। यहाँ उनके 'अहम्' का 'इदम्' मे पूर्ण समावेश हो जाता है, चराचर जगत उनका अंग हो जाता है, जड-चेतन मे एक ही चेतनता विलास करती हुई प्रतीत होने लगती है और पूर्ण अद्वैत भाव को प्राप्त होकर इस संसार को ही विश्वात्मा का विराट् शरीर एवं 'सत्य, सतत चिर सुन्दर' मानते हुए समस्त विश्व को अपना 'नीड' समझने लगते हैं। यही आकर मनु को अखड आनन्द का अनुभव होता है और उनका सारा परिवार भी उनके साथ आनन्द को प्राप्त होकर अपना जीवन सफल बनाता है।

मनु की ऐसी कल्पना में प्रसादजी का उद्देश्य—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रसादजी की मनु सम्बन्धी कल्पना का उद्देश्य अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। इस पात्र के यथार्थवादी चित्रण द्वारा प्रसादजी ने साधारण मानव को अपने जीवन-यापन का ढंग बतलाने का प्रयत्न किया है। वासना-पूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य भले ही हृदय की विश्वासमयी उदारवृत्ति-सम्पन्न नारी (श्रद्धा) के समीप रहे, परन्तु उसकी इन्द्रिय-लिप्सा उसे कभी सुखी नहीं रहने देगी। यदि वह ऐसी उदारवृत्ति-पूर्ण पतिव्रता नारी का परित्याग करके किसी तर्क-शीला, आडम्बर-प्रिय एवं बौद्धिक विकासमयी नारी (इडा) के सम्पर्क मे सुख की लालसा से जायेगा और उसके साथ रहकर सुखी बनने का स्वप्न देखेगा तो वहाँ भी उसे निराशा ही हाथ लगेगी। सच्चा सुख तो हृदय की विश्वासमयी उदारवृत्तिपूर्ण पतिपरायणा नारी के साथ ही प्राप्त हो सकता है, परन्तु इन्द्रिय-लिप्सा, स्वार्थ एवं ईर्ष्या आदि दुष्प्रवृत्तियों को दूर

करके ही उसके साथ सुख मिलेगा। इसी नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्य को दिखलाने के लिए प्रसादजी ने मनु मे मानव-दुर्बलताओ का समावेश किया है। मनु का यह चित्रण पूर्वोक्त ऐतिहासिक चित्रण की अपेक्षा बहुत कुछ बदला हुआ है। जैसे इतिहास मे मनु के उदात्त रूप के ही दर्शन होते है, जबकि यहाँ मनु मे मानवगत सभी दुर्बलताएँ दिखाई गई हैं। दूसरे, इतिहास मे किसी एक स्थान पर ही मनु के जीवन सम्बन्धी ऐसे उत्थान-पतन का चित्रण नही मिलता, जबकि कामायनी मे जीवन के विविध रूपो को एक ही स्थान पर लाकर चित्रित कर दिया गया है। यहाँ मनु एक सच्चे मानव की भाँति गिरे भी हैं और उठे भी है। मनु का यह पतन एव उत्थान विश्व-मानव के लिए एक आशाप्रद सदेश देता है तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय करके एक सतुलित जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है।

श्रद्धा—कामगोत्रजा कामायनी या श्रद्धा इस काव्य की नायिका है। वैदिक साहित्य मे उसके वैयक्तिक स्वरूप की अधिक चर्चा नही मिलती। सर्वत्र उसकी भावमूलक व्याख्या ही अधिक मिलती है। ऋग्वेद मे श्रद्धा को देवता तथा ऋषिका दोनो रूपों मे स्वीकार किया गया है। सायणाचार्य ने 'श्रद्धा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसे 'श्रत्' शब्द के साथ 'धा' धातु के योग से 'अङ्' प्रत्यय लगाकर सिद्ध किया है और इसका अर्थ आस्तिक्य बुद्धि या विश्वास बतलाया है।[1] निरुक्तकार ने 'श्रद्धा' शब्द की व्याख्या करते हुए उसे ऐसी सत्यबुद्धि बतलाया है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करने वाली तथा सत्य को धारण करने वाली होती है।[2] ऋग्वेद मे श्रद्धा की बड़ी प्रशसा की गई है और उसे अग्नि प्रज्वलित करने वाली, हवि प्रदान करने वाली, सौभाग्य देने वाली और यजमान को धन, प्रिय पदार्थ, अभीष्ट वस्तु, प्रिय भोजन आदि देने वाली कहा है।[3]

१—ऋग्वेद १०।१५१ सायणकृत टीका।

२—श्रद्धा श्रद्धानात्। श्रद्धा—इत्येतद् पदम्। अत्र 'श्रत्' इति सत्यनाम पूर्व-पदम्, तत् सत्यमस्यां धीयते इति श्रद्धा, धर्मार्थकाममोक्षेषु अविपर्ययेणैवमेतदिति या बुद्धिरुत्पद्यते, तदधिदेवताभावाच्चा श्रद्धेत्युच्यते। —निरुक्त, दैवत काड ६।३०।२

३—श्रद्धयाग्नि. समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाऽऽकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।
—ऋग्वेद १०।१५१।१-४

यजुर्वेद में सत्य के अन्तर्गत श्रद्धा का निवास और असत्य के अन्तर्गत अश्रद्धा का निवास बतलाया है।[1] अथर्ववेद में श्रद्धावान् लोगों को अच्छे लोकों एवं श्रेष्ठ पदों को प्राप्त करते हुए बतलाया है तथा श्रद्धा-विहीन लोगों को पराधीन एवं निकृष्ट कहा है।[2] इतना ही नहीं, वहाँ पर तप, पराक्रम, व्रत, ऋत् और ब्रह्म के साथ श्रद्धा की गणना करते हुए श्रद्धा का सम्बन्ध उक्त सभी बातों से जोड़ा गया है।[3] 'बृहद्देवता' में श्रद्धा की गणना उषा आदि देवियों के साथ की गई है और उसे श्री, मेधा, वाक्, सूर्या, सावित्री आदि के साथ ऋषिका भी बतलाया है।[4] ऐतरेयब्राह्मण में श्रद्धा तथा सत्य के द्वारा यजमान को स्वर्गलोक को विजय करते हुए बतलाया है।[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण में श्रद्धा की बड़ी विस्तृत प्रशंसा मिलती है। वहाँ पर श्रद्धा को देवत्व प्रदान करने वाली, सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली, समस्त जगत की प्रतिष्ठा, संसार का भरण-पोषण करने वाली, अमृत-लोक दायिनी, समस्त संसार का शासन करने वाली, सम्पूर्ण भुवनों की अधिपत्नी आदि कहा है।[6]

मुंडकोपनिषद् में श्रद्धा की गणना तप, सत्य तथा ब्रह्मचर्य के साथ की गई है,[7] जिससे तप आदि से श्रद्धा का सम्बन्ध दिखाई देता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में मन के अंतर्गत श्रद्धा, अश्रद्धा, बुद्धि आदि का रहना बतलाया है,[8] जिससे मन या मनु तथा बुद्धि या इडा से भी श्रद्धा का सम्बन्ध दिखाई देता है। छांदोग्य उपनिषद् में श्रद्धा को मनन कराने वाली तथा हृदय में निष्ठा उत्पन्न करने वाली सिद्ध किया है।[9] सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् में शक्ति के अनेक नामों में श्रद्धा का नाम भी मिलता है।[10] अतः श्रद्धा शक्ति रूपा भी मानी गई है तथा उसी शक्ति या देवी के बृहवचोपनिषद् में महात्रिपुरसुन्दरी, सरस्वती, सावित्री, कामकला आदि नाम भी दिये गये हैं,[11] जिससे श्रद्धा महात्रिपुरसुन्दरी

१—शुक्ल यजुर्वेद १९।७७

२—अथर्ववेद १२।३।७, १२।२।५१ ३—वही, १०।७।१—११

४—बृहद्देवता २।७४, २।८४

५—श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गां लोकां जयंतीति—ऐ० ब्रा० ७।२।१०

६—श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते। श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी।……ईशाना देवी भुवनस्य अधिपत्नी"—तै० ब्रा० ३।१२।१-२

७—मुंडक २।१।७ ८—बृहदारण्यक १।५।३

९—छांदोग्य ७।१९-२०

१०—कल्याण, उपनिषद् अंक, पृ० ६५२।

११—वही, पृ० ६४९।

तथा कामकला भी प्रतीत होती है। मार्कण्डेयपुराण मे देवी को समस्त प्राणियों मे श्रद्धा रूप से स्थित बतलाया है।[1] इससे भी श्रद्धा अनन्त शक्तिशालिनी देवी सिद्ध होती है। 'त्रिपुरा-रहस्य' मे श्रद्धा को ऐसी माता कहा है जो सदैव पुत्रो पर वात्सल्य भाव रखती है, भयभीत प्राणियो की रक्षा करती है, सारे संसार की धात्री है, सबका जीवन है और समस्त प्राणियो को श्री, सुख तथा यश प्रदान करने वाली है। इसके साथ ही जो मनुष्य श्रद्धा-रहित होता है उस मूर्ख के श्री, सुख आदि नष्ट हो जाते हैं और वह सर्वत हीन हो जाता है। इस श्रद्धा को वहाँ संग्रह, त्याग एव लोकप्रवृत्ति की प्रेरणा देने वाली बतलाया है तथा इसके अभाव मे ससार की स्थिति के नष्ट हो जाने की बात कही है।[2] इसके अतिरिक्त 'त्रिपुरा रहस्य' मे आगे चलकर सतर्कजन्य श्रद्धा से ही सफलता का प्राप्त होना बतलाया गया है, अन्धश्रद्धा द्वारा नहीं।[3] इसके साथ ही श्रीमद्भगवद्गीता मे श्रद्धा के तीन रूप स्वीकार किये गये हैं—सात्विक, राजस तथा तामस।[4] इनमें से सात्विक श्रद्धा द्वारा ही ज्ञान एव परम शान्ति का प्राप्त होना सिद्ध किया गया है।[5] साथ ही वहाँ श्रद्धा के द्वारा समस्त इच्छित पदार्थों का प्राप्त होना भी बतलाया गया है।[6]

१—मार्कण्डेयपुराण ५।५०

२—श्रद्धा माता प्रपन्न स वत्सलेव सुते सदा।
रक्षति प्रौढभीतिभ्य सर्वथा न हि सशय ॥
अश्रद्दधानमश्रद्धिन मूढ जहाति श्री सुखं यश।
स भवेत् सर्वतो हीनो य श्रद्धारहितो नर।
श्रद्धा हि जगतां धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम्।
अश्रद्धो मातृ विषये बालो जीवेत् कथ वद॥
स भवेत सर्वतो हीनो य श्रद्धारहितो नर।
श्रद्धा संपूर्णयोगेन विनश्येज्जगताम् स्थिति॥

—त्रिपुरा-रहस्य, ज्ञान खड, ६।२३-२८

३—सत्तर्कसंश्रयेणाशु साधनैक्परो भवेत्।
सत्तर्कजनितां श्रद्धा प्राप्येह फलभाड् नर॥

—त्रिपुरा-रहस्य, ज्ञान खड, ७।७

४—त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिना सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ गीता १७।२

५—श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान तत्पर संयतेन्द्रिय।
ज्ञान लब्ध्वा परा शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ गीता ४।३९

६—स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च तत कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ गीता ७।२२

उक्त भारतीय ग्रंथो के आधार पर ही प्रसादजी ने श्रद्धा-पात्र की कल्पना की है और ऋग्वेद से लेकर आगम-पुराणो तक श्रद्धा मनोभाव एव श्रद्धा-पात्र सम्बन्धी जितनी विशेषताएं मिलती हैं उन सबको सकलित करके कामायनी या श्रद्धा के रूप मे एक आदर्श नारी का सजीव चित्र अकित किया है, जिसमे अद्वितीय सौंदर्य, त्याग, बलिदान, तपस्या, सत्य, विश्वास आदि अलौकिक गुणो की स्थिति बतलाकर उसे जगद्धात्री, जगद्रक्षक, जगज्जननी, देवी, मन्त्र-द्रष्टा ऋषिका आदि सिद्ध किया है। कामायनी मे इस श्रद्धा-पात्र की कल्पना का विकास इस ढग से हुआ है :—

अनुपम सौन्दर्यमयी नारी तथा ललित-कला की उपासिका—सर्वप्रथम श्रद्धा के दर्शन एक अनुपम एव अलौकिक सौन्दर्य-सम्पन्न नारी के रूप मे होते हैं, जिसके शरीर का निर्माण पराग के परमाणुओं से हुआ है, जिसके मुख पर शुभ्र एव 'नवल मधु राका सी' मुसकान विद्यमान है, जिसकी लम्बी काया उदार हृदय की बाह्य अनुकृति के समान है, जिसका कान्त वपु गाधार देश के नील रोम वाले मसृण मेष-चर्म से ढका हुआ है, जिसके नील परिधान मे से अधखुले सुकुमार अङ्ग मेघ-वन मे खिले हुए बिजली के गुलाबी रग के फूल जैसे चमक रहे है, जिसका मुख मध्याकालीन अरुण रवि मडल के तुल्य छवि-धाम है, जिसके घुंघराले बाल सुकुमार नील-घन-शावक के तुल्य हैं, जो नित्य यौवन की छवि से दीप्त है, जो विश्व की करुण कामना-मूर्ति है, जिसका शरीर स्पर्श के आकर्षण से परिपूर्ण है और जो जड मे भी स्फूर्ति उत्पन्न करने की क्षमता रखती है।[१] ऐसी अनन्त सौंदर्यमयी श्रद्धा को ललित-कला से बडा प्रेम है और वह ललित-कला सीखने के लिए ही गधर्वों के देश मे आई हुई थी कि सहसा जलप्लावन हुआ और वह हिमालय पर इधर-उधर भटकने लगी। इधर मनु के यज्ञ-अवशिष्ट अन्न को रखा देखकर उसने यह अनुमान लगा लिया कि यहाँ भी कोई प्राणी अभी जीवित है और इसी अनुमान के सहारे उसकी मनु से भेंट हुई।

मानवता का संदेश देने वाली त्याग-मूर्ति—जलप्लावन के भयकर विनाश से खिन्न और निराश मनु को जैसे ही श्रद्धा का साक्षात्कार होता है, वैसे ही उनकी धमनियो मे तीव्रता से रक्त का सचार होने लगता है, परन्तु वे अपनी कातरता एवं अकर्मण्यता को श्रद्धा के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। श्रद्धा मनु की सारी परिस्थिति को समझ कर उन्हे जीवन का महत्व बतलाती है और जीवन-सग्राम मे अग्रसर होने की प्रेरणा देती है। इतना ही नहीं, मनु की सेवा मे

१—कामायनी, पृ० ४६–४८।

अपना जीवन उत्सर्ग करती हुई अपनी दया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास और स्वच्छ हृदय भी मनु के लिए समर्पण कर देती है। इस समर्पण के साथ मनु को 'शक्तिशाली हो, विजयी बनो' का सन्देश सुनाती हुई मानवता के विकास का स्वरूप समझाती है तथा उन्हें स्पष्ट संकेत करती है कि यदि तुम शक्ति के समस्त बिखरे हुए विद्युत्कणों का समन्वय करते हुए जीवन-संग्राम में आगे बढ़ोगे, तो निस्सन्देह तुम्हें सफलता मिलेगी और मानवता विजयिनी होकर संसार में सर्वोपरि सिद्ध होगी।[1] श्रद्धा का यह संदेश सच-मुच कायर एवं पलायनवादी पुरुष के हृदय में शक्ति का संचार करने वाला है तथा उसकी यह त्याग-मूर्ति नारी के अगाध विश्वास एवं दृढ़ संकल्प की पृष्ठभूमि है।

आदर्श पत्नी—मनु द्वारा श्रद्धा के पत्नी रूप में स्वीकार कर लिए जाने पर वह हमें एक पति-परायणा आदर्श पत्नी के रूप में दिखाई देती है। यहाँ पर श्रद्धा के आकर्षक एवं मोहक बाह्य रूप के साथ-साथ उसके हृदयगत सौंदर्य का भी परिचय मिलता है। उसमें एक नव-विवाहिता वधू की सी लज्जाशीलता, सरसता, कोमलता तथा आकर्षण है, साथ ही वह 'अद्भुत छवि के भार से' सिमट दबी हुई सी प्रतीत होती है। मनु उसके अद्भुत रूप-सौंदर्य को देखकर 'विश्व माया कुहुक सी साकार'[2] कह उठते हैं और उस सुन्दर पत्नी का ज्योत्स्ना से पुलकित रजनी में जैसे ही कर-स्पर्श करते हैं, वैसे ही वह सजल कान्तिपूर्ण नव-वधू लज्जा के भार से दब जाती है, उसकी पलकें गिर जाती हैं, नासिका की नोक झुक जाती है, भ्रू-लतायें कानों तक बेरोक-टोक चढ़ जाती हैं, कपोल एवं कानों का रंग लज्जा से लाल हो जाता है, सारा शरीर कदम्ब-सा खिल उठता है और उसकी वाणी गद्गद हो जाती है।[3] परन्तु पति के अनुराग की एकमात्र उपासिका होने पर भी श्रद्धा मनु की काम-वासना का अंधानुसरण नहीं करती। वह पति के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर चुकी है। अतः पति के उचित-अनुचित कार्यों का निरन्तर ध्यान रखती है। वह मनु पर पड़े हुए आसुरी प्रभाव से रुष्ट होकर पहले तो एक ओर जा बैठती है, परन्तु उचित क्षण देखते ही तुरन्त अपने रमणीक उपदेशों द्वारा उन्हें हिंसा-कर्म से विरक्त बनाती है। श्रद्धा को पशु-वध एवं सुरा-पान रुचिकर प्रतीत नहीं होते। वह अपने सतत प्रयत्नों द्वारा मनु को इनसे बचाती है और कहती है कि यदि इसी प्रकार आप पशु-वध करते रहोगे तो धीरे-धीरे पृथ्वी के सभी प्राणी समाप्त हो जायेंगे। क्या वे निरीह प्राणी अपना जीवन-सम्बन्धी कुछ अधिकार

१—कामायनी, पृ० ५७—५८। २—वही, पृ० ६०।
३—वही, पृ० ६४।

नही रखते ? क्या इसी प्रकार हिंसक बनकर आप अपनी उज्ज्वल मानवता का निर्माण करोगे ? इस हिंसा-कर्म से कभी सुख नही मिल सकता। सुख तो इसमे है कि 'औरो को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ।'[1] इससे सभी सुखी होगे और तुम्हारे भी सुख का विस्तार होगा। इस तरह वह मनु को सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए उचित सलाह देती है तथा उनके हिंसक एव पशुवत् जीवन को समुन्नत बनाने की भरपूर चेष्टा करती है।

आदर्श गृहिणी—श्रद्धा एक आदर्श गृहिणी है। वह मनु के समीप आते ही सर्वप्रथम नाना प्रकार के बीजो का सग्रह करके कृषि-कर्म मे लीन दिखाई देती है। पशुपालन भी उसने प्रारम्भ कर दिया है। इसी बीच मे वह गर्भवती हो जाती है। अब वह पशुओ की ऊन से वस्त्र बनाने के लिए तकली पर ऊन कातती रहती है। उसकी इच्छा है कि जो सन्तान अब उत्पन्न होगी, उसे कदापि पशु जैसा न रहने दिया जावेगा। अत. वह उसके लिए ऊनी वस्त्र बनाना प्रारम्भ कर देती है। वह गृहस्थ-कार्य मे बडी निपुण है। भावी शिशु के लिए उसने सुन्दर कुटीर का निर्माण किया है, जिसमे पुआलो का छोटा सा छाजन और बेतसी लता का झूला डाला है तथा हवा एव प्रकाश का समुचित प्रबन्ध किया है। इतना ही नहीं, वह भावी शिशु की क्रीडाओ का वर्णन करती हुई आनन्द-विभोर हो जाती है और मनु के हृदय मे भी सन्तान-प्रेम जाग्रत करती है।

विरहिणी एव मातृत्व की विमल विभूति—मनु श्रद्धा को छोडकर चले जाते है, तब श्रद्धा पहले एक विरहिणी के रूप मे दिखाई देती है। वह विरह-व्यथा से व्यथित होकर एक मुरझाये हुए शतदल की भाँति पृथ्वी पर पड़ी रहती है। उसे चारो ओर सूना ही सूना दिखाई देता है। संध्या से अरुण का वियोग तथा 'क्षितिज-भाल से कुंकुम का मिटना' देखकर उसकी बेचैनी और तीव्र हो जाती है। उस क्षण वह प्रभातकालीन शशि-कला के तुल्य दिखाई देती है, क्योकि उसमे भी न सौदर्य की किरणें रही हैं और न वह यौवन की ज्योत्स्ना। वेदना मौनरूप मे बसी हुई है तथा स्मृतियाँ बिजली की भाँति चमक-चमक कर उसे हर घड़ी व्यथित बनाती रहती रहती हैं।[2] वह व्यग्र होकर कभी-कभी मन्दाकिनी से पूछ उठती है कि 'जीवन मे सुख अधिक या कि दुख, मन्दाकिनि कुछ बोलोगी ?'[3] परन्तु वहाँ कौन उत्तर देता है। उसे तो चारो ओर अधकार, पतझड और शून्य दिखाई देता है। यही स्थिति 'यशोधरा'

१—कामायनी, पृ० १२६-१३२। २—वही, पृ० १४६-१५०।
३—वही, पृ० १७५-१७६।

काव्य मे यशोधरा की भी जान पडती है। परन्तु वहाँ यशोधरा को तो यह सन्तोष है कि उसके पति एक निश्चित उद्देश्य लेकर गये हैं, परन्तु मनु का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं। अत यहाँ श्रद्धा मे अधिक व्यग्रता दिखाई देती है।

परन्तु इस बैचेनी मे भी जब उसका पुत्र 'माँ' कहकर पुकारता हुआ उसके समीप आ जाता है, तो उसकी सूनी कुटिया गूँज उठती है। वह अपने नटखट बालक को खेलने से नही रोकती। उसे भय है कि कही पिता की भाँति यह भी न घर से निकल जाये।[1] अत उसे पिता का प्रतिनिधि मानकर बडे लाड-चाव के साथ दुलार करती है और यही उस विरहिणी की व्यथा-भार को हलका बनाने के लिये एकमात्र सम्बल है। अत अपने मातृ पद का उचित निर्वाह करती हुई विरह के भयानक कष्ट को छिपाकर भी उस बालक का लालन-पालन दत्तचित्त होकर करती रहती है।

मनु की विपत्ति-सहचरी—इसके अनन्तर श्रद्धा स्वप्न मे अचानक मनु पर सकट आया हुआ देखती है। वह स्वप्न से क्षुभित होकर तुरन्त मनु की खोज मे निकल पडती है। उसका पुत्र भी उसके साथ है और वह पति-परायणा सात्विकी नारी खोजते-खोजते सारस्वत नगर मे मूर्च्छित एव घायल मनु को प्राप्त करके उनका उचित उपचार करती है। यहाँ सचमुच श्रद्धा गोस्वामी तुलसीदासजी की कही हुई 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपद काल परिखिअहि चारी'[2] वाली उक्ति को चरितार्थ करती हुई दिखाई देती है। उसमे अपने पर-स्त्रीगामी एव आपत्ति ग्रस्तावस्था म छोडकर भाग आने वाले पति के प्रति क्रोध एव घृणा के भाव उदित नही होते, वरन् वह इतनी सहिष्णु है कि सब कुछ सुन और देखकर भी मनु को सात्वना प्रदान करती है तथा मनु जब कुछ स्वस्थ होकर वहाँ से भी दूर चलने का आग्रह करते हैं, तब श्रद्धा बडी नम्रता के साथ 'ठहरो कुछ तो बल आने दो लिवा चलूँगी तुरन्त तुम्हे'[3] कहकर उन्हे उचित सलाह देती है। श्रद्धा के इस विपत्ति-सहचरी रूप के सम्मुख मनु और इडा दोनो नतमस्तक हो जाते हैं और मनु उसे 'अजस्र वर्षा सुहाग की और स्नेह की मधु रजनी'[4] कहकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करते है, तो इडा 'दो क्षमा, न दो अपना विराग'[5] कहकर क्षमा याचना करती है।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' एव लोक-कल्याण की प्रचारिका—श्रद्धा का अब अत्यन्त भव्य चरित्र हमारे सम्मुख आता है। मनु जब दूसरी बार पुन सारस्वत

१—कामायनी, पृ० १७९।
२—रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड ४।५
३—कामायनी, पृ० २२०।
४—कामायनी, पृ० २२६।
५—वही, पृ० २४०।

नगर से भी एक रात को चुपचाप कहीं चले जाते हैं, तब उस समय प्रभातकाल में कुमार अपनी माता श्रद्धा को खिन्न देखकर उसकी उदासी का कारण पूछता है। इतना ही नहीं, कुमार यहाँ तक भी कह डालता है कि इस निर्जन प्रदेश में क्या रखा है, चलो अपने पुराने घर को ही लौट चलें,[1] तब श्रद्धा कुमार को यही समझाती है कि—"यह सारा विश्व ही मेरा घर है, इसमें उन्मुक्त अपार नीला आकाश छत के रूप में छाया हुआ है, यहाँ बादल जल से भरे घिरे रहते हैं, यहाँ सुख-दुख प्रत्येक पल पर आते-जाते रहते है, यहाँ वायु भी बच्चे के समान खेलती हुई बहती रहती है और अगणित नक्षत्र झिलमिल-झिलमिल करते हुए जुगनू की भाँति चमकते रहते है। यह विश्व कितना व्यापक और कितना उदार है। इसका द्वार सभी के लिए खुला हुआ है। अतः यही मेरा घर है।"[2] इसके साथ ही जब इडा क्षमा-याचना करती हुई श्रद्धा के सम्मुख अपनी सारी दुर्बलता का प्रकाशन कर देती है, तब श्रद्धा उसे पहले सरल शब्दों में समझाती है और उसकी त्रुटियों का सकेत करके 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय'[3] कहकर उसको आगे के लिए सावधान भी कर देती है। साथ ही जब इडा को अत्यन्त अधीर और बेचैन देखती है, तब अपने प्रिय पुत्र कुमार को इडा के समीप छोड़कर उन दोनों को शासन-कार्य चलाने का आदेश देती है। यहाँ श्रद्धा में हमें लोक-कल्याण के लिए अपने पुत्र को भी उत्सर्ग करने की उत्कट अभिलाषा दिखाई देती है और दोनों को समरसता का प्रचार करने के लिए दिया जाने वाला श्रद्धा का उपदेश उसकी लोक-कल्याण-भावना का उत्कृष्ट उदाहरण है। क्योंकि "सबकी समरसता कर प्रचार, मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार"[4] में न केवल कुमार के लिए ही उपदेश है, अपितु आधुनिक शासकों के लिए भी जन-कल्याणकारी संदेश भरा हुआ है।

आनन्द की पथ-प्रदर्शिका—अत में हमें श्रद्धा मनु के आनन्द-पथ की प्रदर्शिका के रूप में दिखाई देती है। श्रद्धा का यह रूप उपनिषद् एवं गीता आदि के आधार पर चित्रित किया गया है। श्रद्धा को हम अब विश्व-मित्र, सर्वमंगल-कारिणी, क्षमा-निलय, उदार, निर्विकार आदि गुणों से विभूषित पाते हैं।[5] अपने इन्हीं गुणों के कारण वह मनु को भगवान् शिव के दर्शन कराती है और इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया का समन्वय करती हुई उन्हें पूर्णतः आनन्द का अधिकारी बना देती है। इस समन्वय के कारण मनु के हृदय में भी समरसता का संचार

१—कामायनी, पृ० २३३।
२—वही, पृ० २३४।   ३—वही, पृ० २४१।
४—वही, पृ० २४४।   ५—वही, पृ० २४६।

होता है, उनके राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं और वे एक सच्चे योगी की भाँति एकाग्र चित्त होकर शृङ्ग और डमरू के निनाद के साथ ही अनाहत नाद को भी सुनने लगते हैं। उनके स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि भस्म हो जाते हैं और श्रद्धा के सात्विक भाव की प्रेरणा से मनु अखंड आनन्द को प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं, अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में इड़ा तथा उसकी समस्त प्रजा और मानव भी इस मंगल एवं आनन्द-प्रदायिनी कल्याण-मूर्ति के दर्शन करने कैलाश पर्वत पर आते हैं और श्रद्धा के प्रबल प्रभाव से चतुर्दिक् फैले हुए आनन्द का अनुभव करते हैं। यह श्रद्धा के उदार चरित्र एवं विश्व-प्रेम का ही प्रभाव है कि सारा विशृङ्खलित कुटुम्ब हिमगिरि की उच्च शिखर पर पुन. एकत्र हो जाता है। अब उनमें से कोई भी पृथक् नहीं रहता। सभी उस 'प्रेम ज्योति विमला' से दिव्य ज्ञान-ज्योति प्राप्त करते हैं और सर्वत्र अखण्ड आनन्द व्याप्त हो जाता है।

श्रद्धा की कल्पना में प्रसादजी का उद्देश्य—प्रसादजी ने श्रद्धा को हृदय का प्रतीक माना है और वह यथार्थ में हृदय के समस्त उच्च कोटि के गुणों से सम्पन्न है। उसके निश्छल प्रेम, निःस्वार्थ त्याग, ध्रुव विश्वास, सहज वात्सल्य-भाव, सहिष्णुता, अपरिमित तितिक्षा, अतुल अनुराग आदि गुण उसे विशाल अंतःकरण सम्पन्न महान् नारी के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। ऐसी 'हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य' को खोजने वाली आदर्श नारी से दूर रहकर कभी आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं। वैसे श्रद्धा एक ऐसी भावना भी बतलाई गई है, जिसके बिना मनुष्य-जीवन निरर्थक है, क्योंकि वही ज्ञान प्रदान करती है, वही विश्वास को उत्पन्न करती है, वही आस्तिक्य बुद्धि-स्वरूपा है और वही आनन्द की प्राप्ति कराती है। आगम तथा निगम सभी ग्रन्थों में इस श्रद्धा नामक भाव की भूरि-भूरि प्रशंसा मिलती है। इन ग्रन्थों से ही प्रेरणा लेकर प्रसादजी ने मानव-जीवन में इसका सचार करने के लिए श्रद्धा की काव्यात्मक व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु-युग में आरम्भ होने वाले नारी-जागरण सम्बन्धी आन्दोलन का चरम विकास दिखाने के लिए भी प्रसादजी ने श्रद्धा के रूप में नारी के लिए उचित गुणों की अवतारणा की है। श्रद्धा-पात्र में निस्सन्देह हम प्रसादजी की नारी-सौन्दर्य सम्बन्धी भावना, आदर्श नारी सम्बन्धी विचार-धारा एवं नारी-सौन्दर्य के चित्रण की कला का समन्वित रूप देख सकते हैं।

इड़ा—कामायनी के प्रमुख पात्रों में इड़ा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसका वर्णन ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर मिलता है। वहाँ इसे देवी,[1] मानवों

१—इड़ा·· देवीर्मयोभुव ॥ ऋग्वेद १।१३।९, ५।५।८

पर शासन करने वाली,[1] यूथ-माता या राष्ट्र-स्वामिनी,[2] मानवों को बुद्धि या चेतना प्रदान करने वाली,[3] घृतहस्ता[4] प्रकर्ष हिंसाकारिणी, शोभनशील योद्धाओं वाली[5] आदि कहा गया है। यजुर्वेद में इड़ा को हविष्मतीदेवी,[6] वसुमती, गृहपालिनी,[7] सुवर्णमयी, अपार प्रभाव-शालिनी, अनुपम तेजमयी,[8] समस्त साधन-सम्पन, अभीष्ट फल देने वाली[9] आदि कहा गया है। अथर्ववेद में इड़ा को प्रजा के लिए सुख देने वाली तथा राष्ट्र की संरक्षिका भी बतलाया गया है।[10] ऐतरेय ब्राह्मण में इड़ा को अन्न-प्रदायिनी तथा पशु-वृद्धि करने वली कहा गया है।[11] तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसे मानवी, यज्ञों का अनुशासन करने वाली,[12] विश्वरूपिणी, अग्निस्वरूपा, दीप्तिवती,[13] प्रीति उत्पादिका,[14] सुरा की तीव्र गंध से युक्त मादक सोम की सम्पादिका [15] आदि बतलाया गया है। शतपथ-ब्राह्मण में इडा पूर्णयोषिता, सृष्टि की उत्पादिका, मनुजाया, मानवी आदि भी बतलायी गई है।[16] पुराणों में इसे दिव्याभूषणों से अलङ्कृत दिव्य रूप वाली बतलाया गया है।[17] प्रसादजी ने उक्त ग्रन्थों के आधार पर ही इड़ा-पात्र की

१—इड़ामकृण्वन् मनुषस्य शासनीम् ॥ ऋग्वेद १।३१।११

२—अग्नि न इडा यूथस्य माता ॥ ऋग्वेद ५।४१।१९

३—इडा मनष्वदिह चेतयन्ती ॥ ऋग्वेद १०।११०।८

४—इडा घृतहस्तादुरोंण ॥ ऋग्वेद ७।१६।८

५—*तस्मा इडा सुवीरामा यजामहे सुप्रतूतिमनेहसम् ॥ ऋग्वेद १।४०।४*

६—इडा……हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज । शुक्ल यजुर्वेद २८।८

७—इडावसुमतीगृहान्वसुवनेऽवसुधेयस्य व्यन्तुयज । शुक्ल यजुर्वेद २८।१८

८—होतायक्षत्पेशस्वती तिस्रोदेवीर्हिरण्ययी । शुक्ल यजुर्वेद २८।३१

९—अरुपस्तूपोरुशदस्यपाज ऽ इडायास्पुत्र । शुक्ल यजुर्वेद ३४।१४

१०—शर्म यच्छत प्रजायै (अथर्ववेद ५।३।७), राष्ट्रमेका रक्षति (अथर्ववेद ८।६।१३)

११—इडा…… अन्नं यजमाने दधाति (ऐ० ब्रा० २।१।४), पशुन् यजमाने दधाति (ऐ० ब्रा० २।१।१०)

१२—इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्यासीत् । तै० ब्रा० १।१।४।४

१३—इहो इडा तिष्ठतु विश्वरूपी । मध्ये वसोर्दीदिहि जातवेद ।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण १।२।१।२१

१४—तस्माइडा पिन्वते विश्वदानी । तै० ब्रा० २।४।६।४

१५—इडा तीव्र परिस्रुतासोमम् । तै० ब्रा० २।६।१३।४

१६—ततः संवत्सरे योषित्सम्बभूव ……तां हैव प्रजाति प्रजायते या मनु प्राजायत ' …मनुर्ह्य तामग्रेऽजनयत तस्मादाह मानवीति ।

—श० ब्रा० १।८।१।६-२६

१७—ब्रह्मपुराण, अध्याय ७, विष्णु पुराण अध्याय ४, मत्स्यपुराण अध्याय ११ ।

कल्पना की है, जिसका विकास कामायनी में इस प्रकार मिलता है

प्रारंभिक व्यक्तित्व—कामायनी में इडा सर्वप्रथम एक अत्यन्त आकर्षक एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण होती है, जो 'नयन महोत्सव की प्रतीक', 'अम्लान नलिन की नवमाला', अनन्त सुषमापूर्ण सुन्दर बाला जान पड़ती है, जिसकी अलकें तर्कजाल के समान बिखरी हुई हैं, जिसका अर्धचन्द्र के तुल्य उज्ज्वल मस्तक संसार के मुकुट तुल्य प्रतीत होता है, जिसके दोनों नेत्र पद्म-पत्र के चषक तुल्य हैं, जिनसे अनुराग एवं विराग दोनों ही छलक रहे हैं। एक खिली हुई ऐसी कलिका के समान उसका मुख है, जिस पर भ्रमर गूंज रहे हों। साथ ही उसकी मुख-मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता है, मानों उसमें अपार ज्ञान भरा हुआ हो। इतना ही नहीं, उसका वक्षस्थल संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान का आश्रय प्रतीत होता है। वह एक हाथ में कर्म-कलश लिए है जिसमें पृथ्वी के जीवन-रस का सार भरा हुआ है और उसका दूसरा हाथ विचारों के आकाश को अपना मधुर-निर्भय अवलम्ब दे रहा है। उसकी नाभि के ऊपर तीन रेखायें त्रिगुणात्मक तरंगों के तुल्य शोभायमान हैं। उसके शरीर में एक श्वेत वस्त्र कुछ अस्त-व्यस्त सा लिपटा हुआ है तथा उसके चरणों में तालयुक्त गति भरी हुई है।[1] इडा का यह वर्णन स्पष्ट ही उसे एक ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न, सुसभ्य आधुनिक युवती के रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इडा को प्रसाद जी ने एक बौद्धिक धरातल पर उन्नति-प्राप्त सभ्यता की प्रेरक-शक्ति के रूप में रखा है, क्योंकि यही इडा मनु से अपने उजड़े हुए प्रदेश को पुनः बसाने का आग्रह करती है तथा स्वयं मार्ग-दर्शन करती हुई देश में यांत्रिक सभ्यता का विकास करती है।

बुद्धिवाद के अतिरेक की प्रतीक—इडा के रूप-चित्रण में ही उसे ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न कहा गया है। परन्तु मनु से वार्तालाप करते हुए वह स्पष्ट कह देती है कि—"मनुष्य को बुद्धि का कहना मानकर एकमात्र उसी के सहारे अपना विकास करना चाहिए। मनुष्य बुद्धि से जड़ता को भी चैतन्य बना सकता है। इसके लिए विज्ञान ही सहज साधन है और इस विज्ञान के सहारे उन्नति करके ही मानव अपना यश सारे विश्व में फैला सकता है।"[2] इस प्रकार बौद्धिक उत्कर्ष की प्रेरणा प्रदान करने वाली इडा अपने सारस्वत प्रदेश का शासन-भार मनु को सौंप देती है तथा विज्ञान एवं बुद्धि के सहारे उन्नति करने की सलाह देती है। यहाँ श्रद्धा तथा इडा में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। वैसे दोनों ने मनु को उन्नति की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणायें दी हैं, परन्तु इडा जहाँ मनु को अकेले ही कर्म करने तथा केवल अपनी क्षमता बढ़ाने की

१—कामायनी, पृ० १६८।   २—कामायनी, पृ० १७१।

प्रेरणा देती है, वहाँ श्रद्धा शक्ति के समस्त अवयवों का समन्वय करके 'शक्तिशाली हो, विजयी बनो'[1] का आदेश देती है। इडा जहाँ 'सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता'[2] कहकर मनु को एक निरंकुश एवं निर्मम शासक बनने की प्रेरणा देती है, साथ ही प्रजा को शक्तिशाली न होने देने एवं उस पर कठोर शासन करने का उपदेश देती है, वहाँ पर श्रद्धा ने पहले ही 'विश्व की दुर्बलता बल बने'[3] कहकर सभी प्राणियों को शक्तिशाली बनाने की प्रेरणा दी है। इडा जहाँ 'विज्ञान सहज साधन उपाय'[4] कहकर विज्ञान के आधार पर उन्नति करने की सलाह देती है, वहाँ श्रद्धा ने 'समर्पण', 'सेवा' और समरसता' द्वारा सफलता प्राप्त करने की सलाह दी है।[5] इड़ा जहाँ 'तुम जडता को चैतन्य करो'[6] कहकर जडता को चेतनता में परिणत करने के लिए कहकर संसार में जड़त्व का प्राधान्य स्वीकार करती है, वहाँ श्रद्धा सृष्टि के मूल में चिति शक्ति को मानती है और इस संसार को उस चेतन शक्ति की लीला कहकर इसे पूर्ण चैतन्य से भरा हुआ बतलाती है।[7] इस प्रकार दोनों विपरीत भावों का निदर्शन करती हुई दिखाई गई हैं। इन बातों के आधार पर श्रद्धा जहाँ हृदय की उदार वृत्ति की प्रतीक सिद्ध होती है, वहाँ इडा केवल बुद्धिवाद के अतिरेक की प्रतीक ठहरती है।

विलासिता की प्रेरक-शक्ति—मनु जब शासन-सूत्र अपने हाथ में सँभाल लेते हैं और बड़ी कुशलता से वैज्ञानिक आधार पर नगर की उन्नति के लिए दत्तचित्त दिखाई देते हैं, तब इड़ा उस 'क्रतुमय पुरुष' को अपने जीवनाकाश में उषा के तुल्य ज्ञात पडती है और अपने रूप-सौन्दर्य की मोहक किरणों द्वारा मनु के कर्मशील मन को सहसा आकृष्ट कर लेती है। इडा ने मनु को केवल नगर की भौतिक उन्नति की ही प्रेरणा नहीं दी है, अपितु मनु को मदिरा के चषक पर चषक पिलाकर विलासिता की ओर भी उन्मुख किया है।[8] जिसका परिणाम यह निकलता है कि वह अतृप्त विलासी मनु अपनी तीव्र पिपासा शान्त करने के लिए इडा के साथ ही अनैतिक आचरण करने के लिए उद्यत हो जाता है और विलासिता का शिकार होकर देव-सृष्टि के पूर्व-विनाश के तुल्य अपनी उन्नत वैज्ञानिक सभ्यता के विनाश की भी पृष्ठभूमि तैयार कर लेता है।

१—कामायनी, पृ० ५७। २—कामायनी, पृ० १७१।
३—वही, पृ० ५६। ४—वही, पृ० १७१।
५—वही, पृ० ५७, २४४। ६—वही, पृ० १७१।
७—वही, पृ० ५३। ८—वही, पृ० १८३।

वैज्ञानिक युग की जनप्रिय रानी—श्रद्धा ने कृषि-प्रधान सभ्यता का विकास किया था, परन्तु मनु ने उसे सहयोग न दिया, वे निष्क्रिय बने रहे। अतः उसका पूर्ण विकास नहीं हो सका। परन्तु इडा ने यहाँ विज्ञान के आधार पर यान्त्रिक सभ्यता की प्रेरणा दी है और मनु उसे सक्रिय सहयोग देते हैं, जिससे दृढ प्राचीर, मन्दिर, विशाल भवन, धातु-शोधन, आभूषण एवं अस्त्र-शस्त्र का निर्माण आदि कार्य होते हैं और जनता का श्रम-विभाजन करके उसे सुख-संतोष दिलाने का प्रयत्न होता है। जनता भी इस उन्नति की बडी सराहना करती है। इसी कारण जब मनु इडा के साथ अनैतिक आचरण करते हैं, तो सारी जनता मनु के विरुद्ध खडी हो जाती है[1] और अपनी भौतिक सौख्य प्रदायिनी रानी की रक्षा के लिए मनु के साथ युद्ध करके उसे बचा भी लेती है। जनता की इस क्रान्ति के द्वारा इडा का जनप्रिय होना सिद्ध होता है।

मनु की निष्पक्ष सलाहकार—इडा को मनु का यह अनैतिक आचरण बुरा लगता है और वह मनु की निरंकुशता एवं निर्बाध अधिकार की लालसा को दूर करने के लिए बडे सुन्दर शब्दों में मनु को समझाती है कि "यदि नियामक ही अपने बनाये हुए नियमों का उल्लंघन करेगा, तो निस्संदेह सब कुछ नष्ट हो जायगा। संसार में ऐसा कभी नहीं होता और न कभी होगा कि कोई निर्बाधित अधिकार का उपभोग करे। नियामक को तो सदैव भेद-भाव भूलकर चलना चाहिए और कभी विवादी स्वर नहीं छोडना चाहिए। वह आगे फिर कहती है— 'तुम्हें मेरा सारा उपकार यों ही नहीं भुला देना चाहिए, क्योंकि मैंने ही तुम्हें प्रकृति के साथ संघर्ष करना सिखाया है, मैंने ही शासन का केन्द्र बनाकर तुम्हें इस बिखरे हुए वैभव का स्वामी बनाया है। अतः तुम्हें मेरी बातें माननी चाहिए। यदि तुम मुझ पर विश्वास करके मेरा कहना मानोगे, तो सारी भ्रान्ति दूर हो जायगी और सब कुछ ठीक हो जायगा।"[2] यहाँ इडा स्पष्ट ही एक निष्पक्ष सलाहकार के रूप में दिखाई देती है।

कोमल एवं सहृदय नारी—सारस्वत नगर का विनाश एवं मनु की मूर्च्छित अवस्था को देखकर इस ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न निर्मम नारी को भी हम कोमलता एवं सहृदयता से परिपूर्ण देखते हैं। वह मनु के विगत जीवन पर विचार

१—किन्तु आज तुम बंदी हो मेरी बाहों में,
मेरी छाती में, फिर सब डूबा आहों में!
सिंह द्वार अरराया जनता भीतर आई,
"मेरी रानी" उसने जो चीत्कार मचाई।—कामायनी, पृ० १६८।

२—कामायनी, पृ० १६२–१६३।

करती हुई उनके अपराधों पर दृष्टि डालती है तथा मनु की निरीह एवं असहाय अवस्था पर आठ-आठ आँसू रोती है। इतना ही नहीं, जब श्रद्धा बावली सी अपने कुमार को साथ लिए हुए वहाँ मनु को ढूँढती हुई दिखाई देती है, तब श्रद्धा की करुण-पुकार इडा के कठोर हृदय को द्रवित कर देती है। इडा उस योगिनी की मार्मिक व्यथा बड़ी सहानुभूति के साथ सुनती है और उस समय उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता, जब वह यह देखती है कि यह श्रद्धा तो मनु को ही खोज रही है। मनु को प्राप्त करके उसके उपचार मे जुटी हुई श्रद्धा को देखकर तो इडा पानी-पानी हो जाती है। उस क्षण श्रद्धा के साथ इडा के भी आँसू टप-टप गिरने लगते हैं। यहाँ इडा की यह कोमलता इस बात की सूचक है कि नारी कितनी भी निर्मम एवं अनुराग-शून्य क्यों न हो जाय और उसे ज्ञान-विज्ञान कितना ही कठोर बुद्धिवादी क्यों न बनादे, परन्तु उसमे भी स्त्रियोचित सहज गुण विद्यमान रहते हैं।

बुद्धिवाद के विपरीत हृदयवाद की अनुगामिनी—मनु के पुनः चले जाने पर श्रद्धा तथा इडा का पारस्परिक वार्तालाप होता है। उसमें इडा अपनी हार्दिक दुर्बलताओं को निस्संकोच श्रद्धा के सामने रख देती है और बतला देती है कि—"एक दिन मैं राष्ट्र-स्वामिनी के नाम से प्रसिद्ध थी और आज अवनति का कारण बनी हुई हूँ। मेरी समस्त योजनायें असफल सिद्ध हुईं। मैं नितान्त भ्रम में थी। मुझे यान्त्रिक शक्ति में ही विश्वास हो गया था। परन्तु ये शक्ति-चिह्न सब व्यर्थ हैं। ये भय की उपासना स्वरूप हैं। दूसरे, मैंने तुम्हारा सुहाग भी छीना है। आज मैं स्वयं को अच्छी नहीं लगती। इसलिए मैंने जो कुछ तुम्हारे साथ अपराध किया है उसके लिए क्षमा चाहती हूँ।" तब श्रद्धा उसे समझाती है कि—"तू केवल सिर पर ही चढ़ी रही, तूने कभी हृदय प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया।"[1] श्रद्धा की इस बात को मानकर वह अपनी त्रुटि समझ लेती है और पीछे कुमार के साथ हृदयवादी पद्धति पर शासन-सूत्र सँभालती है, जिससे सारस्वत नगर की ऐसी श्री-वृद्धि होती है कि फिर कभी अनिष्ट की आशंका नहीं होती।

आनन्द-पथ-गामिनी—अन्त मे प्रसादजी ने इडा के जीवन में भी परिवर्तन प्रस्तुत किया है। वह ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न निर्मम एवं अनुराग-हीन नारी कुमार के साथ समरसता की पद्धति से शासन करती हुई सर्वत्र सुख-शान्ति का संचार करती है और अपनी प्रजा का एक कुटुम्ब बनाकर कैलास-गिरि की यात्रा करने चलती है। वह अपने साथ सोम-लता से आवृत्त धर्म के प्रतिनिधि वृषभ

१—कामायनी, पृ० २३८–२४१।

को भी ले आती है, जिसको कैलाश पर जाकर चिर-मुक्ति प्रदान कर देती है और समस्त प्रजा को मनु-श्रद्धा द्वारा स्थापित शान्त तपोवन का दर्शन कराती हुई अखण्ड आनन्द की उपलब्धि कराती है। वहाँ पहुँच कर इड़ा श्रद्धा के सामने अपनी सभी त्रुटियाँ स्वीकार कर लेती है। आज उसे आध्यात्मिकता की इतनी ऊँचाई पर आकर यह ज्ञान हुआ है कि "मैं कितना बुद्धि-भ्रम उत्पन्न करके उत्पात मचाती रही हूँ तथा उन्नति एवं सफलता की लालसा जगाकर मानवों को व्यर्थ ही सुख और आनन्द की मृग मरीचिका में फँसाती रही हूँ।"[1] इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने के कारण इड़ा भी यहाँ इतनी ऊँचाई पर पहुँच कर अथवा भौतिकता के संकुचित दायरे से ऊँचे उठकर अपनी प्रजा सहित अखण्ड आनन्द की अधिकारिणी बन जाती है।

प्रसादजी की इड़ा सम्बन्धी कल्पना का उद्देश्य—प्रसादजी ने मनु तथा श्रद्धा के रूप में जहाँ भारतीय आदि-पुरुष एवं आद्या नारी का चित्र अंकित किया है, वहाँ इड़ा के रूप में आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति में निष्णात बुद्धि के अतिवाद का प्रचार करने वाली नारी का भी चित्रण किया है। उसके सारस्वत नगर के रूप में वर्तमान वैज्ञानिक जगत का पूर्णतः आभास मिलता है। इड़ा की प्रजा, उसका संघर्ष, श्रम-विभाजन, यंत्र-आविष्कार आदि सभी बातें आधुनिक युग की वैज्ञानिक उन्नति की ओर संकेत कर रहे हैं। परन्तु श्रद्धा के सम्पर्क में आकर इड़ा के अन्दर जो परिवर्त्तन दिखलाया गया है, उसकी प्रथम कल्पना 'तितली' उपन्यास में ही विद्यमान है, क्योंकि वहाँ पर आधुनिक युग की पाश्चात्य सभ्यता की पुजारिन शैला का तितली के सम्पर्क में आकर सुधार दिखलाया गया है। इस कल्पना में प्रसादजी के समन्वयवाद की भी झलक मिलती है, जिसका अभिप्राय यह है कि श्रद्धा-समन्वित बुद्धि ही सफलता तथा आनन्द की विधायिनी होती है और श्रद्धा-रहित बुद्धि विनाश के पथ पर ले जाती है। इस तरह प्रसादजी ने यहाँ आधुनिक युग की समन्वय की भावना का महत्व बतलाने के लिए इड़ा की ऐसी कल्पना की है।

मानव—श्रद्धा एवं मनु के पुत्र 'मानव' का कामायनी में अधिक विवरण नहीं मिलता, इसी कारण यह गौण पात्रों में रखा गया है। इसकी कल्पना का आधार भी ऋग्वेद है, क्योंकि वहाँ पर मनु को मानवों का पिता कहा गया है और इक्ष्वाकु, शर्याति, नहुष आदि को मानव कहकर सम्बोधित किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त पुराणों में इक्ष्वाकु, शर्याति आदि मनु के दस पुत्र बतलाये गये

१—कामायनी, पृ० २८३।

२—ऋग्वेद १०।४७, १०।६३।

हैं।[1] परन्तु प्रसादजी ने सबका उल्लेख न करके केवल एक पुत्र का उल्लेख किया है और उसको कुमार तथा मानव कह कर सम्बोधित किया है।[2] यहाँ पर प्रसादजी ने आगामी मानवता के विकास के लिए केवल दो पात्र चुने हैं—मानव तथा इड़ा। कुछ आलोचक मनु-पुत्र शर्याति को कामायनी का 'मानव' बतलाते हैं।[3] परन्तु शर्याति पुराणों में मनु के सातवें पुत्र बतलाये गये हैं और इक्ष्वाकु को सभी पुराण मनु का जेठ पुत्र स्वीकार करते हैं।[4] इसके साथ ही राजा इक्ष्वाकु ही सूर्य-वंश के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। दूसरी ओर पुराणों में इडा में बुध का सम्पर्क होने पर पुरुरवा की उत्पत्ति बतलाई गई है और राजा पुरुरवा को ही चन्द्र-वंश का प्रवर्त्तक कहा है।[5] इस तरह पौराणिक आधारों पर इक्ष्वाकु सूर्य-वंश के और पुरुरवा चन्द्र-वंश के प्रवर्त्तक सिद्ध होते हैं। ये दो राज-वंश ही प्रजापति मनु के उपरान्त यहाँ विकसित हुए हैं। अतः कामायनी में जिस मानव का वर्णन मिलता है, वह शर्याति न होकर इक्ष्वाकु हो सकता है। प्रसादजी ने इस मानव-पात्र का विकास कामायनी में इस प्रकार दिखलाया है—

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—कुमार के सर्वप्रथम दर्शन कामायनी में 'स्वप्न' सर्ग के अन्तर्गत होते हैं। उस समय यह इतना बड़ा हो चुका है कि अकेले वन में खेलने-कूदने जाने लगा है, यह बड़ा नटखट है, इसकी घुँघराली अलकें खुली रहती हैं और सारा शरीर धूल-धूसरित बना रहता है। यह चपल बालक सारे दिन वन में मृग की भाँति चौकड़ी भरता रहता है। इसे खाने-पीने की तनिक भी परवाह नहीं। खेल-कूद में यह सब-कुछ भूल जाता है और यदि भूख लगती है, तो वहीं वन के फल खाकर भूख शान्त कर लेता है। इसकी माता श्रद्धा उसे डाँटने तक का साहस नहीं करती, क्योंकि वह देख चुकी है कि तनिक कहने पर तो मनु रूठ कर चले गये, अब उनका पुत्र होने के कारण कहीं यह भी न रूठ कर चला जाय, इससे वह डरती रहती है। यह बालक वैसे श्रद्धा को अत्यन्त प्यार करता है और उसकी सूनी कुटिया को मुखरित बनाता रहता है।[6]

प्रात्मीयता का संचारक—जब श्रद्धा तथा कुमार दोनों मनु को खोजते-खोजते सारस्वत नगर में पहुँचते हैं, तब इस वनवासी बालक को पहले तो हम

१—श्रीमद्भागवतपुराण ९।१।११-१२।

२—कामायनी, पृ० २१५,२२८,२७७,२८६।

३—कामायनी और प्रसाद की कविता—गंगा, पृ० ४३।

४—मत्स्यपुराण ११।४१   ५—हरिवंशपुराण, अध्याय १०।

६—कामायनी, पृ० १७६।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' मे वर्णित शाङ्गरव एवं शारद्वत[1] की भाँति भव्य प्रासाद, मन्दिर, मडप, वेदी आदि को देखकर आश्चर्य-चकित सा देखते हैं। किन्तु जब यह मनु के समीप आकर अपनी माँ से यह सुनता है कि ये ही तेरे पिता हैं और आज मूर्छित अवस्था मे पडे हुए हैं, तब इस चपल वनचारी बालक के हृदय मे भी पितृ-प्रेम जाग्रत हो उठता है, इसके रोगटे खडे हो जाते हैं और तुरन्त आत्मीयता मे विभोर होकर माँ से कह उठता है 'माँ यहाँ बैठी-बैठी क्या कर रही हो, ये प्यासे होंगे। इसलिए इन्हें शीघ्र पानी पिलाओ।'[2] वनवासी बालक यही उपचार जान सकता है। परन्तु इनके ये वास्तविक शब्द अन्तस्तल मे छिपे हुए पितृ-प्रेम को व्यक्त करते हैं तथा इसके हृदय मे स्थित अचेतन आत्मीयता के परिचायक हैं। इन शब्दो का ऐसा असर होता है कि उस भीषण वेला मे भी सबके हृदयो मे आत्मीयता का सचार हो जाता है तथा वहाँ एक छोटी सी गृहस्थी का स्वरूप बन जाता है। यह आत्मीयता आगे चलकर इतनी व्यापक हो जाती है कि पुत्र-ईर्ष्यालु मनु को भी यह कुमार अपने जीवन का उच्च अश, कल्याण-स्वरूप तथा हार्दिक स्नेह की साकार मूर्ति प्रतीत होता है।[3]

विपत्ति में माँ का अवलम्ब—सारस्वत नगर से मनु के पुन चले जाने पर यह कुमार जब अपनी माँ को कुछ दुखी देखता है, तब पहले तो इसे भी पितृ-वियोग का कष्ट होता है, परन्तु पीछे अपनी माँ से बडे साहस के साथ यही कहता है कि—"माँ तू क्यों उदास होती है, क्या मैं तेरे पास नहीं हूँ, तू कई दिनों से चुपचाप कुछ सोचती रहती है, कुछ तो कह, यह तेरा दुलार दुख कैसा है, जो तेरा अन्तर्बाह्य जला रहा है, जिससे तू टीसो सी साँस भरा करती है और हताश सी बनी रहती है।"[4] कुमार की इन पक्तियो मे कितनी शक्ति एव दृढता भरी हुई है। किसी भी सकट-ग्रस्त माँ को इन्हें सुनकर अवलम्ब प्राप्त हो सकता है। स्पष्ट ही इन पक्तियों से मातृ-प्रेम की दृढता एव मातृ-सकट को दूर करने की क्षमता प्रकट होती है। इतना ही नहीं, यहाँ कुमार मे हमें ओज, शक्ति, शौर्य एव पराक्रम के बीज भी दिखाई देते हैं।

माता का अनन्य भक्त—इडा के बहुत अनुरोध करने पर श्रद्धा जब द्रवित हो जाती है, तब वह मनु को पुन खोजने के लिए जाने से पूर्व अपने प्रिय पुत्र कुमार को इडा के समीप छोड जाती है। बालक कुमार माँ के इस कार्य से दुखी होता है। वह तो माँ के साथ ही सदैव रहा है। अत माँ की क्षीणतर

१—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ५।११-१२। २—कामायनी, पृ० २१६।
३—कामायनी, पृ० २२८। ४—वही, पृ० २३४।

गोद का परित्याग उसे असह्य हो उठता है। तब श्रद्धा उसे कोमल शब्दों में यही समझाती है कि—"हे सौम्य ! तुम यहीं रह कर इडा के साथ राष्ट्रनीति देखो। इडा का शुचि दुलार तेरी व्यथा को दूर कर देगा। यह तर्कमयी है और तू श्रद्धामय है। इसके समस्त संताप को हर कर तुम समरसता का संचार करना, जिससे मानव का यश सर्वत्र फैल जाय।"[1] माता का यह आदेश पुत्र को स्वीकार करना पड़ता है। कारण यही है कि मां की आज्ञा का उल्लघन उसने सीखा ही नहीं। अतः यह मां का अनन्य भक्त सारस्वत नगर की राष्ट्रनीति सँभालने को तैयार हो जाता है तथा मां के निर्दिष्ट मार्ग पर चलता हुआ *सारस्वत प्रदेश को पुन श्री-सम्पन्न बना देता है।*

आनन्द-पथ का यात्री—अन्त मे इडा के साथ हम कुमार को भी अपनी प्रजा सहित आनन्द-गिरि की यात्रा करते हुए देखते है। उस समय यह यौवन की सजल कान्ति से परिपूर्ण है। अपने दाँये हाथ मे वृषभ की रज्जु तथा बाँये हाथ मे त्रिशूल धारण किये हुए है। उस समय इसका स्वरूप कुमार कार्त्तिकेय से किसी प्रकार हीन नही दिखाई देता। इसका समस्त अंग यौवन से विकसित होने के कारण केहरि-किशोर के समान प्रतीत होता है।[2] अपने नीति-मार्ग पर चलता हुआ *यह कुमार समस्त प्रजा के साथ माता-पिता की आनन्दमयी* मूर्ति के दर्शन करता है और अन्त मे श्रद्धा की चिर-शान्तिदायिनी गोद मे जा बैठता है, जहां इसे सार्वकालिक सुख एव अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है।

मानव की कल्पना में प्रसादजी का उद्देश्य—मानव के रूप मे प्रसादजी ने समरसता एवं मानवता के एक श्रेष्ठ प्रचारक का रूप प्रस्तुत किया है। यह मनु-पुत्र होने के कारण मननशील है, श्रद्धा-पुत्र होने से हृदय की उदार-वृत्तियो से सम्पन्न है और इडा के साथ रहने के कारण ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी समस्त बौद्धिक गुणो से भी ओत-प्रोत है। इस प्रकार समरसता के लिए उपर्युक्त तीनो गुणो का समन्वय कुमार के रूप मे होगया है। साथ ही मनु के कर्मशील जीवन के कारण *'कर्म' का, इडा के विज्ञानमय जीवन द्वारा ज्ञान का* और श्रद्धा के प्रेममय जीवन द्वारा 'इच्छा' का समन्वय भी मानव के रूप मे *प्रसादजी ने किया है, क्योंकि मानव या कुमार मे तीनों प्रमुख पात्रो के गुणों* का समावेश मिलता है। कुमार अपने इन तीनों गुणो के समन्वित रूप से ही सारस्वत नगर को पुन समृद्धिशाली बनाता है और सारी प्रजा को अन्त मे आनन्द शिखर पर भी ले जाता है। इस प्रकार यहाँ कुमार या मानव के

१—कामायनी, पृ० २४४।

२—वही, पृ० २७७।

निर्माण द्वारा समन्वय-भावना, वैयक्तिकता के विपरीत सामूहिक विकास तथा सामरस्य का ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ है।

आकुलि-किलात—ये दोनों असुर पुरोहित हैं। ऋग्वेद में इन्हें छल-कपट पूर्ण आचरण करने वाले, मायावी, आक्रमणकारी, मांस की हवि द्वारा यज्ञ करने वाले तथा दूसरों का पराभव करने वाले असुर बतलाया गया है।[1] यजुर्वेद में केवल किरात या किलात का वर्णन मिलता है, जिसे मांसभक्षी तथा गुफा में रहने वाला कहा गया है।[2] शतपथब्राह्मण तथा ताड्य ब्राह्मण में उन्हें स्पष्ट ही मनु को यज्ञ कराने वाले असुर पुरोहितों के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] 'वृहद्देवता' में इन्हें मायावी द्विज, पुरोहित, मायाबल से दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाले एवं मारने वाले कहा गया है।[4] इसके अतिरिक्त गीता में आसुरी प्रवृत्ति वाले पुरुष में पाखण्ड, घमंड अभिमान, क्रोध, पापाचार, मिथ्याचरण, असत्य-भाषण, क्रूरकर्म, हिंसा, ईश्वर में अविश्वास, मिथ्या सिद्धान्त के प्रति आग्रह, विषयासक्ति आदि की प्रधानता बतलायी गई है।[5] इन सब आधारों पर ही प्रसादजी ने आकुलि-किलात की कल्पना की है, जिसका विकास कामायनी में इस प्रकार हुआ है—

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—इन दोनों पुरोहितों का सर्वप्रथम वर्णन कामायनी के 'कर्म' सर्ग के अन्तर्गत हुआ है। ये भी मनु और श्रद्धा की भाँति जलप्लावन से बचकर इधर-उधर भटकते हुए दिखलाए गये हैं। इन्हें कहीं भी पशु-पक्षी दिखाई नहीं देते, इससे इनकी मांस-लोलुप रसना को तनिक भी संतोष नहीं मिलता। इन्हें कंद-मूल-फल खाना पसन्द नहीं। इसी समय इन्हें श्रद्धा द्वारा पालित पशु दिखायी दे जाता है। वह हृष्ट-पुष्ट तथा मांसल है। उसे देखते ही इनकी उत्कट इच्छा उसे खाने के लिए जाग्रत हो उठती है। परन्तु श्रद्धा के भय से इनका साहस नहीं होता कि उस पशु का हरण कर सकें। इसी कारण ये ये अपनी माया द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और मनु के समीप जाकर कहने लगते हैं कि—"हम 'मित्रवरुण' की ओर से भेजे हुए आए हैं। क्या तुम उनका यज्ञ करना चाहते हो? यह तो बड़ा ही सुन्दर विचार है। संभवतः तुम पुरोहित की खोज में हो। हम तुम्हारा पौरोहित्य कर्म करेंगे और

१—ऋग्वेद १०।५७ की अनुक्रमणिका।

२—शुक्ल यजुर्वेद ३०।१६

३—किलाताकुलीऽइति हासुरब्रह्मावासतु। तौ होचतु। श्रद्धादेवो वै मनुराव नु वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति।
—श० ब्रा० १।१।४।१४-१५, तां० ब्रा० १३।७।१२

४—वृहद्देवता ७।८५-८८ ५—श्रीमद्भगवद्गीता १६।७-१८

मित्रवरुण की कृपा से सभी कार्य पूरा होगा। तुम वेदी पर चलो, अग्नि प्रज्वलित करो और हम पशु-बलि देकर तुम्हारा कार्य सम्पन्न करेंगे।"[1] ऐसा कहकर और मनु को आकृष्ट करके पशु-यज्ञ कराते हैं तथा श्रद्धा द्वारा पालित पशु का वध करके उसका मांस भक्षण करते हैं।

सारस्वत नगर की जनता का नेतृत्व—तदनन्तर कामायनी में इनकी कथा लुप्त हो जाती है और फिर इन दोनों के दर्शन 'संघर्ष' सर्ग में होते हैं। वहाँ पर ये जनक्रान्ति का नेतृत्व करते हुए दिखाये गये हैं। मनु के अनैतिक आचरण के कारण जनता में जो रोष फैला हुआ है, उसमें सबसे बड़ा हाथ इन दोनों का ही है और इनके कारण ही सारस्वत नगर में भयंकर विप्लव, हलचल अथवा संघर्ष उठ खड़ा होता है। जब मनु जनता की इस क्रान्ति का सामना करने के लिए अपने दुर्लक्ष्यी धनुष को लेकर आगे बढ़ते हैं, तब सर्वप्रथम मनु को किलाताकुलि ही दिखाई देते हैं। अतः दोनों को ललकारते हुए मनु कहते हैं कि 'कायरो ! तुम दोनों ने ही मारा उत्पात मचाया है। अरे ! मैंने तो तुम्हें अपना समझ कर ही अपनाया था, परन्तु ध्यान रखो कि यह यज्ञ नहीं, रण है।'[2] इतना कहकर मनु अपने दुर्लक्ष्यी धनुष पर तीर चढ़ाकर दोनों को धराशायी कर देते हैं। इस प्रकार मनु द्वारा इन दोनों की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

पुरोहितों की कल्पना में प्रसादजी का उद्देश्य—प्रसादजी के ये दोनों गौण पात्र केवल आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं, क्योंकि दोनों ही यहाँ असुर-संस्कृति के अवशिष्ट अंश बतलाए गये हैं। जहाँ श्रद्धा, मनु इडा देव-संस्कृति के प्रतिनिधि हैं, वहाँ ये दोनों व्यक्ति असुर-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। असुरों के प्रमुख देवता वरुण माने गये हैं और ये दोनों मित्रवरुण के अनुयायी हैं। अतः दोनों संस्कृतियों का स्वरूप दिखाने के लिए इनका चित्रण हुआ है। फिर मानव-सृष्टि के आरम्भ में आदि-मानव के अंतर्गत सात्विकी, राजसी एवं तामसी प्रवृत्तियों का समावेश भी दिखाना प्रसादजी को अभीष्ट रहा है। इसलिए श्रद्धा द्वारा सात्विकी, इडा द्वारा राजसी तथा आकुलि-किलात द्वारा तामसी प्रवृति का योग मनु के जीवन में दिखाया गया है। यही कारण है कि ये अपने ही यजमान मनु के विरुद्ध होकर संघर्ष की सृष्टि करते हैं और काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मिथ्याहंकार आदि मनोवृत्तियों को जन्म देकर मनु के सुख और शान्ति में बाधा उत्पन्न

१—कामायनी, पृ० ११४।
२—वही, पृ० २०१।

करते हैं। इस प्रकार इनका चित्रण पूर्णतया आसुरी-प्रवृत्ति के अनुकूल हुआ है।

सारांश यह है कि 'कामायनी' में पात्रों का चारित्रिक विकास अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से दिखाया गया है। इतना अवश्य है कि कामायनी में सभी पात्र अपना दुहरा व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए हैं, क्योंकि वे ऐतिहासिक व्यक्ति होकर भी किसी न किसी मनोभाव के प्रतीक हैं। जैसे, मनु एक ओर तो इतिहास- सम्मत सातवें मन्वन्तर के प्रवर्त्तक वैवस्वत मनु हैं और दूसरी ओर मन के भी प्रतीक हैं। इसी तरह श्रद्धा एक ओर तो इतिहास-पुराणों में वर्णित मनु-पत्नी है और दूसरी ओर श्रद्धा नामक मनोभाव की भी प्रतीक है। ऐसे ही इड़ा एक ओर तो ऐतिहासिक सारस्वत प्रदेश की साम्राज्ञी है और दूसरी ओर बुद्धि या वाणी की भी प्रतीक है। इसी भांति मानव मनु-पुत्र होने के कारण एक ओर तो इतिहास-प्रसिद्ध सूर्य-वंश का राजा इक्ष्वाकु सिद्ध होता है और दूसरी ओर वह मन तथा हृदय के समन्वित रूप का भी प्रतीक है। यही दशा काम और रति की है, क्योंकि वे एक ओर तो इतिहास सम्मत देव-जाति के व्यक्ति हैं और दूसरी ओर मूल वासना के भी प्रतीक हैं। इसी प्रकार आकुलि-किलात भी एक ओर तो ऐतिहासिक असुर-पुरोहित है और दूसरी ओर आसुरी प्रवृत्तियों के भी प्रतीक हैं। अतः कामायनी की कथावस्तु का विकास जिन-जिन पात्रों के द्वारा हुआ है, वे सभी पात्र अपने दुहरे व्यक्तित्व से सम्पूर्ण कथा में व्याप्त हैं और प्रसादजी को भी उनके चरित्र का विकास दिखलाने में दोनों ओर ध्यान देना पड़ा है। यही कारण है कि कामायनी के प्रायः सभी पात्र शरीरी एवं अशरीरी दोनों रूपों को लेकर यहाँ विद्यमान हैं, किन्तु प्रसाद जी ने उनका ऐसा चित्रण किया है कि उनके अशरीरी रूप की अपेक्षा शरीरी रूप अधिक मुखरित हो गया है और पाठक के हृदय पर उनके मनोभावों के प्रतीकत्व के स्थान पर ऐतिहासिक व्यक्तित्व की छाप अंकित पड़ती है।

प्रकरण ३

१—कामायनी का काव्यत्व

कामायनी में प्रबन्ध-काव्य का स्वरूप—आचार्य वामन ने रचना की दृष्टि से काव्य के मूलत दो भेद किए हैं—गद्य तथा पद्य। पद्य को पुन पूर्वापर-सम्बन्ध की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया है—*अनिबद्ध काव्य तथा निबद्ध काव्य*। साथ ही आचार्य वामन के टिप्पणीकार कामधेनु ने उपर्युक्त वर्गीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अनिबद्ध काव्य 'मुक्तक' कहलाता है तथा *निबद्ध काव्य को 'प्रबन्ध' कहते हैं।*[1] *इसके अलावा आचार्य वामन ने प्रबन्ध* तथा मुक्तक दोनो काव्यों को क्रमश 'स्रगुत्तंसवत्' अर्थात् माला और मुकुट के समान कहा है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि प्रबन्ध काव्य मे माला के समान *सुसम्बद्धता एव संगठन रहता है तथा मुक्तक मे मुकुट के समान स्वतन्त्रता एव* विशृंखलता रहती है। आगामी आचार्यों ने भी निबन्ध की दृष्टि से काव्य के ये ही दो प्रमुख भेद स्वीकार किए हैं।[3] प्रबन्ध तथा मुक्तक के अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'यदि प्रबन्ध काव्य एक

१—"अनिबद्धं मुक्तकं निबद्धं प्रबन्धरूपमिति प्रसिद्धिः।"—काव्यालंकार-सूत्र (वृत्ति) १।३।२७ टिप्पणी।

२—काव्यालंकार सूत्र (वृत्ति) १।३।२८ ३—काव्य-मीमांसा, अध्याय ६।

विस्तृत वनस्थली है, तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।'[1] आचार्य गुलाबरायजी ने भी दोनो के पार्थक्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "प्रबन्ध काव्य मे तारतम्य और पूर्वापर-सम्बन्ध रहता है तथा उसमे वर्णन, प्रकथन, पारस्परिक सम्बन्ध और सामूहिक प्रभाव का प्राधान्य रहता है, जबकि मुक्तक के समस्त छद स्वत पूर्ण होते हैं और वे एक-दूसरे की अपेक्षा नही करते।"[2]

पाश्चात्य समालोचको ने भी काव्य के ये दो भेद स्वीकार किए हैं। श्री विलियम हैनरी हडसन ने विषय एव कवि के प्राधान्य को ध्यान मे रखकर पहले काव्य के दो भेद किए हैं—विषयी-प्रधान काव्य (Subjective Poetry) तथा विषय-प्रधान काव्य (Objective Poetry)। पहले प्रकार के काव्य मे कवि अपने विचार, भावना तथा अनुभवो को स्वय वैयक्तिक रूप मे उपस्थित करता है तथा दूसरे मे वह अपने विचार, भावना आदि को न्यारार के अन्य पदार्थों एव व्यक्तियो के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इस प्रकार वैयक्तिकता का प्राधान्य रहने के कारण प्रथम कोटि की कविता के अन्तर्गत प्रगीत या मुक्तक (Lyric) काव्य आते हैं तथा विषय की प्रधानता रहने के कारण दूसरी कोटि मे प्रबन्ध तथा रूपक काव्य आते हैं।[3]

प्रबंध-काव्य के लिए आवश्यक बातें— हमारे यहाँ सभी आचार्यो ने प्रबन्ध को अनुबध युक्त माना है। श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रबन्ध के लिए जो आवश्यक तत्त्व बतलाये हैं उनके आधार पर एक काव्य मे पाँच बातें आवश्यक ठहरती हैं—(१) ऐतिहासिक अथवा कल्पित इतिवृत्त, (२) प्रासगिक कथा योजना, (३) नाटकीय सविधान द्वारा कथा का सम्बन्ध-निर्वाह (४) रसात्मक वर्णनो का प्राधान्य, और (५) अलकारो की रसानुरूप योजना।[4]

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७।

२—सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १८४।

३—An Introduction to the Study of Literature, pp 135–135

४—ध्वन्यालोककार ने प्रबन्ध-काव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ लिखी हैं :—

(१) विभाव, भाव, अनुभाव और सचारी भाव के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा शरीर का निर्माण।

(२) ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति को छोडकर, बीच मे अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का सस्करण।

पश्चिमी आचार्य अरस्तू ने *प्रबन्ध काव्य के लिए आवश्यक बातों का* उल्लेख करते हुए लिखा है कि (१) उसका कथानक 'ट्रेजडी' की ही भाँति नाटकीय ढंग से निर्मित हो, (२) उसमें किसी एक 'कार्य' का उल्लेख हो, (३) कथा में प्रारम्भ, मध्य तथा अवसान स्पष्ट हो, (४) उसका कथानक सरल या *या मिश्रित नैतिक या कष्टपूर्ण हो, (५) 'ट्रेजडी' की ही भाँति उसमें भी* परिवर्तन, अनुसंधान तथा आपत्ति विद्यमान हो, (६) भावों का सुन्दर रूप प्रस्तुत करते हुए भव्य शैली हो, तथा (७) उसमें कितनी ही प्रासंगिक घटनायें *हों, परन्तु वे सभी मुख्य कथा से सुसबद्ध हो।*[1]

इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी की प्रबंध-कल्पना पर विचार करते हुए प्रबंध-काव्य में दो बातें अत्यावश्यक बतलाई हैं—(१) इतिवृत्तात्मकता, तथा (२) रसात्मकता। इतिवृत्तात्मकता से तात्पर्य एक ऐसी मुख्य कथा से है, जो आदि से अन्त तक चलती है तथा रसात्मकता से तात्पर्य उन प्रासंगिक वस्तु-वर्णनों से है, जिनमें जीवन-दशा के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं और जो हृदय को रमाने में समर्थ होते हैं।[2]

इस प्रकार पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर एक प्रबन्ध-काव्य के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक ठहरती हैं कि उसमें —

१. एक सानुबंध कथा हो, जिसमें प्रकथन की भी प्रधानता हो और आदि मध्य, अवसान स्पष्ट हो,
२. प्रासंगिक कथाओं की सुसम्बद्ध योजना हो,
३. वस्तु-वर्णनों में रसात्मकता का प्राधान्य हो,
४. प्रासंगिक कथाओं और वस्तु-वर्णनों का मुख्य कथा के साथ सम्बन्ध-निर्वाध हो, और

(३) केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नहीं, अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से संधि और सध्यंगों की रचना।
(४) यथावसर रस के उद्दीपन तथा प्रशमन की योजना और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान।
(५) अलंकारों के यथेष्ट प्रयोग की पूर्ण शक्ति होने पर भी रसानुरूप अलंकारों की योजना। —हिन्दी ध्वन्यालोक ३।१।१०-१४

1—Poetics, p 48.
२—जायसी-ग्रंथावली—भूमिका, पृ० ६८।

५ 'कार्य' की दृष्टि से समस्त इतिवृत्त मे एकरूपता हो।

प्रकथन-पूर्ण सानुबंध—उपर्युक्त बातों के आधार पर जब हम कामायनी काव्य पर दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि 'कामायनी' मे भी 'चिन्ता' सर्ग से लेकर अन्तिम 'आनन्द' सर्ग तक श्रद्धा-मनु की एक मुख्य कथा है। खड प्रलय द्वारा देव-सृष्टि के विनष्ट हो जाने पर उसमें से बचे हुए वैवस्वत मनु श्रद्धा के सहयोग से इडा एव मानव द्वारा किस प्रकार मानव-सृष्टि का विकास करते हैं और अन्त मे कैसे भौतिक जीवन के नाना कष्टों से छूट कर आनन्द के अधिकारी होते हैं, यही इस काव्य की कथा है, जो १५ सर्गों मे बिखरी हुई है। इतना अवश्य है कि इस काव्य में अन्य प्रबन्ध-काव्यों की भाँति कोरी इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति नही मिलती और लघु कथा को भावो का सम्मिश्रण करके विस्तार दिया गया है, इससे भावात्मक पक्ष प्रबल हो गया और कथा गौण हो गई है। फिर भी प्रसादजी ने सभी स्थलों पर उखडी-उखडी कथा को पूर्ण रूप से एक सूत्र मे पिरोने का कार्य किया है। कवि ने जहाँ प्रकथन-प्रणाली को अपनाया है, वहाँ पर हमे कोरी इतिवृत्तात्मकता के भी दर्शन हो जाते हैं। जैसे, 'चिन्ता' सर्ग मे मनु की नौका का वर्णन, 'आशा' सर्ग मे मनु के पाक-यज्ञ का वर्णन, 'श्रद्धा' सर्ग मे श्रद्धा का अपना परिचय, 'काम' सर्ग मे काम तथा रति का परिचय, 'कर्म' सर्ग मे आकुलि-किलात तथा पशु-यज्ञ का वर्णन, 'आनन्द' सर्ग मे सारस्वत नगर-निवासियो की यात्रा आदि के वर्णनो मे इतिवृत्तप्रधान प्रकथन-प्रणाली का रूप देखा जा सकता है। परन्तु सभी स्थानो पर इन वर्णनो का अवसान रसात्मक वर्णनो मे आकर हुआ है। ये सभी प्रसग मुख्य कथा को शृखलाबद्ध करने के लिए ही आए हैं और सीधी-सीधी पद्यात्मक शैली मे न होकर रसात्मक है। इतना ही नही, इन वर्णनो मे जहाँ-तहाँ आए हुए कथा-सम्बन्धी विरामो मे क्रमबद्धता स्थापित करने की भी पूर्ण क्षमता है। अत कामायनी मे एक प्रबध-काव्य की भाँति कथा का क्रमिक स्वरूप मिलता है। इसकी कथा विशृ-खलित नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि कथा-सूत्र कभी-कभी तनिक दूर पर आकर मिलता है, परन्तु फिर भी यहाँ प्रकथन-पूर्ण एव सुसम्बद्ध कथा विद्यमान है।

प्रासगिक कथा-योजना—कामायनी मे कितनी ही प्रसगवश आई हुई कथायें मिलती हैं, जिनमे से कुछ तो स्मरण के रूप मे उल्लिखित हैं और कुछ काव्य के विस्तृत प्रागण मे स्वय घटित होते हुए दिखलाई गई हैं। घटना एव व्यक्ति की प्रधानता की दृष्टि से शुक्ल जी ने सस्कृत-साहित्य में दो प्रकार के प्रबन्ध-काव्य बतलाये हैं। प्रथम तो वे हैं जिनमे कवि की दृष्टि व्यक्ति पर रहती है और नायक की गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा के लिए ही उसके जीवन की मुख्य-

मुख्य घटनाएँ दी जाती हैं तथा दूसरे वे हैं जिनमें कवि की दृष्टि व्यक्ति पर न रह कर किसी मुख्य घटना पर रहती है और उसी घटना के उपक्रम के रूप में सारा वस्तु-विन्यास किया जाता है। प्रथम कोटि मे रघुवंश, बुद्धचरित विक्रमांकदेवचरित आदि आते हैं और दूसरी कोटि में कुमारसंभव, किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि आते है।[1] इस वर्गीकरण के आधार पर कामायनी को हम प्रथम कोटि के प्रबन्ध काव्यों में रख सकते है, क्योंकि यहाँ पर भी कवि का ध्यान किसी प्रमुख घटना की ओर न रह कर मनु के जीवन का क्रमिक विकास दिखलाने की ओर अधिक रहा है और उसी विकास से सम्बन्धित समस्त घटनाओं तथा उपकथाओं की योजना की गई है। इतना अवश्य है कि कवि का ध्यान यहाँ नायक की गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा की ओर नहीं है, उसने तो आधुनिक जीवन के अनुकूल अपने नायक के यथार्थ जीवन का चित्र अंकित किया है। यह दूसरी बात है कि यहाँ पर मनु को मन का प्रतीक मानकर उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर भी कवि का ध्यान रहा है, परन्तु प्रबंध-काव्य के लिए आवश्यक घटनाओं एवं उपकथाओं की योजना में हम कवि को स्पष्ट दत्तचित्त देखते हैं। उसने उन घटनाओं को ही यहाँ स्थान दिया है, जो नायक के जीवन-चरित्र को अंकित करने में आवश्यक प्रतीत हुई हैं। इसके लिए कवि ने कुछ कल्पित घटनाओं एवं उपकथाओं का भी निर्माण किया है, जैसे इड़ा को श्रद्धा से पीछे मनु से मिलाना, कैलाश-यात्रा आदि। परन्तु समस्त घटनायें या उपकथायें मुख्य 'कार्य' को दृष्टि से ही सकलित की गई हैं।

इन प्रासंगिक घटनाओं एवं उपकथाओं में से प्रथम जलप्लावन वाली घटना का उल्लेख विलासिता के दुष्परिणाम को समझाने के लिए हुआ है। दूसरी, काम-कथा की योजना काम के धर्मविरुद्ध रूप को समझाने के लिए की गई है। तीसरी, आकुलि-किलात की कथा मनु की दुर्बलता एवं नवीनता-प्रेम की ओर संकेत करती है। इतना ही नहीं, इस घटना के द्वारा श्रद्धा के उदात्त चरित्र को भी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। चौथी, इड़ा सम्बन्धी उपकथा में मनु की भौतिक लालसा एवं वासना-लिप्सा का नग्न चित्र अंकित किया है। साथ ही वासनात्मक भौतिक जीवन के दुष्परिणाम की ओर भी संकेत किया गया है। पाँचवी, त्रिपुर मिलन वाली घटना द्वारा मानव-जीवन की यथार्थता का स्वरूप चित्रित किया गया है। अतः सर्वसाधारण को शिक्षा देने की दृष्टि से और 'आनन्द' प्राप्ति के लिए जीवन की यथार्थता का जानना भी आवश्यक है, इस बात को बताने की दृष्टि से इसकी योजना की गई

१—जायसी-ग्रंथावली—भूमिका, पृ० ७१।

है। छठी, सारस्वत नगरवासियों की कैलाश-यात्रा वाली उपकथा द्वारा समस्त पात्रों को एकत्रित करके समन्वय एवं 'समरसता' का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार भौतिक जीवन का चित्र दिखाकर आध्यात्मिक जीवन की ओर उन्मुख करने के लिए प्रसादजी ने समस्त उपकथाओं एवं घटनाओं को एक क्रम-बद्ध रूप में प्रस्तुत किया है और वे सभी यहाँ मुख्य कथा के अंग रूप में विद्यमान हैं।

रसात्मक वस्तु-वर्णन—प्रबंध-काव्य के लिए तीसरी आवश्यक वस्तु 'रसात्मक वस्तु-वर्णन' मानी गई है। इन वस्तु-वर्णनों में मानव-जीवन की सुख-दुख-पूर्ण अवस्थाओं के भव्य चित्र दिये जाते हैं, जिन्हें पढ़ते ही हमारी रागात्मिका-वृत्ति झंकृत हो उठती है तथा हम आनन्द-विभोर हो जाते हैं। इतिहास एवं प्रबन्ध-काव्य में अन्तर उपस्थित करने वाली यही वस्तु-वर्णन-गत रसात्मकता है। इन रसात्मक वर्णनों की प्रशंसा करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं—'प्रबन्ध-काव्य में मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता। उसके लिए घटना-चक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत् चित्रण होना चाहिए, जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ हो।'[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी में प्रसाद जी ने ऐसे ही रसात्मक वर्णनों को अधिक अपनाया है, जो हमारे मनोभावों का सुन्दर रूप प्रस्तुत करते हैं तथा जो रसोद्बोधन में पूर्ण सहायक हैं। 'चिन्ता' सर्ग का चिन्ता नामक मनोभाव का वर्णन, देवों की विलास-वासना तथा जल-प्लावन आदि के चित्रण, 'आशा' सर्ग के उषाकाल, हिमालय, चन्द्रज्योत्स्नापूर्ण रजनी आदि के साथ-साथ मनु के अन्तर्द्वन्द्व का वर्णन, 'श्रद्धा' सर्ग का श्रद्धा का रूप-चित्रण, मानवता का सदेश आदि और 'काम' सर्ग का यौवन एवं वसंत का मिला-जुला वर्णन अत्यन्त सरस एवं मनोमोहक है। ऐसे ही 'लज्जा' सर्ग में लज्जा का चित्रण, 'कर्म' सर्ग का मानवती श्रद्धा का निरूपण, 'इडा' सर्ग का इडा-सौंदर्य-चित्रण, 'संघर्ष' सर्ग का क्रान्ति-वर्णन, 'दर्शन' सर्ग का ताण्डव-नृत्य-वर्णन, 'आनन्द' सर्ग का कैलाश-सुषमा-वर्णन आदि कितने ही ऐसे स्थल प्रसादजी ने चुने हैं, जहाँ जीवन की विविधता के साथ-साथ मनोभावों के सुन्दर चित्र

१—जायसी-ग्रंथावली—भूमिका, पृ० ६६-६७।

अंकित किये गये हैं। उदाहरण के लिए नीचे 'काम' सर्ग का यौवन और वसंत का आह्लादकारी वर्णन दिया जाता है —

मधुमय वसंत, जीवन वन के, वह अंतरिक्ष की लहरों मे,
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरों मे।
क्या तुम्हे देखकर आते यो, मतवाली कोयल बोली थी !
उस नीरवता मे अलसाई कलियों ने आँखें खोली थीं।
जब लीला से तुम सीख रहे कोरक कोने मे लुक रहना,
तब शिथिल सुरभि से धरणी मे बिछलन न हुई थी ? सच कहना।
जब लिखते थे तुम सरस हँसी अपनी, फूलो के अचल मे,
अपना कलकंठ मिलाते थे झरनो के कोमल कल-कल मे।
निश्चित आह ! वह था कितना उल्लास, काकली के स्वर मे !
आनंद प्रतिध्वनि गूँज रही जीवन दिगन्त के अम्बर में।

ऐसे ही अनेक रसात्मक वर्णन कामायनी मे मिलते हैं। शुक्लजी के कथनानुसार ये ऐसे विराम-स्थल हैं, जो मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का उद्बोधन कर सकते हैं, उसके हृदय को भाव-मग्न कर सकते हैं तथा जिनके परिणाम-स्वरूप सारे प्रबन्ध-काव्य मे रसात्मकता आजाती है।[1] इतना अवश्य है कि ये रसात्मक स्थल कामायनी मे इतनी अधिक संख्या मे मिलते हैं कि इनके कारण कथा मे शिथिलता आ गई है, किन्तु ये विराम-स्थल विराम चिन्हों की भाँति आवश्यक भी हैं और कथा-प्रवाह मे अधिक बाधक न होकर साधक ही सिद्ध हुए हैं।

सम्बन्ध-निर्वाह—यद्यपि कामायनी मे भावात्मक वर्णनों का ही प्राधान्य है और सर्वत्र मनोभावों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्र प्रस्तुत करने की ओर ही कवि का ध्यान अधिक गया है, तथापि कामायनी के कथा-सूत्रों को कवि ने ऐसे क्रम-बद्ध रूप में संगुम्फित करके प्रस्तुत किया है कि कथा विशृंखलित नहीं हुई है। इतना अवश्य है कि कथा-सूत्र कुछ दूर जाकर जोड़े गये हैं। जैसे 'लज्जा' सर्ग मे कथा बिल्कुल टूटी हुई सी जान पड़ती है और वह सर्ग काव्य से पृथक् सा जान पड़ता है, परन्तु उस सर्ग का भी अपना महत्व है। उसमें लज्जा नाम के मनोभाव का काव्यमयी शैली में दिग्दर्शन कराया गया है और अन्त मे जाकर कथा-सूत्र भी जोड़ दिया है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रासंगिक कथाओं के देखने पर भी यही जान पड़ता है कि उनमें विशृंखलता नहीं दिखाई देती। रसात्मक एवं भावात्मक वर्णनों का आधिक्य होने के कारण कामायनी मे विराम-स्थल निस्संदेह अधिक आ गये हैं और कुछ तो अनावश्यक भी प्रतीत होते हैं, परन्तु सभी वर्णन अत्यधिक

१—जायसी-ग्रन्थावली—भूमिका, पृ० ७३।

रसात्मक होने के कारण अरुचिकर नहीं जान पड़ते। इस आधिक्य का कारण यह है कि यहाँ पर प्रसादजी ने जायसी आदि पूर्ववर्ती कवियों की भाँति न तो पक्षियों, फलों, फूलों घोड़ों, पकवानों आदि की लम्बी-लम्बी सूचियाँ दी हैं और न सोलह शृंगारों एवं नख शिख के पूर्वकालीन विस्तृत वर्णन ही दिये हैं, अपितु उन्होंने आधुनिक पाठक की रुचि को ध्यान में रखकर मानवीय भावनाओं के संक्षिप्त, किन्तु हृदय-स्पर्शी वर्णन प्रस्तुत किए हैं, जिनमें यत्र-तत्र प्रकृति-चित्रण भी सजीवता के साथ आ गये हैं और जो किसी न किसी प्रकार से मुख्य कथा में गति एवं मोड़ उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। उनके अधिकांश वर्णन तो भावनाओं पर ही आधारित हैं और वे प्रबन्ध-काव्य के अभिन्न अंग जान पड़ते हैं। जैसे चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना आदि के वर्णन सभी मनोभावों एवं भावनाओं के चित्र प्रस्तुत करते हैं जो मनोवैज्ञानिकता एवं यथार्थता से ओत-प्रोत हैं और जिनके पृथक् कर देने से इस प्रबन्ध-काव्य की धारा विच्छिन्न हो सकती है। इतना ही नहीं, इनके द्वारा कवि ने अपने उद्देश्य का उद्घाटन करते हुए बड़े संतुलन के साथ उत्तम भावात्मकता का प्राधान्य दिखाया है। इसी कारण ये रसात्मक स्थल प्रसादजी के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध हुए हैं और *उनके द्वारा कथा- सम्बन्ध भी विशृंखलित नहीं हो पाया है।*

'कार्य' की दृष्टि से एकरूपता—प्रबन्ध-काव्य में 'कार्य' की दृष्टि से समस्त इतिवृत्त की एकरूपता का होना अत्यावश्यक माना जाता है। इसी एकरूपता को लाने के लिए भारतीय आचार्यों ने नाटकीय संधि आदि की योजना भी प्रबन्ध-काव्य के लिए आवश्यक बतलाई है। इसी एकरूपता के लिए पश्चिमी आचार्य अरस्तू ने भी आदि, मध्य और अवसान की स्फुट योजना द्वारा कार्य-संकलन पर जोर दिया है। साधारणतया जितना महान् 'कार्य' होता है, उसी के अनुरूप घटनाओं एवं वर्णनों की भी योजना की जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जितना महान् 'कार्य' रामचरितमानस में रावण का वध तथा 'पद्मावत' में पद्मिनी का सती होना है, उतना ही महान् 'कार्य' कामायनी में 'मनु का आनन्द प्राप्त करना' है। इस आनन्द को हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग में से मोक्ष के समकक्ष ठहरा सकते हैं, क्योंकि एक मुमुक्षु की भाँति मनु भी प्रारम्भ से ही उनके लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं और अन्त में अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करके उसने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त इस 'कार्य' का प्रभाव नैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इस प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए ही कामायनी की समस्त घटनायें नियोजित की गई हैं। प्रारम्भिक जलप्लावन वाली घटना से लेकर अन्तिम कैलाश-यात्रा तक की समस्त घटनाओं का विर-

लेषण करने पर जान पड़ता है कि देव-सृष्टि का विनाश एवं उसके परिणाम-स्वरूप मनु की चिन्ता ही इस 'कार्य का 'बीज' है, जो क्रमशः श्रद्धा का संयोग पाकर अंकुरित होता हुआ धीरे-धीरे एक लघु वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इड़ा के समीप मनु के आते-आते उस बीज का पूरा-पूरा विकास हो जाता है। 'संघर्ष' सर्ग से कथा 'कार्य' की ओर उन्मुख होने लगती है और अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में स्पष्ट ही हमें सर्वत्र आनन्द के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार *कार्य-संकलन द्वारा समस्त कामायनी की कथा एक प्रमुख उद्देश्य अथवा 'कार्य' की ओर उन्मुख दिखाई देती है, जिसमें उद्देश्य-पूर्ति के साथ-साथ कार्य-सम्बन्धी* एकरूपता के भी स्पष्ट दर्शन होते हैं।

प्रबन्ध-काव्य के भेद और कामायनी—भारतीय साहित्य-शास्त्रों में प्रबन्ध-काव्य के दो भेद माने गये हैं—खंडकाव्य तथा महाकाव्य। जिनमें से खंडकाव्य में किसी एक घटना को ही महत्व देकर जीवन के किसी एक पहलू की झाँकी की जाती है, जबकि महाकाव्य में आकार की विशालता के साथ-साथ भावों की उदारता रहती है और उसमें जीवन की अनेकरूपता के साथ-साथ जातीय जीवन की झलक दिखाई जाती है।[1] कालिदास का 'मेघदूत', गुप्तजी का 'अनघ' और 'जयद्रथ-वध' खंडकाव्य की कोटि में आते हैं और 'रामायण,' 'रघुवंश,' 'साकेत' आदि महाकाव्य कहलाते हैं। इस आधार पर विचार करें तो पता चलेगा कि कामायनी की कथा में जीवन की कोई एक घटना संकलित नहीं है, अपितु जीवन की विविध घटनाओं को संकलित करके मानव-जीवन का पूरा चित्र प्रस्तुत किया गया है। अतः यह काव्य खंड-काव्य नहीं, वरन् महाकाव्य की कोटि में ही आ सकता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने प्रबन्ध काव्य को विवरणात्मक काव्य (Narrative Poetry) कहा है और उसके चार भेद बतलाए हैं—ग्राम्य-गीत (Ballad), महाकाव्य (Epic), *पद्यमय रोमांस (Metrical Romance) और अभिनयात्मक काव्य (Dramatic Poetry)*। इनमें से महाकाव्य के पुनः दो भेद स्वीकार किए हैं—संचित महाकाव्य (Epic of Growth) तथा कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art)।[2] इस पाश्चात्य विभाजन के आधार पर कामायनी का विचार करें तो पता चलेगा कि यह काव्य ग्राम्यगीत तो नहीं है, क्योंकि न तो यह आकार में छोटा है, और न इसकी कथा में केवल ग्रामीण जीवन की ही झलक है, अपितु यहाँ तो ग्राम्य एवं नागरिक दोनों जीवनों का विस्तृत वर्णन मिलता

१—काव्य के रूप, पृ० ७।

२—An Introduction to the Study of Literature, pp.136-145.

है। दूसरे, इसे पद्यमय रोमास भी नही कह सकते, क्योकि यहां पद्यमय रोमांस की भाँति किसी एक वीर पुरुष की वीरता, साहस, पर्यटन, जादू आदि का ही एक-मात्र वर्णन नही है। तीसरे, न यह अभिनयात्मक काव्य ही हो सकता है, क्योकि सारा काव्य नाटक शैली में नहीं लिखा गया है, अपितु इसमे विश्लेषणात्मक शैली का ही प्राधान्य है और पात्रो के वार्त्तालाप की अपेक्षा कवि ने स्वय अधिक कहा है। अब केवल प्रबन्ध-काव्य का एक भेद महाकाव्य और रह जाता है, जिसके अनुकूल यह कामायनी काव्य दिखाई देता है। परन्तु उसके भेदो मे से भी यह सचित महाकाव्य तो हो नही सकता, क्योकि यह भिन्न-भिन्न काल म सचय करने वाले भिन्न भिन्न कवियो की रचना नही है, अपितु यह तो एक ही कवि द्वारा कलात्मक शैली म लिखा हुआ काव्य है। अत पाश्चात्य दृष्टि से इसे केवल कलात्मक 'महाकाव्य' कह सकते हैं।

महाकाव्य का स्वरूप—भारतीय साहित्य शास्त्रियो ने महाकाव्य की बडी विशद व्याख्या की है, जिनमे से आचार्य भामह का मत है कि महाकाव्य सर्ग-बद्ध हो, उसमे किसी महापुरुष के जीवन-चरित्र का वर्णन हो, उसम ग्राम्य शब्दो का प्रयोग न होकर उत्कृष्ट अर्थयुक्त अलङ्कृत शब्दो का प्रयोग हो, उसमे विजय-यात्रा, दूत प्रेषण, युद्ध विजय आदि का वर्णन हो, उसम चतुर्वर्ग तथा लौकिक अभ्युदय के साथ-साथ लोक-स्वभाव का वर्णन हो और उसमें नायक का वध नही दिखाया गया हो।[1] इसके अनन्तर आचार्य दडी ने उक्त लक्षणो के अतिरिक्त महाकाव्य की कुछ नई विशेषताओं का उल्लेख किया है और बताया है कि महाकाव्य के आरम्भ मे आशीर्वाद, नमस्कार अथवा वस्तु निर्देश हो। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारो फलो से युक्त हो। उसका नायक चतुर और उदात्त स्वभाव वाला हो। उसके अन्तर्गत नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, जल-क्रीडा, मधुगोष्ठी, रतोत्सव, सयोग, वियोग, विवाह, पुत्रोत्पत्ति आदि के वर्णन हो। वह रस, भावादि से परिपूर्ण हो। उसका प्रत्येक सर्ग अति विस्तृत न हो। उसके छन्द श्रव्य हो और वे इतावृत्तादि दोष से रहित हो। उसमे समस्त नाटक-सधियाँ भी हो और वह सर्वत्र विलक्षण वर्णनीय वृत्तान्तों से परिपूर्ण हो।[2] इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ कविराज ने भी महाकाव्य की कुछ नई बातो की ओर सकेत किया है। उनका मत है कि महाकाव्य का नायक उच्च कुलोद्भव क्षत्रिय या कोई देवता हो,

१—काव्यालकार १।१६—२३
२—काव्यादर्श १।१४—१६

जिसमें धीरोदात्त गुण हों। साथ ही एक ही कुल के अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं। उसमें शृङ्गार, वीर और शान्त-इन तीनो रसो में से किसी एक रस की प्रधानता हो और शेष रस अंग रूप से आये हो। दडी ने महाकाव्य के चारो फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष--का होना बतलाया है, परन्तु विश्वनाथ ने चारों फलों मे से किसी एक फल की प्राप्ति का आग्रह किया है। साथ ही यहाँ महाकाव्य के आरम्भ में आशीर्वाद आदि के साथ ही खल-निन्दा और सज्जन-प्रशंसा का होना भी आवश्यक बतलाया है। इसके अतिरिक्त उनका मत है कि प्रत्येक सर्ग मे एक छन्द हो, किन्तु अन्त मे वह बदल जाना चाहिए। सर्गों की संख्या कम से कम आठ हो और वे न अधिक विस्तृत हो और न अधिक संक्षिप्त। किसी एक सर्ग मे अनेक छन्द भी हो सकते हैं। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा सूचित होनी चाहिए। उसमें मुनि, स्वर्ग, पुर, यज्ञ आदि का भी वर्णन हो और उसका नामकरण कवि, नायक, इतिवृत्ति या अन्य किसी पात्र के आधार पर किया गया हो, परन्तु प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्य-विषय के आधार पर ही होना चाहिए।[1]

भारतीय विद्वानो के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य सम्बन्धी अनेक मतों का प्रतिपादन किया है। जिनमें से आचार्य अरस्तू का मत है, कि महाकाव्य विवरणात्मक हो, उसमें सर्वत्र एक ही छन्द का प्रयोग हो, उसकी कथा-वस्तु दुःखान्त काव्य की भाँति नाटकीय ढंग से सयोजित हो और आरम्भ, मध्य एवं अवसान से युक्त होकर एक प्राणी के अंग की भाँति सर्वांगपूर्ण हो, उसमें उचित रस और उचित शब्द-विधान हो, उसमें अनेक घटनाओं का वर्णन होकर भी कथानक सुसम्बद्ध हो, उसमें कौतूहल-वर्द्धक कुछ असम्भव एवं आश्चर्यजनक घटनाओं का भी वर्णन हो, उसकी कथा ऐतिहासिक हो, उसमें असंभव बातों का वर्णन भी ऐसा हो कि वे सत्य जान पड़ें तथा वह उचित आनन्द प्रदान करने वाला हो।[2] अरस्तू के अतिरिक्त वाल्टर पेटर ने महाकाव्य के लक्षणों पर विचार करते हुए लिखा है कि महाकाव्य मे विस्तृत परिधि, विविधता, महान् उद्देश्यों के साथ मैत्री, विद्रोह के स्वर की गहनता, आशा की विशालता, जन-कल्याण की वृद्धि के प्रयत्न, संतप्त प्राणियों की विपत्ति को दूर करने की चेष्टा, पारस्परिक सहानुभूति संवर्द्धन की भावना, प्राचीन एवं नवीन मानव-सत्यों का उद्घाटन, क्षणिक जीवन को सुखमय बनाने की योजना, मानवता की

१—साहित्य-दर्पण, ६।३०२

२—Poetics, pp. 46-50

आत्मा आदि का वर्णन होना चाहिए ।[1] इसके अलावा एबरक्रोम्बी का मत है कि महाकाव्य में सुन्दर महान् कथा हो, जिसका आधार ऐतिहासिक हो और जिसमे जीवन का महत्व प्रदर्शित किया गया हो, उसमे जीवन के तथ्यो के साथ-साथ कवि की मान्यताओ का भी उल्लेख हो, उसमे ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा काव्य के सत्य की प्रधानता हो, उसमे सुन्दर कथा द्वारा नाटकीय ढग से अन्तिम कार्य का वर्णन हो, उसकी रचना-शैली कलात्मक हो तथा वह सशक्त एव प्रवाहशील छन्दो से परिपूर्ण हो, वह विशाल हो, उसमे अप्राकृतिक तत्वों का भी वर्णन हो, उसम व्यष्टिगत प्रतीकात्मकता न होकर समष्टिगत प्रतीकात्मकता हो तथा उसमे मानव-जीवन के महान् उद्देश्यो का उद्घाटन हो ।[2]

इस प्रकार प्राच्य एव पाश्चात्य विद्वानो द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य सम्बन्धी सिद्धान्तो का समन्वय करने पर महाकाव्य की कुछ सर्व-स्वीकृत विशेषताएँ ज्ञात होती हैं, जिनमे प्राचीन युग की मान्यताओं के साथ-साथ आधुनिक युग की मान्यताएँ भी आजाती हैं और जिनके आधार पर आधुनिक महाकाव्य के स्वरूप का भी निश्चय किया जा सकता है ।

(क) वर्ण्य विषयगत विशेषताएँ—

(१) कथानक—महाकाव्य का कथानक इतिहास-सम्मत, विस्तृत एव श्रेष्ठ हो । उसमे अधिकाश यथार्थ घटनाओ का वर्णन हो और यदि कुछ कल्पित घटनाएँ भी हो, तो वे अस्वाभाविक न होकर सत्य सी प्रतीत हो । सभी प्रासगिक कथायें मुख्य कथा मे सुसम्बद्ध हो तथा उसमे लौकिक एव पारलौकिक सभी प्रकार की घटनाएँ दिखलाई गई हो ।

(२) नायक—महाकाव्य का नायक देवता या उच्चकुलोद्भव हो । वह चतुर, उदात्त, वीर एव जातीय जीवन की विशेषताओ से परिपूर्ण हो, क्योकि ऐसा होने से हृदय के साधारणीकरण मे सहायता मिलती है ।

(३) चरित्र चित्रण – उसमे प्रमुख पात्रो के चरित्र का विकास पूर्णरूप से दिखलाया गया हो ।

(४) प्रकृति चित्रण—उसमे उषा, सन्ध्या, रजनी, ऋतु आदि के वर्णनो के साथ-साथ प्रकृति के रमणीय एव भयकर दोनो रूपो का विस्तृत वर्णन हो ।

(५) युग-चित्रण—उसमे अपने युग के समाजगत धर्म एव राजनीति का चित्रण करते हुए मानव-कल्याण के हेतु महान् उद्देश्यों, पारस्परिक सहानुभूति, आशा की विशालता, पीड़ितो के कष्ट निवारण सम्बन्धी प्रयत्न, मानव-जीवन

1—Appreciations by Walter Pater, p 36

2—The Epic by L. Abercrombe, p p 52-69

के सत्य, मानवता, विश्वबंधुत्व, विद्रोह आदि का वर्णन हो। साथ ही दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के संघर्ष का भी विशद चित्रण हो।

(६) **भाव और रस**—उसमे मानव-मनोगत भावो एव नव-रसो का सुन्दर वर्णन हो, किन्तु शृङ्गार, वीर तथा शान्त रस मे से किसी एक रस की प्रधानता हो तथा अन्य सभी रस अग रूप मे आये हो।

(ख) कलागत विशेषताएँ—

(१) वह सर्गबद्ध हो। उसमे विस्तार के लिए आठ या आठ से अधिक सर्ग हो, किन्तु वे न अधिक लम्बे और न अधिक छोटे हो और प्रत्येक सर्ग के अन्त मे आगामी सर्ग की कथा सूचित की गई हो।

(२) वह विवरणात्मक हो, उसकी कथा बडी गभीरता एवं विस्तार के साथ कही गई हो तथा उसमे आरम्भ, मध्य एव अवसान स्पष्ट लक्षित हों।

(३) उसकी रचना नाटकीय ढग से की गई हो, परन्तु उसकी कथावस्तु मिश्रित एव सघर्षपूर्ण हो।

(४) उसकी शैली उत्कृष्ट एव कलात्मक हो, उसमे भाषा भव्य एवं शब्द-विधान उच्च कोटि का हो तथा उसमे परम्परागत विशेषणो, मुहावरो, कथन-प्रणालियों, शब्द-शक्तियो आदि का प्रयोग हो।

(५) उसमे छन्दो या वृत्तो का प्रयोग सुन्दर हो, वे श्रव्य तथा इतवृत्तादि दोषों से रहित हो, उसके एक सर्ग में एक ही छन्द हो अथवा किसी एक सर्ग मे विभिन्न छन्दों का भी प्रयोग हो।

(६) उसमे प्रतीकात्मकता हो, किन्तु वह व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत हो तथा उससे न तो मानव-अनुभूति की यथार्थता नष्ट हुई हो और न कथा के धारा-प्रवाह में ही कुछ बाधा हो।

(७) उसमे अलकारो का प्रयोग भी भावानुकूल एवं भावोत्कर्ष विधायक हो।

(८) उसका नामकरण कवि, इतिवृत्त, नायक या किसी प्रमुख पात्र के आधार पर किया गया हो।

कामायनी का महाकाव्यत्व—कामायनी का निर्माण केवल भारतीय प्राचीन लक्षणो के आधार पर ही नहीं हुआ है, अपितु युग की परिवर्तनशील विचार-धाराओं को अपनाते हुए आधुनिक मान्यताओ के आधार पर भी हुआ है। कामायनी से पूर्व आधुनिक युग में 'प्रियप्रवास' तथा 'साकेत' बहुत कुछ प्राचीन मान्यताओ को लेकर ही लिखे गये हैं, परन्तु उनमें भी युग के परिवर्तनशील विचारों की यत्किंचित् छाप विद्यमान है। जैसे 'प्रियप्रवास' मे अन्य सभी प्राचीन

मान्यताओ को अपनाते हुए भी न तो आरम्भ मे मगलाचरण है और न आशीर्वाद, नमस्कार आदि के द्वारा वस्तुनिर्देश ही किया गया है। इतना ही नही, कथावस्तु की योजना मे भी नवीनता लाते हुए उसे स्मृति के रूप मे अधिक प्रस्तुत किया गया है। ऐसे ही 'साकेत' मे भी अन्य सभी प्राचीन मान्यताओं के होते हुए भी नवम सर्ग मे प्रगीत मुक्तक की नूतन प्रणाली को अपनाया गया है। इस तरह कामायनी से पूर्व ही परिवर्तन लक्षित होने लगा था, परन्तु 'कामायनी' के आते-आते प्राचीन रूढियो एव मान्यताओं में और भी अधिक परिवर्तन हुआ। यही कारण है कि 'कामायनी' आधुनिक युग की परिवर्तित विचारधारा के आधार पर निर्मित महाकाव्य है, जिसमे भारतीय एव पाश्चात्य दोनों देशो की अधिकाश प्राचीन और नवीन मान्यताओं के दर्शन होते हैं।

कथानक—कामायनी का कथानक इतिहास-सम्मत है तथा आदि-मानव की जीवन-गाथा से सम्बन्धित होने के कारण श्रेष्ठ भी है। परन्तु इतना अवश्य है कि यह कथानक अधिक विस्तृत नही है। श्रद्धा और मनु की जीवन-गाथा अत्यन्त लघु है, उसमे कथानक का इतना विस्तार नही है, जितना कि एक महाकाव्य के लिए होना चाहिए, परन्तु प्रसादजी ने उस लघु कथानक को भावो के वर्णन तथा आधुनिक मानव जीवन की विषमताओ के चित्रण द्वारा विस्तृत कर दिया है। इसका मूल कारण यह है कि एक तो मनु और श्रद्धा की विस्तृत कथा मिलती नही, दूसरे प्रसादजी अन्तर्मुखी कवि हैं, अत उन्हें कथा कहने में उतना रस नही मिलता, जितना भावना-व्यापार के विश्लेषण और जीवन-समस्याओ के सुलझाने मे मिलता है।[1] इसके साथ ही मनु, श्रद्धा तथा इडा के लौकिक जीवन का चित्रण करते हुए उसमे कुछ अलौकिक घटनाओं के वर्णन द्वारा चमत्कार भी उत्पन्न किया गया है। जैसे, देव-सृष्टि, प्रलय, रुद्र का कोप एव मनु पर बाण-सधान, ताडव नृत्य, त्रिपुर या त्रिकोण इत्यादि के वर्णन। इसके अतिरिक्त कथानक के ऐतिहासिक आधार, शास्त्रीय विधान आदि के बारे मे पिछले प्रकरण मे पर्याप्त कहा जा चुका है।[2] इन सभी आधारो पर यही ज्ञात होता है कि कामायनी का कथानक लघु होते हुए भी एक महाकाव्य के अनुकूल है, उसमें मनु और श्रद्धा की जीवन-गाथा के सहारे आधुनिक मानव के बौद्धिक एव भावात्मक चित्र अकित किये गये हैं, जिनमे यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है और जो समग्र मानव-जीवन के अन्तर्बाह्य स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

१—कामायनी-दर्शन, पृ० १२२।

२—देखिए, प्रकरण २, पृ० ५३ तथा ८६।

नायक—कामायनी के कथा-नायक मनु हैं। वे देव पुरुष हैं। अतः उच्च कुलोद्भव है। परन्तु अन्य आदर्शवादी काव्यों की भाँति उनमे धीरोदात रूप के दर्शन नहीं होते। इतना अवश्य है कि वे निश्चिन्त, सुखी, मृदुल स्वभाव एव नये-नये प्रेम में लिप्त रहने वाले एक शासक होने के कारण धीरललित नायक हो सकते हैं। यहाँ पर मनु के जीवन मे दुर्बलता-सबलता, निकृष्टता-उत्कृष्टता आदि का समावेश किया गया है। इसका मूल कारण यह है कि प्रसादजी अपने नायक को अति-मानव बनाना नही चाहते, वे उसे जन-जीवन के अधिक निकट लाना चाहते हैं, उन्हे आदर्शवादी महाकाव्यो की भाँति नायक मे केवल गुण ही गुण दिखाना अभीष्ट नही, वे एक साधारण व्यक्ति की भाँति उसमे सात्विकी, राजसी एवं तामसी प्रवृत्तियो का रूप दिखाना अच्छा समझते है, दूसरे मनु मन के भी प्रतीक हैं। इसी रूपकत्व का निर्वाह करने के लिए भी इन दुर्बलताओं का दिखाना आवश्यक समझा है। और फिर किस प्रकार एक मानव अपनी तामसी एव राजसी प्रवृत्तियो से ऊपर उठता हुआ सात्विक जीवन व्यतीत कर सकता है, वे इस भावना का प्रचार करना चाहते हैं। इसीलिए प्रसादजी ने कामायनी के नायक मे उदात्त एव अनुदात्त, साधारण और असाधारण, उत्कृष्ट और निकृष्ट सभी प्रकार की मनोवृत्तियाँ दिखलाई हैं और अन्त में सात्विकता की उन्नतावस्था मे पहुँचाकर मानव-मात्र के सम्मुख यह आदर्श उपस्थित किया है कि मानव कितना ही पतित एव निकृष्ट क्यो न होजाय, वह श्रद्धा-सहित इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वित स्वरूप को अपनाता हुआ पुनः एक महा-पुरुष बन सकता है, उसके जीवन मे समरसता आ सकती है, वह संतुलित जीवन व्यतीत कर सकता है और अन्त मे जीवन का परमानन्द भी प्राप्त कर सकता है। अतः कामायनी के नायक मे जातीय गुणो का समावेश अधिक है और उसे आदि-मानव या किसी काल-विशेष का पुरुष न बनाकर सार्वदेशिक एवं सार्व-कालिक नायक बनाने का प्रयत्न किया गया है। प्रसादजी का यह प्रयत्न आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के अनुकूल ठहरता है, जो आधुनिक-युग की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। परन्तु 'कामायनी' नायक-प्रधान-काव्य न होकर नायिका-प्रधान-काव्य है और इस काव्य की नायिका श्रद्धा है। उसमे कवि ने लगभग उन सभी गुणों का समावेश किया है, जिनका लक्षण शास्त्रों में मिलता है तथा जिनका काव्य के 'नेता' मे होना सर्वथा अपेक्षित है। इसी कारण कामायनी की नायिका मे हमे शास्त्रानुकूल नेता की समग्र विशेषताएँ दिखाई देती हैं, किन्तु यहाँ नायक सर्वथा आधुनिक विचारधारा के अनुकूल रखा गया है।

चरित्र-चित्रण—आधुनिक काव्यों एवं नाटको की सबसे बड़ी विशेषता ही यह है कि उनमे रस अथवा कथा-संकलन की ओर अधिक ध्यान न देकर

चरित्र-चित्रण की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। परन्तु कामायनी में ऐसा नहीं है। यहाँ पर रस की ओर ध्यान देते हुए ही पात्रों के चारित्रिक विकास को दिखाने का प्रयत्न हुआ है। इतना अवश्य है कि इस काव्य में पात्रों की संख्या अधिक नहीं है और थोड़े से पात्रों का ही चरित्र-चित्रण मिलता है। कामायनी के इन पात्रों के चारित्रिक विकास का विस्तृत विवेचन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है।[1] यहाँ इतना बतला देना ही अभीष्ट है कि कामायनी के ये पात्र सम्पूर्ण मानव-जगत की चित्तवृत्तियों एवं स्त्री-पुरुषों का प्रतिनिधित्व करते हैं और प्रसादजी ने इन अल्प पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा ही मानव-मात्र की चारित्रिक विशेषताओं, बारीकियों, उत्थान-पतन में सहायक प्रवृत्तियों आदि का सुन्दर विवेचन किया है। अतः उनका यह चरित्र-चित्रण भी महाकाव्य के सर्वथा अनुकूल है।

प्रकृति चित्रण—भारतवर्ष प्राकृतिक सौंदर्य का अक्षय भण्डार है। यहाँ के वन, पर्वत, नदी, नद, पशु पक्षी, ऋतुयें आदि सभी प्रकृति की अनन्त रमणीयता की झाँकी उपस्थित करते हैं और इसी अनन्त रमणीय प्रकृति की सौंदर्यशालिनी गोद में भारतीय कविता का जन्म हुआ है। यही कारण है कि भारतीय कविता में प्रारम्भ से ही प्रकृति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान है। परन्तु हिन्दी कविता के प्रारम्भिक कालों में प्रकृति-चित्रण के प्रति कुछ उदासीनता ही अधिक रही है। वहाँ प्रकृति के स्वतन्त्र एवं उन्मुक्त चित्रों की अपेक्षा उसके उद्दीपन रूप की ही चर्चा अधिक मिलती है, क्योंकि अधिकांश स्थलों पर प्रकृति का प्रयोग वियोग वर्णन में हुआ है और वहाँ पर प्रकृति नायिका या नायक को संतप्त, व्यथित एवं उत्तेजित करती हुई दिखलाई गई है। इधर आधुनिक युग में आकर प्रकृति-चित्रण की प्रणाली में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है और उसमें सजीवता, चेतनता, मार्मिकता आदि के दर्शन करके कवियों ने प्राकृतिक जगत के सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापारों का अत्यन्त विशद एवं विस्तृत वर्णन किया है। प्रकृति-चित्रण की साधारणतया दस प्रणालियाँ प्रचलित हैं—(१) आलम्बन रूप में, (२) मानवीकरण के रूप में, (३) उद्दीपन रूप में, (४) संवेदनात्मक रूप में, (५) वातावरण-निर्माण के रूप में, (६) रहस्यात्मक रूप में, (७) प्रतीकात्मक रूप में, (८) अलंकार-रूप में, (९) लोकशिक्षा के रूप में, और (१०) दूती-रूप में।

आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण करने की दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं—बिम्बग्रहण-प्रणाली तथा नाम-परिगणन प्रणाली। प्रथम के द्वारा प्रकृति का एक

---

[1]—देखिए, प्रकरण २, पृ० १०२–१२६।

ऐसा संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें कवि कल्पना का पूरा-पूरा प्रयोग करता हुआ अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण प्रकृति के रम्य एव भयानक रूप की झाँकी दिखाता है, किन्तु दूसरी प्रणाली के अनुसार प्रकृति के वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि के केवल नाम ही गिना दिये जाते है और कोई सामूहिक प्रभाव उपस्थित करने का प्रयत्न नही किया जाता है।[1] कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी मे उक्त प्रणालियो मे से प्रथम 'बिम्बग्रहण-प्रणाली' का ही प्रयोग अधिक हुआ है, जिसमे प्रकृति के भयानक एव रमणीक दोनो रूपो के संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किए गये है। 'चिन्ता' सर्ग का प्रलय-वर्णन प्रकृति के भयानक रूप का उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसमे प्राकृतिक शक्तियो के आकुचन-विकुचन प्राकृतिक पदार्थों के आलोडन-विलोडन, भयंकर मेघो के गर्जन-तर्जन, करका-क्रदन, पचभूत के भैरव मिश्रण, जलधि-लहरियों के आरोहण-अवरोहण आदि का ऐसा चित्र अकित किया गया है, जिसमे भयानक रूपों के दर्शन के साथ-साथ उनकी हृदय को कंपा देने वाली ध्वनियो को भी स्पष्ट सुना जा सकता है।[2] ऐसा ही भयकर रूप नटराज के ताडव नृत्य का वर्णन करते हुए अकित किया गया है, जिसमे अलौकिक प्रकाश के अविरल कल्लोल के साथ-साथ तारागण, हिमकर, दिनकर, भूधर आदि का धूल के कणो के तुल्य उडना, असंख्य गोल ब्रह्माडो का बिखरना, सस्मृति का काँपना, चेतन परमाणुओ का बिखरना, बनना और विलीन होना, प्रकृति का गल-गल कर कान्ति-सिंधु मे मिलना आदि दिखलाया गया है।[3] इन भयानक रूपो के अतिरिक्त आशा सर्ग मे चन्द्र-ज्योत्स्ना पूर्ण निशीथ का वर्णन, काम सर्ग मे तारो के फूलो मे सुसज्जित रजनी का वर्णन, रहस्य सर्ग मे पर्वत-प्रदेश का वर्णन तथा आनन्द सर्ग मे पर्वत-घाटी का वर्णन प्रकृति की रमणीय छटा को प्रस्तुत करते हैं।[4]

१—चिन्तामणि, भाग २, पृ० ३।

२—हाहाकार हुआ क्रदन मय कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव बार-बार होता था क्रूर।
दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के,
सघन गगन में भीम प्रकम्पन झंझा के चलते झटके।
करका क्रंदन करती गिरती और कुचलना था सबका,
पंचभूत का यह ताण्डवमय नृत्य हो रहा था कबका।
—चिन्ता सर्ग, पृ० १३-१५।

३—कामायनी, पृ० २५२-२५४।

४—वही, पृ० ३४, ६५-६८, २४७-२५८, २८३-२८५।

कामायनी मे इन भयानक तथा रमणीक रूपो के अतिरिक्त प्रकृति के मानवीकरण रूप की झाँकी भी कितने ही स्थलो पर मिलती है, जिनमे प्रकृति के अनन्त सौंदर्य के साथ-साथ उसके मानवोचित व्यापारो का भी सूक्ष्म विवेचन किया गया है। जैसे, 'आशा' सर्ग का प्रभात, हिमालय एव अभिसारिका रजनी का वर्णन, 'वासना' सर्ग का सध्या-काल का वर्णन, 'इडा' सर्ग का सरस्वती नदी का वर्णन, 'रहस्य' सर्ग तथा 'आनन्द' सर्ग का कैलास शिखर का विस्तृत वर्णन आदि। कामायनी के इन रम्य चित्रणो मे सर्वत्र चेतन प्रकृति के सजीव व्यापारो का उल्लेख हुआ है, जिनमे कही प्रकृति हँसती, इठलाती, क्रीडा करती, प्रबुद्ध होती, अँगडाइयाँ लेती सकुचित होकर मान करती दिखलाई गई है [1] तो कही अनन्त-ज्योत्स्ना से सुसज्जित होकर अभिसार के लिए जाती हुई, खिल-खिलाकर हँसती हुई, घूँघट उठाकर मुस्कराती हुई, मन्दोन्मत्त होकर रूपगर्विता की भाँति मतवाली चाल मे चलती हुई चित्रित की गई है।[2] इसी तरह कही प्रकृति के हास-विलास का ऐसा सजीव चित्रण है कि जिसमे मधुर गधवह के मगल गान करने, वल्लरियो के नाचने, मदमाते मधुकरो के नूपुर सदृश गूँजने, मलयानिल के बहने, सुमनो के झडने, रश्मियो के अप्सरा तुल्य नृत्य करने आदि का वर्णन मिलता है।[3] प्रकृति के इन सजीव चित्रो मे सर्वत्र चेतनता का प्राधान्य है और वह मानव-जगत के तुल्य ही हास-विलास, आनन्द-उल्लास आदि मे परिपूर्ण चित्रित की गई है। हिमालय के वर्णन में स्पष्ट ही एक अयत शोभा-शाली, स्वस्थ एव निर्विघ्न राजा का सा चित्र अकित किया गया है, जिसका ऐश्वर्य सर्वत्र व्याप्त है, जो सदैव सुख स्वप्न देखता रहता है, झरनो के रूप मे जिसकी हँसी प्रगट होती है और पवन शिला-सधियो से टकरा कर गूँजता हुआ

१—वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से,
× × × ×
नेत्र निमीलन करती मानो प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।
—आशा सर्ग, पृ० २३-२४।

२—किस दिगन्त रेखा मे इतनी सचित कर सिसकी सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही सी चली जा रही किसके पास।
× × × ×
घूँघट उठा देख मुसक्याती किसे ठिठकती सी आती,
विजन गगन मे किसी भूल सी किस को स्मृति पथ मे लाती।
—आशा सर्ग, पृ० ३९-४०।

३—कामायनी (आनन्द सर्ग), पृ० २६१-२६४।

जिसकी दुर्भेय अचल दृढ़ता का प्रचार एक चारण ने रूप मे किया करता है।[1] इन चित्रणो में सर्वत्र मानवीकरण का रूप अपनाया गया है और प्रकृति के सजीव व्यापारो का चित्रण करते हुए उसकी जडता का सर्वथा निराकरण करके सर्वत्र एक व्यापक चेतनता को विलास करते हुए सिद्ध किया है।

कामायनी मे प्रकृति के उद्दीपन रूप की झाँकी भी मिलती है। यहाँ पर भी वह सयोग के अवसर पर हर्ष एव उल्लास को द्विगुणित करती हुई तथा वियोग के अवसर पर सतप्त एव व्यथित बनाती हुई चित्रित की गई है। श्रद्धा एवं मनु के मिलन के समय का प्रकृति-चित्रण अत्यत भावोत्पादक है, जिसमे ऊँची-ऊँची शिखरों का व्योम को चुम्बन करना, सृष्टि का मद-मद मुस्कराना, उसकी आँखो मे अनुराग का खिलना, चद्रिका का राग-रजित होना, देवदारु-निकुजो का मुधा में स्नान करके रात्रि-जागरण के उत्सव का मनाना, भीनी-भीनी मदिर माधवी गंध का आना, मधु-अंध पवन का बहना, निशा की कान्त छाया का शिथिल होकर अलसाते हुए शिशिर कण की सेज पर सोना आदि का वर्णन किया गया है।[2] प्रकृति का यह राग-रजित रूप मनु एव श्रद्धा दोनो के हृदय में अनुराग एवं उल्लास को उद्दीप्त कर देता है और वे प्रणय-सूत्र मे बँध जाते हैं। इसी तरह वियोग के अवसर पर प्रकृति विरही जनो को सतप्त करती हुई भी चित्रित की गई है। जैसे, चन्द्र ज्योत्स्ना से पूर्ण निशीथ मे जब एकाकी जीवन व्यतीत करने वाले मनु की आँखें खुलती हैं, तब वह धवल, मनोहर चन्द्रबिम्ब से अकित रात्रि उनके हृदय को आकर्षित करके अनादि वासना को जगा देती है, जिससे उनका सयमित जीवन तृषित एव व्याकुल हो उठता है, वह शून्यता उनके रिक्त जीवन पर अट्टहास करने लगती है, 'धीर समीर परस' से उनका श्रान्त शरीर पुलकित होकर विकल हो उठता है और मनु का मन संवेदन से चोट खाकर बेचैन हो जाता है।[3]

यहाँ प्रकृति के सवेदनात्मक रूप का चित्रण भी पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। प्रसाद प्रकृति के सजीव व्यापारो का कुशलता के साथ चित्रण करते हैं। यही कारण है कि वे उसे मानव-जीवन के अत्यंत निकट लाते हुए मानव के साथ-साथ रोने एव हँसते हुए दिखाना नहीं भूलते। कामायनी के कितने ही स्थलों पर प्रकृति मानव के रुदन के साथ रोती हुई और हास के साथ हँसती हुई चित्रित की गई है। उदाहरण के लिए 'स्वप्न' सर्ग मे आया हुआ श्रद्धा का वियोग-वर्णन लिया जा सकता है, जिसमे वियोगिनी श्रद्धा को व्यथित एव

१—कामायनी, पृ० २६। २—कामायनी, पृ० ८८।
३—वही, पृ० ३४–३६।

बेचैन देखकर सन्ध्या भी अरुण जलज-केसर से मन बहलाना बद कर देती है, क्षितिज के भाल से भी कुकुम मिट जाता है और वह भी श्रद्धा की भाँति शृगार-हीन बन जाती है, श्रद्धा की दुखभरी गाथा को सुनते-सुनते पर्वत भी तृण-गुल्मो के रूप मे रोमाचित हो जाते हैं और उसकी सूनी आहो के साथ-साथ वे भी आह भरते हुए दिखलाई देते हैं।[1] इसी तरह 'आनन्द' सर्ग मे जिस समय मनु का सारा परिवार कैलाश गिरि पर आ एकत्र होता है और सभी आनन्द एव उल्लास म परिपूर्ण दिखाई देते है, उस समय प्रकृति मे भी आनन्द एव उल्लास की एक ऐसी लहर दौड जाती है, जिससे मधुर मिलन के उच्छ्वास गगन के प्रांगन मे अभिनव मगल गीत गाने लगते हैं, बल्लरियाँ नाचने लगती हैं, मधुप गूँजते हुए वीणा सी बजाने लगते हैं, हिमशिलाओ से टकराता हुआ समीर अत्यत मधुर मृदग बजाने लगता है और प्रकृति म गीत, नृत्य, वाद्य आदि के कारण एक मनोहर सगीत की सृष्टि हो जाती है।[2] इस प्रकार प्रकृति के भावाक्षिप्त रूप की झाँकियो द्वारा कामायनी मे स्थल-स्थल पर उसके सवेदनात्मक चित्रण किय गये हैं।

कामायनी म प्रकृति का प्रयोग वातावरण-निर्माण के लिए भी हुआ है। वातावरण-निर्माण के लिए प्रसादजी ने प्रकृति को इस तरह चित्रित किया है कि उसके द्वारा अनायास ही आगामी गभीरता एव प्रसन्नता का पता पाठक या श्रोता को चल जाता है। बहुधा निर्जन, एकान्त एव शोकपूर्ण वातावरण के निर्माण के लिए गभीर प्रकृति का स्वरूप अकित किया जाता है और आनन्द, उल्लास एव उमग का वातावरण दिखलाने के लिए प्रसन्न एव प्रफुल्ल प्रकृति का रूप चित्रित किया जाता है। कामायनी मे दोनो प्रकार से वातावरणों की सृष्टि म प्रकृति का उपयोग हुआ है। जैसे, कामायनी के आरम्भ मे नीरव, शान्त एव गभीर वातावरण का निर्माण करने के लिए दूर-दूर तक विस्तृत हिम का स्तब्ध होना, नीरवता तुल्य शिला-चरण मे पवन का टकराते फिरना, प्रलय-सिंधु की लहरियो का सकरुण अवसान होना, ठिठुरे हुए दो चार देवदारु के वृक्षो का शान्त खडे रहना आदि चित्रित किया है।[3] जिससे स्पष्ट ही एक शान्त, गभीर एव निर्जन प्रदेश का आभास मिल जाता है। इसी तरह उल्लास एव उमग का वातावरण निर्माण करने के लिए 'आशा' सर्ग मे प्रारम्भ से ही उषा को सुनहले तीर बरसाती हुई जयलक्ष्मी के समान उदित होते हुए, व्यस्त प्रकृति को फिर से हँसते हुए, नवीन कोमल आलोक को हिम-सपृक्त पर बिखरते

१—कामायनी, पृ० १७६। २—वही, पृ० २६२-२६३।
३—वही, पृ० ३।

हुए, अलसाई वनस्पतियों को जगते हुए तथा पवन को निश्चिंतता के साथ मृदु साँस लेते हुए दिखलाया गया है।[1] कामायनी में प्रकृति के द्वारा ऐसे ही वातावरणों की सृष्टि अन्य सर्गों में भी हुई है, जैसे 'काम' सर्ग का वसन्त-वर्णन काम की प्रवृत्ति के वातावरण का,[2] 'वासना' सर्ग का राग-रंजित चन्द्रिका का वर्णन वासना के वातावरण का,[3] 'संघर्ष सर्ग में प्रकृति के बंधन-विहीन परिवर्तन का वर्णन संघर्ष के वातावरण का,[4] और *'निर्वेद' सर्ग के आरम्भ में* भटकते तारागणों एवं शून्य सरस्वती नदी का वर्णन वैराग्य के वातावरण का *निर्माण कर रहा है।*[5]

कामायनी में विश्वव्यापी रहस्यमयी सत्ता का वर्णन करने के लिए भी प्रकृति को माध्यम बनाया गया है और प्राकृतिक पदार्थों के रहस्यात्मक चित्रण द्वारा उस रहस्यमयी सत्ता की ओर संकेत किया है, जिसकी खोज में नील गगन के असंख्य ग्रह, नक्षत्र एवं विद्युत्कण छिपने और निकलते हुए चक्कर लगा रहे हैं, जिसके रस से सिंचित होकर तृण-वीरुध लहलहा रहे हैं। जिसकी सत्ता को सिर नीचा करके सभी स्वीकार करते हैं और मौन होकर जिसका निरन्तर प्रवचन करते रहते हैं। परन्तु उस सत्ता का पता आज तक नहीं लगा है। प्रकृति के समस्त व्यापारों को देखकर केवल इतना ही भान होता है कि वह कुछ है।[6] इसके अतिरिक्त उसका कुछ पता नहीं लगता। इस तरह उस रहस्यमयी सत्ता का वर्णन प्रकृति के माध्यम से यहाँ बड़ी सजीवता के साथ किया गया है।

प्रकृति के प्रतीकात्मक रूप का चित्रण भी कामायनी में स्थान-स्थान पर *मिलता है। इस प्रणाली द्वारा ऐसे अप्रस्तुतों अथवा उपमानों को अंकित किया* जाता है, जो बाह्य साम्य की अपेक्षा आन्तरिक साम्य को लेकर उपस्थित होते *हैं तथा अपने प्रभाव-साम्य के कारण किसी घटना या वस्तु के उपलक्षण या* प्रतीक बन जाते हैं। आधुनिक कविता में ऐसे प्रतीकों की अत्यन्त भरमार मिलती है। जैसे, 'सुख, *आनन्द, प्रफुल्लता, यौवनकाल आदि के लिए उनके* द्योतक क्रमशः उषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया के स्थान पर मुकुल, प्रेमी के स्थान पर मधुप, विषाद के स्थान पर अंधकार या पतझड़, मानसिक आकुलता के स्थान पर झंझा, तूफान आदि का प्रयोग करना।'[7] प्रसादजी ने कामायनी में

१—*कामायनी, पृ० २३–२४।* २—*कामायनी, पृ० ६३।*
३—वही, पृ० ८८। ४—वही, पृ० १६०।
५—वही, पृ० २०५। ६—वही, पृ० २६।
७—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६७०।

भी प्रकृति के ऐसे प्रतीकों का प्रयोग करते हुए कितने ही सजीव-वर्णन प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से 'काम' सर्ग के प्रारम्भ का वसन्त-वर्णन पूर्णतया यौवन के प्रतीक के रूप में आया है, जिसमें किशोरावस्था की समाप्ति के लिए 'रजनी का पिछला पहर', रूप-सौन्दर्य के लिए 'कोकिल', प्रेम की उमंगों के लिए 'कलियाँ', मकरन्द-चपला के लिए 'कोरक-कोना' भाव-प्रवाह के लिए 'काकली' आदि का प्रयोग किया है।[1] इसी तरह की प्रतीक पद्धति को अपनाते हुए कामायनी में 'श्रद्धा' तथा 'वासना' सर्गों में श्रद्धा के अलौकिक रूप-सौन्दर्य का वर्णन मिलता है, जिसमें उसे 'कुसुम-वैभव-सम्पन्न लता', 'चन्द्रिका से लिपटा हुआ घनश्याम', 'मधुप-वन क्रीडित शिशु-शाल,'[2] 'वसन्त का दूत', 'चपला की रेखा', 'शीतल मन्द बयार' 'नखत की आशा किरण'[3] 'ज्योत्स्ना-निर्झर',[4] 'वासना की मधुर छाया',[5] 'विश्व-माया-कुहक'[6] आदि कहा गया है। इन सभी प्रतीकों द्वारा श्रद्धा के हृदय एवं मस्तिष्क की समस्त विशेषताएँ उभर आई हैं और वह पात्र अपने दिव्य एवं अलौकिक रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

इस प्रतीक-पद्धति के समान ही प्रकृति का प्रयोग अलंकारों के लिए भी पर्याप्त मात्रा में किया जाता है। प्रायः गुण, भाव एवं आकृति का साम्य दिखाने के लिए कवि लोग प्रकृति से ऐसे-ऐसे उपमान चुना करते हैं जिनसे उनके पात्रों के अंगों एवं उनकी प्रवृत्तियों का सम्यक् स्वरूप पाठकों के सामने आ जाता है। इसी आधार पर कामायनी में भी प्रकृति के उपमानों द्वारा अलंकारों की योजना की गई है। उदाहरण के लिए श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य का चित्रण लिया जा सकता है, जिसमें उसे अनन्त तेज, अनुपम ओज एवं दिव्य कान्ति से परिपूर्ण एक युवती सिद्ध करने के लिए उसके अंगों को बिजली का फूल, मुख को सन्ध्याकालीन अरुण तथा वसंत कालीन लघु एवं अचेत ज्वाला-मुखी, घुँघराले बालों को सुकुमार नील घन-शावक, मुस्कान को कोमल किसलय पर विश्राम करती हुई अरुण की एक अम्लान किरण, हँसी को नवल मधुराका, शरीर को कुसुम-कानन के अंचल में मन्द पवन प्रेरित साकार सौरभ आदि के तुल्य बतलाया है।[7] इसी तरह इड़ा के दिव्य सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत करते हुए उसे 'प्राची के रम्य फलक पर अंकित नवल चित्र' तथा 'अम्लान नलिन की नवमाला' आदि कहकर उसकी आँखों को

१—कामायनी पृ० ६३।
२—कामायनी, पृ० ४६।
३—वही, पृ० ५०।
४—वही, ८६।
५—वही, पृ० ८७।
६—वही, ६०।
७—वही, पृ० ४६-४८।

पद्म-पलाश, बिखरे बालो से युक्त मुख को गुंजरित मधुपों से आवृत्त मुकुल आदि के समान बतलाया है।[1] प्रसादजी ने सर्वत्र प्रकृति के ऐसे उपमानो को चुना है, जो केवल वाह्य-साम्य ही नही रखते, अपितु किसी न किसी प्रकार आन्तरिक भावो के प्रदर्शन मे भी अधिक समर्थ होते हैं। जैसे, त्याग एव तितिक्षा से परिपूर्ण इड़ा को 'गैरिक वसना संध्या'[2] कहकर अथवा लोक-मगल एव विश्व-चेतना से पुलकित श्रद्धा को 'विमल जल से परिपूर्ण गम्भीर महाह्रद'[3] कहकर प्रसादजी ने अपने अन्तर्बाह्य साम्य के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

४ काव्यों मे प्रकृति का प्रयोग लोकशिक्षा के रूप मे भी होता है। इस प्रणाली के द्वारा कविजन प्रकृति के ऐसे-ऐसे रहस्य पाठको के सम्मुख प्रस्तुत किया करते हैं, जिनसे सर्वसाधारण को अनेक शिक्षाप्रद बातें प्राप्त हो जाती हैं और उनके आधार पर सांसारिक स्थिति का ज्ञान भी सुगमता से हो जाता है। रामचरितमानस मे गोस्वामी तुलसीदास ने वर्षा-वर्णन के समय प्रकृति चित्रण की इसी प्रणाली का उपयोग करते हुए जन-साधारण के लिए कितनी ही शिक्षाप्रद बातें बतलाई हैं।[4] कामायनी मे प्रसाद ने भी कही-कही इस प्रणाली को अपनाया है। जैसे, 'चिन्ता' सर्ग मे वे लिखते हैं कि जिस तरह मेघो के मध्य विद्युत-प्रकाश क्षणिक होता है, वैसे ही यह मानव-जीवन भी क्षण-भगुर है।[5] 'श्रद्धा' सर्ग मे बतलाते है कि जगती मे दुख और सुख का अनिवार्य सम्बन्ध है; जैसे रात्रि के उपरान्त नित्य नवल प्रभात के दर्शन होते हैं, वैसे ही दुख के उपरान्त सुख भी अवश्यमेव आता है।[6] अत दुख से कभी घबड़ाना नही चाहिए। पुनः आगे कहते है कि मानव को सदैव रूढि परम्परा या पुरातनता की केंचुली मे ही फँसा नही रखना चाहिए, अपितु उसे नूतनता को भी सहर्ष स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि ससार मे देखा जाता है कि प्रकृति के यौवन का शृङ्गार कभी बासी फूल नही करते, वे तो झड़कर धूल मे जा मिलते

१—कामायनी, पृ० १६८

२—वही, पृ० २७७। ३—कामायनी, पृ० २६०।

४—रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, १४।२–५

५—जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घनमाला में।
सौदामिनी सधि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।
—चिन्ता सर्ग, पृ० १६१

६—दुख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील छिपाए है जिसमें सुख गात।
—श्रद्धा सर्ग, पृ० ५१।

हैं और नित्य नये फूल खिल कर प्रकृति का शृङ्गार किया करते हैं।[1] इसी तरह 'कर्म' सर्ग मे एकान्त स्वार्थ की निन्दा करते हुए वे कलियों के उदाहरण द्वारा यह समझाते हैं कि यदि कलियाँ अपने सौरभ को अपने कोष में बन्द करके ही बैठी रहे, वे विकसित होकर मकरन्द की वृष्टि न करें और ऐसी ही दशा मे मुरझाकर झड जायें, तो मानव को फिर नित्य नवीन सौरभ नहीं मिल सकता, उसे फिर कुचला हुआ एवं अविकसित आमोद ही मिलेगा। अतः मानव को कदापि सुख को अपने मे ही सीमित नही करना चाहिए।[2] ऐसी ही लोक-शिक्षायें अन्य सर्गों मे भी भरी पडी हैं।

इनके अतिरिक्त कामायनी मे प्रकृति के दूती रूप की झाँकी नही मिलती। कविवर कालिदास ने 'मेघदूत' में मेघ को दूत बनाकर तथा हरिऔध ने 'प्रिय-प्रवास'[3] मे पवन को दूत बनाकर जैसी सुन्दर कल्पनाएँ की हैं, दूत सम्बन्धी वैसी कल्पनाएँ तो यहाँ नहीं है, परन्तु 'आशा' सर्ग के अन्त मे यौवनोन्मत्त रजनी को तीव्रगति से जाते हुए देखकर मनु जब उससे यह कहते हैं कि मुझे सुख देने वाली मेरी प्रेम-भावना, वेदना या भ्रान्ति यदि कहीं तुझे पडी मिल जाय, तो उसे भी लुटा मत देना और उसे भूल भी मत जाना। देख तुझे भी तेरा भाग दूँगा।'[4] मनु के इस कथन मे अपनी विस्मृत प्रियतमा के लिए दूती रजनी द्वारा संदेश भेजने का क्षीण आभास मिल जाता है।

सारांश यह है कि प्रसादजी ने प्रकृति के रम्य एवं भयानक सभी रूपों की आकर्षक एवं भव्य झाँकी प्रस्तुत करते हुए कामायनी में जो प्रकृति-चित्रण किया है, उसमें भावाक्षिप्त एवं संश्लिष्ट चित्रों की ही प्रधानता है। उनकी दृष्टि मे प्रकृति के अन्तर्गत एक ऐसी चेतना-सम्पन्न विराट् सत्ता विराजमान

१—प्रकृति के यौवन का शृङ्गार करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक हैं उनकी धूल।
—श्रद्धा सर्ग, पृ० ५५।

२—ये मुद्रित कलियाँ दल मे सब सौरभ बन्दी कर लें,
सरस न हों मकरन्द बिन्दु से खुलकर तो ये मर लें।
सूखें, झड़ें और तब कुचले सौरभ को पाओगे,
फिर आमोद कहाँ से मधुमय वसुधा पर लाओगे।
सुख अपने संतोष के लिए संग्रह मूल नहीं है,
उसमे एक प्रदर्शन जिसको देखें अन्य वही है।
—कर्म सर्ग, पृ० १३३।

३—प्रियप्रवास, ६।२६—८३। ४—कामायनी, पृ० ४१।

है, जिसके उदर मे वन, गिरि, नदी, निर्झर आदि सभी समाये हुए हैं, जो समयानुकूल परिवर्तनो द्वारा अद्भुत छटा विकीर्ण किया करती है तथा जो अपने अद्भुत दृश्यो एवं आश्चर्यजनक लीलाओ द्वारा अलौकिक आनन्द प्रदान करती है।[1] इसी कारण उन्होने प्रकृति के व्यापक रूप का चित्रण किया है और देशगत, समाजगत, कालगत, तथा सास्कृतिक --सभी विशेषताओ को अपनाते हुए प्रकृति-चित्रण की सकुचित प्रणाली को अधिकाधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है, जिसका अनुसरण करते हुए हिन्दी-कविता मे प्रकृति-चित्रण का मार्ग अत्यधिक प्रशस्त हुआ है।

युग-चित्रण—महाकाव्यो मे तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का चित्रण भी विशदता के साथ किया जाता है। प्रत्येक महाकाव्य अपने युग की प्रतिनिधि रचना कहलाता है। अतः उसमे युग की सामाजिक एवं सास्कृतिक स्थिति का चित्र अंकित होना अनिवार्य है। कामायनी भी आधुनिक युग का प्रतिनिधि काव्य है। अत. इसमे भी तत्कालीन समाज की स्थिति का पूरा-पूरा चित्रण करते हुए उसके कल्याणार्थ अनेक समस्याओ का समाधान प्रस्तुत किया गया है। जैसे, कवि ने सबसे पहले विदेशियो के प्रभाव मे तत्कालीन समाज में फैली हुई निर्बाध विलासिता का चित्रण देवो की विलासता के रूप मे किया है[2] और उसके दुष्परिणाम को दिखाकर समाज को सर्दव दुष्प्रवृत्तियो के अतिरेक से बचने की सलाह दी है। साथ ही यह बताया है कि जिस तरह देवगणो के अनन्त शक्ति-सम्पन्न होने पर भी उनकी अबाध विलासिता ने उनका सर्वनाश कर दिया, वैसे ही कोई भी समाज या राष्ट्र अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता हुआ उसे केवल विलास-सामग्री के सकलित करने मे ही लीन रखेगा, तो उसका भी विनाश अवश्य-म्भावी है। इसके अतिरिक्त प्रसादजी ने समाज मे फैली हुई विषमता का चित्र अंकित करते हुए यहाँ की वर्ण-व्यवस्था, वर्ग-भेद, ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, शासक-शासित आदि की भावना से उत्पन्न होने वाली विषम परिस्थिति का दिग्दर्शन कराया है और अन्त मे पारस्परिक सौहार्द्र से युक्त जीवन व्यतीत करने, सामाजिक नियमों का समान रूप से पालन करने एव समरसता के साथ व्यवहार करने की सलाह दी है।

प्रसाद-युग मे ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसाइटी, प्रार्थना-समाज आदि सामाजिक संस्थाओ ने धार्मिक संकीर्णता का परित्याग करके सभी

१—इन्दु, कला १, किरण १, सुद श्रावण पुनना २, सं० १९६६, पृ० ८—११।

२—कामायनी, पृ० ६—१५। ३—कामायनी, पृ० १८६—२०२।

धर्मों के प्रति सहिष्णुता, मानवता-प्रेम, विश्व-बंधुत्व, सेवा, ईश्वर के प्रति आस्तिक्य भाव आदि की जिन भावनाओं का प्रचार किया था, कामायनी में वे सभी भावनायें विद्यमान हैं। जैसे, 'आनन्द' सर्ग में धर्म के प्रतिनिधि वृषभ का कैलाश शिखर पर उत्सर्ग करा कर धार्मिक सकीर्णता का परित्याग करने की ओर संकेत किया है। वहीं पर मनु के द्वारा यह कहला कर कि 'हम सब एक ही कुटुम्ब के व्यक्ति हैं, कोई भी अन्य नहीं है, न कोई यहाँ शापित है और न तापित, सबकी सेवा पराई नहीं है वह अपनी ही सुख-स्मृति है तथा यह सारा संसार एक नीड है।'[1] और इसी प्रकार श्रद्धा का यह कथन कि 'यह उदार विश्व ही मेरा गृह है, जिसका द्वार सबका सभी के लिए उन्मुक्त रहता है।'[2] इन सभी कथनों में मानवता प्रेम, विश्व-बंधुत्व आदि की उक्त सभी भावनाएँ विद्यमान हैं। इसके साथ ही यहाँ ईश्वर की विराट् सत्ता या उसकी चिति-शक्ति को सर्वव्यापी बतलाते हुए[3] ईश्वर में आस्तिक्य भाव रखने की ओर भी संकेत किया है।

प्रसाद-युग नारी-आन्दोलन का युग है। इस युग में नारी-स्वातन्त्र्य, नारी-शिक्षा, नारी के महत्व आदि के लिए पर्याप्त प्रचार हुआ है। कामायनी में उक्त विचारों की भी अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ पुरुष की अपेक्षा नारी को महत्व देते हुए उसे सेवा, त्याग, दया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास आदि से परिपूर्ण बतलाया है।[4] इतना ही नहीं उसे उदार एवं निर्विकार मातृमूर्ति, सर्व-मंगलकारिणी, सबका दुःख सहने वाली, कल्याणमयी वाणी कहने वाली, क्षमा निलय में रहने वाली आदि कहा है।[5] इसके साथ ही उसे श्रद्धा एवं विश्वास-रूपिणी बतलाते हुए मानव-जीवन में सदैव पीयूष-स्रोत के समान बहते रहने की सलाह दी है।[6] इससे स्पष्ट ही यह आभास मिल जाता है कि प्रसादजी नारी-पुरुष की समानता के पक्षपाती नहीं हैं। वे नारी को पुरुष से कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं महान् मानते हैं। उसके इसी महत्व का प्रतिपादन उन्होंने श्रद्धा के रूप में किया है और उसे पुरुष के पथ प्रदर्शक के रूप में दिखलाया है।

प्रसाद युग में समाज के अन्तर्गत वैज्ञानिक अनुसंधानों के प्रभाव से भौतिकवाद की जो लहर तीव्रता से दौड़ रही थी, उसका प्रसादजी ने भली भाँति अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानवता के विकास के लिए भौतिक-वाद एवं वैज्ञानिक भौतिक सभ्यता कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकती। कामायनी में सारस्वत नगर के उत्कर्ष एवं उसके अपकर्ष द्वारा प्रसादजी ने यही दिखलाया

१—कामायनी, पृ० २८३, २८७–२८९। २—कामायनी, पृ० २२४।
३—वही, पृ० १६, ५२। ४—वही, पृ० ५७।
५—वही, पृ० २५६। ६—वही, पृ० १०६।

है कि यंत्रों के आविष्कार द्वारा आज जो प्रकृति से संघर्ष करते हुए सभ्यता की चरम सीमा पर पहुँचने का प्रयत्न हो रहा है वह सब व्यर्थ है, उससे कदापि उन्नति नहीं हो सकती, उसके द्वारा समाज की प्राकृतिक शक्ति का दिन-रात अपहरण हो रहा है और समाज शक्तिशाली न होकर नित्यप्रति दुर्बल बनता चला जा रहा है।[1] समाज की वास्तविक उन्नति भौतिकवाद से नहीं हो सकती, इसमें भारतीय अध्यात्मवाद को और अपनाना चाहिए और दोनों के समन्वय से ही पुनः सारस्वत नगर की भाँति समुचित व्यवस्था हो सकती है, शान्ति स्थापित हो सकती है, सामूहिक उन्नति हो सकती है और सारा समाज सशक्त होकर कल्याण के मार्ग पर भी चल सकता है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन में गांधीवाद ने सत्य, अहिंसा, सेवा, सर्वोदय, ग्राम-सुधार, समन्वय आदि की जिन भावनाओं का प्रचार किया है, कामायनी में उनकी भी अभिव्यक्ति हुई है। 'कर्म' सर्ग में मनु के पशु-यज्ञ का विरोध करते हुए श्रद्धा ने अपने जो विचार व्यक्त किए हैं, उनमें सत्य, अहिंसा, सेवा-भाव आदि का रूप विद्यमान है।[2] इसी तरह 'ईर्ष्या' सर्ग में श्रद्धा द्वारा बीजों का संग्रह करना, सुन्दर शालियाँ बोन कर अन्न इकट्ठा करना, तकली कातना, कुटीर निर्माण करना, वस्त्र बनाना इत्यादि जो कार्य दिखलाये गये हैं वे गाँधीवादी सर्वोदय एवं ग्राम-सुधार की भावना का सुन्दर एवं सक्रिय चित्र प्रस्तुत करते हैं।[3] अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में श्रद्धा, इड़ा, मानव, सारस्वत नगर-निवासी एवं मनु को जो एक समन्वित कुटुम्ब के रूप में आनन्द-मग्न दिखलाया गया है, वहाँ समन्वय के सुन्दर स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत की गई है, जिसमें कोई भी किसी से न ऊँचा है न नीचा, न कोई छूत है न अछूत, न कोई श्रेष्ठ है न निकृष्ट, सभी जीवन की समरस एवं समतल भूमि पर स्थित हैं और किसी में भी तनिक सा भी भेद-भाव नहीं है।[4]

इसके साथ ही कामायनी में समाज के कुछ प्रगतिशील विचारों की भी झलक विद्यमान है और उनके आधार पर प्रसादजी ने समाज के शोषित एवं शोषक वर्ग का भी एक चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें यह दिखाया है कि शोषक वर्ग केवल अपने स्वार्थ के लिए वर्ग-भेद को जन्म देता है, समाज के अन्तर्गत महत्वाकांक्षा को उत्पन्न करता है, अधिकारों की सृष्टि करता है[5]; और फिर

१—कामायनी, पृ० १६६। २—कामायनी, पृ० १३२-१३४।
३—वही, पृ० १४१, १४९-१५१। ४—वही, पृ० २८७-२८६।
५—अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।
—स्वप्न सर्ग, पृ० १८६।

समाज का सब प्रकार से शोषण करता हुआ उसके जीवन को जर्जर एवं झीना बना देता है।[1] इसके अनन्तर प्रसादजी ने शोषित समाज की प्रतिक्रिया का रूप भी दिखलाया है और यह सिद्ध किया है कि शोषित वर्ग गांधीवाद की भांति निष्क्रिय प्रतिरोध को नहीं अपनाता, अपितु वह क्रान्तिकारी मार्ग का अनुसरण करता हुआ सक्रिय प्रतिरोध के सिद्धान्त को अपनाता है तथा शस्त्र उठाकर यायावर आततायी का डटकर विरोध करता है। इसी कारण कामायनी में उन्होंने राज-प्रजा के रक्तमय संघर्ष का चित्र अंकित किया है और अन्त में शोषक राजा को शोषित प्रजा द्वारा पराजित होते हुए भी दिखलाया है।[2] यद्यपि यहाँ जनता की तात्कालिक विजय दिखलाई है, फिर भी यांत्रिक सभ्यता का जो विरोध किया है तथा नर-संहार पर जो पश्चाताप प्रकट किया है उनमें गांधीवादी प्रेरणा विद्यमान है। इसके उपरान्त आगे चलकर एक वर्गहीन समाज की भी कल्पना की है,[3] जिसमें सभी लोग एक कुटुम्बी की तरह रहते हैं, शासक और शासित का भेद नहीं रहता और सभी आनन्दमग्न दिखाई देते हैं।

भाव और रस—कामायनी में भावों का अत्यन्त सजीव चित्रण मिलता है। कहीं-कहीं तो कवि भाव-वर्णन में इतना लीन हो गया है कि वह कथा-भाग की उपेक्षा कर बैठा है और भाव-निरूपण में ही पूरा का पूरा सर्ग लिख गया है। कामायनी का 'लज्जा' सर्ग इसका ज्वलन्त प्रमाण है जिसमें लज्जा-भाव का अत्यन्त सजीव वर्णन मिलता है, जैसे —

> छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं,
> कलरव परिहास भरी गूँजें, अधरों तक सहसा रुकती हैं।

यहाँ पर लज्जा या व्रीडा के उत्पन्न होने पर हिचकना, पलकों का झुकना, सकुचित होना आदि अनुभावों का सुन्दर चित्रण किया गया है। शेष सर्गों में से 'चिन्ता', 'आशा,' 'काम', 'वासना' आदि अधिकांश सर्गों में तत्तद्भावों का सुन्दर निरूपण हुआ है, जिनमें भाव शान्ति, भावोदय, भाव-संधि और भाव-शबलता के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। कामायनी के 'कर्म' सर्ग में जहाँ श्रद्धा मनु के हिंसा-कर्म से रूठ कर क्रोध करती हुई जब अपनी गुफा के एक कोने में जा सोती है और मनु सोमपात्र लेकर उसके समीप आते हैं तथा श्रद्धा मनु को

१—शोषण कर जीवनी बनादी जर्जर झीनी।—संघर्ष सर्ग, पृ० १६६।

२—लोकजीवन और साहित्य, पृ० ४५।

३—कामायनी, पृ० २८७-२८८।

हिंसा-कर्म से दूर रहने का आग्रह करती है और मनु के हिंसा-कार्य पर अपना रोष एवं क्षोभ प्रकट करती है, तब जैसे ही मनु यह कहते हैं कि अच्छा, तुम जो कुछ कहती हो, मैं वही करूँगा, वैसे ही श्रद्धा का सारा कोप दूर हो जाता है और वे दोनों सोम-पान करके काल्पनिक विजय मे आनंदित दिखाई देते हैं।[1] यहाँ पर कोप की शान्ति दिखाकर जो चमत्कार उत्पन्न किया गया है, उसमें भाव-शान्ति का सुन्दर उदाहरण मिलता है। दूसरे, भावोदय का सुन्दर वर्णन कामायनी के 'काम' सर्ग मे मिलता है, जहाँ मनु पहले तो श्रद्धा के आत्म-समर्पण पर संकल्प-विकल्प युक्त दिखाई देते हैं, परन्तु स्वप्न में जैसे ही वे काम का सन्देश तथा श्रद्धा के गुणों की प्रशंसा सुनते हैं, वैसे ही तुरन्त श्रद्धा को अपनाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यहाँ पर उनके हृदय मे निर्वेद के स्थान पर जो आवेग एवं औत्सुक्य दिखलाया गया है, वह भावोदय का सुन्दर उदाहरण है।[2] तीसरे, भाव-संधि का वर्णन 'निर्वेद' सर्ग मे मिलता है। जब मनु घायल होकर मूर्छित हो जाते हैं और श्रद्धा उन्हे ढूँढती हुई उनके पास आ पहुँचती है, तब मनु के हृदय मे दो प्रबल भावों की संधि दिखाई गई है, एक तो श्रद्धा के आगमन एवं उसके शीतल स्पर्शादि से मनु मे प्रबल हर्ष का भाव दिखाई देता है और दूसरे अपनी इस स्थिति पर तथा इडा को पुन. अपने समीप देखकर उनमें घृणा का भाव भी प्रबलता के साथ दिखाई देता है।[3] चौथे, भाव-शबलता का सुन्दर स्वरूप कामायनी के 'ईर्ष्या' सर्ग के अन्त मे मिलता है, जहाँ श्रद्धा को अपने गर्भस्थ शिशु के प्रति अधिक स्नेह-भाव मे लीन देखकर पहले तो मनु के हृदय मे गर्भस्थ शिशु के लिए ईर्ष्या दिखलाई गई है और उसके उपरान्त जब श्रद्धा मनु को सुन्दर कुटीर एवं अपने शिशु के लिए बनाए हुए वस्त्र आदि दिखाती है, तब वे उत्तेजित होकर श्रद्धा के इस स्नेह-भाव को अपने प्रेम को बाँटने वाला बतलाते हैं तथा श्रद्धा के इन सभी कार्यों की कटु आलोचना करते हुए गुफा से भाग खडे होते हैं, वहाँ पर असूया, आवेग, गर्व, अमर्ष, उग्रता आदि संचारी भावों का एक साथ चित्रण करके जो चमत्कार उत्पन्न किया गया है, उसमें भाव-शबलता के सुन्दर दर्शन होते हैं।[4] परन्तु कामायनी मे केवल भावो का ही वर्णन नहीं है, उनको स्थायित्व प्रदान करके रस की कोटि मे भी पहुँचाने का प्रयत्न हुआ है। इसलिए कामायनी मे अधिकांश रसो के पूर्ण-परिपाक के भी दर्शन होते है।

१—कामायनी, पृ० १३४-१३५।

२—वही, पृ० ७७।

३—कामायनी, पृ० २१८-२१६।

४—वही, पृ० १५३-१५४।

शृंगार—समस्त रसों में शृंगार रसराज कहलाता है, क्योंकि इसके संयोग एवं वियोग दो भेद होते हैं और उन दोनों भेदों में लगभग सभी संचारी भावों का समावेश होजाता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी रस में इतने अधिक सचारी भाव नहीं आते। इसी कारण प्रायः सभी कवि शृंगार रस का वर्णन बड़े मनोयोग के साथ करते हैं। प्रसादजी ने भी 'कामायनी' में शृंगार के दोनों भेदों का अत्यन्त सजीवता के साथ चित्रण किया है। संयोग शृंगार का रूप इस प्रकार अंकित है :—

मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप।
बरसता था मदिर कण-सा स्वच्छ सतत अनन्त,
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमन्त।
छूटती चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भ्रान्त,
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशान्त।
वात चक्र समान कुछ था बाँधता आवेश,
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश।"—(वासना सर्ग)

यहाँ पर श्रद्धा आलम्बन है, ज्योत्स्नापूर्ण रात्रि तथा श्रद्धा का सौंदर्य उद्दीपन है, चिनगारियाँ छूटना, हृदय में मधुर ज्वाला धधकना, मनु का विकल, अशान्त एवं अधीर होना अनुभाव हैं, आवेग, चपलता, औत्सुक्य, उन्माद, आदि सचारी भाव हैं और इन सबसे पुष्ट रति स्थायीभाव द्वारा संयोग शृंगार की व्यंजना हो रही है।

दूसरे, वियोग या विप्रलम्भ शृंगार को चार प्रकार का बतलाया गया है—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण।[1] इनमें से पूर्वराग तथा करुण विप्रलम्भ के दर्शन कामायनी में नहीं होते। शेष दोनों भेदों में से मान विप्रलम्भ का चित्रण निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है :—

श्रद्धा अपनी शयन गुहा में दुखी लौट कर आयी,
एक विरक्ति बोझ सी ढोती मन ही मन बिलखायी।
+ + + +
मधुर विरक्ति भरी आकुलता घिरती हृदय गगन में,
अन्तर्दाह स्नेह का तब भी होता था उस मन में।—(कर्म सर्ग)

यहाँ पर मनु आलम्बन हैं। पशु-वध उद्दीपन है। दुखी लौट आना, मन में बिलखना, आकुल होना, मन में स्नेह का अन्तर्दाह होना अनुभाव हैं। अमर्ष,

---

1—काव्य-दर्पण, पृ० २३५

आवेग, विषाद आदि संचारी भाव हैं और इन सबसे पुष्ट रति स्थायीभाव है, क्योंकि यह प्रणय-मान है। इसके साथ ही प्रवास विप्रलम्भ का वर्णन 'स्वप्न' सर्ग के आरम्भ मे बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। जैसे—

> वन बालाओ के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
> लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से।
> किन्तु न आया वह परदेशी युग छिप गया प्रतीक्षा मे,
> रजनी की भीगी पलको मे तुहिन बिंदु कण-कण बरसे।
>
> —(स्वप्न सर्ग)

यहाँ पर मनु आलम्बन विभाव हैं। वन-बालाओं के निकुंजो मे वेणु-स्वर का गूँजना तथा अन्य सभी का लौट आना उद्दीपन विभाव हैं। श्रद्धा का मनु की प्रतीक्षा करना, उनके लौटने से बारे मे सोचना आदि अनुभाव हैं और स्मृति, दैन्य, चिन्ता, विषाद, वितर्क आदि सचारी भाव हैं। इन सभी भावो से पुष्ट रति स्थायी-भाव यहाँ प्रवास-जन्य विप्रलम्भ शृंगार के रूप मे ध्वनित है।

वीर—कामायनी मे दो-एक स्थलो पर वीर रस की भी सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। जैसे—सारस्वत नगर की जनक्रान्ति के समय जनता का नेतृत्व करने वाले आकुलि-किलात नामक असुर पुरोहितो को जब मनु ललकारते हैं, तब उनके निम्नलिखित शब्दो मे वीर रस का वर्णन मिलता है—

> कायर तुम दोनो ने ही उत्पात मचाया,
> अरे, समझ कर जिनको अपना था अपनाया।
> तो फिर आओ देखो कैसे होती है बलि,
> रण यह, यज्ञ पुरोहित ! ओ किलात, ओ आकुलि !—(संघर्ष सर्ग)

यहाँ किलाताकुलि आलम्बन हैं। उनका उत्पात मचाना उद्दीपन है। मनु का ललकारना, युद्ध करना आदि अनुभाव हैं। गर्व, आवेग, औत्सुक्य, चपलता, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं और इन सभी भावो से पुष्ट उत्साह स्थायीभाव द्वारा यहाँ वीर रस की अभिव्यंजना हुई है।

रौद्र—कामायनी मे 'संघर्ष' सर्ग के अन्तर्गत रौद्र रस के भी दर्शन होते हैं। देव-शक्तियों एवं प्रजाजनो के साथ मनु के युद्ध का वर्णन करते हुए कवि प्रसाद ने रौद्र रस की अभिव्यक्ति भी इस प्रकार की है—

> अन्धड़ था बढ रहा, प्रजा दल था झुंझलाता,
> रण वर्षा में शस्त्रों सा बिजली चमकाता।
> किन्तु क्रूर मनु वारण करते उन बाणों को,
> बढ़े कुचलते हुए खड्ग से जन प्राणों को।—(संघर्ष सर्ग)

यहाँ पर प्रजा आलम्बन विभाव, प्रजादल का झुँझलाना तथा शस्त्रों से प्रहार करना उद्दीपन विभाव, मनु का खड्ग से प्रजा-जनों का कुचलना, युद्ध में बाण-वर्षा करते हुए आगे बढ़ना आदि अनुभाव और आवेग, उग्रता, असूया, मद आदि संचारी भाव हैं, जिनसे पुष्ट होकर क्रोध स्थायी भाव रौद्र रस के रूप में ध्वनित हो रहा है।

भयानक—कामायनी के कुछ स्थलों पर भयानक रस की भी अभिव्यक्ति हुई है। मनु के अनैतिक आचरण के कारण अचानक प्राकृतिक शक्तियों के क्षुब्ध हो जाने पर 'स्वप्न' सर्ग में भयानक रस का वर्णन किया गया है। जैसे —

प्रकृति त्रस्त थी भूतनाथ ने नृत्य विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना।
आश्रय पाने को सब व्याकुल, स्वयं कलुष में मनु संदिग्ध,
फिर कुछ होगा यही समझकर वसुधा का थर-थर कँपना।

—(स्वप्न सर्ग)

यहाँ पर क्रुद्ध होकर भूतनाथ का नृत्य विकम्पित पद उठाना आलम्बन है। प्रकृति का त्रास, प्रजा का व्याकुल होकर आश्रय पाने के लिए आना, पृथ्वी का थर-थर काँपना उद्दीपन विभाव हैं। मनु का संदिग्ध होना, फिर कुछ होने की आशंका करना अनुभाव हैं और शंका, त्रास, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट भय स्थायीभाव भयानक रस के रूप में व्यंजित है।

अद्भुत—कामायनी में दो एक स्थलों पर अद्भुत रस की व्यंजना भी हुई है। तपस्या में निरत मनु जिस समय भगवान् भूतनाथ के अलौकिक ताण्डव नृत्य का दर्शन करते हैं, उस समय अद्भुत रस की अभिव्यक्ति मिलती है। जैसे —

देखा मनु ने नर्तित नटेश, हत चेत पुकार उठे विशेष,
'यह क्या! श्रद्धे! बस तू ले चल, उन चरणों तक, दे निज सम्बल।'

—(दर्शन सर्ग)

यहाँ पर नर्तित नटेश आलम्बन, उनका अद्भुत ताण्डव नृत्य उद्दीपन, मनु का आश्चर्य देखना, हतचेत पुकार उठना, वहाँ तक चलने की इच्छा प्रकट करना आदि अनुभाव हैं और औत्सुक्य, चपलता, आवेग आदि संचारी हैं। इन सभी में पुष्ट आश्चर्य स्थायीभाव यहाँ अद्भुत रस के रूप में अभिव्यंजित हुआ है।

करुण—कामायनी के प्रारम्भिक चिन्ता सर्ग में अपने प्रियजनों का व्यापक विनाश देखकर मनु को जो शोक उत्पन्न हुआ है, वहाँ करुण रस की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे —

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में,
भोले थे, हाँ तिरते केवल सब विलासिता के नद मे।
वे सब डूबे, डूबा उनका विभव, बन गया पारावार,
उमड रहा है देव सुखो पर दु ख जलधि का नाद अपार।
—(चिन्ता सर्ग)

यहाँ पर देवों का विनाश आलम्बन है, उनके वैभव, विलासिता, प्रकृति को जीतने की शक्ति आदि का स्मरण उद्दीपन विभाव है। मनु का आहे भरना, चिन्ता करना आदि अनुभाव हैं। चिन्ता, ग्लानि, विषाद, स्मृति, दैन्य आदि सचारी भाव हैं और स्थायीभाव शोक है, जिससे करुण रस की पुष्टि हुई है।

बीभत्स—कामायनी मे बीभत्स का वर्णन भी मिल जाता है। मनु द्वारा किये गये पशु-यज्ञ के अवसर पर धृणास्पद वस्तुओ का वर्णन करते हुए इस रस की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है—

यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी धधक रही थी ज्वाला,
दारुण दृश्य रुधिर के छींटे ! अस्थि खण्ड की माला।
वेदी की निर्मम प्रसन्नता, पशु की कातर वाणी,
मिलकर वातावरण बना था कोई कुत्सित प्राणी।-(कर्म सर्ग)

यहाँ पर पशु-यज्ञ आलम्बन है। रुधिर के छींटे, अस्थि खण्ड की माला आदि उद्दीपन विभाव हैं। पशु का कातर वाणी से चिल्लाना, वेदी पर निर्ममता से उसका वध करना आदि अनुभाव हैं, और निर्वेद, ग्लानि, आवेग, वैवर्ण्य आदि संचारी भाव हैं, जिनसे पुष्ट जुगुप्सा स्थायीभाव बीभत्स रस के रूप मे अभिव्यंजित है।

शान्त—कामायनी के अन्तिम चार सर्गों में शान्त रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, क्योंकि 'निर्वेद' सर्ग मे मनु को ससार से विरक्त दिखलाया गया है, 'दर्शन' सर्ग मे उन्हे नटराज शिव के दर्शन कराये हैं, 'रहस्य' सर्ग मे संसार की वास्तविकता एव तत्वज्ञान का परिचय कराया है और अन्तिम 'आनन्द' सर्ग मे तत्वज्ञान की प्राप्ति दिखलाई है। नीचे शान्त रस से सम्बन्धित कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं:—

सोच रहे थे, 'जीवन सुख है?' ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से कितनी व्यथा न झेली है?

+ + +

श्रद्धा के रहते यह सम्भव नहीं कि कुछ कर पाऊँगा,
तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको जहाँ, खोजता जाऊँगा।-(निर्वेद सर्ग)

यहाँ पर इन्द्रजाल रूपी ससार आलम्बन है। जीवन का विकट पहेली बन जाना, सुख का न होना उद्दीपन विभाव हैं। मनु का भागने का विचार करना, शान्ति की खोज के लिए उत्सुक होना आदि अनुभाव हैं और मति, ग्लानि दैन्य, निर्वेद आदि सचारी भाव हैं। इन सभी से पुष्ट शम स्थायीभाव यहाँ शान्त रस के रूप मे अभिव्यक्त हुआ है।

वात्सल्य—कामायनी मे दो-एक स्थलो पर वात्सल्य रस के भी दर्शन हो जाते हैं। 'स्वप्न' सर्ग के अन्तर्गत श्रद्धा के पुत्र 'कुमार' की किलक-भरी गूँज के वर्णन के अवसर पर वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे —

> 'माँ'—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
> माँ उठ दौडी भरे हृदय मे लेकर उत्कठा दूनी।
> लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गई,
> निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।—(स्वप्न सर्ग)

यहाँ पर कुमार आलम्बन है। उसकी किलकारी, लुटरी खुली अलक, धूल-धूसरित बाहे आदि उद्दीपन विभाव हैं। माँ का उठकर पुत्र को गोद मे लेने के लिए दौडना, दूनी उत्कण्ठा से भर जाना आदि अनुभाव हैं और हर्ष, आवेग, गर्व, औत्सुक्य आदि सचारी भाव हैं। इन सभी से पुष्ट वत्सलतापूर्ण स्नेह ही यहाँ वात्सल्य रस के रूप मे अभिव्यजित हुआ है।

साराश यह है कि कामायनी मे एक हास्य रस को छोडकर शेष सभी रसो का चित्रण सफलता के साथ मिलता है। वैसे सयोग एव वियोग शृंगार की यहाँ प्रधानता है, किन्तु कामायनी का मुख्य रस 'शान्त' है और सभी रस उसके अगरूप मे आए हैं। हास्य रस के अभाव का कारण प्रसादजी का गम्भीर एव चिन्तनशील स्वभाव है। दूसरे, आदि पुरुष की कथा भी इतने गम्भीर वातावरण मे होकर चलती है कि उसमे हास्य के लिये कही भी अवकाश नही मिला है। शेष सभी रसों का यहाँ पूर्ण परिपाक हुआ है और सर्वत्र औचित्य का निर्वाह करते हुए रसाभास से बचने की चेष्टा की गई है। जैसे, यदि इडा को प्रसादजी मनु-पुत्री मानकर चलते और मनु का उसके प्रति प्रेम तथा आकर्षण दिखलाते तो रसाभास की स्थिति उत्पन्न हो सकती थी, परन्तु प्रसादजी ने रस की ओर ध्यान देने के कारण ही इस तरह के अनौचित्य से कामायनी को बचाया है। अत कामायनी मे एक महाकाव्य की भाँति भाव एव रसो का भी उच्च कोटि का वर्णन मिलता है।

कलागत विशेषताएँ—'कामायनी' एक सर्ग-बद्ध काव्य है, जिसका नाम श्रद्धा या कामायनी नामक काव्य की नायिका के आधार पर रख गया है, जिसमे 'चिन्ता', 'आशा', 'श्रद्धा' आदि पन्द्रह सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग का नामकरण

उसमें वर्णित मुख्य मनोभाव या घटना के आधार पर किया गया है। ये सर्ग न तो अधिक विस्तृत हैं और न अधिक लघु, अपितु वर्णन के अनुसार उचित सम्यक् विस्तार के साथ समाप्त हुए हैं। कई सर्गों के अन्त में आगामी कथा का संकेत भी विद्यमान है। जैसे, 'चिन्ता', 'आशा', 'काम', 'वासना', आदि सर्गों की अन्तिम पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं, जिनमें उनसे आगे आने वाली कथा का स्पष्ट संकेत विद्यमान है। प्रत्येक सर्ग में लगभग एक ही छन्द अपनाया गया है, समस्त छन्द-विधान शास्त्रानुकूल है और 'इड़ा' सर्ग में नवीन प्रगीत-प्रणाली के आधार पर नवीन छन्दों का भी प्रयोग हुआ है।

कामायनी की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है। उसमें शब्दों का चुनाव भावानुकूल हुआ है तथा शब्द-विधान उच्च कोटि का है। कहीं-कहीं कुछ व्याकरणगत अशुद्धियाँ अवश्य मिलती हैं परन्तु ऐसी आशुद्धियाँ कम हैं। इसके साथ ही उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि साम्यमूलक प्राचीन अलंकारों के साथ-साथ मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यर्थ-व्यंजना आदि नवीन अलंकारों का ही प्रयोग अधिक हुआ है। परन्तु अलंकार सर्वत्र भावों के उत्कर्ष-विधायक के रूप में ही चित्रित किए गए हैं। इसकी रचना-शैली में कलात्मकता का प्राधान्य है और सर्वत्र लाक्षणिकता, उपचार-वक्रता, व्यंग्य आदि की ही अधिकता है, जिससे कहीं-कहीं अर्थ-क्लिष्टता भी आगई है। परन्तु काव्य-सौष्ठव, उसकी सरसता एवं उत्कृष्टता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती और सर्वत्र एक भव्य एवं प्रौढ़ साहित्यिक शैली के दर्शन होते हैं, जिसमें कलात्मकता सरसता, माधुर्य आदि के साथ-साथ गवेषणापूर्ण रचना-कौशल विद्यमान है। कामायनी के रचना-कौशल एवं उसकी कलात्मकता का विशद विवेचन चौथे प्रकरण में किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि कामायनी महाकाव्य का निर्माण एक ऐसी स्वतन्त्र पद्धति पर हुआ है, जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रणालियों के समन्वित स्वरूप के दर्शन होते हैं और जिसमें उन प्रणालियों की आवश्यक एवं उपयुक्त बातों को ही ग्रहण किया गया है। कुछ विद्वानों ने इसे प्राचीन भारतीय प्रणाली के अनुकूल सिद्ध करने के लिए व्यर्थ प्रयत्न किए हैं और उसमें हठात् मंगलाचरण आदि के दिखलाने का कष्ट उठाया है।[1] परन्तु यह सब बुद्धि-विलास मात्र है, क्योंकि प्रसादजी ने जब अपने अन्तिम नाटकों में प्राचीन रूढ़िवादिता का विरोध करते हुए मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि का प्रयोग नहीं किया है तब उनके अन्तिम महाकाव्य में यह सब कहाँ सम्भव है कि वे प्राचीनता के ही

१—कामायनी दर्शन, पृ० १०२।

पुजारी बने रहते। वे तो निश्चित रूप से 'समय की बदली हुई प्रवृत्तियों, नैतिक मापदंडों, मानव के बहुरूप मानसिक उद्वेगों और आकांक्षाओं को लेकर चले हैं',[1] जो उनके नवीनतम प्रयोगों के उपकरण बन गये हैं और जिनके आधार पर उन्होंने उच्च से उच्च कृति का निर्माण किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस महाकाव्य में अधिक विस्तार न होते हुए भी अपनी लघु सीमा में ही मानवता के समग्र रूप, उसकी समस्याओं एवं उसके समाधानों को एक उत्कृष्ट एवं भव्य साहित्यिक शैली में चित्रित करने का जो प्रयत्न हुआ है, वह सर्वथा सराहनीय है और इन सभी विशेषताओं के आधार पर 'कामायनी', को आधुनिक युग का एक प्रतिनिधि महाकाव्य कहा जा सकता है।

कामायनी में रूपक-काव्यत्व

रूपक-काव्य— कामायनी महाकाव्य होते हुए भी उसमें कुछ ऐसे सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति कराने वाले प्रतीकात्मक पात्रों एवं घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं जिनके आधार पर वह रूपक-काव्य कहलाता है। अतः अब देखना यह है कि उसमें इस रूपकत्व की सार्थकता कहाँ तक विद्यमान है। साधारणतया भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'रूपक' शब्द का प्रयोग दो बातों के लिए मिलता है—एक तो 'रूपक' एक प्रकार का अलंकार माना गया है, जिसमें प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का निषेध रहित आरोप किया जाता है।[2] दूसरे, नाट्य को भी 'रूपक' कहते हैं, जिनके नाटकादि दस भेद माने गये हैं और जिनमें अभिनेता किसी न किसी व्यक्ति की अवस्था का आरोप करके अभिनय प्रस्तुत किया करता है।[3] रूपक की उक्त दोनों व्याख्याओं के आधार पर यही ज्ञात होता है कि एक रूपक-काव्य से तात्पर्य ऐसे काव्य से है, जिसमें प्रस्तुत पात्रों या प्रस्तुत कथा पर किसी अप्रस्तुत बातों का निषेध रहित आरोप किया गया हो और एक अभिनेता की भाँति वे पात्र या कथा अन्त तक उसका पूरा-पूरा निर्वाह करते हों। कुछ विद्वानों की राय में हमारे यहाँ ऋग्वेदादि वैदिक ग्रन्थों में भी इसी रूपक-प्रणाली का प्राधान्य है।[4] आचार्य शुक्ल ने ऐसी गूढार्थ-रचना को 'अन्योक्ति' बतलाया है और इसी आधार पर उन्होंने 'पद्मावत' प्रबन्ध-काव्य को 'अन्योक्ति' काव्य सिद्ध किया है।[5]

१—जयशंकरप्रसाद, पृ० ७० ।

२—काव्यदर्पण, पृ० ४६५ । ३—दशरूपक १।७–८

४—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० २६७ ।

५—जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ५६ ।

पाश्चात्य देशों मे ऐसे प्रतीकात्मक एवं अन्योक्तिमूलक रूपक-काव्य को 'एलिगरी' (Allegory) कहा गया है। एबरक्रोम्बी ने रूपक-काव्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ऐसा काव्य महाकाव्य न होकर महाकाव्य की सी विशेषतायें लेकर लिखा जाता है। उसके पात्र प्रायः निर्जीव एवं अमूर्त भावों के प्रतीक होते हैं। उसमे सर्वत्र एक आध्यात्मिक तथ्य की ही प्रधानता रहती है और उसी का सर्वत्र निर्देश किया जाता है। वह काव्य हमे एक ऐसे क्षेत्र मे ले जाता है, जहाँ कुछ भी घटित नही होता अथवा जहाँ कुछ भी महत्वशील नही होता। उसमे साकेतिकता का निर्वाह अन्त तक किया जाता है। उसका कथानक पूर्णतया कवि-कल्पित होता है और वह महाकाव्य के सदृश्य ठोस यथार्थता से सर्वथा दूर होता है। उसमे जीवन की कुछ महत्वपूर्ण बातो पर ही जोर दिया जाता है और उसमे उनके समझाने का ही सुन्दर प्रयत्न किया जाता है।[1] इसके अतिरिक्त श्री डब्ल्यू० पी० केर ने रूपक-काव्य की कुछ अन्य विशेषताओ का उल्लेख किया है। उनका मत है कि अँग्रेजी साहित्य के मध्य-युग मे ऐसे एलिगरी या रूपक-काव्यो की प्रधानता मिलती है और वे सब धार्मिक बातो का उल्लेख करने के लिए ही लिखे गये हैं। उन्होने दो प्रकार के रूपक-काव्यो का उल्लेख किया है—पहले तो वे काव्य हैं जिनमे वास्तविक एव साकेतिक—दोनो अर्थों का प्रकाशन पृथक्-पृथक् किया जाता है, जैसे—बेस्टिअरी (Bestiary) काव्य, जिसमे पहले शेर, चीटी आदि का प्राकृतिक इतिहास दिया गया है और अन्त मे उनके आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया गया है। दूसरे वे काव्य हैं, जिनमे दोनो बातें साथ ही रहती हैं और उनमें साकेतिक बातो का निर्देश पृथक् नही किया जाता; जैसे—पिलग्रिम्स प्रोग्रेस (Pilgrim's Progress)। इसके साथ ही

1—(Allegories) may have epical qualities without being an epic...They take us into a region in which nothing happens that is not deeply significant, a dominant, noticeably symbolic purpose presides over each poem, moulds it greatly and informs it throughout...... Allegory requires material ingeniously manipulated and fantastic; what is more important it requires material invented by the poet himself That is a long way from the solid reality of material which epic requires. Allegory is a beautiful way of inculcating and asserting some special significance in life.

—The Epic by L. Abercrombe, pp. 52–54.

समस्त रूपक-काव्यों में द्वि-अर्थक कथा रहती है, जिनमें मूर्त एवं अमूर्त तथा सिंह, चीता आदि प्राकृतिक पात्रों का भी प्रयोग किया जाता है, परन्तु वे सभी अमूर्त भावनाओं के प्रतीक होते हैं। ऐसे काव्यों का निर्माण परोक्ष रूप से केवल सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए होता है। अतः इनमें उपदेश की ही प्रधानता रहती है।[1]

कामायनी में रूपकत्व का आभास—रूपक-काव्य के प्राच्य एवं पाश्चात्य आधारों पर कामायनी का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ पर भी रूपक-काव्य की सी विशेषताएँ विद्यमान हैं। जैसे, कामायनी की कथा भी द्वि-अर्थक है, क्योंकि एक ओर तो इसमें श्रद्धा एवं मनु का ऐतिहासिक उपाख्यान है और दूसरी ओर मन, बुद्धि और हृदय के क्रमिक विकास का रूप दिखलाते हुए मानवता के विकास का भी निरूपण किया गया है।[2] साथ ही इसके अधिकांश पात्र सांकेतिक हैं, क्योंकि मनु तो स्पष्ट ही मननशील, संकल्प-विकल्प युक्त एवं अहंभाव में लीन रहने के कारण अहंभावयुक्त मन या चेतना के प्रतीक हैं। श्रद्धा हार्दिक विश्वास एवं आस्तिक्य भाव से परिपूर्ण होने के कारण हृदय की प्रतीक है। इसे शुक्लजी ने विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति कहा है।[3] परन्तु विश्वास एवं राग-वृत्ति का सम्बन्ध भी हृदय से होने के कारण वह हृदय की ही प्रतीक सिद्ध होती है। इडा को प्रसादजी ने मस्तिष्क या बुद्धि का प्रतीक बतलाया है। परन्तु कुछ विद्वान् इडा को बुद्धि का प्रतीक मानने में विरोध करते हैं।[4] क्योंकि जिस बुद्धि के वैभव द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति करता है और यहाँ मनु भी उन्नति करते हुए दिखलाये गये हैं, उसकी ऐसी विगर्हणा करना कहाँ तक उपयुक्त है? इसके बारे में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि प्रसादजी ने बुद्धि का विरोध न करके बुद्धिवाद की अति का विरोध किया है।[5] अतः इडा बुद्धिवाद की अति को जन्म देने वाली 'तर्कशीला बुद्धि' का प्रतीक है।

इसके अतिरिक्त गौण पात्रों एवं घटनाओं में से मनु-पुत्र कुमार नव मानव का प्रतीक है, क्योंकि वही मानवता का यथार्थ रूप में प्रचार करता है। किलात और आकुलि अपनी तामसी प्रवृत्तियों की प्रबलता के कारण आसुरी प्रवृत्तियों

1—Medieval English Literature by W. P Ker, pp 137-139
२—कामायनी, आमुख, पृ० ७।
३—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६०।
४—जयशंकरप्रसाद—जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व, पृ० २०३-२०७।
५—जयशंकरप्रसाद, पृ० ८५-८६।

के प्रतीक है। श्रद्धा का पशु एक निरीह और शोषित प्राणी के रूप में चित्रित किया गया है, जिसका कि असुर पुरोहितों द्वारा वध कराया जाता है। अत वह सहज जीव या आधुनिक अर्थों मे गाँधीवादी अहिंसा का प्रतीक है। सारस्वत नगर प्राणमय कोश का प्रतीक है तथा सारस्वत नगर निवासी मनु के सहयोगी होते हुए भी तनिक से मनु के अतिचार पर क्रान्ति मचा देते हैं। अत. वे मन की सहगामिनी अन्य इन्द्रियो के प्रतीक हैं। सोमलता भोगो की प्रेरणा देती है और मनु की विलास-वासना को उत्तेजित करती है। अत वह भोग का प्रतीक है। जलप्लावन की माया या वासनापूर्ण अन्नमय कोश का प्रतीक माना जा सकता है, क्योंकि उसमें पथ-भ्रष्ट एव इन्द्रिय-लिप्सा मे लीन देवों के विलीन होने का वर्णन मिलता है। पशु-यज्ञ मे पापाचार एव कपट-व्यवहार की प्रधानता होने के कारण वह पाप का प्रतीक है। त्रिकोण या त्रिपुर भाव (इच्छा), ज्ञान और क्रियावृत्ति के प्रतीक हैं। सोमलता से आवृत्त वृषभ स्पष्ट ही भोगो से युक्त धर्म का प्रतीक है, जिसका उत्सर्ग करके मानव अखड आनन्द को प्राप्त करता है। सरोवर समरसता का प्रतीक है, क्योंकि यहाँ पहुँचते ही मन की प्यास मिट जाती है और सभी को सुख मिलता है।[1] कैलाश शिखर आनन्दमय कोश का प्रतीक है, क्योंकि इसी स्थान पर पहुँच कर कामायनी के समस्त पात्रों को अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है।

कामायनी मे प्रतीको का निर्वाह—कामायनी के प्रतीको को स्पष्ट करने के उपरान्त अब यह जानना भी आवश्यक हो जाता है कि इन समस्त प्रतीको का निर्वाह कामायनी की कथा में किस प्रकार हुआ है ? इस प्रश्न के बारे मे विचार करने पर पता चलता है कि तैत्तिरीय उपनिषद् मे आध्यात्मिक साधना के लिए पंच कोशो की कल्पना की गई है। वे क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश कहलाते हैं।[2] सर्वप्रथम जीव अन्नमय कोष में उत्पन्न होता है और क्रमशः उन्नति करता हुआ अपनी सतत साधना से आनन्दमय कोश तक पहुँच सकता है। कामायनी में प्रसादजी ने भी अहभावयुक्त मन को नाना कोशों में विचरण करने के उपरान्त अन्त मे आनन्दमय कोश मे पहुँचाने का प्रयत्न किया है।

सर्वप्रथम यह मन इधर-उधर भटकता हुआ प्रलय से व्यथित एवं बेचैन दिखलाया गया है, जिसे न तो जीवन-यापन के साधन ही कुछ ज्ञात हैं और न यह इतनी सामर्थ्य ही रखता है कि स्वयं अपना मार्ग निश्चित कर सके।

१—कामायनी, पृ० २८२।
२—तैत्तिरीयोपनिषद् २।८

यह अन्न से उत्पन्न और अन्नमय कोश में पड़े हुए प्राणी की भाँति केवल अन्न को ही प्रमुख मानता हुआ केवल पाकयज्ञ आदि में लीन रहता है और चिन्तन-मनन आदि अपने स्वाभाविक व्यापारों में सलग्न होकर 'अह' भावना से ओत-प्रोत होजाता है। इसी कारण इसका परिचय पहले हृदय से होता है। चेतन जीव की दो शक्तियाँ मानी गई हैं—हृदय और बुद्धि। हृदय रागात्मिका शक्ति है और मन में राग की प्रधानता रहती है। अत इससे चेतन जीव या मन का पहले सम्बन्ध होता है। इसका कारण यहाँ भी यही दिया गया है कि प्रकृति का सुरम्य वातावरण मन के अन्तर्गत अनादि वासना को जाग्रत कर देता है और वासना के जाग्रत होने पर फिर रागात्मिका शक्ति या हृदय से उसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। यह हृदय-तत्त्व उसे कर्मण्यता का पाठ पढाता हुआ सासारिक उन्नति के लिए प्रेरणा प्रदान करता है, किन्तु इतने ही में सोम-लता आदि भोगों के प्रभाव से उसे आसुरी प्रवृत्तियाँ आकर दबा लेती हैं और मन पापमय जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप वह अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का विरोध करता हुआ हिंसायुक्त वासना-प्रधान जीवन को महत्व देने लगता है। इन सब बातों के कारण अब उसका सम्बन्ध हृदय की राग-वृत्ति से नहीं रहता और वह हृदय-शक्ति के क्षेत्र से दूर भागकर जीव की दूसरी शक्ति—बुद्धि के क्षेत्र में पदार्पण करता है। परन्तु भोग एव वासना-प्रधान जीवन व्यतीत करने के कारण उसे बुद्धिवाद के अतिरेक से युक्त तर्कशीला बुद्धि ही अधिक प्रिय जान पड़ती है, उसी में अनुरक्त होकर वह बुद्धि का सदुपयोग न करके उसे अपनी वासना-पूर्ति का साधन बना लेता है और अपनी अतृप्त वासना की पूर्ति करना चाहता है। इसके लिए मन उस तर्कशीला बुद्धि पर भी अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करता है, परन्तु बुद्धि-शक्ति इस बात को स्वीकार नहीं करती। शतपथब्राह्मण में भी मन और वाक् या बुद्धि के सघर्ष की कथा मिलती है। वहाँ दोनों अपने-अपने महत्व के लिए झगड़ते हुए बतलाये गये हैं और अत में प्रजापति ने बुद्धि की अपेक्षा मन की श्रेष्ठता सिद्ध की है।[1] यहाँ पर भी सघर्ष उठ खड़ा होता है, जिसमे समस्त इन्द्रियों में हलचल मच जाती है और जिसका परिणाम यह होता है कि मन चेतना-शून्य हो जाता है। अब उसका विश्वास इस तर्कशीला बुद्धि पर से उठ जाता है और पुन अपनी रागात्मिका शक्ति—हृदय की शरण में आता है। यहाँ आते ही अब मन को इस पार्थिव जगत के प्रपच से वैराग्य होने लगता है और वह मनोमय कोश में

१—शतपथब्राह्मण १।४।५।८-११

पहुँच जाता है। यहाँ से अब हृदय की चेतना-शक्ति उसे ऊँचा उठाती है, जिससे मन को इच्छा, ज्ञान और क्रिया के त्रिकोण या त्रिपुर की वास्तविकताओं का ज्ञान होता है। ये तीनो पुर या तीनो लोक उस हृदय या चेतना-शक्ति के ही पृथक्-पृथक् तीन रूप हैं, जिनकी वास्तविकता का ज्ञान होते ही तीनों का समन्वय होजाता है और मन विज्ञानमय कोश मे पहुँच जाता है। यहाँ आते ही उसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थायें नष्ट हो जाती हैं और अब वह एक अनुत्तरावस्था मे पहुँच जाता है, जहाँ उसे नानात्व मे एक एकत्व की प्रतीति होने लगती है। यही उन्नतावस्था कैलाशगिरि या आनन्दमय कोश है, जहाँ उसे सर्वत्र समरसता के दर्शन होते है, उसकी अन्य इन्द्रियाँ भी उसका अनुसरण करने लगती हैं और वे सब श्रद्धा या हृदय के शासन मे आजाती हैं। कहीं भी भेद-भाव नहीं रहता, धार्मिक संकीर्णता भी जाती रहती है, क्योंकि धर्म-प्रतिनिधि वृषभ को यहीं उत्सर्ग किया जाता है और विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत होकर यह मन सर्वत्र जड-चेतन में एक चेतनता को व्याप्त देखता है तथा अखंड आनन्द में मग्न होजाता है।

कामायनी के रूपकत्व की समीक्षा—इस प्रकार प्रतीकों के निर्वाह की ओर दृष्टिपात करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने रूपक का निर्वाह बडे मनोवेग से किया है और सर्वत्र रूपक-गाथा के सतुलन की ओर ध्यान दिया है। परन्तु तनिक गहराई के साथ विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि यहाँ रूपक-काव्य की सभी विशेषताएं प्राप्त नहीं होतीं। प्रथम तो मनु, श्रद्धा आदि सभी पात्र ऐतिहासिक होने के कारण कल्पित नहीं हैं और दूसरे 'कामायनी' का समस्त चित्रण भी किसी काल्पनिक जगत का नहीं है, वह तो ठोस यथार्थता के आधार पर स्थित है। रूपक-काव्य के लिए तो सभी पात्र तथा सभी घटनाएं कल्पित होनी चाहिए, ऐसा कामायनी मे नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कामायनी के कथानक में यदि थोड़ी-बहुत प्रतीकात्मकता के दर्शन होते है, तो यह प्रतीकात्मकता तो आधुनिक महाकाव्य की एक विशेषता मानी गई है। इसके आधार पर उसे रूपक-काव्य कहना ठीक नहीं। फिर यहाँ रूपक-काव्य के समस्त प्रतीकों का पूरा-पूरा निर्वाह भी कहाँ हुआ है? जैसे, पच कोशों की कल्पना के अन्तर्गत अन्नमय, प्राणमय तथा आनन्दमय कोश के प्रतीक तो क्रमशः जलप्लावन, सारस्वत नगर तथा कैलाश पर्वत मिल जाते हैं, परन्तु शेष मनोमय इव विज्ञानमय कोशों के प्रतीक नहीं मिलते। इसके साथ ही जलप्लावन को अन्नमय कोश तथा सारस्वत नगर को प्राणमय कोश का प्रतीक कहना भी उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि दोनों स्थानों पर समान घटनाओं का ही वर्णन है, एक में देवों के

विलास का वर्णन है तो दूसरे में मनु के विलास का। अतः ये दोनों एक ही कोश के प्रतीक ज्ञात पड़ते हैं। इसमें कोश सम्बन्धी कल्पना का भी यहाँ पूरा-पूरा समाहार नहीं होता।

इसके अतिरिक्त नव मानव के प्रतीक कुमार की इस रूपक-कथा से कोई संगति नहीं बैठती, क्योंकि मनु जब मानव-मन के प्रतीक हैं, तो कुमार भी उनसे भिन्न नहीं ज्ञात होता और इस तरह दोनों में लगभग एक ही प्रतीकार्थ की पुनरावृत्ति हो जाती है।[1] इसके साथ ही कवि गेटे का कथन है कि रूपक-काव्य में सदैव समष्टि के लिए व्यष्टि का अन्वेषण करते हुए कथा प्रस्तुत की जाती है और वह सच्ची कविता नहीं होती।[2] इस आधार पर भी कामायनी रूपक-काव्य नहीं ठहरती, क्योंकि यहाँ पर प्रसादजी ने समस्त पात्रों में समष्टि-गत विशेषताओं का ही उल्लेख किया है, कोई भी पात्र व्यष्टि का द्योतक नहीं है। सभी के अन्तर्गत जातीय जीवन एवं मानव-समूह की भावनाओं का समावेश हुआ है। इस कारण यह काव्य एक सच्ची कविता के रूप को प्रस्तुत करता है, काल्पनिक रूपक-काव्य को नहीं।

सारांश यह है कि कामायनी की कथा का निर्माण पुष्ट ऐतिहासिक आधारों पर हुआ है, जिसमें कवि ने अपने कौशल से भावनाओं को ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बद्ध करके चित्रित किया है। जिस प्रकार प्रसादजी ने अपने नाटकों में प्राचीन कथानकों के सहारे आधुनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार कामायनी में भी प्राचीन कथानक द्वारा आधुनिक मानव के भावों एवं विचारों को अंकित किया है, उसकी समस्याओं को उठाया है और उनका समाधान करने का भी प्रयत्न किया है। अतः यहाँ सांकेतिकता के रहते हुए भी कामायनी को एक रूपक-काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसकी कथा पूर्णतः द्वि-अर्थक नहीं है। दूसरी कथा की संगति के लिए व्यर्थ बुद्धि-व्यायाम करना पड़ता है। इसकी प्रमुख कथा तो श्रद्धा और मनु द्वारा मानवता के विकास की कथा है, जिसमें थोड़ी बहुत सांकेतिकता अवश्य है, परन्तु उससे किसी पुष्ट अप्रस्तुत कथा का निर्माण नहीं होता। इसी

१—कामायनी-दर्शन, पृ० १६१।

2—There is a great difference between a poet who seeks the particular for the sake of the universal and one who seeks the universal in the particular The former method breeds Allegory......but the latter in the true method of poetry.

—Countries of the Mind, Second Series, p 54.

कारण इसे रूपक-काव्य की अपेक्षा महाकाव्य ही कहना अधिक न्यायसंगत है और सांकेतिकता को इसकी एक विशिष्टता माना जा सकता है।

छायावाद तथा रहस्यवाद का स्वरूप और कामायनी में उनका उन्मेष

छायावाद--हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग अत्यन्त वैविध्य पूर्ण है। साहित्य की जितनी विधाओं का जन्म इस युग में हुआ है, उतनी विधायें अन्य किसी भी युग में दिखाई नहीं देती। इसके साथ ही इस युग में काव्य की विभिन्न धारायें भी प्रवाहित हुई हैं, जो अद्यावधि किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। यहाँ पर द्विवेदी-युग में प्रवाहित इतिवृत्तात्मक एवं उपदेशात्मक स्थूल-भाव-निरूपिणी कविता के विरुद्ध एक ऐसी स्वानुभूति निरूपिणी तथा सूक्ष्म भावानुगामिनी कविता-धारा प्रवाहित हुई, जिसमें विद्रोह का तीव्र स्वर भरा हुआ था और जो अपनी रहस्यमयी भावनाओं, लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक पदावलियों चित्रमयी भाषा एवं मधुमयी कल्पना आदि के कारण एक नवीन धारा के रूप में दिखाई देती थी। यद्यपि इसमें नैतिकता की कहीं-कहीं अवहेलना की गई थी, फिर भी इसमें शृंगार के अतीन्द्रिय एवं मानसिक पक्ष की प्रबलता थी और साम्प्रदायिक रूढ़ियों से ग्रस्त धार्मिकता का तिरस्कार करके विश्व-बंधुत्व, मानवता, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि की भावनाओं को ही अधिक महत्व दिया गया था। ऐसी कविता को पहले अस्पष्ट,[1] गुप्त, गूढ़, छायामयी,[2] शुष्क विचारों का विजृम्भण,[3] नीरस, अमानवीय सतरें[4] आदि कहकर पुकारा गया था। परन्तु धीरे-धीरे पाठकों का दृष्टिकोण बदला और जनता में ऐसी कविताओं को सुनने और पढ़ने की रुचि जाग्रत हुई। इस प्रकार स्वतन्त्र एवं सूक्ष्म भावों से सम्पृक्त, प्रकृति की मनोरम झाँकी से ओतप्रोत, मानवीय प्रेम एवं

काव्य-मर्मज्ञ भी रहस्यवाद को काव्यवस्तु और छायावाद को शैली-विधान कहकर दोनों की एकरूपता का निरूपण करते रहे।[5] परन्तु परवर्ती आलोचकों

१—सद्यन, पृ० १०२।
२—वही, पृ० ८७।
३—वही, पृ० १००।
४—वही, पृ० १०७।
५—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६६।

का दृष्टिकोण बदला और आज छायावाद तथा रहस्यवाद दोनों को पृथक्-पृथक् कविता-धारा के रूप में स्वीकार किया जाता है।

कविता की इस नई धारा का जन्म द्विवेदी-युग में हुआ था। उस युग में इसका कोई स्पष्ट रूप आलोचकों के सम्मुख न था, क्योंकि स्वयं आचार्य द्विवेदी ने इस प्रकार की कविता के बारे में लिखा था, 'इसे कोई रहस्यमय कहता है, कोई गूढार्थ-बोधक कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है। छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद-कविता कहना चाहिए।'[1] द्विवेदीजी के उपरान्त भी कुछ दिनों तक इस कविता का रूप स्पष्ट नहीं हुआ। इसी कारण आचार्य शुक्ल ने इसे एकमात्र 'प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन' बतलाया तथा इसे योरोप के रूपात्मक आभास या छाया (Phantasmata) के अनुकरण पर लिखी हुई बंगला कविताओं का नवीन हिन्दी-संस्करण सिद्ध किया।[2] परन्तु उक्त दोनों प्रसिद्ध आलोचकों का विरोध करते हुए प्रसादजी ने इस छायावाद को भारतीय परम्परा में विकसित काव्य की एक नूतन प्रणाली सिद्ध किया और उसकी रूपरेखा को इस तरह समझाया कि—"मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। अतः सौन्दर्य ने इसी सूक्ष्म रूप को अपनाते हुए पौराणिक कथाओं एवं नारी के बाह्य सौन्दर्य के वर्णन से भिन्न जिन कविताओं में वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हुई वही छायावाद है।"[3] इसे पूर्ववर्ती आलोचकों ने अस्पष्ट, छाया मात्र, पलायनवादी तथा रहस्यवादी बतलाया था। इस पर प्रसादजी ने कहा कि "हो सकता है, जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृङ्खल होगई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल होगया हो, परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छायामात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल में वह रहस्यवाद भी नहीं है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-

---

१—संचयन, पृ० ८८।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६८।

३—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२३-१२४।

धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता। छायावाद से तात्पर्य कविता की एक ऐसी नई प्रणाली से है जो भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर अधिक निर्भर करती है, जिसमे ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ-साथ स्वानुभूति की विवृति रहती है और जिसमे अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति को महत्व दिया जाता है।"[१]

प्रसादजी की उक्त विवेचना से छायावाद की रूप-रेखा बहुत कुछ स्पष्ट होगई थी, फिर भी उनके परवर्ती आलोचकों में तीन वर्ग बन गये। कुछ ने तो छायावाद को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया, कुछ ने इसे आध्यात्मिक क्षेत्र से सर्वथा परे विशुद्ध लौकिक-जीवन के आधार पर स्थित सिद्ध किया और कुछ आलोचकों ने इसे आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों के समन्वित रूप में देखा। इनमे से प्रथम आध्यात्मिक रूप देने वालो मे महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, हरिऔध, नन्ददुलारे वाजपेयी, गगाप्रसाद पाडेय, इलाचन्द्र जोशी आदि आते हैं। दूसरे, विशुद्ध मानवीय आधार पर स्थित मानने वालो में डा० नगेन्द, डा० रामविलास शर्मा, डा० देवराज, शिवदानसिंह चौहान आदि आते हैं। तीसरे, लौकिकता एवं आध्यात्मिकता दोनों का समन्वय स्वीकार करने वालों में सर्वश्री सुमित्रानन्दन पंत, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विनयमोहन शर्मा, डा० गुलाबराय डा० प्रेमनारायण, डा० भोलानाथ प्रभृति आते हैं।

उक्त तीनों वर्गों मे से प्रथम आध्यात्मिक रूप देने वालों का कथन है कि छायावाद मे प्रकृति के अन्दर बिखरी हुई सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति को स्वानुभूत सुख-दुखो से मिलाकर[२] एक ऐसा काव्य-रूप दिया गया है, जिसमें ब्रह्म के विराट् रूप के दर्शन होते हैं और सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ सर्ववाद, जड़-चेतन की अभिन्नता, व्यष्टिगत चेतना से व्यापक चेतना की एकता, भावात्मक दर्शन आदि का निरूपण किया जाता है।[३] इसके साथ ही इस कविता मे जीवात्मा-परमात्मा के दिव्य, अलौकिक एवं निरन्तर सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है[४] और इस व्यक्त जगत से परे अव्यक्त सत्ता की झिल-मिलाती हुई छाया का दर्शन करते हुए उसको अभिव्यक्ति प्रदान की जाती

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२७-१२८।
२—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ६१।
३—वही, पृ० ८६। ४—साहित्य समालोचना, पृ० ५।

है।[1] अतः इन सभी आलोचकों की दृष्टि में मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में किसी अज्ञात, सप्राण, एवं आध्यात्मिक छाया का भान होना ही छायावाद है।[2]

दूसरा वर्ग उक्त विचारों से सहमत नहीं है। इस वर्ग के आलोचक छायावाद में किसी आध्यात्मिक पूर्णता या अव्यक्त सत्ता का निरूपण नहीं मानते। इनके मत से यहाँ केवल प्रेम और सौन्दर्य का ही निरूपण किया जाता है और वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप प्रदान करने की चेष्टा की जाती है। यह कविता मूलतः शृंगारिक है, जिसका जन्म व्यक्तिगत कुण्ठाओं से हुआ है और मन की वे ही कुण्ठित वासनायें प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा यहाँ प्रकट की जाती है।[3] परन्तु इस वर्ग के कुछ आलोचकों का मत है कि छायावाद में केवल अतृप्त एवं कुण्ठित वासनाओं का ही चित्रण नहीं है, अपितु उसमें साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्ष, देश की स्वाधीनता एवं जनतन्त्र प्राप्त करने की आकांक्षा आदि का सशक्त स्वर भी सुनाई देता है।[4] साथ ही सामन्ती युग की समाज-शृंखलाओं और रूढ़ियों की दासता के विरुद्ध संघर्ष करके, जिसके कारण मनुष्य के व्यक्तिगत विकास के समस्त द्वार बंद हो चुके थे, इसमें व्यक्ति की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन किया गया है।[5] अतः इन समालोचकों के मतानुसार छायावादी कविता में लौकिक प्रेरणा की ही प्रधानता है और मानव के स्थूल शृंगार का वर्णन अधिक किया गया है।[6]

तीसरे वर्ग के आलोचकों ने उक्त दोनों वर्गों का समन्वय करते हुए छायावाद में एक ओर तो ऐहिक जीवन की आकांक्षा सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं, संवेदनाओं, कठिनाइयों आदि के वर्णन की प्रधानता स्वीकार की है और दूसरी ओर निगूढ़ रहस्यात्मक संकेतों तथा किसी अलौकिक सत्ता के वर्णन सम्बन्धी

१—हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास, पृ० ५८३-५८४ तथा विजनवती की भूमिका, पृ० ८।

२—हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी, पृ० १६३ तथा छायावाद-रहस्यवाद, पृ० २०।

३—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १० १२ तथा छायावाद का पतन, पृ०६।

४—लोक-जीवन और साहित्य, पृ० ८६। ५—प्रगतिवाद, पृ० ३३।

६—आलोचना, वर्ष २, अंक २, पूर्णाङ्क ६, जनवरी १९५३ पृ० ७८।

आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का होना भी स्वीकार किया है।[1] इन आलोचकों का मत है कि आध्यात्मिकता की प्रेरणा या रहस्यवाद का स्पर्श छायावाद मे अवश्य होता है परन्तु उस अध्यात्म की व्यंजना मे मानव की अभिव्यक्ति ही प्रधान होती है।[2]

उक्त तीनो वर्गों के समालोचकों का अनुशीलन करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि छायावाद मे आध्यात्मिक संकेत अवश्य रहते हैं, परन्तु उसे आध्यात्मिक कविता कहना उचित नही, उसमे मानव-जीवन का ही यथार्थ चित्रण होता है, उसकी आशा-निराशा, सवेदना, जीवन-संघर्ष, शृंगार-भावना आदि के सजीव चित्र अकित किए जाते हैं, किन्तु उसमे कोरी इतिवृत्तात्मकता नही होती, वह इससे कुछ ऊँचा उठकर वायवीपन की ओर जाता दिखाई देता है और उसमे प्रकृति की रमणीय छटा का दर्शन करते हुए मानव के सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत की जाती है। इस प्रकार छायावाद मे अनुभूति एवं अभिव्यक्ति सम्बन्धी निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं :—

१—सौंदर्य-दर्शन।
२—शृङ्गारिकता।
३—स्वानुभूत सुख-दुःख की विवृति।
४—प्रकृति पर चेतनता का आरोप।
५—आध्यात्मिकता।
६—नारी की महत्ता।
७—मानवता की विवृति।
८—अभिव्यजना की अनूठी पद्धति—लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, उपचारवक्रता, ध्वन्यात्मकता, चित्र-भाषा, नये-नये अलकारो के प्रयोग इत्यादि।

कामायनी में छायावाद का स्वरूप

१. सौंदर्य-दर्शन—कामायनी का निर्माण छायावाद की प्रौढ वेला मे हुआ है। अतः इसमे छायावाद की समस्त प्रवृत्तियों का होना स्वाभाविक है। जहाँ तक सौन्दर्य-दर्शन का प्रश्न है, प्रत्येक छायावादी कवि विश्व के प्रत्येक

१—आधुनिक कवि, भाग २, पृ० १२, कवि और काव्य, पृ० १४५–१४६ तथा हिन्दी काव्य-विमर्श, पृ० २२६।

२—कवि प्रसाद—आंसू तथा अन्य कृतियां, पृ० २१, हिन्दी साहित्य में विवधवाद, पृ० ४६१ और हिन्दी साहित्य, पृ० ३२५–३२८।

अवयव में अनन्त सौन्दर्य के दर्शन करता है। जो पदार्थ अन्य लोगों की दृष्टि में भीषण एवं कुरूप हैं, वे छायावादी कवियों की दृष्टि में कमनीय एवं मनोहर हैं। उनकी दृष्टि इतनी सौम्य, उदार एवं सौन्दर्योपासक है कि उन्हें प्रकृति के समस्त जड़-चेतन पदार्थों एवं स्थूल जगत के अंग-अंग में एक अनन्त व्यापक सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। अन्य छायावादी कवियों की भाँति प्रसादजी ने भी कामायनी में ऐसे ही व्यापक सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। इसी कारण उन्हें सर्वत्र 'सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ' रहस्य बनकर नाचती हुई प्रतीत होती हैं।[1] सभी स्थानों पर 'अपनी मधुरिमा में मौन रूप से एक सोया हुआ महान् संदेश' सुनाई पड़ता है[2] और तारागण, चन्द्र ज्योत्स्ना, रजनी उषा आदि सभी उन्हें मधुमय संदेश देते हैं।[3] अपनी इसी सौन्दर्योपासना के कारण उन्हें प्रलय की भीषण वेला में भी 'तरल तिमिर' एवं 'प्रलय पवन आलिंगन करते प्रतीत होते हैं[4] और शिव का विनाशकारी भीषणतर ताण्डव नृत्य भी कमनीय दिखाई देता है।[5] इसके साथ ही उन्हें प्रकृति में वल्लरियों के मादक नृत्य,[6] मधुपों की वीणा-ध्वनि के तुल्य मदमाती गूँज, मलयानिल का सुख स्पर्श, पवन का मधुर मृदंग-वादन, रश्मियों के अप्सरा तुल्य मनोहर नृत्य आदि के दर्शन होते हैं।[7]

२ शृङ्गारिकता—द्विवेदी-युग में शृंगार के प्रति जो कटु एवं तीव्र घृणा दिखाई देती है, छायावादी युग में आकर उसकी घोर प्रतिक्रिया हुई है और अधिकांश कवि शृंगारमयी रचनाएँ करने में ही प्रवृत्त हुए हैं। परन्तु इस युग के शृंगार-वर्णन में रीतिकाल की सी स्थूलता, बाह्य व्यापारों की प्रधानता, नख-शिख वर्णन की रुचि, कामुकता आदि न होकर उनके स्थान पर सूक्ष्मता, हार्दिक मनोभावों के उद्घाटन की प्रबलता, अशरीरी सौन्दर्य के प्रति प्रेम, विशुद्ध प्रेम की तीव्रता आदि के दर्शन होते हैं। प्रसादजी की कामायनी में भी द्विवेदी-युग की इसी स्थूल शृंगार के प्रति उत्पन्न घृणा की प्रतिक्रिया दिखाई देती है। इसी कारण वे श्रद्धा के द्वारा काम को अपनाने का सन्देश देते हैं, उस काम को मंगल से मंडित बतलाते हैं और काम को ही स्रष्टा की इच्छा का स्वरूप बतलाते हुए उसमें ही सृष्टि का विकास सिद्ध करते हैं।[8] इसके साथ ही स्थूल नख-शिख का वर्णन न करके वे श्रद्धा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए

१—कामायनी, पृ० ६६। २—कामायनी, पृ० ४१
३—वही, पृ० ३८। ४—वही, पृ० १५।
५—वही, पृ० २५४। ६—वही, पृ० २६२।
७—वही, पृ० २६३-२६४। ८—वही, पृ० ५३।

उसे 'नित्य यौवन की छवि से दीप्त', 'विश्व की करुण कामना मूर्ति',[1] 'ज्योत्स्ना निर्झर',[2] 'हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा',[3] 'वासना की मधुर छाया',[4] 'पूर्ण काम की प्रतिमा'[5] आदि कहते हैं। इन वर्णनो मे कही भी स्थूल एवं पार्थिव शृ गार के साथ-साथ कामुकता या विलासिता के दर्शन नही होते। इसके अतिरिक्त 'वासना' सर्ग मे उन्होने शृ गार के जिस सयोग पक्ष का वर्णन किया है और उसमे जिस तल्लीनता, मादकता, भाव-प्रवणता, दीप्ति आदि को अंकित किया है,[6] उसमे भी सूफी-कवियो एव रीतिकालीन कवियो से कही अधिक पवित्रता, शुद्धता, सुकुमारता, सूक्ष्मता आदि के दर्शन होते हैं। इस तरह प्रसादजी ने जिस शृ गारिकता को कामायनी मे अपनाया है, वह विशुद्ध प्रेम की प्रतीक है। क्योकि उन्होने देव-सृष्टि का विनाश एव मनु का पतन दिखाकर यह स्पष्ट घोषित किया है कि शृङ्गार को वासना या कामुकता से सयुक्त करके यदि अपनाया जायेगा, तो उनकी देवो या मनु जैसो ही दशा होगी। अतः कामायनी मे स्थूल एव कामुकता-सम्पृक्त शृङ्गारिकता के स्थान पर सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, विशुद्ध, सात्विक एव पवित्र शृङ्गारिकता के दर्शन होते हैं।

३. **स्वानुभूत सुख-दुःख की विवृति**—छायावादी कविता मे सबसे अधिक स्वानुभूति निरूपण की ओर ही आग्रह रहा है। प्रत्येक कवि अपने अनुभूत सुख-दुःखो को अवसर पाकर स्थान-स्थान पर चित्रित करने का प्रयत्न करता है और उनके सहारे समष्टिगत भावनाओ का भी निरूपण करता है। इसका कारण यह है कि छायावादी कवि अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाले होते हैं और उनकी यह प्रवृत्ति दो रूपो मे व्यक्त होती है, या तो वे विषय पर विषयी की मनसा का आरोप करके अथवा वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओ मे रगकर देखते हैं, या समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि मे लीन रहना अधिक अच्छा समझते हैं।[7] कामायनी मे प्रसादजी उक्त दोनों रूपो मे से केवल प्रथम रूप को ही अपनाकर चले हैं। इसका कारण यह है कि कामायनी एक प्रबन्ध-काव्य है और दूसरे रूप की अभिव्यक्ति अधिकांश फुटकल मुक्तक कविताओं में होती है। अत यहाँ पर सभी स्वानुभूत विचार मनु, श्रद्धा, काम आदि की उक्तियों के रूप में ही व्यक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए प्रसादजी की दुःख-सुख सम्बन्धी स्वानुभूति के दर्शन

१—कामायनी, पृ० ४७। २—वही, पृ० ८६।
३—वही, पृ० ८७। ४—वही, पृ० ८७।
५—वही, पृ० २६०। ६—वही, पृ० ८६-९४।
७—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० १०।

'चिन्ता' तथा 'आशा' सर्ग में मनु के द्वारा वर्णित जीवन की विषमता एवं कटुता के चित्रण मे,[1] 'श्रद्धा' सर्ग में मनु की व्यथापूर्ण निराशा की स्थिति तथा श्रद्धा के आशा-पूर्ण सन्देश के वर्णन मे[2], इडा' सर्ग मे मनु के निजी दुःख-पूर्ण जीवन के कथन तथा काम की शाप ध्वनि के रूप मे,[3] 'निर्वेद' सर्ग मे श्रद्धा-मनु के वार्तालाप के रूप में[4] एव 'आनन्द' सर्ग में मनु द्वारा वर्णित आनन्द की स्थिति के रूप मे होते हैं ।[5] इन सभी स्थलो पर प्रसादजी ने अपनी गहन अनुभूति का चित्रण करते हुए व्यष्टिगत भावनाओं को समष्टिगत भावनाओ के रूप में अंकित किया है ।

४ प्रकृति पर चेतनता का आरोप—छायावादी कवि प्रकृति मे एक सजीव सत्ता के दर्शन करते हैं और उन्हे मानव व्यापारो की ही भाँति प्रकृति भी जडता से सर्वथा परे चेतन-व्यापारो से सम्पृक्त दिखाई देती है । इसी कारण वे मानव-जगत की भाँति प्रकृति मे भी हास-विलास, रुदन-शोक, आनन्द-उल्लास आदि के सजीव चित्र अंकित किया करते हैं । प्रसादजी ने भी कामायनी में प्रकृति के ऐसे ही सजीव एव चेतना सम्पृक्त चित्र अंकित किए हैं और सर्वत्र उस पर चेतनता का आरोप करते हुए कभी उसे रजनी के रूप मे विकल, खिलखिलाती हुई, घूँघट उठा मुसकयाती हुई, वेसुध होकर चचलता के साथ अचल छोडकर भागती हुई तथा तारो की मणिराजी को बिखेरते हुए देखा है,[6] तो कभी तारो से अलक गूँथकर एव कदम्ब की रसना पहनकर वल्कल-वसना सन्ध्या नारी के रूप मे सरोवर के समीप आते हुए देखा है ।[7] इसी तरह कभी उसे उषाकाल मे नेत्र-निमीलन करते हुए वनस्पतियो के रूप मे प्रबुद्ध होते हुए देखा है, तो कभी सिन्धु की शैया पर धरा-वधू के रूप मे मान करते हुए एव ऐंठे हुए देखा है ।[8] इसके अतिरिक्त कभी उसे सम्पारानी के रूप मे अरुण जलज-केसर लेकर मन बहलाते हुए देखा है, तो कभी मदाकिनी के रूप मे अपने प्रिय सिन्धु मे मिलने के लिए तीव्रगति मे जाते हुए देखा है ।[9] इस तरह प्रसादजी ने कामायनी मे प्रकृति पर चेतना का आरोप करते हुए उसे विभिन्न मानवीय व्यापारो मे सयुक्त करके चित्रित किया है ।

१—कामायनी, पृ० ५–६, १८–१६, ३६–३७ ।
२—वही, पृ० ४८-४६ ।
३—वही, पृ०१५७-१६६ ।
४—वही, पृ० २१६-२२० ।
५— वही, पृ० २८७-२६४ ।
६—वही, पृ० ३६-४० ।
७—वही, पृ० २८५ ।
८—वही, पृ० २३-२४ ।
६—वही, पृ० १७५-१७६ ।

५. आध्यात्मिकता—छायावादी कवि सर्ववाद अथवा पूर्ण अद्वैतवाद का पुजारी रहा है। इसी कारण वह सर्वत्र एक ऐसी अज्ञात शक्ति के दर्शन करता है, जो उससे अभिन्न होकर सारे विश्व मे व्याप्त है और जो निरन्तर उसके कार्य-कलापों मे भाग लेती रहती है। वह कभी उससे प्रश्न करता, कभी उसे जिज्ञासा भरे नेत्रो से निहारता, कभी उसके वियोग का अनुभव करके आँसू बहाता अथवा कभी उसके मिलन-सुख का आनन्द अनुभव करता हुआ दिखाई देता है। अतः छायावादी कवि किसी निर्गुण, निराकार एव रहस्यमय ब्रह्म के के प्रति अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके अपने विचार प्रकट किया करता है। प्रसादजी ने भी कामायनी मे कुछ स्थलो पर ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। उनकी इस आध्यात्मिक भावना का उल्लेख आगे चलकर रहस्यवाद के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक किया गया है।

६. नारी की महत्ता—छायावादी युग मे कवियो ने नारी को सबसे अधिक महत्व देते हुए उसके परम्परागत स्वरूप मे आमूल-चूल परिवर्तन किया है। उसके प्रति हृदय की समस्त महानुभूति प्रदर्शित करते हुए उसे एक दिव्य एव अलौकिक सौन्दर्य प्रदान किया है तथा समाज में उसे मानवी से देवी बनाते हुए पुरुष की अपेक्षा कही श्रेष्ठ स्थान दिया है। कामायनी मे प्रसादजी ने भी नारी को दया, माया, ममता, त्याग, बलिदान, सेवा, समर्पण, अगाध-विश्वास[1] आदि से युक्त बतलाकर कहा है'—

> नारी! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल मे,
> पीयूष स्त्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल मे।
> —(श्रद्धा सर्ग)

अतः प्रसादजी की दृष्टि मे नारी श्रद्धामयी है और वह जीवन के समतल मे सतत अमृत-धारा को बहाने वाली है। इतना ही नहीं, वे नारी को और भी महान् मानते हैं। इसी कारण आगे चलकर उन्होने 'कामायनी' मे श्रद्धा को अत्यन्त उदार, निर्विकार, मातृमूर्ति, सर्वमगला, परदुखकातर, कल्याणमयी, क्षमानियल[2] आदि कहकर साधारण मानवी से कही उच्च बतलाते हुए एक दिव्य शक्ति-सम्पन्न, अलौकिक सौदर्न्यमयी, सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाली देवी[3] के रूप में चित्रित किया है।

७. मानवता की विवृति—छायाववादी कवियो ने मानवता-प्रेम को बडी तीव्रता के साथ अपनाया है। वे मानवता के अनन्य प्रेमी रहे हैं और इसी कारण

१—कामायनी, पृ० ५७। २—वही, पृ० २४६।
३—वही, पृ० २६०।

वे किसी संकुचित राष्ट्रीयता अथवा सीमित देश-प्रेम से आबद्ध न होकर समग्र विश्व से प्रेम करते हैं, समस्त मानवों की कल्याण-कामना करते हैं और विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत होकर सच्ची मानवता के प्रेम का अपनी कविताओं में चित्रित करते हैं। कामायनी में प्रसादजी ने भी इसी विश्वव्यापी मानवता का चित्रण करते हुए 'अखिल मानव-भावों के सत्य को चेतना का सुन्दर इतिहास' बतलाया है,[1] विश्व की दुर्बलता को बलवती बनाने की सलाह दी है, मानवता को विजयिनी बनाने के लिए शक्ति के विद्युत कणों को संकलित करने का आग्रह किया है,[2] सम्पूर्ण विश्व को चिति का विराट वपु[3] बतलाते हुए मानव-मात्र की सेवा को अपनी सेवा तथा सारे जगत को एक 'नीड़' बतलाया है और अन्त में समस्त भेद-भाव को भुलाकर सम्पूर्ण प्राणियों को एक कुटुम्ब के रूप में रहने का आग्रह किया है।[4] इस तरह कामायनी में बड़ी सजीवता के साथ मानवता के प्रेम का उद्घाटन हुआ है।

८ **अभिव्यंजना की अनूठी पद्धति**—छायावाद ने हिन्दी कविता के क्षेत्र में जिस अनूठी अभिव्यंजना-पद्धति का प्रचार किया है, उसका चरमोत्कर्ष कामायनी में दिखाई देता है। इसका मूल कारण यह है कि प्रसादजी स्वयं छायावाद के आदि प्रवर्त्तक हैं और अपनी कविताओं में वे जिस नूतन प्रणाली को लेकर चले हैं, वही छायावाद की अभिव्यंजना-पद्धति कहलाती है। इस पद्धति का विशद विवेचन कलापक्ष के अन्तर्गत आगामी पृष्ठों में किया गया है।[5]

इस प्रकार कामायनी के अन्तर्गत छायावाद का स्वरूप देखने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ छायावाद अपने उत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इसी कारण छायावाद के कटु आलोचकों ने भी कामायनी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और उसे छायावादी युग की सर्वोत्कृष्ट कृति के रूप में स्वीकार किया है।[6] इसका कारण यह है कि छायावाद ने जिस प्रकार के वर्ण्य-विषय एवं स्वानुभूति-निरूपण की पद्धति का प्रचार किया था, उसका पूर्ण विकास कामायनी में आकर हुआ है। अतः 'कामायनी' काव्य छायावादी युग का प्रथम और अन्तिम श्रेष्ठ महाकाव्य है।

रहस्यवाद—भारतवर्ष दार्शनिकों का देश है। अतः यहाँ पर विराट् सत्ता के प्रति प्रकट किए जाने वाले रहस्यमय उद्गार वैदिक काल से ही मिलते हैं।

१—कामायनी, पृ० ५८। २—वही, पृ० ५६।
३—वही, पृ० २८८। ४—वही, पृ० २८६।
५—देखिये, पृ० २१२-२७२।
६—विवेचन पृ० ५१ तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६३-६६४।

परन्तु आधुनिक युग में जिस रहस्यवादी कविता का श्रीगणेश हुआ है उसके पीछे द्विवेदी-युग की राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक भावनाएँ कार्य कर रही है। उस समय एक ओर तो सरकार साम्राज्यवाद की रूढियो मे ग्रस्त थी। दूसरे, समाज भी प्राचीन धार्मिक रूढियों का शिकार बना हुआ था, जिसमे मानव के व्यापारो मे भी सतत सघर्ष, कटुता और विफलता की ही प्रधानता हो गई थी। ऐसे समय मे बेचारे नवयुवको को सभी ओर से निराशा का सामना करना पड़ रहा था। अब उनके सम्मुख केवल दो ही शरण-स्थल थे। एक तो प्राकृतिक सौन्दर्य और दूसरा उस सौन्दर्य का सृजन करने वाली चराचर मे व्याप्त परमात्म-शक्ति, जो साम्प्रदायिकता की रूढियो से सर्वथा परे थी। अतः सरकार और समाज से तिरस्कृत होने के कारण उनकी वैयक्तिकता उभार मे आई, जिससे स्वातन्त्र्य-भावना जाग्रत हुई और उनके भावोद्‌गार गीत-लहरी मे बह उठे। उन गीतो मे जहाँ उन्होने उस अव्यक्त, अगोचर एव असीम सत्ता के प्रति अपने भाव प्रकट किये हैं, वे ही गीत 'रहस्यवाद' के नाम से अभिहित किये जाते हैं।[1]

रहस्यवाद के बारे मे भिन्न-भिन्न विद्वानो ने विभिन्न प्रकार से अपने-अपने विचार व्यक्त किये है। जैसे आचार्य शुक्ल का कथन है कि 'जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा मे प्रेम की अनेक प्रकार से व्यजना करता है, उसे रहस्यवाद कहते हैं।'[2] डा० श्यामसुन्दर-दास का कथन है कि 'चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र मे जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर रहस्यवाद का रूप पकडता है।'[3] डा० रामकुमार वर्मा का मत है कि 'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोडना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ जाता है कि दोनो मे कुछ भी अन्तर नही रह जाता।'[4] इसी तरह प्रसादजी ने यदि अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय कर देने' को रहस्यवाद कहा है,[5] तो महादेवीजी ने 'अपनी सीमा को असीम तत्त्व मे खो देने' को रहस्यवाद बतलाया है।[6] सारांश यह है कि सभी विद्वान्

१—हिन्दी काव्य-विमर्श पृ० २२७।
२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६८।
३—कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ५६।
४—कबीर का रहस्यवाद, पृ० ७।
५—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६६।
६—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० १३२।

इस दृश्य जगत में व्याप्त उस अज्ञात एवं अगोचर सत्ता से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने को रहस्यवाद कहते हैं। इसी कारण एक रहस्यवादी कवि कभी उस अव्यक्त सत्ता को जानने की जिज्ञासा प्रकट करता है, कभी उससे सम्बन्ध स्थापित करके उसके साथ आनन्दपूर्वक आँख-मिचौनी खेलता है, तो कभी उससे वियुक्त होकर बेचैन एवं व्यथित होता हुआ इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। इस तरह रहस्यवाद के अन्तर्गत एक कवि उस अज्ञात एवं विराट् सत्ता के प्रति अपने ऐसे भावोद्गार व्यक्त करता है, जिनमें सुख-दुःख आनन्द-विषाद, रुदन-हास, संयोग-वियोग आदि घुले-मिले रहते हैं और वह अपनी ससीमता को अव्यक्त शक्ति की असीमता में लीन करके एक व्यापक आनन्द का अनुभव किया करता है।

इस रहस्यवाद की भावना का मूल उद्गम ऋग्वेद में मिलता है, क्योंकि वहाँ पर परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे माता, पिता, भ्राता आदि रूपों में स्मरण किया गया है।[1] साथ ही उपनिषद् तो रहस्यात्मक उक्तियों के भंडार हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए रहस्यात्मक संकेत भरे पड़े हैं।[2] इसी कारण रहस्यानुभूति का जैसा क्रम-बद्ध इतिहास हमारे प्राचीनतम काव्य में मिलता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है।[3] परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि आधुनिक कविता में जिस रहस्यवाद के दर्शन होते हैं वह पूर्णतया विदेशी है, उस पर यहूदियों और पुराने ईसाईयों की धर्म-भावना का प्रभाव है, उसकी उत्पत्ति पैगम्बरी (सेमेटिक) मतों के भीतर हुई है और वह भारत की अपनी वस्तु न होकर पूर्णतया विलायत की नकल पर विकसित हुआ है।[4] इसका उचित उत्तर प्रसादजी ने अपने 'रहस्यवाद' नामक विस्तृत लेख में दिया है। उन्होंने लिखा है कि भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपोटामिया से आया है, यह कहना वैसा ही है जैसा वेदों को सुमेरियन डॉकुमेण्ट सिद्ध करने का प्रयास करना।[5] इतना ही नहीं, रहस्य-वाद के क्रमिक इतिहास का उल्लेख करते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया है कि इस रहस्यवाद के मूल में आनन्दवाद की धारा अविरल गति से प्रवाहित हो

१—कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ४५।

2—A Constructive Survey of Upnisadic Philosophy, p 326

३—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ११४।

४—चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५१, १५५, १६०।

५—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४८।

रही है और वह ऋग्वेद से लेकर आरण्यको, ब्राह्मण-ग्रन्थो, उपनिषदो, आगमों आदि में होती हुई बौद्धों के महायान सम्प्रदाय मे भी दिखाई देती है। तदनतर वही धारा सूफियों, पौराणिक धर्म-भावना मे विकसित हिन्दी के सगुण-धारा के कवियो और कबीर आदि निर्गुणमार्गी कवियो मे लक्षित होती है, उसी का विकास आगे चलकर रसखान, देव, घनानन्द आदि मे हुआ है और यही रहस्य-वाद की आनन्दमयी धारा आधुनिक कविता मे भी विकसित हुई है। इस तरह प्रसादजी ने अन्त में यह सिद्ध किया है कि 'वर्त्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमे सन्देह नही।'[1]

विद्वानो ने रहस्यवाद की विभिन्न स्थितियो का उल्लेख किया है। कुमारी अंडरहिल ने ईसाई मतो के रहस्यवाद की छै अवस्थाओं का वर्णन किया है। पहली जागृति (Awakening of the Soul) अवस्था है, जिसमे आत्मा परमात्मा के बारे मे सुनकर सचेत हो जाती है। दूसरी, आत्मशुद्धि (Purgation) की अवस्था है, जिसमे आत्मा अपनी ससीमता और अपूर्णता को पहचानती है और योग आदि के द्वारा स्वय पर नियन्त्रण करती है। तीसरी, अवस्था आत्म-प्रकाश (Illumination) कहलाती है, जिसमे आत्मा एक विचारावस्था मे होती है और उसमे हर्षातिरेक की भावना भी देखी जाती है। चौथी, अधकारमयी स्थिति (Dark night of the Soul) कहलाती है, जिसमे आत्मा विघ्नो का सामना करती है और परमात्मा के वियोग मे दुःख, वेदना आदि का अनुभव करती है। पाँचवी, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति (Introspection) की स्थिति है, जिसमे वह अन्तर्मुखी होकर परमात्मा से मिलने के लिए तैयार हो जाती है और छठी, दैवी दृश्य (Vision) या मिलन की स्थिति है, जिसमे आत्मा और परमात्मा का पूर्णतया मिलन हो जाता है।[2] डा० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की केवल तीन स्थितियो का उल्लेख किया है। उनके मत से प्रथम मे आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध जोडने के लिए अग्रसर होना, दूसरी स्थिति में आत्मा का परमात्मा से प्रेम करने लगना और तीसरी स्थिति मे आत्मा-परमात्मा का पूर्ण मिलन या एकीकरण होता आता है।[3] डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने रहस्यवाद की पाँच स्थितियो की ओर सकेत किया है—(१) प्रभु के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल अथवा विस्मय की भावना, (२) प्रभु का महत्व और उसकी अनिर्वचनीयता, (३) प्रभु के दर्शन का प्रयत्न, (४) प्रभु के

१—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ६६।

२—रहस्यवाद और हिन्दी कविता, पृ० १३६–१३७।

३—कबीर का रहस्यवाद, पृ० १२–१४।

प्रति विभिन्न सम्बन्ध की उद्भावना, और (५) प्रभु मे एकाकारिता।[1]

रहस्यवाद की जिन विभिन्न स्थितियों का ऊपर उल्लेख किया गया है और जिनके आधार पर रहस्यवादी कवि अपने अपने काव्यों मे रहस्यवाद की प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं, उन सबका समीकरण करने पर कुछ सर्वसामान्य रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं जिन्हें निम्नलिखित शीर्षकों में बाँटा जा सकता है —

१—विश्व-व्यापी अज्ञात शक्ति के प्रति जिज्ञासा की भावना

२—उस सत्ता के महत्व का प्रदर्शन

३—दर्शन या मिलन का प्रयत्न

४—भौतिक विघ्न एवं वेदना की विवृत्ति,

५—उस अव्यक्त सत्ता का आभास या दर्शन,

६—संसार की वास्तविकता का ज्ञान अथवा अपरोक्ष अनुभूति, और

७—चिरमिलन।

कामायनी मे रहस्यवाद का स्वरूप

१ जिज्ञासा की भावना—एक रहस्यवादी कवि जब प्रभात के समय प्राची दिशा मे राग रंजित उषा को अनुराग-भावना फैलाते हुए, पक्षियों को उद्बोधन-गीत गाते हुए, दिवस की आलोक श्री को संसार मे चेतना का संचार करते हुए और सन्ध्या की लालिमा को मधुर मिलन का सदेश देते हुए देखता है, तब उसके हृदय मे अनायास उस विराट् शक्ति को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है, जिसका संकेत पाकर उषा का आगमन होता है, सूर्य उदय और अस्त होता है, तारे निकलते और छिपते हैं तथा संसार के अन्य सभी क्रिया-कलाप समयानुसार यथा-क्रम चलते रहते हैं। कामायनी के कवि ने भी अपनी इसी जिज्ञासा की भावना को 'आशा' सर्ग मे व्यक्त किया है और कहा है कि उस शक्ति का अस्तित्व कहाँ है, जिसे ज्योतिर्मान ग्रह, नक्षत्र, विद्युत्कण आदि छिपते-निकलते हुए नित्य ढूँढा करते हैं, जिसके रस से सिंचित होकर तृण और वीरुध लहलहाते हुए दिखाई देते हैं, जिसकी सत्ता को सभी सिर नीचा करके स्वीकार करते हैं और जिसके विषय मे संसार के ये सभी पदार्थ सदैव मौन होकर प्रवचन किया करते हैं।[2]

१—हिन्दी साहित्य मे विविधवाद, पृ० ४४२।

२—सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ?
—आशा सर्ग, पृ० २६।

२. महत्व प्रदर्शन—विचार करते-करते रहस्यवादी कवि को धीरे-धीरे यह ज्ञात होने लगता है, कि यह विश्व की नियामिका शक्ति गुप्त एवं अलक्षित रहने पर भी कुछ है अवश्य। ऐसा नहीं है कि वह पूर्णतया नकारात्मक हो। उसका अस्तित्व अवश्य है, क्योंकि उसके अनन्त सौन्दर्य की झाँकी प्रकृति के अणु-अणु एवं कण-कण मे मिल रही है, उसका अपरिमित तेज एवं अनन्त ओज सूर्य बनकर चमक रहा है और उसी की प्रेरणा से संसार का सारा कार्य होरहा है। कामायनी में प्रसादजी ने उसे 'चिति' कहकर सम्बोधित किया है और सर्वत्र उसके एकान्त शासन को स्वीकार किया है। साथ ही उस शक्ति को अनन्त रमणीय, विराट, भूमा, विश्वदेव आदि कहकर उसे सजग होकर सदैव व्यक्त रूप में यहाँ लीलामय आनन्द करते हुए बतलाया है।[1] इसके साथ ही उसे अनन्त शक्ति-सम्पन्न बतलाते हुए उसके तनिक से 'भ्रू-भंग' से ही प्रलय का होना सिद्ध किया है।[2]

३. *दर्शन या मिलन का प्रयत्न*—सभी रहस्यवादी कवि उस अनन्त शक्ति के बारे मे किंचित् ज्ञान प्राप्त करके उसके दर्शन करने या उससे मिलने का प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। हिन्दी के रहस्यवादी कवियों मे कबीर, जायसी, मीरा, महादेवी आदि सभी ने उस अज्ञात शक्ति से मिलने के लिए बड़ी तत्परता के साथ अपने-अपने काव्यों मे उल्लेख किया है।[3] कामायनी मे भी मिलन के इस प्रयत्न का वर्णन मिलता है। कवि की आत्मा उस अनन्त सौंदर्य-शालिनी शक्ति का साक्षात्कार करना चाहती है, परन्तु पहले तो अन्य 'सौंदर्यमयी चंचल कृतियाँ' ही उसकी दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं और उसे आगे बढ़ने नहीं देतीं।[4] यदि वह आगे बढ़ती भी है, तो उस शक्ति के दर्शन के लिए इतनी भीड़ लगी हुई है कि सभी उस जीवन-धन की छवि को देखने के लिए आकुल होकर उसके द्वार पर 'खोलो-खोलो' चिल्ला रहे हैं और परस्पर एक-दूसरे का आवरण बनते जा रहे हैं।[5] फिर भी कवि उस अज्ञात शक्ति से

१—कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
—श्रद्धा सर्ग, पृ० ५३।

२—जिसका था भ्रू-भंग प्रलय सा जिसमे ये सब विकल रहे।
—माया सर्ग, पृ० २५।

३—देखिए, कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८, जायसी-ग्रन्थावली पृ० ४६-५२, मीराबाई की पदावली, पृ० २७, २८, ३५-३६ तथा आधुनिक कवि—भाग १, पृ० २८-३०, ५८-५९।

४—कामायनी, पृ० ६६। ५—वही, पृ० ६८

मिलने के लिए उत्सुक है और उसकी आत्मा ससार के पार्थिव सौंदर्य मे लीन होकर भी बार-बार उससे दूर भाग कर अनन्त सौंदर्य की खोज मे आगे बढती हुई दिखाई देती है और मनु के शब्दो मे कवि यही कहता है "तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको जहाँ, खोजता जाऊँगा ।'[1]

४. भौतिक विघ्न एव वेदना की विवृत्ति—किसी भी व्यक्ति को सुगमता से उस अव्यक्त एव अगोचर सत्ता का साक्षात्कार नही होता । उसे पाने के लिए जैसे-जैसे वह आगे बढता है, वैसे ही वैसे मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ एव विघ्न आते हैं । ससार के दभ और अहकार उसे छलते हैं, मिथ्या प्रेम एव असत् व्यवहार उसे ठुकराते हैं माया उसे अपने क्रूर शासन मे रगीन दृश्य दिखाकर अन्त मे कठोर दड देती है और वह शापित-सा होकर अपने खोखलेपन मे जीवन का ककाल लेकर भटकता हुआ सा दिखाई देता है । ऐसी स्थिति मे उसकी खीझ भी बढ जाती है और वह सभी पर क्या, अपने पर भी झुँझलाने लगता है । प्रसादजी ने साधक की इन कठिनाइयो का उल्लेख मनु के सघर्षमय जीवन द्वारा किया है ।[2]

५ दर्शन या सत्ता का आभास—जब साधक ससार के प्रपचो से ऊपर उठ जाता है, तब उसे यहाँ के माया-मोह नही सताते, उसके हृदय मे ज्ञान-ज्योति का प्रकाश होने लगता है और वह इस अधकार से दूर उस अनन्त आलोकमयी शक्ति का स्पष्ट दर्शन करने लगता है । कामायनी मे इस स्थिति का वर्णन 'दर्शन' सर्ग के अन्तर्गत मिलता है, जहाँ पर ससार के पचडो से दूर होकर आत्म-चिंतन करते हुए मनु को नटराज के दर्शन होते हैं । उस समय हृदय की समस्त ग्रथियाँ खुल जाती हैं, अज्ञानान्धकार ज्योत्स्ना मे परिणत हो जाता है और सर्वत्र एक अनन्त आलोकमयी मगल-चेतना-शक्ति के दर्शन होने लगते हैं ।[3]

६ ससार का ज्ञान एव अपरोक्ष अनुभूति—जैसे ही साधक को उस अव्यक्त शक्ति का आभास मिलता है, वैसे ही वह हृदय मे ज्ञान के उदय होते ही ससार की वास्तविकता को भली-भाँति समझने लगता है । अब उसे यह पूर्णतया ज्ञान हो जाता है कि जीवन मे कौन-कौन से ऐसे अभाव हैं, जिनके कारण पूर्णता की प्राप्ति नही होती, अव्यक्त सत्ता का साक्षात्कार नही होता और मानव अखड आनन्द की प्राप्ति से वचित रहता है । प्रसादजी ने कामायनी के 'रहस्य' सर्ग मे ससार के इसी रहस्य का उद्घाटन किया है और बतलाया है कि आज मानव केवल इसलिए जीवन की विडम्बना मे फँसा हुआ है

१—कामायनी, पृ० २३० ।

२—वही, पृ० २२०-२२७ । ३—वही, पृ० २५२ ।

कि उसकी इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति तीनो पृथक्-पृथक् दिशा में कार्य कर रही हैं। यदि वह इन तीनो का समन्वय करके जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करे तो उसे अखड आनन्द का साक्षात्कार हो सकता है।[1]

७. **चिरमिलन या समरसता**—अन्त मे जब एक रहस्यवादी को ससार का वास्तविक ज्ञान हो जाता है, तब उसके समस्त स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि नष्ट हो जाते हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय हो जाता है। उसे सर्वत्र दिव्य अनाहत नाद सुनाई पडता है और वह अत्यन्त श्रद्धा के साथ उस नाद में लीन होकर तन्मयी अवस्था को प्राप्त हो जाता है।[2] यहाँ आते-आते उसकी आत्मा परमात्मा मे पूर्णतया समरस हो जाती है, 'अह' का 'इद' मे समावेश हो जाता है और वह चिर-मिलन के आनन्द का अनुभव करता हुआ जीव और जगत तथा जीव, जगत और ब्रह्म इनमें से किसी को भी अपने से पृथक् नही समझता। उसे यह जगत भी उस चेतना-शक्ति का विराट् वपु प्रतीत होने लगता है, उसकी अपने-पराये की भावना नष्ट हो जाती है, वह पूर्ण अद्वैत-भाव को प्राप्त होकर जड-चेतन मे सर्वत्र एक ही अखड आनन्दमयी चेतनता को विलास करते हुए देखता है।[3] कामायनी मे इस चिर-मिलन की स्थिति को 'समरसता' कहकर उसका चित्रण अत्यन्त सजीवता के साथ 'आनन्द' सर्ग मे किया गया है।

इस प्रकार कामायनी मे चित्रित रहस्यवादी प्रवृत्तियों का अनुशीलन करने के उपरान्त यही ज्ञात होता है कि प्रसादजी ने अपनी आनन्दवादी धारा के अनुसार ही यहाँ पर रहस्यवाद का चित्रण किया है। उनकी यह रहस्यानुभूति सूफी कवियो एवं कबीर की रहस्यमयी उक्तियो से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि न तो सूफियों की भाँति यहाँ अलौकिक प्रेम की व्यजना के लिए लौकिक प्रेम का राग ही अलापा गया है और न कबीर की भाँति कोरी आध्यात्मिकता को ही चित्रित किया गया है। इसी कारण प्रसादजी की रहस्यानुभूति मे जिज्ञासा की भावना ही अधिक है, यहाँ मिलन-विरह की उत्कट व्यजना नही है। वह तो शुद्ध मानवीय आधार पर स्थित है, जिसमे प्रकृति के सहयोग से उस व्यापक सत्ता का दर्शन कराया गया है, जो असाधारण सौंदर्य एव लौकिक प्रेम से परिपूर्ण है।

१—कामायनी, पृ० २७२। २—वही, पृ० २७३।

३—समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखंड घना था।
—आनन्द सर्ग,पृ० २९४।

साराश यह है कि कामायनी मूलत छायावाद की प्रवृत्तियो के आधार पर रचा गया महाकाव्य है। उसमें जो रहस्यवाद के सकेत मिलते हैं, वे प्रसादजी की दार्शनिक मनोवृत्ति, अलौकिक सौंदर्य-चित्रण की भावना एव असाधारण प्रेम की सहज परिणति हैं। उन्होंने अपनी इन्ही प्रवृत्तियो का उद्घाटन करने के लिए उस अव्यक्त एव अज्ञात सत्ता को व्यक्त एव अपरोक्ष रूप मे चित्रित किया है, उसे सर्वत्र व्याप्त बतलाया है और इसी कारण विश्व को 'सत्य सतत चिर सुन्दर' कहा है। प्रसादजी ने अपनी रहस्यानुभूति द्वारा जिस अद्वैतवाद का उल्लेख किया है, वह भी वेदान्त का अद्वैतवाद नही है, अपितु उसका सम्बन्ध शैवागमो के ईश्वराद्वयवाद से है जिसमे ब्रह्म अपनी शक्ति के साथ इसी विश्व मे व्याप्त होकर सदैव आनन्द की वृष्टि करता है। अत प्रसादजी ने अपने रहस्यवाद द्वारा ससार की सत्यता, नित्यता एव अनन्त रमणीयता सिद्ध की है और इस जगत को ब्रह्म की मूर्ति बतलाकर ससार से पलायन नही, अपितु ससार मे ही निरन्तर कर्म करते हुए अखड आनन्द प्राप्त करने का सदेश दिया है।

कामायनो का सौन्दर्यानुभूति-पक्ष

सौन्दर्यानुभूति—यह समस्त विश्व अनन्त सौंदर्य का भडार है। उस सौंदर्य स्रष्टा ने विश्व मे ऐसे दिव्य सौंदर्य की सृष्टि की है, जिसका आभास मानव को वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु-पक्षी आदि मे आदि-काल से ही मिलता चला आरहा है। इसी कारण वह कभी उषा की रागरजित छवि में अनुरक्त हुआ है, तो कभी सध्या की नील-पीत मिश्रित अरुणिमा मे आत्म विभोर हो उठा है। कभी वह शरद के सुस्मित हास मे मग्न हुआ है, तो कभी वसत-श्री की सुषमा में अपनी सुधबुध गँवा बैठा है। इसी तरह मानव ने नाना प्रकार के रग-बिरगे पुष्पो, चित्र-विचित्र पशु-पक्षियों आदि मे भी सौंदर्य के दर्शन किए हैं। सृष्टि के इस अनन्त सौंदर्य ने उसके हृदय को आन्दोलित किया है और उसमे अनेकानेक भाव-लहरियाँ उठाई हैं। मानव हृदय की ये ही भाव-लहरियाँ सौन्दर्यानुभूति की जननी हैं, क्योंकि सौंदर्य-स्रष्टा की इस अद्भुत एव अनुपम रचना को देखकर कौन ऐसा हृदयहीन व्यक्ति होगा, जिसके हृदय मे उसके प्रति आकर्षण न हो। सौंदर्य अपनी ओर हठात् आकर्षित करता है। हाँ, इतना अवश्य है कि उस आकर्षण मे द्रष्टा की ग्राहकता के अनुकूल मात्रा-भेद रहता है। कोई सौन्दर्य का साक्षात् प्रत्यक्ष होते ही अपना सर्वस्व खो बैठता है और कोई उसे देखकर किंचित् स्पदन सा ही अनुभव करके शान्त होजाता है। जिस प्रकार आकर्षण

में मात्रा-भेद है, उसी प्रकार सौंदर्य की अनुभूति मे भी मात्रा-भेद रहता है।[1] क्योंकि सभी पदार्थ सभी व्यक्तियो को प्रत्येक समय सुन्दर प्रतीत नही होते। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रत्येक पदार्थ सुन्दर जान पडता है।[2] अतः सौंदर्यानुभूति मे रुचि का बडा महत्व है।

परन्तु यह रुचि हमारी परम्परागत सस्कृति की देन है, क्योंकि हमारे आचार-विचार एवं हमारी इच्छा का निर्माण हमारी सास्कृतिक परम्परा द्वारा होता है। इसी कारण प्रसादजी ने भी लिखा है कि सौदर्यानुभूति में जो मात्रा-भेद पाया जाता है, उसका मूल कारण हमारी सस्कृति है, क्योंकि सस्कृति ही हमारे सजातीय विचारो, रहन-सहन एवं मनोभावो को विकासोन्मुख बनाती है।[3] इसी कारण भावो एव विचारो के विकास द्वारा ही सौदर्यानुभूति मे भेद पाया जाता है। नही तो सौंदर्य-बोध एव सौंदर्यानुभूति विश्वव्यापी वस्तुयें हैं। सभी प्राणी सौंदर्य को देखकर आकृष्ट होते हैं और सभी के हृदय मे सौंदर्य अपना घर कर लेता है। परन्तु इस सास्कृतिक परम्परा के कारण ही प्रत्येक देश मे सौंदर्य की भावना भिन्न-भिन्न रूपों मे देखी जाती है। जैसे पश्चिमी देशों में लिली पुष्प को अधिक सुन्दर मानते हैं, जबकि भारत मे कमल को। वहाँ स्वर्णिम केशों मे अद्भुत सौंदर्य के दर्शन होते हैं, तो यहाँ श्याम सचिक्कण केशो में। इसी तरह अन्य पदार्थों के बारे भी सौदर्य-भावना मे भिन्नता पायी जाती है।

इस सौंदर्य-बोध या सौदर्यानुभूति की जितनी चर्चा पाश्चात्य देशो मे मिलती है, उतनी भारत मे नही। इसके कारण का स्पष्टीकरण करते हुए प्रसादजी ने लिखा है कि—"उनके पास अरस्तू से लेकर वर्तमान काल तक की सौंदर्यानुभूति सम्बन्धिनी विचारधारा का क्रम-विकास और प्रतीकों के साथ-साथ उनका इतिहास तो है ही, सबसे अच्छा साधन उनकी अविच्छिन्न सास्कृतिक एकता है। हमारी भाषा के साहित्य में वैसा सामजस्य नहीं है। बीच-बीच में इतने अभाव या अंधकार-काल हैं कि उनमे कितनी ही विरुद्ध संस्कृतियाँ भारतीय रंगस्थल पर अवतीर्ण और लोप होती दिखाई देती हैं, जिन्होंने हमारी सौंदर्यानुभूति के प्रतीकों को अनेक प्रकार से विकृत करने का ही उद्योग किया

१—चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२५।

२—समैं समैं सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥
—बिहारी-रत्नाकर, ४३२।

३—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० २७-२८।

है।"[1] इतना होने पर भी जितना वाङ्मय आज उपलब्ध है, उसी के आधार पर भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में विकसित सौंदर्यानुभूति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

कामायनी में सौंदर्यानुभूति—उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सौंदर्य में आकर्षण होता है, यह आकर्षण ही सौंदर्यानुभूति का उत्पादक है और उस सौंदर्यानुभूति पर रुचि शासन करती है तथा उस रुचि का सम्बन्ध सांस्कृतिक परम्परा से होता है। अतः अब देखना यह है कि कामायनी में जिस सौंदर्यानुभूति के दर्शन होते हैं, उसका विकास किस देश की सांस्कृतिक परम्परा के अन्तर्गत हुआ है? कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसादजी तो पूर्णतया भारतीय हैं और इसीलिए उनकी सुरुचि एवं तज्जन्य सौंदर्यानुभूति ने भारतीय संस्कृति की छत्र छाया में पल्लवित होने के अतिरिक्त अन्य किसी देश का प्रभाव ग्रहण नहीं किया है। यही कारण है कि कामायनी में उन्होंने जिस प्राकृतिक एवं मानवीय सौंदर्य का चित्रण किया है, उस पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है। उदाहरण के लिए मनु के सौंदर्य का चित्र ले सकते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र के शारीरिक सौंदर्य का चित्रण करते हुए उसे ओजपूर्ण, वृषभ, दृढाङ्ग, वज्रबाहु आदि कहा है.[2] और महाकवि कालिदास ने राजा दिलीप को विशाल वक्षस्थल, वृषभस्कंध, उन्नत शाल तुल्य प्रलम्ब भुजाओं से युक्त, आदि बतलाया है।[3] सुदृढ मानव-शरीर के सौंदर्य की यही परम्परागत अनुभूति कामायनी में भी दिखाई देती है —

> अवयव की दृढ मांस-पेशियाँ ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
> स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।—(चिंता सर्ग)

मानवीय सौन्दर्य की यही झलक श्रद्धा, इड़ा, मानव आदि के चित्रण में मिलती है, जिसका उल्लेख आगे किया गया है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में भी प्रसादजी ने भारतीय परम्परा का ही अनुसरण किया है। जैसे ऋग्वेद में उषा के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए उसे प्राची दिशा में अन्धकार को दूर करके एक देदीप्यमान देवी की भाँति ज्योतिपूर्ण आभा के

१—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ३२।

२—ओजायमानं यो अहिं जघान···य सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥—ऋग्वेद २।१२।१२–१३

३—व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥—रघुवंश १।१३

साथ उदित होते हुए बतलाया गया है।[1] कामायनी में भी प्रसादजी ने इसी तरह उषा का उल्लेख किया है :—

उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी जल मे अन्तर्निहित हुई।-(आशा सर्ग)

इसी तरह ऋग्वेद मे रात्रि को चारो ओर दृष्टिपात करती हुई एक नायिका के तुल्य अत्यन्त वैभव के साथ आगे बढने वाली, उच्चावच स्थानों मे प्रवेश करने वाली, अपनी ज्योत्स्ना से अन्धकार का अपहरण करने वाली, अपनी भगिनि संध्या को अपने आगमन से भगाने वाली आदि कहा है।[2] कामायनी मे प्रसादजी ने भी रात्रि का एक नायिका की भाँति ऐसा ही वर्णन किया है :—

जब कामना सिंधु तट आई ले सध्या का तारा दीप,
फाड़ सुनहली साडी उसकी तू हँसती क्यों अरी प्रतीप !
× × × ×
घूँघट उठा देख मुसक्याती किसे ठिठकती सी आती,
विजन गगन मे किसी भूल सी किसको स्मृति पथ मे लाती।
—(आशा सर्ग)

इसी प्रकार कामायनी मे आए हुए वन, पर्वत, सागर, नदी, निर्झर, पुष्प, लता आदि के वर्णनो में भी प्रसादजी की परम्परागत सौन्दर्यानुभूति के दर्शन होते हैं, जिसका सम्बन्ध भारतीय संस्कृति एव भारतीय सुरुचि से है। अत. यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रसादजी की सौन्दर्यानुभूति भारतीय सास्कृतिक परम्परा के अन्तर्गत ही विकसित हुई है।

१—इदमु त्यत्पुरुतम पुरस्ताज् ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नून दिवो दुहितरो विभातीर् गातुं कृणवन्नुषसो जनाय ॥
—ऋग्वेद ४।५१।१

२—रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभि। विश्वा अधि श्रियोऽधित ॥
ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्युद्वतः। ज्योतिषा बाधते तमः॥
निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती। अपेदु हासते तमः॥
—ऋग्वेद १०।१२७।१–३

(Night approaching has looked forth in many places with her eyes : she has put on all glories. The immortal goddess has pervaded the wide space, the depths, and the heights : with light she drives away the darkness The goddess approaching has turned out her sister Dawn , too away will go the darkness.)

—Translated by Mac lonell–A Vedic Reader, pp. 203 204.

सौन्दर्य-दर्शन—प्राय. विश्व मे यह देखा जाता है कि कोई तो सौन्दर्य को बाह्य आकार-प्रकार मे देखता है और कोई उसे मानसिक जगत की वस्तु मानता है। विद्वानो की इसी धारणा के अनुसार सौन्दर्य-सम्बन्धी दो दार्शनिक विचार-धारायें आज प्रचलित है। प्रथम तो यह है कि कुछ विद्वान् प्राकृतिक पदार्थों मे ही वास्तविक सौन्दर्य के दर्शन करते है और उनमे से सुन्दर की ओर आकृष्ट होते हैं तथा असुन्दर को अच्छा नही समझते और सुन्दर-असुन्दर मे वस्तुगत भेद मानते हैं। दूसरे, वे हैं जिनका विचार है कि जिस सध्या, उषा, रजनी आदि को देखकर एक कवि उन्हे अत्यन्त रमणीक बतलाता है और उनकी बडी प्रशसा करता है, क्या एक अपढ किसान को भी वे उतनी ही रमणीक जान पडती हैं ? उस किसान को कभी ऐसी सौन्दर्यानुभूति नही होती। अत सुन्दरता किसी वस्तु या पदार्थ मे नही है, वह मन की वस्तु है और हमारे मन मे जिस वस्तु के लिए सौन्दर्य का भाव जाग्रत हो जाता है, वही वस्तु हम सुन्दर लगने लगती है। यही कारण है कि अत्यन्त कुरूप एव काले रग की लैला मे भी मजनू को अनुपम सौन्दर्य के दर्शन होते थे। उक्त दोनो विचारों के आधार पर सौन्दर्य को क्रमश वस्तुगत या विषयगत (Objective) तथा व्यक्तिगत या विषयीगत (Subjective) कहा जाता है।[1] ये दोनों भेद क्रमशः भौतिक एव आध्यात्मिक भी कहलाते हैं, क्योकि वस्तुगत सौन्दर्य मे बाह्य आकार-प्रकार की प्रधानता रहने के कारण उसे भौतिक कह सकते हैं तथा व्यक्तिगत सौन्दर्य मे मानसिक या आध्यात्मिक भावों की प्रधानता रहने के कारण उसे आध्यात्मिक कहा जा सकता है।

पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों मे से कुछ तो ऐसे है जो सौन्दर्य को वस्तुगत या भौतिक वस्तु मानते हैं और कुछ ऐसे हैं जो उसे व्यक्तिगत या आध्यात्मिक बतलाते हैं। अत वे सभी विद्वान् दो वर्गों मे आते हैं। प्रथम वस्तुवादी या भौतिक वर्ग के अन्तर्गत सुकरात, अरस्तू, होगार्थ, लिबनिज़, ह्यूम, बर्क, हरबर्ट स्पेंसर, क्रैनोविच आदि आते है तथा दूसरे व्यक्तिवादी या आध्यात्मिक वर्ग मे प्लेटो, प्लोटीनस, शैफ्टबरी, बामगार्टन, आस्करवाइल्ड, शैलिंग, काट, हेगल, क्रोचे, शॉपेनहॉवर, रस्किन, शैली, कीट्स आदि आते हैं। प्रथम वर्ग वालो का विचार है कि सौन्दर्य अगो की एक ऐसी क्रमिक रचना या गठन है, जो हमारे परम्परा-गत स्वभाव, रीति-रिवाज या मनाभाव के द्वारा हमारी आत्मा को आनन्द एव

1—Judgment in Literature by W. B Worsfold, p 83

सन्तोष प्रदान करती है।[1] इसी कारण इस वर्ग के विद्वान् उस पदार्थ में हैं सौन्दर्य के दर्शन करते हैं, जो सब प्रकार से ठीक हो, देखने में प्रिय लगे, परिणाम भी जिसका मंगलमय हो,[2] जो मंगलमय होने के कारण सुखदायक हो,[3] जिसमें एकरूपता या सुडौलपन हो या जिसमें प्रत्यक्ष विरोधों के रहते हुए भी समता या समभावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई हो।[4] अतः इस वर्ग के विद्वानों के विचार से सौन्दर्य किसी एक सुगठित पदार्थ में ही विद्यमान रहता है, वह सबको समान रूप से प्रभावित करता है और वह भौतिक जगत से परे किसी आध्यात्मिक जगत की वस्तु नहीं है।

दूसरे, अध्यात्मवादी विद्वानों का विचार है कि सौन्दर्य में सत्य, शिवत्व तथा दैवी गुण होते हैं,[5] उसमें अनन्त के सान्त रूप में दर्शन होते हैं,[6] उसका सम्बन्ध हमारे विचार या भावों से होता है, क्योंकि वह हमारे विचारों का ही मूर्तिकरण है,[7] वह बिना किसी प्रयोजन के हमें आकृष्ट करता

1—Beauty is such an order and constitution of parts, as either by the primary constitution of our nature, by custom or by caprice, is fitted to give a pleasure and satisfaction to the soul
—*History of Aesthetic by B. Bosanquet, p. 178.*

2—*Xenophon* records the *sayings of Socrates 'that the* beautiful is that which is fitting and answers to the end required.' Elsewhere he says, "It is that which is loved." —*Theory of Aesthetic, Historical* Summary, p 255.

3—The beautiful is that good which is pleasant, because it is good —History of Aesthetic, p. 63

4—What is beautiful to feeling is ultimately an expression *of harmony, though capable of including apparent* contradiction. —History of Aesthetic p. 177.

5—Plato......appears almost to confound the beautiful with the true, the good and the divine.
—Aesthetic, Historical Summary, pp. 255-256.

6—Now the infinite represented in finite form is Beauty.
—History of Aesthetic, p. 319.

7—The beautiful he (Hegel) defined as the sensible appearance of the Idea.
—Theory of Aesthetic, Historical Summary, p. 305.

है,[1] सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य है[2] इत्यादि। इस तरह इस वर्ग के विद्वानो का मत है कि सौन्दर्य बाह्य या भौतिक जगत की वस्तु नही, अपितु वह मानसिक या आध्यात्मिक जगत से सम्बन्धित है।

यद्यपि भारतीय विद्वानो ने सौन्दर्य के बारे मे वर्ग-विभाजन करके उसका दार्शनिक विवेचन तो नही किया है, किन्तु उनके सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी विचार स्फुट रूप से व्यक्त हुए हैं, जिनसे उनकी दार्शनिक मान्यताओ की कुछ झलक मिल जाती है। भारत मे वस्तुवादी तथा व्यक्तिवादी—दोनो प्रकार के विचार स्फुट एव समन्वित रूपो म मिलते हैं। जैसे महाकवि कालिदास ने लिखा है कि सौन्दर्य प्राकृतिक होता है, उसके लिए बाह्य अलकरणो की आवश्यकता नही होती[3] तथा सौन्दर्य पाप-वृत्ति की ओर नही ले जाता।[4] अत आपके विचार से सौन्दर्य सुडौल एव सुगठित आकृति म है, जो नैतिक ज्ञान के कारण दैवी-गुणो से युक्त होती है। इसी तरह महाकवि माघ ने लिखा है कि 'जो क्षण-क्षण मे नवीनता धारण कर वही सौन्दय है।'[5] इस कथन म भी सौन्दर्य को वस्तु-गत ही माना गया है। अत उक्त दोनो विद्वान् प्रथम वस्तुवादी या भौतिक-वादी वर्ग मे ही आते हैं। परन्तु महाकवि बिहारी का विचार है कि ससार मे कोई भी पदार्थ सुन्दर अथवा असुन्दर नही होता, समय-समय पर सभी सुन्दर होते हैं। किन्तु जिसमे जिसकी जितनी रुचि होती है, वह उतना ही सुन्दर होता है।[6] इस कथन द्वारा बिहारी दूसरे व्यक्तिवादी या अध्यात्मवादी वर्ग मे आते हैं।

अत उक्त दोनो प्रकार की सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारधाराओ का विवेचन करने के उपरान्त यही पता चलता है कि सौन्दर्य वस्तुगत एव व्यक्तिगत दोनो

1— That is beautiful which pleases without interest
—Theory of Aesthetic Historical Summary, p. 295

2—"Beauty is truth, truth Beauty"
—Ode on a Gracian Urn by Keats

३—किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।
—अभिज्ञान शाकुंतलम् १।२०

४—यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच।
—कुमारसम्भव, ५।३६

५—क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया।
—शिशुपाल-वध ४।१७

६—बिहारी-रत्नाकर, ४३२।

प्रकार का होता है। वैसे भी यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सौन्दर्य में दोन पक्ष अन्तर्निहित हैं, क्योंकि एक ओर तो ऐसे सुन्दर पदार्थ का होना आवश्यक है, जो सामान्य रूप से सभी को आकर्षित करे और दूसरी ओर उस सौन्दर्य के द्रष्टा की भी आवश्यकता होती है। संसार के किसी भी सुन्दर पदार्थ में उस समय तक कोई सौन्दर्य नहीं, जब तक कि उसका द्रष्टा नहीं है। उदाहरण के लिए जंगल में खिला हुआ कमल या गुलाब किसी से न देखे जाने के कारण किसी के हृदय में सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न नहीं करता, जबकि एक असुन्दर पदार्थ द्रष्टा की रुचि के अनुकूल होने के कारण उसे पर्याप्त सौन्दर्य से ओत-प्रोत दिखाई देता है। महाकवि बिहारी ने इसी कारण आगे चलकर सौन्दर्य के उभय पक्ष का समर्थन करते हुए लिखा है कि रूप-सौन्दर्य रिझाने वाला होता है और नेत्र उस सौंदर्य पर रीझने वाले होते हैं।[1] बिना दोनों का संयोग हुए सौंदर्य की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। इसके साथ ही कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी सौन्दर्य को उभय-पक्षी सिद्ध करते हुए लिखा है कि 'मनुष्य के मुख में केवल आकृति की सुन्दरता ही नहीं होती, उसमें चेतनता की दीप्ति, बुद्धि की स्फूर्ति और हृदय का लावण्य भी होता है।'[2] प्राय यह देखा भी जाता है कि वे ही भौतिक पदार्थ मानव-मात्र को अधिक आकृष्ट करते हैं, जिनमें दिव्यता, सुडौलपन, व्यवस्थित क्रम, अंगों की सुन्दर बनावट के साथ-साथ हमारी रुचि की अनुकूलता अथवा भावों की प्रतिच्छाया भी होती है। सारांश यह है कि सौन्दर्य उभय-पक्षी होता है और वे ही असाधारण कृतियाँ सौन्दर्यमयी मानी जाती हैं, जिनमें भौतिक एवं आध्यात्मिक अथवा वस्तुगत एवं व्यक्तिगत दोनों प्रकार के सौन्दर्य का एक स्थान पर ही समावेश होता है।

प्रसादजी भी उभयपक्षीय सौन्दर्य के समर्थक हैं और इसी कारण उन्होंने 'शिवसूत्र-विमर्शिनी' के आधार पर आत्मा के स्वरूप का वस्तु में परिमित रूप से प्रकटीकरण अथवा 'स्व'का संवित् वस्तुओं या प्रमाता में प्रक्षेपण को ही कला बतलाया है।[3] इसके साथ ही प्रसादजी का विचार है कि प्रायः लोग चन्द्रमा को सौन्दर्य का एक बिन्दु होने के कारण प्रियदर्शन कहा

१—मोंहि भरोसो, रीझि है उझकि झाँकि इक बार।
रूप-रिझावनहार वह, ए नैना रिझवार॥
—बिहारी-रत्नाकर, ६८२।

२—साहित्य, पृ० ४४।

३—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४३।

करते हैं, परन्तु चन्द्रमा प्रियदर्शन नहीं है, स्वयं सौन्दर्य ही प्रियदर्शन होता है।[1] इसके अतिरिक्त कामायनी में भी वे लिखते हैं कि सौन्दर्य चेतना का वह उज्ज्वल वरदान है, जिसमें अनन्त अभिलाषाओं के सभी स्वप्न जाग्रत रहते हैं।[2] इस परिभाषा में उन्होंने स्पष्ट ही सौन्दर्य को विश्वव्यापी चेतना से सम्बद्ध करके देखा है और इसी कारण विश्व को 'उस चेतना का अभिराम उन्मीलन' अथवा 'चिति का विराट वपु मंगल' आदि कहकर 'सत्य सतत चिर सुन्दर' बतलाया है।[3] प्रसादजी के सौन्दर्य-दर्शन म सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सौन्दर्य को अत्यन्त व्यापक मानते हैं, उसे चेतनायुक्त कहकर संसार को 'सौन्दर्यमयी चंचल कृतियों' का भंडार कहते हैं और इसी कारण उन्हें मृत्यु में भी एक नित्य व्यापी सुन्दर रहस्य के दर्शन होते हैं एवं संसार की भीषणता में भी कमनीयता दिखाई देती है।[4] इतना ही नहीं, वे उस विराट् शक्ति को 'अनन्त रमणीय'[5] कहते हैं तथा उसकी छवि को देखने के लिए लालायित दिखाई देते हैं। उनका मत है—आज अनन्त सौन्दर्य के दर्शन सभी नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि उस सौन्दर्य पर अवगुंठन पड़ा हुआ है, यदि वह अवगुंठन चाँदनी के समान कहीं खुल जाय तो फिर उस अनन्त कल्लोल से भरे हुए सौंदर्य-सागर के दर्शन होने लगेंगे, जो अपनी ऊँची-ऊँची लहरों के कारण एक सर्प की भाँति फेनिल फन पटक कर मणियों का जाल लुटाता हुआ तथा उन्निद्र होकर उन्मत्तता के साथ कुछ गाता हुआ सा दिखाई देता है।[6] वह अवगुंठन या आवरण हमारे अपने कलुषित एवं संकीर्ण विचारों का पड़ा हुआ है। प्रसादजी के मत से द्रष्टा साम्यमयी स्थिति में पहुँचकर विश्वव्यापी सौंदर्य से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है तभी उसे सौंदर्य के दर्शन होने हैं। इस तरह आपके सौंदर्य-दर्शन में पार्थिव एवं आध्यात्मिक अथवा वस्तुगत दोनों प्रकार के विचारों का सुष्ठु समन्वय दिखाई देता है। ६

सौन्दर्य-विधान—प्रायः मानव-मात्र के हृदय में सौंदर्य की अनुभूति होती है। परन्तु एक सहृदय कलाकार के हृदय में यह अनुभूति जितनी तीव्र होती है, उतनी संसार में किसी भी व्यक्ति के अन्तर्गत नहीं देखी जाती। अब यदि वह कलाकार चित्र बनाना जानता है, तो अपनी उस सौन्दर्यानुभूति को चित्र के माध्यम से अभिव्यक्त करता है और यदि वह कवि होता है तो सुन्दर रसात्मक कविताओं द्वारा अपनी उस अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। कलाकारों की

१—कानन-कुसुम, पृ० ५१। २—कामायनी, पृ० १०२।
३—कामायनी, पृ० ५३, २८८। ४—वही, पृ० ६६, १६, २५४।
५—वही, पृ० २६। ६—वही, पृ० ६८।

इसी अभिव्यंजना-पद्धति को सौंदर्य-विधान कहते हैं। इस सौन्दर्य-विधान के बारे मे भारतवर्ष के अन्तर्गत उतने स्वतन्त्र ग्रन्थ नही मिलते, जितने कि पाश्चात्य देशों मे मिलते हैं। फिर भी यहाँ पर साहित्य-ग्रंथों मे थोडी-बहुत सौदर्य-विधान सम्बन्धी चर्चा मिल जाती है, जिनके आधार पर ज्ञात होता है कि एक नारी के सौंदर्य-विधान के लिए शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता और औदार्य आवश्यक तत्त्व है तथा एक पुरुष के सौंदर्य के लिए शोभा, विलास, माधुर्य, गाभीर्य, धैर्य, तेज, लालित्य और औदार्य नामक गुणों को आवश्यक तत्त्वों के रूप मे स्वीकार किया गया है।[1] इस भारतीय विवेचन मे सौन्दर्य-विधायक वाह्य तत्वों की ओर उतना ध्यान नही दिया गया है, जितना कि एक सौंदर्यशाली व्यक्ति के आन्तरिक गुणों की चर्चा की गई है। वैसे भी हमारे यहाँ सौन्दर्य के बाह्य उपकरणों को उतना महत्व नही दिया गया है, जितना कि आन्तरिक गुणों को। पाश्चात्य देशो मे सौंदर्य के प्राय बाह्य उपकरणों और अधिक ध्यान दिया गया है। इसी कारण भारत मे पश्चिम के अनुकरण पर जिस कला का विकास हुआ है, उसमे नाप, तोल, अनुपात आदि का अधिक ध्यान रखा जाता है, जबकि भारत की प्राचीन अजन्ता-आदि की चित्रकला मे भाव-विधान को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। किन्तु ऐसी बात नहीं है कि यहाँ की प्राचीन कला मे नाप, अनुपात आदि बाह्य उपकरणों का सर्वथा तिरस्कार किया गया हो। विष्णु धर्मोत्तरपुराण मे चित्रकला के नाप, परिमाण आदि बाह्य उपकरणों का विस्तृत वर्णन मिलता है,[2] परन्तु वहाँ पर ... चलकर भाव-चित्रण पर ही बल दिया गया है और चित्रों मे भी नव रसों होना सिद्ध किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त काव्य मे सौन्दर्य का विधान ... हुए भारतीय कवियो ने भी सुडौलपन, अगो का सगठन, थोडे मे बहुत ... आदि पर अधिक बल दिया है। जैसे बिहारी ने एक नायिका का वर्णन ... हुए लिखा है :—

> अंग अंग छवि की लपट, उपटत जात अछेह।
> खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी सी देह ॥[4]

इस कथन मे अनन्तता एवं पूर्णता भी है और साथ ही थोडे मे ही ... कुछ कह दिया गया है। इतना होने पर भी भारत मे सौन्दर्य-विधान के ... अधिक बल आन्तरिक उपकरणों पर ही दिया गया है।

१—दशरूपक २।३१, २।१०।
2—The Vishnudharmottar (Part III), Translated by Stel Kramrisch, pp 35-43.
३— वही, पृ० ५६-६२। ४—बिहारी-रत्नाकर, ६६१।

पाश्चात्य विद्वानों ने सौंदर्य-विधान के लिये प्रायः जिन बाह्य उपकरणों को आवश्यक बतलाया है, उनमें से प्लेटो ने केवल माप (Measure) तथा अनुपात (Proportion) की ओर संकेत किया है।[1] अरस्तू ने क्रम (Order) सुडौलपन (Symmetry) तथा निश्चित बधान (Definite limitation) को आवश्यक ठहराया है।[2] दान्ते ने अन्विति (Unity) सुडौलपन को ही पर्याप्त माना है।[3] रेनिंग ने सामञ्जस्य (Harmony) विचित्रता (Variety), क्रम, अनुपात आदि का होना उचित बतलाया है।[4] बर्क ने आकार-सूक्ष्मता (Smallness of size), मसृणता (Smoothness), क्रमिक विकार (Gradual variation), कोमलता (Delicacy), वर्ण-दीप्ति (Lightness of colours), तथा शुद्धता (Purity) को आवश्यक बतलाया है[5] और हेगेल ने नियमितता (Regularity), नियमबद्धता (Lawfulness), सुडौलपन तथा सामञ्जस्य को आवश्यक उपकरण के रूप में स्वीकार किया है।[6]

इनके अतिरिक्त कुछ पाश्चात्य विद्वान् ऐसे भी हैं, जो सौंदर्य-विधान के लिए बाह्य तत्त्वों को महत्त्व न देकर आन्तरिक या आध्यात्मिक तत्त्वों को महत्त्व देते हैं। जैसे, प्लोटीनस का मत है कि ईश्वर प्रदत्त बुद्धि या विचारशक्ति ही सौंदर्य-विधान के लिए आवश्यक होती है।[7] महाकवि गेटे का मत है कि कलाकार की विशिष्टता ही सौन्दर्य की जननी है और वह वैशिष्ट्य ही सौन्दर्य-विधान का प्रमुख तत्त्व है।[8] ऐसे ही क्रोचे का विचार है कि सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य-विधान करती है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य उपकरण से सौन्दर्य का विधान नहीं होता।[9]

1—History of Aesthetic by Bernard Bosanquet, p 33
२—वही, पृ० ३३। ३—वही, पृ० १५७।
4—Theory of Aesthetic, Historical Summary, p 290
५—साहित्य और सौन्दर्य, पृ० १०४।
6—History of Aesthetic, p 338
7—A beautiful material thing is produced by participation in reason issuing from the divine
—History of Aesthetic, p. 114.
8—Thus for Goethe at his period, the characteristic was simply the starting point, or frame work, from which the beautiful arose through the power of the artist.
—Theory of Aesthetic, Historical Summary, p 291.
9— We may define beauty as successful expression, or better, as expression and nothing more
—Theory of Aesthetic, p 129

साराश यह है कि प्राच्य एव पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार सौदर्य-विधान के लिए अन्तर्बाह्य दोनों प्रकार के उपकरण अपेक्षित है, न केवल बाह्य उपकरणों द्वारा ही सौन्दर्य-विधान हो सकता है और न केवल अन्तरिक उपकरणों के द्वारा ही, अपितु दोनों का समुचित सम्मिश्रण ही पूर्ण सौन्दर्य का विधायक होता है। इस दृष्टि से बाह्य उपकरणों के अतर्गत प्रमुख रूप से अन्विति, सामजस्य, सुडौलपन, अगो का व्यवस्थिन क्रम, अनुपात, वर्णदीप्ति ,कोमलता आदि आते है और आन्तरिक उपकरणो मे रस, भाव, बुद्धि, विशिष्टता, कल्पना, अभिव्यंजना आदि को लिया जाता है।

अब देखना यह है कि उक्त उपकरणों द्वारा सौन्दर्य का विधान किन-किन रूपो मे होता है। साधारणतया कविजन तीन प्रकार का सौन्दर्य-विधान करते है—(१) रूप-सौन्दर्य-विधान, (२) भाव-सौन्दर्य-विधान, और (३) कर्म-सौन्दर्य-विधान। रूप-सौन्दर्य का विधान करते समय कवियो का ध्यान भाव के विषय या आलम्बन के बाह्य आकृति-सौन्दर्य की ओर ही अधिक रहता है। हिन्दी के रीतिकाल मे इसी रूप-सौन्दर्य का वर्णन अधिक मिलता है। दूसरे, भाव-सौन्दर्य का विधान करने के लिए कवि किसी विषय या आलम्बन के बाह्य आकार-प्रकार की अपेक्षा आन्तरिक या हृदयगत सौन्दर्य की ओर अधिक उन्मुख होता है। ऐसे भाव-सौन्दर्य के चित्र छायावादी कवियो ने अधिक अकित किये हैं। तीसरे, कर्म-सौन्दर्य का विधान करने के लिए कवि न तो व्यक्ति के बाह्य आकार-प्रकार का चित्रण करता है और न उसके हृदय का, वरन् उसके उदात्त कर्मों की ऐसी सुन्दर रूप-रेखा प्रस्तुत करता है, जिसमे उसके नाना क्षेत्रो मे किए गये शारीरिक व्यापार होते है और उनके साथ ही नाना प्रकार के मनुष्यों, प्राणियो, प्राकृतिक दृश्यो और घटनाओं के प्रति उसकी जो-जो मानसिक प्रतिक्रियायें होती हैं, उनका भी प्रत्यक्षीकरण कराया जाता है। इस कर्म-सौन्दर्य के अन्तर्गत रूप एव भाव संबधी सौन्दर्य का भी समावेश हो सकता है। अतः कर्म-सौन्दर्य क्रियाशील अथवा गत्यात्मक होता है और इसमे बाह्य जगत के अतिरिक्त मानसिक जगत के अन्तर्द्वन्द्व आदि का समावेश हो जाता है। प्राय. प्रबध-काव्यो मे उक्त दोनों सौन्दयो की अपेक्षा कर्म-सौन्दर्य का विधान ही अधिक मनोयोग के साथ किया जाता है।[1]

कामायनी मे सौन्दर्य-विधान

मानवीय रूप-सौन्दर्य—उक्त विवेचन के आधार पर जब हम कामायनी का

१—छायावाद-युग, पृ० २८०।

अनुशीलन करते है, तब पता चलता है कि सौन्दर्य-प्रेमी कवि प्रसाद ने 'कामायनी' मे उक्त उपकरणों के आधार पर तीनो प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि की है। यद्यपि प्रसादजी ने पाश्चात्य विद्वानो से प्रेरणा लेकर यहाँ सौन्दर्य का विधान नही किया है, फिर भी उनके अधिकाश सौन्दर्य चित्रो मे तथा-कथित अधिकाश उपकरणो का समावेश हो जाता है। प्रसादजी ने कामायनी मे नारी और पुरुष दोनो के रूप-सौन्दर्य का चित्रण किया है परन्तु उनकी दृष्टि मे पुरुष की अपेक्षा नारी श्रेष्ठ है और इसी कारण नारी के रूप सौन्दर्य का चित्रण करने मे उन्होने अपनी अद्भुत कला-कुशलता का परिचय दिया है। कामायनी के 'श्रद्धा' सर्ग मे श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य की विस्तृत भाँकी मिलती है। वहाँ पर लिखा है कि-' हृदय की बाह्य उदार अनुकृति जैसी उसकी उन्मुक्त लम्बी काया मधु पवन-क्रीडित छोटे से साल-तरु के समान है। वह काया अत्यन्त सुडौल तथा देदीप्यमान है और उसे नीले रोम वाले मेषो के कोमल चर्म ढके हुए हैं। उसका शुभ्र गौर वर्ण है और समस्त अग अत्यत मृदुल और सुकुमार हैं। नीले परिधान मे से जो कुछ अधखुला अग दिखाई देता है, वह अपनी प्रखर दीप्ति के कारण ऐसा जान पडता है, जैसे मानो नील मेघ वन के मध्य मे बिजली के गुलाबी फूल खिले हुए हो। उसका मुख तेज-पूर्ण है, जो सध्याकालीन बादलो मे घिरे हुए अस्ताचलगामी सूर्य एव माधवी रजनी मे इन्द्रनीलमणि के लघु शृ ग को फोडकर निकलने वाले एव लघु ज्वालामुखी के तुल्य जान पडता है। उस देदीप्यमान मुख के आसपास कधो तक पडे हुए उसके कोमल सचिक्कण एव सकुमार घुँघराले बाल ऐसे बिखरे हुए हैं जैसे मानो नीले सुकुमार घन शावक चन्द्रमा के समीप सुधा भरने के लिए आए हुए हो। उसकी मुस्कान का तो कहना ही क्या! वह रक्तिम ओठो पर ऐसी प्रतीत होती है जैसे मानो सूर्य की एक अम्लान किरण रक्त किसलय पर विश्राम कर रही हो"[1] इत्यादि। कवि के इस रूप-सौन्दर्य विधान मे स्पष्ट ही अन्विति, सौष्ठव, सुडौलपन, शारीरिक अगों का क्रम, विचित्रता आदि उपकरणो को देखा जा सकता है। इतना ही नहीं, कवि का ध्यान यहाँ वर्ण-दीप्ति की ओर भी गया है, क्योकि गौर वर्ण वाली श्रद्धा को नीले रग के परिधान से परिवेष्ठित दिखाया गया है, जो सौन्दर्य विधान की दृष्टि से अत्यत उत्कृष्ट है, क्योंकि गोरे अगों पर नीले रग का वस्त्र अधिक शोभायमान लगता है। इस सौन्दर्य-चित्र मे केवल बाह्य आकार-प्रकार ही नहीं है, अपितु रूप और भाव के रग विधान की परम्परा मे मे भी सम्बन्ध दिखाई देता है, क्योकि नीला वस्त्र चिरस्थायी प्रेम का प्रतीक

१—कामायनी, पृ० ४६-४७।

होता है और बार-बार धोने से भी हलका नहीं पड़ता। साथ ही सूरदास जी ने भी राधा को नीली फरिया पहनाई है[1] और बिहारी ने भी अपनी नायिका को नीली साडी पहनकर अधिक रमणीक बतलाया है।[2] ऐसे ही कवि प्रसाद ने श्रद्धा के दीप्ति-पूर्ण उज्ज्वल मुख को श्याम केशो से घिरा हुआ दिखाकर मुख के सौन्दर्य को द्विगुणित बनाने का प्रयत्न किया है।

इसके अनन्तर कवि ने श्रद्धा को एक अपार्थिव एव आध्यात्मिक सौंदर्य से ओत-प्रोत सिद्ध करने के लिए उसके शरीर को एक ऐसी सुरभि की साकार प्रतिमा बतलाया है, जो कुसुम-कानन के अचल मे मन्द-मन्द पवन से प्रेरित होकर बह रही हो। श्रद्धा का वह शरीर पराग के परमाणुओ से ही बना हुआ तथा मधु का आश्रय लेकर खडा हुआ लिखा है। साथ ही उस अलौकिक शरीर वाली श्रद्धा के मुख पर जो मुस्कान छाई हुई थी, वह पूर्णिमा की शुभ्र चन्द्र-ज्योत्स्ना के तुल्य मनमोहक एव आनन्दमयी क्रीडा के तुल्य अबाधगति से ओठो पर विद्यमान बतलाई गई है।[3] इस सौन्दर्य-विधान में कवि का उद्देश्य है, श्रद्धा को अतीन्द्रिय सौन्दर्य से युक्त बतलाना। इसी कारण जिस तरह चन्द्र-ज्योत्स्ना से वस्तुएँ जगमगा उठती हैं, उसी तरह यहाँ मन की साध या अभिलाषा से दीप्त मुस्कान से उसके अग का सौन्दर्य निखर उठा है। अतः यहाँ उसके शरीर को पार्थिव हड्डी, माँस, मज्जा आदि से रचित न बतलाकर एक दिव्यगध एव प्रकृति के मनोरम एव अपार्थिव पदार्थों से रचा हुआ सिद्ध किया है। और जिस तरह गोस्वामी तुलसीदास जी ने छवि रूपी अमृतसागर से उत्पन्न सौन्दर्यमूल लक्ष्मी से भी बढकर सीता को कहकर उसके अलौकिक सौंदर्य की कल्पना की है,[4] उसी तरह प्रसादजी ने भी श्रद्धा के सौन्दर्य का काल्पनिक चित्र

१—प्रसादजी की कला, पृ० ७८।

२—डारी सारी नील की ओट अचूक, चकै न।
मो मन-मृगु करबर गहैं, अहे! अहेरी नैन॥ बिहारी-रत्नाकर ५०।

३—कुसुम कानन अंचल में मंद पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परिमाणु पराग शरीर खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र नवल मधु राका मन की साध,
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब मधुरिमा खेला सदृश अबाध।
—श्रद्धा सर्ग, पृ० ४८।

४—जौं छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल॥
—रामचरितमानस, बालकांड २४७।

अंकित करते हुए उसमें रंग, सुगन्धि, मधु, दीप्ति, कान्ति आदि समस्त सुन्दर वस्तुओं को एक स्थान पर ही संकलित कर दिया है।

नारी के अतिरिक्त पुरुष के रूप-सौन्दर्य का चित्रण भी कामायनी में बड़ी सजीवता के साथ अंकित किया गया है। मनु की शारीरिक गठन आदि का उल्लेख करते हुए यहां बताया गया है कि उनके शरीर का प्रत्येक अवयव दृढ़ मांसपेशियों से बना हुआ था, जिनमें से अपरिमित वीर्य झलकता था, शरीर की समस्त शिरायें अत्यन्त उभरी हुई थी, जिनमें शुद्ध रक्त का संचार हो रहा था, उनका मुख चिन्ताकातर अवश्य था, परन्तु वह अपार पौरुष से देदीप्यमान था और हृदय में उपेक्षामय यौवन का मधुमय स्रोत प्रवाहित हो रहा था।[1] ऐसे ही कवि ने मनु-पुत्र मानव के शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण करते हुए उसके मुख पर अपरिमित तेज बतलाया है, उसके समस्त अभिनव अङ्गों को केहरि-किशोर की भांति प्रस्फुटित होते हुए कहा है तथा उसे एक ऐसे गंभीर यौवन से युक्त बतलाया है, जिसमें कुछ नवीन भाव भी भरे हुए हों।[2] पुरुष के इन दोनों रूप-सौंदर्य के चित्रणों में एक ऐसे सडौल एवं सुगठित शरीर की कल्पना की गई है, जिसमें ओज, तेज, यौवन-दीप्ति, माधुर्य, गाभीर्य, तीव्रता, स्वस्थता आदि विद्यमान हो और जो अंगों की अन्विति, सामंजस्य, अनुपात, व्यवस्थित क्रम, सुडौलपन आदि से भी युक्त हैं। हिन्दी-साहित्य में ऐसे वर्णन खोजने पर ही मिलेंगे।

इस तरह प्रसादजी ने मानवीय रूप-सौन्दर्य का चित्रण करने के लिए जिस प्रणाली को अपनाया है, उसमें भक्तिकाल या रीतिकाल की भाँति समस्त अंगों का नख शिख वर्णन तो नहीं है, अपितु कुछ विशिष्ट अवयवों का ऐसा सजीव वर्णन मिलता है कि उसमें अंग-सौष्ठव के साथ-साथ उसके अन्तर्बाह्य सौन्दर्य की भी झाँकी मिल जाती है और पाठक उस सौन्दर्य के अपूर्व प्रभाव को ग्रहण

१—अवयव की दृढ़ मांस पेशियां, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।
चिंता कातर वदन हो रहा पौरुष जिसमें ओतप्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय स्रोत।
—चिन्ता सर्ग, पृ० ४।

२—मानव था साथ उसी के मुख पर था तेज अपरिमित।
केहरि किशोर से अभिनव अवयव प्रस्फुटित हुए थे,
यौवन गम्भीर हुआ था जिसमें कुछ भाव नये थे।
—आनन्द सर्ग, पृ० २७७।

करता हुआ एक अतीन्द्रिय सौन्दर्य की अनुभूति मे लीन हो जाता है। अतः प्रसादजी ने एक कुशल चितेरे की भाँति थोडी सी रेखाओ, छाया या प्रकाश-किरणो अथवा किंचित् अङ्गो के विवरण द्वारा रूप-सौन्दर्य का ऐसा विधान किया है, जिसमें पात्रो के पार्थिव एव अपार्थिव, लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार के सौंदर्य का अपूर्व आभास मिल जाता है।

प्राकृतिक रूप-सौंदर्य—कामायनी मे प्रसादजी ने जिस प्रकार नर-नारी के रूप-सौन्दर्य का विधान किया है, इसी प्रकार उन्होंने प्रकृति के सौम्य एव भयानक अवयवो की भी झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं और उनमे एक अद्वितीय सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। उन्हे प्रकृति मे कही भी जडता एव निर्जीवता नहीं दिखाई देती, अपितु सर्वत्र एक चेतनता एव सजीवता विलास करती हुई प्रतीत होती है। अतः यह कहना अनुचित नही कि उक्त दोनो प्रकार के रूप-सौन्दर्यों की अपेक्षा कामायनी मे प्रसादजी का झुकाव प्रकृति के अनिद्य रूप-सौन्दर्य की ओर अधिक है और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को प्रकृति के अतिरिक्त अन्यत्र कही भी ऐसे अनुपम सौन्दर्य की झलक नहीं दिखाई देती। इसी कारण कामायनी मे प्रकृति के अत्यन्त भव्य एव बिम्बग्राही चित्रो की भरमार है। उदाहरण के लिए पहले प्रलयकालीन समुद्र का रूप-चित्रण लिया जा सकता है। जिसमें कुटिल काल के जालो के समान गरजती हुई उन्नत लहरें ऐसी प्रतीत होती हैं, जैसे फेन उगलती हुई फनो को फैलाये अनेक व्यालियाँ चली आ रही हों। विलास वेग की भाँति उसका भैरव जल-सघात बढ़ता चला आ रहा है, उसकी बेला क्षण-क्षण पर निकट आती जा रही है, क्षितिज का अभी तक क्षीण आभास मिल रहा था, परन्तु अब वह भी पूर्णतया लीन हो चुका है और यह भयानक समुद्र अखिल धरा को डुबोकर बस मर्यादा-हीन हो जाता है।[1] समुद्र के इस रूप-चित्रण मे प्रकृति के भयानक रूप की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गई है, जिसमें विचित्रता के साथ-साथ उसके अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं।

दूसरा संश्लिष्ट चित्र हिमालय का लिया जा सकता है, जिसमें उसे विश्व-कल्पना के समान अत्यन्त उन्नत, सुख-शीतलता एव सन्तोष से परिपूर्ण, डूबती हुई अचला का अवलम्बन, मणिरत्नो का कोश आदि कहकर एक अत्यन्त शोभनतम शरीरधारी पर्वतो के सम्राट के रूप मे चित्रित किया है, जो लताओ से आवेष्ठित होने के कारण ऐसा जान पड़ता है कि मानो निद्रा में सुख-स्वप्न

१—कामायनी, पृ० १४–१५।

देख रहा हो। वहाँ पर सर्वत्र नीरवता के रहने के कारण ऐसा ज्ञात पड़ता है, मानो इसके चरणों में या इसके साम्राज्य में सर्वत्र नीरवता की विमल विभूति विराजमान हो। शीतल जल से परिपूर्ण झरने इसके जीवन की अनुभूति को प्रकट कर रहे हैं और ऐसा मालूम होता है कि झरनों की कल-कल ध्वनि के रूप में हिमालय की मधुर हँसी ही फूट निकली है। इसकी शिला सन्धियों में टकराकर पवन चारों ओर गुंजार भर रहा है, जिससे ऐसा ज्ञात पड़ता है कि वह पवन चारण कवियों की भाँति पर्वतराज हिमालय की दुर्भेद्य अचल दृढ़ता का सर्वत्र प्रचार कर रहा है। सन्ध्याकालीन घनमालाओं के मध्य में इसकी गगन चुम्बिनी श्रेणियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो वे इस गिरिराज की रानियाँ हों, जो तुषार का किरीट धारण करके, मध्याकालीन बादलों की रंग-बिरंगी छींट के उत्तरीय ओढ़े हुए हों।[1] हिमालय के इस रूप-सौन्दर्य के चित्रण में जहाँ एक संश्लिष्ट चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ उसमें व्यवस्थित क्रम, सामंजस्य, अन्विति, वर्ण-दीप्ति आदि के साथ-साथ एक दैवी सौन्दर्य की अनुपम झाँकी भी प्रस्तुत की गई है।

प्रसादजी ने ऐसा ही एक संश्लिष्ट चित्र सन्ध्या-सुन्दरी का अंकित किया है, जिसमें वह एक नायिका की भाँति सुसज्जित होकर अपने सरोवर रूपी घर में आती है। वह गैरिक वस्त्र पहने हुए है, उसकी अलकें तारों से गुँथी हुई हैं और वह कदम्ब पुष्पों की सुरभित करधनी पहने हुए है। उसके आते ही उसके घर में चहल-पहल मच जाती है, क्योंकि सन्तान की तरह खग-समूह किलकारी भरने लगता है, कलहंस कलरव करने लगते हैं और उनकी प्रतिध्वनियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो स्वर्ग की किन्नरियाँ अभिनव तानें ले रही हों।[2] सन्ध्या के इस रूप-चित्रण में मानवीकरण का प्रयोग करते हुए उसमें एक सुन्दरी देवांगना की सी पवित्रता, कोमलता, मधुरता आदि के दिखाने का प्रयत्न हुआ है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने मानवीय एव प्राकृतिक रूप-सौन्दर्य के सजीव चित्र अंकित किये हैं, जिनमें व्यवस्थित क्रम, पूर्णता, मधुरिमा एव

१—कामायनी, पृ० २६-३०।

२—सन्ध्या समीप आई थी उस सर के, वल्कल वसना,
तारों से अलक गुँथी थी पहने कदम्ब की रसना।
खग कुल किलकार रहे थे कलहंस कर रहे कलरव,
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि लेती थीं तानें अभिनव।
—आनन्द सर्ग, पृ० २८४।

संक्षिप्तता के दर्शन होते हैं। इन चित्रों की संक्षिप्त-शैली इतनी मार्मिक है कि थोड़े विवरण से ही रूप-सौन्दर्य का प्रभावशाली चित्र पाठकों के मानस-पटल पर उतर आता है और उसकी सुषमा का साक्षात्कार करता हुआ प्रत्येक सहृदय पाठक आनन्द-विभोर हो उठता है।

भाव-सौन्दर्य—जिस तरह प्रसादजी ने रूप-सौन्दर्य के सजीव चित्र अंकित करके अपनी चित्रण-कुशलता का परिचय दिया है, उसी तरह भाव-सौन्दर्य का चित्रण भी बड़ी निपुणता एवं कलात्मकता के साथ किया है। देखा जाय तो सम्पूर्ण कामायनी भाव-सौन्दर्य के सजीव चित्रों से ही ओत-प्रोत है। स्थान-स्थान पर अमूर्त भावों को मूर्त रूप देकर प्रसादजी ने उन्हें जिस तरह सुसज्जित किया है, वैसा प्रयत्न अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उदाहरण के लिए प्रथम चिन्ता नामक मनोभाव का ही चित्र देखिये। इसमे चिन्ता को विश्व-वन की सर्पिणी, ज्वालामुखी पर्वत के भीषण स्फोट के प्रथम कम्पन के समान मतवाली, अभाव की चपल बालिका, ललाट की दुष्ट रेखा, हरीभरी सी दौड़-धूप, समस्त ग्रहों की हलचल आदि कहकर उसे हृदय की लहलहाती हुई खेती के ऊपर ओलों से भरे हुए बादलों के तुल्य छाई रहने वाली बतलाया है।[1] चिन्ता के इस चित्र द्वारा उसका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है और प्रत्येक पाठक उसकी वस्तुस्थिति से भली प्रकार अवगत हो सकता है। चिन्ता के सम्यक् निरूपण में उसकी अन्तर्बाह्य समस्त विशेषताओं के साथ-साथ उसके मूर्त रूप को भी सजीवता के साथ अंकित करने का प्रयत्न किया गया है।

ऐसा ही दूसरा चित्र वासना का है। जिसमे वासना के उदय होते ही सर्वत्र चन्द्रमा की सुकुमार किरणें मधु बरसाती हुई सी प्रतीत होती हैं, पवन पुलकित होकर मधु का भार लिये हुए मंथर गति से चलता हुआ सा जान पड़ता है, प्राण अधीर हो उठते हैं, प्राण किसी सुरभि से तृप्त होकर छका-सा प्रतीत होता है, व्यर्थ ही प्रिया के रूठने का सा सन्देह होने लगता है और न जाने क्यों मनाने की सी इच्छा होती है तथा प्रेमी अपने को इस कार्य मे असमर्थ सा समझने लगता है। साथ ही वेदना के समान ही धमनियों में रक्त का संचार होने लगता है और लघुभार सा लेकर हृदय में धड़कन भी काँपने लगती है।[2] यहाँ पर अमूर्त वासना का ऐसा ब्योरेवार चित्रण किया गया है कि उसका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो गया है।

इनसे भी अधिक सजीव एवं मनोमोहक चित्र कवि ने लज्जा मनोभाव का अंकित किया है। कामायनी का 'लज्जा' सर्ग इसी मनोभाव के सजीव चित्रण

१—कामायनी, पृ० ५–६। २—वही, पृ० ८६।

के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। प्रसादजी ने इस अमूर्त भाव का मूर्तीकरण करते हुए लिखा है कि एक नारी में लज्जा मनोभाव के उदय होते ही उसे प्रेमी को छूने में हिचक लगती है, देखने में सहमा पलकें आँखों पर झुक जाती हैं, परिहास से भरी हुई मीठी वाणी अधरों तक आकर रुक जाती है, रोमांच हो जाता है और उसके अंग की रोमावली खड़ी होकर चुपचाप उसे रोकने का संकेत करने लगती है। यद्यपि वह नारी अधरों से कुछ नहीं कहती, फिर भी उसकी भौंहों की काली-काली रेखायें मूक-भाषा में हृदय की भावना को व्यक्त कर देती हैं।[1] इसके अनन्तर लज्जा के स्वरूप का चित्रण करते हुए उसे रति की प्रतिमूर्ति, शालीनता को सिखाने वाली, मतवाले सौन्दर्य के पग में नूपुर के समान लिपटने वाली एवं चंचल किशोर सौंदर्य की रखवाली करने वाली कहकर उसको सरस कपोलों की ललिमा, आँखों का अंजन, कुंचित अलकों का घुँघरालापन, मन की मरोर तथा एक ऐसी हलकी सी मसलन कहा है, जो कानों की लाली का रूप धारण कर लेती है।[2]

भाव-सौन्दर्य का ऐसा सजीव-विधान अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। प्रसादजी ने यहाँ अपनी गहन अनुभूति के आधार पर लज्जा आदि मनोभावों के भावगत सौन्दर्य को मूर्त रूप देकर उनका ऐसा चित्रण किया है कि उनके रूप के साथ-साथ उनके समस्त मानसिक एवं शारीरिक व्यापार भी स्पष्ट हो गये हैं। कामायनी में भावों की नराकार उद्भावना भी की गई है। जैसे श्रद्धा, काम, इड़ा, असुर पुरोहित आदि मनोभावों के भी प्रतीक हैं। अतः इनके सौंदर्य-विधान में भी भावगत सौंदर्य के दर्शन होते हैं। इस तरह प्रसादजी सम्पूर्ण कामायनी में भाव-सौंदर्य के विधान में भी अधिक व्यस्त दिखाई देते हैं।

कर्म-सौन्दर्य—यद्यपि अन्य प्रबन्ध-काव्यों की भाँति कामायनी में कर्म का विस्तार अधिक नहीं मिलता, क्योंकि इसकी कथा ही अत्यन्त लघु है, फिर भी अपने सीमित क्षेत्र में प्रसादजी ने कर्म के स्वरूप का जो चित्रण किया है, उसके अन्तर्गत कर्म-सौंदर्य के भी दर्शन हो जाते हैं। इतना अवश्य है कि प्रसादजी ने यहाँ पुरुष की अपेक्षा नारी के कर्म-सौंदर्य का चित्रण अधिक किया है, यहाँ तक कि पुरुष को तो पहले अकर्मण्य ही दिखलाया है और नारी ही सर्वप्रथम उसके समीप आकर उसे कर्म करने की प्रेरणा देती हुई चित्रित की है।[3] नारी के इस कर्म-सौंदर्य का सजीव चित्र वहाँ अंकित किया गया है, जहाँ वह एक गृह-लक्ष्मी की भाँति गर्भवती होकर अपने भावी शिशु के लिए ऊन कातती, वस्त्र

१—कामायनी, पृ० ९९। २—वही, पृ० १०३।
३—वही, पृ० ५४–५६।

बनाती, बीजो का सग्रह करती एव सुन्दर कुटीर का निर्माण करती है जिसमें पुआलो का छाजन डालकर शुभ वातायन बनाती है, वेतसी लता का झूला डालती है और धरातल पर सुमनो का चिकना सुरभि-चूर्ण बिछाती है। वह गर्भ की दुर्भर किन्तु मधुर पीडा को झेलती हुई भी इन सभी कार्यों मे दिन-रात व्यस्त रहती है। उसके मुख पर श्रम-बिन्दु के रूप मे जननी का सरस गर्व झलकता दिखाई देता है तथा वे श्रम-बिन्दु जब पृथ्वी पर गिरते हैं तो ऐसा जान पडता है मानो वे सुमन बनकर पृथ्वी पर बरस रहे हो और कोई महापर्व समीप ही आ गया हो।[1]

नारी के कर्म-सौंदर्य का दूसरा चित्र वहाँ मिलता है, जहाँ श्रद्धा स्वप्न मे अनिष्टकारी घटनाएँ देखकर मनु को खोजने के लिए एक योगिनी की भाँति घर से निकल पड़ती है और ढूँढती-ढूँढती सारस्वत नगर मे जाकर अपने प्राण-प्रिय को मुमूर्ष अवस्था मे देखती है। उस समय उसका हृदय घुलकर आँखो के मार्ग से बहने लगता है, वह अपने मधुर-स्पर्श के अनुलेप एव अपनी स्वर-लहरी के संजीवन-रस से मनु को सचेत कर देती है और आत्मीयता का सचार करती हुई अपने अपराधी पति को भी अवलम्ब देती है। इतना ही नही, अपने रूठे हुए ईर्ष्यालु पति के हृदय मे पुनः अनुराग उत्पन्न करके अपना महत्व स्थापित कर देती है।[2]

इतना ही नही, अन्त में वह पतिव्रता नारी अपने अथक परिश्रम द्वारा जगती की ज्वाला से संतप्त एवं पथ-भ्रष्ट पुरुष को उचित मार्ग पर लाकर एव उसके जीवन मे सरसता का संचार करती हुई उसे महापुरुष बना देती है, जिससे फिर वे दोनों निरन्तर समृति की सेवा मे लीन रहते हैं, सतोष एव सुख देकर सबके दुःख को दूर करते हैं[3] और जगत का कल्याण करते हुए अखड आनन्द का अनुभव करते हैं।[4] इस तरह कामायनी मे नारी के कर्म-सौन्दर्य की ऐसी मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है कि सर्वत्र उसी का व्यक्तित्व महान् दिखाई देता है और वही मानव को पशुता से मानवता की ओर ले जाने वाली सिद्ध होती है।

साराश यह है कि प्रसादजी ने कामायनी मे रूप, भाव एव कर्म तीनों प्रकार के सौन्दर्य का विधान किया है। इसके लिए उन्होंने सौन्दर्य के अन्तर्बाह्य सभी उपकरणों का प्रयोग किया है और उनके द्वारा सौन्दर्य की एक ऐसी चित्रण-प्रणाली को जन्म दिया है, जो युग की एक विशिष्ट प्रणाली बन गई है। इसी प्रणाली के कारण आज छायावाद के युग को सौन्दर्य-चित्रण का भी युग कह

१—कामायनी, पृ० १४१, १४९–१५१। २—वही, पृ० १४३।
३—वही, पृ० २१४–२२२। ४—वही, पृ० २८२।

सकते हैं, क्योंकि मानव के अन्तर्बाह्य जीवन सम्बन्धी जितने सजीव चित्र इस युग मे अंकित हुए हैं, उतने हिन्दी साहित्य के किसी भी युग में मिलना कठिन है। साथ ही जबकि कामायनी इस छायावादी युग की प्रतिनिधि रचना है, तो इसमे तत्कालीन पद्धति पर सौन्दर्य-चित्रो की बहुलता का होना भी स्वाभाविक है। यही कारण है कि कामायनी मे सौन्दर्य-चित्र अधिक मिलते हैं, जिनमे प्रसादजी के सौन्दर्य विधान की निपुणता एव बारीकी के दर्शन होते हैं।

सौन्दर्य और रस—पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियो ने सौन्दर्य मे प्रसन्नता एव आनन्दानुभूति का जैसा वर्णन किया है, वैसा ही वर्णन हमारे यहाँ रस के अन्तर्गत मिलता है और रस को यहाँ स्वय आनन्द-स्वरूप ही माना है। इसके साथ ही क्रोचे ने सौन्दर्य-जन्य आनन्द को दो भागो मे विभक्त किया है—शुद्ध आनन्द और मिश्रित आनन्द। काव्य, चित्र आदि से शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है और नाटको से मिश्रित आनन्द मिलता है।[1] इसस सिद्ध है कि सौन्दर्य के आनन्द मे कला का आनन्द भी सम्मिलित है। यह बात डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी स्वीकार की है कि 'चतुर शिल्पी जिस पाषाण-खड को अपने कौशल से छू देता है वही सौन्दर्य का प्रतीक बन जाता है और उसी में से रस का अक्षय स्रोत फूट निकलता है।'[2] इस तरह सौन्दर्य-जन्य आनन्दानुभूति तथा कलागत आनन्दानुभूति या रस म समानता प्रतीत होती है। परन्तु सौन्दर्य और रस की एक-सी प्रकृति होते हुए भी उनमे थोडा अन्तर है। रस अपनी विभाव, अनुभाव, सचारी आदि सामग्री पर आधारित है, जिसमे विभाव-पक्ष मुख्य है। रस नौ माने गये हैं, जिनमें शृ गार को मुख्यता दी गई है, किन्तु अन्य रस भी अपना महत्व रखते हैं। सौन्दर्य का सम्बन्ध केवल शृ गार के रस के आलम्बनों से ही है। शृ गार के आलम्बनों में तथा उनके वर्णन करने वाले काव्यों में माधुर्य-गुण की प्रधानता रहती है। भारतीय दृष्टिकोण से माधुर्य को ही सौन्दर्य का परिचायक कहा जा सकता है। माधुर्य की परिभाषा मे कहा भी गया है कि जो गुण चित्त को द्रवीभूत करके आह्लादमय बनाता है, उसे माधुर्य कहते हैं।[3] सौन्दर्य म भी चित्त को द्रवीभूत करने का गुण होता है। साथ ही शृ गार रस के स्थायी भाव रति में भी मन का उसके अनुकूल अर्थ मे प्रेमार्द्र या द्रवीभूत होना बतलाया गया है।[4] इस तरह मन की

1—Theory of Aesthetic. p 131

२—कला और सस्कृति, पृ० २१६।

३—चित्तद्रवीभावमयोऽह्लादो माधुर्यम् च्यते।—साहित्यदर्पण ८।३

४—रतिमनोऽनुकूलेऽर्थे मनस प्रवणायितम्।—साहित्यदर्पण ३।१८४

अनुकूलता या चित्त के द्रवीभूत होने का जो लक्षण रति मे मिलता है, वही सौन्दर्य या माधुर्य मे भी प्राप्त हो जाता है। अत. अन्य सभी रसो की अपेक्षा केवल शृंगार रस और सौन्दर्य एक समान प्रतीत होते हैं।

शृंगार रस में भी सौन्दर्य का सम्बन्ध केवल उसके आलम्बन विभाव से होने के कारण सौन्दर्य कला का बाह्य पक्ष सिद्ध होता है। वैसे प्रत्येक कला का सम्बन्ध रस से है और जो बात कला के लिए कही जा सकती है वही बात व्यापक सौन्दर्य के लिए भी कही जा सकती है, जिसमे प्राकृतिक और मानसिक सौन्दर्य भी आजाते हैं। इतना होने पर भी सौन्दर्य कला का बाह्य शरीर है और रस उसकी आत्मा है। सौन्दर्य में केवल नेत्रेन्द्रिय की सहायता ली जाती है, जबकि रस का सम्बन्ध हृदय से है। यदि सौन्दर्य पुष्प है, तो रस उसका आह्लादमय सौरभ है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि केवल कला के बाह्य पक्ष की ओर ही रही, जबकि भारतीय विद्वानों ने उसके अन्तस् मे प्रवेश करके कला के वास्तविक स्वरूप को जानने की भी चेष्टा की। यही कारण है कि पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति एवं प्राच्य रसानुभूति मे एकता होने पर भी पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। पश्चिम की सौन्दर्यानुभूति मे रजोगुण की प्रधानता है, जबकि रसानुभूति सत्वगुण-प्रधान है। एक मे आनन्द की अनुभूति आनुषंगिक है, परन्तु दूसरी स्वय आनन्दस्वरूप ही है।[1] इतना ही नही, पश्चिम मे सौन्दर्यानुभूति की भौतिक एवं आध्यात्मिक व्याख्या होने पर भी वह ब्रह्मानन्द के समकक्ष नहीं ठहराई जा सकी है, जबकि भारतीय विद्वानो ने "रसो वै स."[2] कहकर रस को ही ब्रह्म मान लिया है और इसी कारण रसानुभूति भी यहाँ ब्रह्मानन्द की अनुभूति के समकक्ष मानी जाती है।

वस्तु और रस का सतुलन—काव्य के कलेवर मे शब्द, अर्थ तथा रस तीनो संगुम्फित रहते हैं। राजशेखर ने ठीक ही लिखा है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और रस उसकी आत्मा है।[3] शब्द और अर्थ का सम्बन्ध काव्य की वस्तु मे होता है, क्योकि सार्थक शब्दो के समूह मे ही कविता की वस्तु का निर्माण होता है, निरर्थक शब्दों से नही। इसके साथ ही जब काव्य की आत्मा रस है, तब काव्य का सारा ढाँचा या वस्तु-विधान भी रस की दृष्टि से ही होना उचित है और उसमे आने वाले गुण, रीति, अलकारादि की योजना भी रसानुकूल ही उपयुक्त होती है। साहित्यदर्पणकार ने इसी कारण लिखा भी है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है, दोष उसका अपकर्ष करने वाले

१—वक्रोक्ति और अभिव्यजना, पृ० १६७। २—तैत्तिरीयोपनिषद् २।७
३—काव्य-मीमांसा, पृ० १४।

हैं तथा गुण, अलकार एव रीति उसके उत्कर्ष विधायक होते हैं।[1] इस प्रकार वस्तु मे क्या गुण, क्या अलकार और क्या रीति एव वक्रोक्ति—सभी का विधान रस को ध्यान मे रखकर होना ठीक है। इतना ही नहीं, आचार्यों ने जिन दोषों की कल्पना की है उनमें भी रस का ध्यान रखा गया है और रस का अपकर्ष करने वाली या रस मे बाधक वस्तुओं को ही प्रायः दोष कहकर पुकारा गया है।[2]

अत काव्य की वस्तु मे सतुलन स्थापित करने के लिए अथवा उसका काव्य में उचित विधान करने के लिए कवि को रस पर ध्यान देना सर्वथा अपेक्षित है। जब रस काव्य की आत्मा है, तब आत्मा को छोड़कर यदि काव्य-वस्तु का विधान किया जायगा अथवा उस आत्मा की ओर ध्यान न देकर बाह्य आकार-प्रकार मे ही केवल सौन्दर्य खोजन का प्रयत्न किया जावेगा, तो वह रचना निर्जीव होगी, उसमे रस के बिना सजीवता नहीं आ सकती और वह सहृदयों के हृदय को भी अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल नहीं हो सकती। हमारे यहाँ तो रस ही सौन्दर्यानुभूति का साधन माना गया है और रस-शून्य किसी भी रचना को काव्य कहने मे भी सकोच रहा है।[3] अत वस्तु के लिए रस की अत्यन्त आवश्यकता है, विशेषकर प्रबन्ध-काव्य की वस्तु का विधान तो रस की नींव पर ही होता है, तभी वह रचना सरस और आह्लादकारिणी होती है। यह माना कि काव्य-वस्तु मे एक कथा रहनी चाहिए उसमे जहाँ-तहाँ आलंकारिक वर्णन भी होने चाहिए, वृत्तों की भी सुन्दर योजना होनी चाहिए, रीति एव गुणों का भी उचित उपयोग होना चाहिए और उक्तियों का भी कौशल रहना चाहिए, परन्तु रस का ध्यान न रखकर यदि उपर्युक्त सभी बातों की योजना की जायगी, तो वह रचना चमत्कारिक भले ही हो जाय, सरस न होगी, कौतूहलवर्द्धक भले ही हो जाय, आह्लादकारिणी न होगी और शब्द-सौन्दर्य मे ओत-प्रोत भले ही हो, किन्तु अर्थ-सौन्दर्य से हीन होगी। इसलिए कथा-वस्तु की सफल योजना के लिए रस के सन्तुलित स्वरूप का होना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने भी काव्य और सूक्ति का भेद बतलाते हुए सरस और रसहीन काव्य-वस्तु की ओर स्पष्ट सकेत किया है। उनका कहना है कि—"जो उक्ति हृदय मे कोई भाव जागरित करदे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की

१—वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्ष हेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ॥—साहित्यदर्पण १।३-४

२—रसापकर्षका दोषा।—साहित्यदर्पण ७।१

३—नहि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति।—ध्वन्यालोक:

मार्मिक भावना में लीन करदे वह तो है काव्य और जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह है सूक्ति।"[1] इस प्रकार वस्तु के सफल विधान के लिए उसमें रस का सन्तुलित स्वरूप रहना अनिवार्य है। अलंकारादि से बाह्य सौन्दर्य की ही सृष्टि हो सकती है, किन्तु आन्तरिक सौन्दर्य का सृजन रस द्वारा होता है और जिस रचना में रस की ओर कवि की सन्तुलित दृष्टि रहती है वही रचना सफल एवं उत्कृष्ट मानी जाती है।

नूतन काव्य-धारा में रस की स्थिति—काव्य में रस की अपरिहार्य सत्ता का विवेचन करने के उपरान्त अब देखना यह है कि आधुनिक नूतन काव्य-धारा में रस की क्या स्थिति है और आजकल के कवि कहाँ तक रस पर ध्यान देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि आजकल पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से कवियों का ध्यान रस की ओर उतना नहीं है जितना कि स्वानुभूति-निरूपण, चरित्र-चित्रण, सौन्दर्य-वर्णन आदि की ओर दिखाई देता है। आजकल प्रायः ऐसे विचार फैल रहे हैं कि 'रस-सिद्धान्त कोई अटल वस्तु नहीं है, जीवन की धारायें एक-दूसरे से ऐसी मिली-जुली हैं कि नौ रसों की मेड़ बाँधकर उन्हें अपने मन के मुताबिक नहीं बहाया जा सकता।' यह रस-परिपाटी जीवित कविता की गति में बाधक होती है। वह अवरोध है और एकमात्र राजाश्रित कवियों की बनाई हुई है। वह आदि-कवि के काव्य में नहीं मिलती। नहीं बाद को मिलती। यदि रस काव्य की आत्मा होता, तो वह सबकी कविता में मिलता, इत्यादि।[2] इन सभी आक्षेपों का उचित एवं उपयुक्त उत्तर देते हुए पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है कि 'रस की संख्या नौ होना ही आवश्यक नहीं है, अन्य भाव भी रस की कोटि तक पहुँच सकते हैं और वह स्वयं नौ के स्थान पर ग्यारह रसों को मान कर चले हैं। साथ ही उनका मत है कि रस का सिद्धान्त राजाश्रित कवियों का बनाया हुआ नहीं है, वह दो हजार बरस से भी ऊपर की चीज है। रस कविता के लिए कभी बाधक नहीं होता, क्योंकि यहाँ तो आचार्यों ने काव्य की तीन श्रेणियाँ मानी हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। जो रसहीन रचनाएँ हैं, वे मध्यम तथा अधम कोटि में आती हैं और सरस रचनाओं को उत्तम कहा जाता है। इतना ही नहीं, सूक्तियाँ भी कविता ही मानी जाती हैं।[3]

१—चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३४।
२—काव्यदर्पण, भूमिका, पृ० ३-१३।
३—काव्यदर्पण, भूमिका, पृ० ५-१४।

इनके अतिरिक्त श्री नंददुलारे वाजपेयी ने छायावादी युग की कविता का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि इस कविता में 'काव्य-कल्पना और शब्द-संकेतों में वास्तविक अनुभूति का योग रहता है। यह अनुभूति ही इस युग की प्रेरणा-शक्ति है। इसी अनुभूति के आधार पर रस-सिद्धान्त की सृष्टि हुई है और उसके उपादान—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि निश्चित किए गए हैं।'[1] यही बात डा० भगीरथ मिश्र ने भी स्वीकार की है कि आजकल का कवि जिस अनुभूति को कविता का अनिवार्य अंग मानता है या उसे आत्मा कहता है वह भाव या रस-सम्प्रदाय की ही वस्तु है।[2] इतना अवश्य है कि आधुनिक कविता में प्रगीत-मुक्तकों की प्रधानता है और उन कविताओं में स्वानुभूति-निरूपण की ओर अधिक ध्यान देने के कारण रस का पूर्ण परिपाक नहीं दिखाई देता। प्रायः उन प्रगीत-मुक्तकों में रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भाव-संधि और भाव-शबलता की ही व्यंजना अधिक मिलती है, जबकि मुक्तकों एवं प्रबन्ध-काव्यों में विभाव, अनुभाव संचारी तथा स्थायी भावों से युक्त रसानुभूति के भी दर्शन होते हैं।[3]

सारांश यह है कि भले ही आधुनिक कवि रस की ओर ध्यान देकर कविता नहीं लिखते, फिर भी उन कविताओं में जिन मनोभावों का वर्णन होता है, उनमें यदि कोई भाव अपनी परिपक्वावस्था तक नहीं पहुँचता अर्थात् उसमें आलम्बन-उद्दीपन विभावों, संचारी भावों या अनुभावों का सम्यक् निरूपण नहीं होता, तो भी केवल भाव-व्यंजना के कारण ही वे कविताएँ भाव की कोटि में तो आ ही जाती हैं और यह भी रस की एक निम्न कोटि है। अतः आधुनिक कविता में स्वानुभूति की तीव्रता होने के कारण यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उसमें रस-सिद्धान्त का पालन नहीं होता अथवा यह कहना भी समीचीन नहीं है कि आधुनिक कविता में रस-सिद्धान्त की सर्वथा अवहेलना की जाती है।

नूतन रस-धारा में कामायनी का स्थान—उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि आधुनिक युग में छायावाद के अन्तर्गत जितनी स्वानुभूति-निरूपिणी प्रगीत-मुक्तक कवितायें आती हैं, उनमें केवल भावों का ही वर्णन होता है और रस की पूर्ण परिपक्वावस्था के दर्शन नहीं होते। परन्तु कामायनी काव्य प्रगीत-मुक्तक नहीं है। यह एक प्रबंधात्मक काव्य है। यह दूसरी बात है कि इसमें भी

१—आधुनिक साहित्य, पृ० १२।

२—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४१०।

३—छायावाद-युग, पृ० २३४।

'इड़ा' आदि सर्गों मे प्रगीत-मुक्तक जैसे कुछ स्थल मिल जाते हैं और वहां पर केवल भावों के ही वर्णन मिलते हैं, फिर भी एक महाकाव्य होने के नाते इसमे रसो की पूर्ण परिपक्वावस्था के भी दर्शन होते हैं जिसका विस्तृत उल्लेख इसी प्रकरण के अन्तर्गत पहले किया जा चुका है।[1] इतना अवश्य है कि आधुनिक युग की विशिष्ट प्रणाली को अपनाने के कारण जहां कामायनी मे अंधकार और पवन को आलिंगन करते हुए,[2] धरा वधू को सकुचित बैठे हुए तथा ऐंठकर मान करते हुए,[3] रजनी को घूंघट उठाकर मुस्कराते हुए[4] तथा नदियो और पर्वतो को परस्पर गलबाँही डालकर घूमते हुए लिखा है,[5] वहाँ पर शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास सिद्ध होता है, क्योंकि ऐसे स्थलो पर प्रकृति मे चेतनता का आरोप करके प्राकृतिक पदार्थों को रति-क्रीडा मे निमग्न दिखाया गया है, जो कि अनौचित्य के अन्तर्गत आता है। परन्तु तनिक गहराई के साथ विचार किया जाय तो पता चलेगा कि उक्त औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी धारणा प्राचीन है। आधुनिक युग मे सामंतयुगीन दृष्टि के बदल जाने और विज्ञान द्वारा नई दृष्टि मिल जाने से बहुत कुछ प्राचीन मान्यताएँ भी बदल चुकी है। अब प्रकृति मे रति-क्रीडा का वर्णन करना अनुचित नहीं माना जाता और आधुनिक वैज्ञानिक तो पुष्पो एव पेड़-पौधों मे भी लिंग-भेद मानने लगे हैं। प्राचीन साहित्य-शास्त्र मे प्रकृति के इन व्यापारों को रसाभास सम्भवतः इसलिए कहा है कि ऐसे व्यापारों में चेतना के कार्य की प्रतीति नही होती। परन्तु आधुनिक कवि की दृष्टि मे प्रकृति सजीव एवं सचेतन है। अत उसके व्यापार भी मानवोपम होते हैं, भले ही वे रस की कोटि न आकर भावमात्र ही रहे।

निष्कर्ष यह है कि कामायनी में अपने युग के अन्तर्गत प्रचलित प्राचीन एव नवीन अधिकाश सौन्दर्य एव रस सम्बन्धी मान्यताओ के दर्शन होते हैं और

१—देखिए, पृ० १५६।१६२।

२—तरल तिमिर से प्रलय पवन का होता आलिंगन प्रतिघात।
—चिन्ता सर्ग, पृ० १५।

३—सिधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी, ऐंठी सी।
—आशा सर्ग, पृ० २४।

४—घूंघट उठा देख मुसक्याती किसे ठिठकती सी आती।
—आशा सर्ग, पृ० ३६।

५—भुज-लता पड़ी सरिताओं की शैलों के गले सनाथ हुए।
—काम सर्ग, पृ० ७६।

प्रसाद जी ने काव्य के भाव एव विभाव-दोनो पक्षो का बडी सफलता के साथ निरूपण किया है। भाव-पक्ष के अन्तर्गत कामायनी के भाव-सौन्दर्य एव रसादि-पूर्ण वर्णन आ जाते हैं और विभाव-पक्ष म सौन्दर्य-चित्रण आता है। इस तरह कामायनी मे आधुनिक युग की मान्यताओ का सुन्दर समन्वय मिलता है और कवि प्रसाद ने आदि मानव की कथा के सहारे अनुपम प्रेम एव अलौकिक सौन्दर्य की जो रसात्मक झाँकी प्रस्तुत की है, उसी के आधार पर आज 'कामायनी' को अपने युग का प्रतिनिधि महाकाव्य कहा जा सकता है।

प्रकरण ४

२—कामायनी का काव्यत्व

कामायनी का कला-पक्ष

काव्य में शब्द-विधान सम्बन्धी विभिन्न मत—भाषा कवि की स्वानुभूति को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने का सुन्दर माध्यम है, क्योंकि भाषा ही भाव एवं विचारों को वहन करके कवि की स्वानुभूति को उसके अन्तर्प्रदेश से बाह्य जगत में लाती है और अपनी अपूर्व क्षमता द्वारा उन्हें सर्वजन-सुलभ बनाती है। इस भाषा का स्वरूप पद, पदांशों, वाक्य या वाक्यांशों द्वारा निर्मित होता है और पद या वाक्य आदि का मूल आधार शब्द है। इस तरह भाषा के स्वरूप का निर्माण शब्द-समुच्चय द्वारा होता है और ये शब्द ही भावाभिव्यक्ति के प्रमुख साधन हैं। इसी कारण काव्य को मुख्यतः शब्द की साधना कहा गया है।[1]

'शब्द' का धातुगत अर्थ आविष्कार करना या शब्द करना है।[2] यह शब्द अपनी सांकेतिक ध्वनि द्वारा साधारणतया वस्तुओं का ज्ञान कराया करता है।[3] पतंजलि ने कहा भी है कि लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि को शब्द कहते हैं।[4] कुन्तक भी अन्य अनेक वाचकों के रहते हुए भी विवक्षित

१—साहित्यालोचन, पृ० ६३। २—सिद्धान्त-कौमुदी, पृ० ४०२।
३—काव्यदर्पण-भूमिका, पृ० ४७। ४—महाभाष्य १।१।१

अथवा अभिलषित अर्थ के एकमात्र वाचक को शब्द कहते हैं।[1] आचार्य दंडी का मत है कि सम्यक् प्रयोग होने से यह शब्द कामधेनु के समान हमारा सर्वार्थ सिद्ध करता है और दुष्प्रयुक्त होने से प्रयोक्ता की ही मूर्खता को प्रकट करता है।[2]

अंग्रेजी के विद्वान् वाल्टर पेटर ने भी लिखा है कि अनेक शब्दों के रहते हुए भी एक वस्तु, एक विचार के लिए एक ही शब्द उपयुक्त होता है।[3] हर्बर्ट रीड का भी यही विचार है कि कविता शब्दों में ही अभिव्यंजित होती है और काव्य में शब्द ही मूर्तियों एवं विचारों का संकेत किया करते हैं[4] और क्रोचे का मत है कि कविता एक ओर तो शब्द की मूर्ति है और दूसरी ओर वह शब्दों के अर्थ की भी मूर्ति है।[5] भारतीय आचार्यों ने भी शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहा है।[6] अतः अर्थयुक्त शब्दों द्वारा ही काव्य का विधान होता है।

साधारणतया साहित्य-ग्रन्थों में शब्द तीन प्रकार के माने गये हैं—वाचक, लक्षक और व्यंजक। जो साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक होते हैं वे 'वाचक' कहलाते हैं, जो मुख्यार्थ के बोधक होने पर उससे भिन्न किसी अन्य अर्थ को लक्षित करते हैं वे 'लक्षक' होते हैं और व्यंग्यार्थ के द्योतक शब्दों को 'व्यंजक' कहते हैं।[7] इन तीनों प्रकार के शब्दों द्वारा ही काव्य का निर्माण होता है।

परन्तु काव्य के लिए कैसा शब्द विधान अपेक्षित है, इसके बारे में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत मिलते हैं। भरतमुनि का विचार है कि 'गूढ़ शब्दार्थ से रहित मृदुललित पदावली' ही सदैव काव्य के लिए शुभ होती है।[8] अग्निपुराण में लिखा है कि 'संक्षेप में अपने अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने वाले वाक्यों से युक्त पदावली' ही काव्य के लिए अपेक्षित है।[9] इसके अतिरिक्त संस्कृत के अन्य आचार्य सार्थक शब्दों एवं रसात्मक वाक्यों द्वारा काव्य का निर्माण उचित बतलाते हैं।[10]

१—वक्रोक्तिजीवितम् १।६ २—काव्यादर्श १।६

3—Appreciation, p. 27

4—Collective Essays in Literary Criticism, p 44.

5—Theory of Aesthetic, p 171

६—काव्यालंकार १।१६, काव्यादर्श १।१०

७—काव्यदर्पण, पृ० २३-२७। ८—नाट्यशास्त्र १७।१२३

९—अग्निपुराण ३३७।६-७

१०—काव्यालंकार १।१६, साहित्यदर्पण १।३

हिन्दी के आधुनिक आचार्यों में से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का मत है कि काव्य की भाषा सरल-सुबोध होनी चाहिए, शब्दों का रूप व्याकरण-सम्मत अर्थात् शुद्ध होना चाहिए तथा रसानुरूप शब्दो का प्रयोग होना चाहिए।[1] आचार्य शुक्ल का विचार है कि कविता मे लाक्षणिक, विशेष रूप-व्यापार-सूचक, नाद-सौन्दर्य से परिपूर्ण तथा व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्य-बोधक शब्दो का व्यवहार होना उचित है।[2] आचार्य श्यामसुन्दरदास का कथन है कि शब्दो के आधार पर ही उत्तम काव्य-रचना हो सकती है। अतः उत्तम काव्य के लिए शब्दो का उपयुक्त प्रयोग, शब्द-संघटन, भाषा की प्रौढता, समीकृत वाक्य-रचना, अवधारणा का संस्थान आदि बातें अपेक्षित हैं।[3] साथ ही डा० भगीरथ मिश्र नवीन शब्दो, मुहावरो, प्रयोगों, लोकोक्तियो आदि को कविता के लिए आवश्यक बतलाते हैं।[4]

पाश्चात्य विद्वानो मे से अरस्तू का विचार है कि शब्द आठ प्रकार के होते हैं—लोक-प्रचलित (Current), अपरिचित (Strange), रूपकात्मक (Metaphorical), आलंकारिक (Ornamental), नव-निर्मित (Newly-coined), लम्बे (Lengthened), संक्षिप्त (Contracted)और परिवर्तित (Altered)।[5] इसके उपरान्त अरस्तू ने लिखा है कि वह रचना अत्यन्त स्पष्ट होती है, जिसमे लोक प्रचलित या उपयुक्त शब्दो का प्रयोग किया जाता है। परन्तु जिसमे अपरिचित, आलंकारिक, रूपकात्मक एवं लम्बे-लम्बे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वह रचना सर्वसाधारण की समझ मे न आने वाली, कुछ गूढ एवं क्लिष्ट होती है। यदि औचित्य का ध्यान रख कर रूपकात्मक, लम्बे-लम्बे, अपरिचित आदि शब्दो का ही प्रयोग किया जाय तो इनसे भी रचना सुन्दर हो सकती है, परन्तु औचित्य का ध्यान न रखने पर ऐसे शब्दो का प्रयोग हास्यास्पद हो जाता है।[6] एबर क्रोम्बी ने तो कविता मे प्रयुक्त सुन्दर शब्दों को जादू का सा प्रभाव डालने वाला बतलाया है और लिखा है कि वे केवल मोहित या आनन्दित ही नही करते, अपितु हमारे मस्तिष्क मे एक ऐसी असा-

१—हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० ७१।

२—चिंतामणि, भाग १, पृ०२३८–२४६।

३—साहित्यालोचन पृ० ३०५–३११।

४—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४११।

5—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art by Butcher, p. 77.

६—वही, पृ० ८२–८५।

धारण जीवनी शक्ति का सचार करते हैं जिसके द्वारा हमे पदार्थों एव पदार्थ-विषयक अन्य बातो का भी भली प्रकार परिचय मिल जाता है।[1] साथ ही हर्बर्ट रीड का मत है कि कविता मे शब्द ही प्रधान है। अत. कवि को शब्दो की ध्वनि, उनके आकार-प्रकार, आदि का भली प्रकार ज्ञान होना चाहिए, क्योकि शब्द कवि का सर्वस्व है और शब्दो का अर्थ ही काव्य का अर्थ होना है।[2]

आधुनिक युग मे छायावाद ने एक विशेष क्रान्ति उत्पन्न की है। इसलिए खडी बोली का जो रूप प्रचलित था, उसमे नवीनता उत्पन्न करते हुए छायावादी कवियो ने अपनी कविता के शब्द-विधान पर स्वय अपने विचार प्रकट किए हैं। उनमे से कविवर पत ने लिखा है कि—"प्रत्येक शब्द एक सकेत-मात्र, इस विश्व-व्यापी सगीत की अस्फुट झङ्कार-मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबन्ध हैं, उसी प्रकार शब्द भी, ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमो से बद्ध होते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश मे पक्षियो की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं। प्रत्येक शब्द साथ ही अपना अलग अर्थ रखता है, जैसे 'हिलोर' से उठान, 'लहर' मे सलिल के वक्षस्थल की कोमल-कम्पन, तरग' मे लहरो के समूह का एक-दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पडना, 'वीचि' मे जैसे किरणो मे चमकती, हवा के पलने मे हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियो का, 'उर्मि' मे मधुर मुखरित हिलोरो का, 'हिल्लोल-किल्लोल' से ऊँची-ऊँची बाँहे उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरगो का आभास मिलता है।"[3] इस प्रकार शब्द-विधान के लिए पत जी ने चार बातें आवश्यक बतलाई हैं—(१) शब्द के सम्बन्ध का ज्ञान होना, (२) शब्दो का व्याकरण सम्मत होना, (३) शब्दो का रागमय होना, और (४) प्रत्येक शब्द की आत्मा का ज्ञान होना। ये चारों बातें भाषा के स्वच्छन्द एव स्वाभाविक प्रवाह के साथ-साथ अपनी परम्परागत विशेषताओ की भी द्योतक हैं। कविवर निराला भी कविता के लिए ऐसी ही भाषा उपयुक्त समझते हैं, जिसका स्वाभाविक विकास अपने जातीय जीवन की दृढ नीव पर हुआ हो। आपने लिखा भी है कि—"प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस तरफ भी जाय—शक्ति, सामर्थ्य और मुक्ति की तरफ या सुखानुगमता, मृदुलता और छन्द-मायित्य की तरफ, यदि उसके साथ

1—The Idea of Great Poetry, p 18

2—Collective Essays in Literary Criticism, p 45.

३—पल्लव की भूमिका, पृ० १५-१७।

जातीय जीवन का भी सम्बन्ध है तो यह निश्चित रूप से कहा जायगा कि प्राण-शक्ति उस भाषा में है।"[1]

इसके साथ ही प्रसादजी का मत है कि -"सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी मे नवीन शब्दो की भगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास मे ऐसा पानी चढा कि उसमे एक तडप उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।··· इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन नये शब्दो की योजना हुई, हिन्दी मे पहले वे कम समझे जाते थे, किन्तु शब्दो मे भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने मे सहायक होते हैं। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र मे पर्यायवाची तथा अनेकार्थवाची इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी मे अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य मे मान्य हुए।"[2]

प्रसादजी के उक्त कथन से उनकी शब्द-विन्यास सम्बन्धी धारणा का पता चल जाता है। वे नवीनता के प्रेमी थे और अपने युग मे पूर्व-प्रचलित शब्दों को अपने सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के अनुकूल नही समझते थे। इसलिए उन्होंने नवीन लाक्षणिक पदावली को अपनाया और कविता के लिए शब्द की आत्मा का ज्ञान आवश्यक बतलाया। इतना ही नही, शब्द के व्यावहारिक रूप की भी अवहेलना नही की और उसी शब्द के कुछ भिन्न प्रयोग द्वारा कविता में विलक्षण अभिव्यक्ति को जन्म दिया।

अत: उक्त सभी विद्वानों के शब्द-विधान सम्बन्धी विचारो का विश्लेषण करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक काव्य के लिए भावानुकूल चित्रोपम शब्दों का चयन अपेक्षित है। वे शब्द लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक भले ही हों, किन्तु लोक-रुचि एवं लोक-व्यवहार से भिन्न न हों। उनमें नाद-सौन्दर्य एवं ध्वन्यात्मकता का रहना भी आवश्यक है। वे व्याकरण-सम्मत हों, तथा उनमे नवीन शब्दो के साथ-साथ मुहावरे, लोकोक्ति आदि का भी प्रयोग हो तो वे और भी रसात्मक बन सकते हैं।

कामायनी में शब्द-विधान

भावानुकूल चित्रोपम शब्दों का प्रयोग—कामायनी मे प्रसादजी ने प्रायः

१—प्रबन्ध-प्रतिमा, पृ० २७०।

२—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० १२३-१२४।

अपनी धारणा के अनुसार अभिव्यक्ति की नूतन प्रणाली का प्रयोग किया है। यह महाकाव्य उनके भावों की प्रौढ़ अभिव्यक्ति है। अतः इसमें सभी प्रकार की प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। शब्द-चयन में भी कवि ने पर्याप्त प्रौढ़ता का परिचय दिया है और ढूँढने पर भी दो-चार पद ही ऐसे मिलेंगे जहाँ शिथिलता दिखाई दे, अन्यथा सर्वत्र सुसघटित शब्द-योजना ही दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है कि कामायनी की अधिकांश पदावली में भावानुकूल चित्रोपम शब्दों का प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए प्रारम्भिक 'चिन्ता' सर्ग में आए हुए प्रलय-वर्णन को ले सकते हैं —

> हाहाकार हुआ क्रंदनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,
> हुए दिगंत बधिर, भीषण रव बार-बार होता था क्रूर।
> दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के,
> सघन गगन में भीम प्रकम्पन झंझा के चलते झटके।[1]

यहाँ कवि ने शब्दों से ही प्रलय की भयंकरता, बिजली की कड़कड़ाहट, मेघों का गर्जन-तर्जन, हाहाकार एवं करुण-क्रन्दन आदि का अत्यन्त सजीव चित्र अङ्कित किया है।

ऐसा ही एक और चित्र 'लज्जा' सर्ग से ले सकते हैं, जिसमें कवि ने भावानुकूल अपनी सरस, सरल एवं सशक्त भाषा का प्रयोग करते हुए लज्जा मनोभाव का निरूपण किया है —

> छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं,
> कलरव परिहास भरी गूँजें अधरों तक सहसा रुकती हैं।
> संकेत कर रही रोमाली चुपचाप बरजती खड़ी रही,
> भाषा बन भौंहों की काली रेखा सी भ्रम में पड़ी रही।[2]

यहाँ कवि ने छूने में हिचक, पलकों का आँखों पर झुकना, वाणी का ओठों तक आकर रुक जाना, रोमाली का बरजना आदि ऐसे वाक्यों का प्रयोग किया है, जो सरल एवं भाव-व्यंजक हैं तथा जिनमें भावों को मूर्तिमान करने की अपूर्व क्षमता है। इन शब्दों में चित्रोपमता का गुण सर्वत्र विद्यमान है।

लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक शब्द—छायावादी कवियों में प्रायः लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग सर्वाधिक मिलता है। इसका कारण यह है कि हृदय के सूक्ष्म मनोभावों एवं विशेष-विशेष रूप-व्यापारों का चित्रण करने में द्विवेदीकालीन खड़ी-बोली समर्थ न थी, क्योंकि उसमें अभिधा-प्रधान स्थूल विचारों को ही व्यक्त किया जाता था, किन्तु छायावादी कवियों को जब अपने

१—कामायनी, पृ० १३।   २—वही, पृ० ९९।

सूक्ष्म भावो एव विशेष-विशेष रूप-व्यापारो को व्यक्त करने की आवश्यकता हुई, तब वे लक्षणा एव व्यंजना-शक्ति का आश्रय लेकर ऐसे शब्दो का प्रयोग करने लगे, जो उन भावों, रूपो एवं व्यापारों के प्रतीक बनकर सजीव चित्र अंकित करने मे समर्थ हो सकते थे। ये ही शब्द 'लाक्षणिक' एवं 'प्रतीकात्मक' कहलाते हैं। कामायनी मे भी ऐसे शब्दो की भरमार है। जैसे—

> कुसुमित कुंजो मे वे पुलकित प्रेमालिंगन हुए विलीन'
> मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें और न सुन पड़ती अब बीन।[1]

यहाँ प्रेमालिंगनों का विलीन होना अर्थात् कुंजो का प्रेमियो से शून्य हो जाना है और मूर्च्छित तानो का मौन होना अर्थात् गाने-बजाने वालो के साथ-साथ संगीत-ध्वनि का समाप्त हो जाना है।

इसी प्रकार और भी कितने ही लाक्षणिक प्रयोग कामायनी मे मिलते हैं। जैसे, 'अनंत नीलिमा', 'आँख की भूख', 'तरल आकांक्षा', 'शिथिल सुरभि,' 'एकान्त कोलाहल', दीपका का स्वर', 'उज्ज्वल वरदान', 'मतवाली सुन्दरता' आदि।[2]

प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग भी कामायनी के अन्तर्गत अत्यधिक मिलता है। प्रतीक-विधान छायावाद की प्रमुख विशेषता है, क्योकि प्रतीकात्मक शब्दों द्वारा जितनी सजीवता से किसी वस्तु को ध्वनित किया जाता है, उतना अन्य किसी प्रकार संभव नही। ये प्रतीकात्मक शब्द प्राय. बाहरी सादृश्य या साधर्म्य के आधार पर प्रयुक्त नही होते, अपितु आभ्यंतर प्रभाव-साम्य के आधार पर कविता में अपनाए जाते हैं। जैसे :—

> मधुमय वसंत जीवन वन के बह अन्तरिक्ष की लहरों में,
> कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरों में
> क्या तुम्हें देखकर आते यो मतवाली कोयल बोली थी,
> उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखे खोली थी ?[1]

यहाँ पर 'मधुमय वसत' मादक यौवन का, 'रजनी का पिछला पहर' अर्थात् प्रभात-वेला किशोरावस्था की, 'मतवाली कोयल' सौन्दर्य की, और 'कलियाँ' प्रेम की प्रतीक हैं, क्योकि प्रसादजी ने अपने इन प्रतीकों को चन्द्रगुप्त नाटक में स्पष्ट भी कर दिया है—'अकस्मात् जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया

१—कामायनी, पृ० १०।

२—देखिए, कामायनी क्रमशः पृ०, ३०, ५१, ५५, ६३, ६४, ६७, १०२ और १०३।

३—कामायनी, पृ० ६३।

में छिपकर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल—'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है। राजकुमारी ! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।'[1]

इसी प्रकार वैभव-हीनता के लिए 'सूनाराज', प्रफुल्लता के लिए 'ज्योत्स्ना', आकांक्षा के लिए 'स्वच्छन्द सुमन', यौवन के विकास के लिए 'उषा की लाली', संयमी व्यक्तियों के लिए 'नक्षत्र', आनन्दमय जीवन के लिए जीवन के 'सोने से सपन', अपार सौंदर्य के लिए 'ज्योत्स्ना-निर्झर', प्रेमी के लिए 'मधुप', सुन्दर मुख के लिए 'सित शतदल', अंगों की सरसता के लिए 'मकरन्द', कान्तिहीन मुख के लिए प्रभात का हीन 'कला शशि', कान्ति एवं तेज के लिए 'किरन और चाँदनी', विरह-व्यथित क्षीण शरीर के लिए 'पतझड़ की सूनी डाली', मदिरा के लिए 'सन्ध्या की लालिमा', क्रान्ति, हलचल तथा क्षोभ के लिए 'झंझा' और 'आँधी', अनन्त पीड़ा के लिए 'मरुज्वाला', विरहिणी के लिए 'चातकी', सुखपूर्ण दिवसों के लिए 'सरस बरसात', और संकट के लिए 'अन्धकार की आँधी', हृदय के लिए 'मानस', भाव-प्रवाह के लिए 'मुरली के निस्वन', आनन्दोत्सव के लिए 'लासरास',[2] आदि प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो सर्वत्र भाषा की प्रौढ़ता के साथ-साथ उसके आन्तरिक भावों की भी सफल अभिव्यक्ति करते हैं।

नाद-सौन्दर्य या ध्वन्यात्मकता—वस्तु-स्थिति का सफल चित्रण करने के लिए जिस प्रकार उसके विशेष रूप-व्यापार सूचक शब्द अपेक्षित हैं, वैसे ही नाद सौन्दर्य लाने के लिए वस्तु का अनुकरण करने वाले एवं अपनी ध्वनि से वस्तु को अभिव्यंजित करने वाले शब्दों की भी आवश्यकता होती है। ऐसे शब्दों की योजना को अंग्रेजी में 'ओनोमेटोपोइया' (Onomatopoeia) कहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी में ऐसे शब्दों की भी कमी नहीं है और प्रसादजी ने वस्तु-स्थिति का ध्वन्यात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए ऐसे शब्दों की सफल योजना पर भी ध्यान दिया है। जैसे—'कंकण क्वणित रणित नूपुर थे,' 'धँसती धरा धधकती ज्वाला', 'करका क्रन्दन करती गिरती', 'धू-धू करता नाच रहा था', 'धर-धर का होना शब्द विरल, थर-थर कँप रहती

१—चन्द्रगुप्त, पृ० २३१।

२—देखिए कामायनी क्रमशः पृ० ३६, ३६, २२, ६६, ६६, १०६, ८६, १३५, १७५, १७५, १७५, १३३, १८३, २२३, २१३, २१७, २२१, २८६, २६० और २६४।

दीप्ति तरल', 'यह क्या तम में करता सन-सन', इत्यादि।[1] यहाँ आये हुए सभी शब्द अपनी ध्वनि से अपनी-अपनी वस्तु को अभिव्यंजित कर रहे हैं।

शब्दों के शुद्ध-अशुद्ध प्रयोग—कामायनी मे प्राय व्याकरण-सम्मत शुद्ध शब्द-प्रयोगो की ही बहुलता है। परन्तु कामायनी मे कुछ शब्द-विधान सम्बन्धी विचित्रताएँ भी दिखाई देती हैं। कहीं तो प्रसादजी ने नादात्मक सौंदर्य लाने के लिए तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है, कहीं असावधानी या कविता के आग्रह से व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्दों का प्रयोग किया है, कहीं परम्परागत एव जनसाधारण मे प्रचलित शब्दो को अपनाया है, कहीं कुछ विकृत शब्दों का भी प्रयोग किया है और एकाध विदेशी शब्द भी आगया है। इन शब्द-परिवर्तनो के दो प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं—प्रथम तो वे शब्दो में कुछ परिवर्तन करके नई अर्थ-शक्ति भरने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे, अपनी व्यक्तिगत रुचि के कारण भी उन्होने ये परिवर्तन किए हैं। किन्तु व्याकरण सम्बन्धी भूलें अवश्य शोचनीय हैं।

(क) नादात्मक सौंदर्य के कारण प्रयुक्त तद्भव शब्द—कामायनी में प्रसाद जी ने नादात्मक सौन्दर्य लाने के लिए तथा अपने प्रयोगों में कोमलता एवं मसृणता का संचार करने के लिए खड़ी बोली के कितने ही तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव शब्दो का प्रयोग किया है। जैसे, उन्होने स्पर्श के स्थान पर 'परस', नक्षत्र के स्थान पर 'नखत', किरणो के स्थान पर 'किरन', पीडा के स्थान पर 'पीर', प्राण के स्थान पर 'प्रान', स्थिर के स्थान पर 'थिर', सन्ध्या के स्थान पर 'साँझ', परदेशी के स्थान पर 'परदेसी' तीक्ष्ण के स्थान पर 'तीखा', स्वप्न के स्थान पर 'सपना' आदि।[2] इन शब्दो पर स्पष्ट ही ब्रजभाषा का प्रभाव दिखाई देता है, क्योंकि ब्रजभाषा मे नाद-सौन्दर्य लाने के लिए इस तरह के कोमल एव मसृण शब्दो के प्रयोग की बहुलता मिलती है।

(ख) व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग—कामायनी मे कुछ ऐसे शब्द-प्रयोग भी मिलते हैं, जो व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतया अशुद्ध हैं और जिनके कारण काव्य-रचना मे भी दोष आगया है। ये सभी वर्णन च्युत-संस्कृति-दोष के अन्तर्गत आते हैं। जैसे :—

१. "एक सजीव तपस्या जैसे पतझड़ मे कर वास रहा।"[3]

१—देखिए, कामायनी क्रमश: पृ० ११, १४, १५, २०, २४६ और २४७।

२—देखिए, कामायनी क्रमश: पृ० ३६, ५०, ६७, ५१, ५४, १०६, १७६, १७८, २५० और ३४।

३—कामायनी, पृ० ३३।

यहाँ पर 'तपस्या' शब्द स्त्रीलिंग है, परन्तु उसका प्रयोग पुल्लिंग के रूप में किया गया है।

२. "शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।"[1]

यहाँ पर 'शक्ति के विद्युत्कण' का प्रयोग बहुवचन में हुआ है। इसलिए दूसरे पद में 'उसका' शब्द के स्थान पर 'उनका' होना चाहिए।

३. "सकल्प भर रहा है उनमें सदेहो की जाली क्या है?"[2]

यहाँ पर 'सदेहो की जाली' यह पूरा पद एक वचन में है। अत 'उनमें' के स्थान पर एक वचन का 'उसमें' होना चाहिए।

४. "अरे पुरोहित की आशा मे कितने कष्ट सहे हो।"[3]

यह वाक्य अशुद्ध है। यहाँ पर 'सहे हो' के स्थान पर 'सकते हो' होना चाहिए। वैसे यह बनारसी प्रयोग है।

५. "जलती छाती की दाह रहो।"[4]

'दाह' शब्द पुल्लिंग है और प्रसादजी ने स्वय पहले 'खेल रहा है शीतल दाह'[5] लिखकर इसका पुल्लिंग मे ही प्रयोग किया है परन्तु उक्त पद मे 'छाती की दाह' के अन्तर्गत उसका स्त्रीलिंग मे अशुद्ध प्रयोग किया है।

६ "सुख-दुख का मधुमय धूप-छाँह।"[6]

यहाँ पर धूप-छाँह स्त्रीलिंग है, अत 'का' के स्थान पर 'की' होना चाहिए।

(ग) परम्परागत साधारण बोलचाल के शब्द—गैल, चोट, बकता, बयार, बासी, दाँव, पिछला पहर, बिछलन, भीमना, आँचना, परदा, माली, दुहरी, चैन, अटकाव, हिचकी, साख, बेरोक, ठोकर, नन्ही, बुल्ला, बरजना, कौंध, जमी, सुआ, डीह, पुआल, पेंग, छुट्टी करना, सर्राटा-सन्नाटा, बावला, लीक, ठिठोली, परछाईं, झालर इत्यादि।[7]

(घ) विकृत शब्द—प्रसादजी ने कुछ शब्दो को ललित, मधुर एव प्रवाह-पूर्ण बनाने के लिए विकृत भी किया है, परन्तु ब्रजभाषा के कवियो की भाँति शब्दों की टाँग तोड़ने का कार्य नही किया है। विकृत शब्द इस प्रकार मिलते

१—कामायनी, पृ० ५६। २—वही, पृ० ६६। ३—वही, पृ० २१८।
४—वही, पृ० २४२। ५—वही, पृ० ७७। ६—वही, पृ० २४१।
७—देखिए, कामायनी क्रमश: पृ० २८, ३६, ३७, ४०, ४४, ५५, ६३, ६३, ६५, ६६, ६६, ७०, ७०, ७१, ८१, ८४, ८६, ८४, ८६, ६७, ६८, ६६, १०१, १०५, १११, १४५, १४६, १६७, १६६, २०५, २११, २४१, २६०, २६२ और २६३।

हैं :—निबल (निर्बल), मुसक्यान (मुस्कान), तीरे (तीर), पांखे (पंखड़ियाँ), *ज्योतिमयी (ज्योतिर्मयी), ईर्षा (ईर्ष्या), आलस (आलस्य) आदि ।*[1]

(ङ) **अप्रचलित एवं नवनिर्मित शब्द**—कामायनी में कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं जिनको प्रसादजी ने अपने भावो को संक्षेप मे व्यक्त करने के लिये नये रूप मे ढाला है और जो खड़ी-बोली की कविताओं मे अप्रचलित प्रतीत होते हैं। जैसे—'गुलाली' (गुलाल के से रग वाली), 'विकस चली' (विकास को प्राप्त हुई), 'दिपती' (दीप्तिमती होती), 'अलगाता' (अलग करता), 'सलील' (लीला सहित), 'झुठलाते' (झूठी बात कहकर धोखा देते) आदि।[2]

(च) *विदेशी शब्द—सारी 'कामायनी' मे बहुत खोजने पर केवल एक* 'दाग'[3] शब्द ही ऐसा मिला है, जो फारसी का है, शेष सभी शब्द प्रसादजी ने हिन्दी-सस्कृत भाषा के ही अपनाए हैं।

लोकोक्ति एवं मुहावरों का प्रयोग—प्रसादजी ने कामायनी को सरस एव मधुर बनाने के लिए लोक-प्रचलित लोकोक्तियो एवं मुहावरों का प्रयोग भी किया है। कामायनी मे ये लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे भावो की अभिव्यंजना मे बड़े ही सफल सिद्ध हुए हैं और सर्वत्र काव्य के उक्ति-वैचित्र्य एव अर्थ-गाम्भीर्य की वृद्धि मे सहायक प्रतीत होते हैं। कामायनी मे जिन लोकोक्तियो एवं मुहावरो का प्रयोग हुआ है, उनमें से कुछ ये हैं—'किसी बात का खटका न रहना, *अन्धेर मचना, जीवन का दाँव हार बैठना, प्रत्यक्ष का सपना बन जाना, ठोकर* लगना, तिल का ताड बनाना, सुख की बीन बजाना, गरल को अमृत बनाना, मुँह मोडना, मुख मे रक्त लग जाना, होड़ लगाना, पथ-पथ मे भटकना, काँटों के साथ फूलों का खिलना, दिन आना या दिन फिरना, छाती का जलना, चौकडी भरना, पाप का अपने मुख से स्वयं पुकार उठना, सर्राटे भरना, सन्नाटा खीचना, मिलने को फेरा डालना, रोंगटे खड़े हो जाना, हाथ से तीर का छूट जाना, अन्धकार मे दौड लगाना' आदि।[4]

१—देखिए, कामायनी क्रमश पृ० २५, २६, ३४, ३५, ७१, ८५ और ७२।

२—देखिए, कामायनी क्रमशः पृ० ७५, ७६, ८७, १३६, १४३ और २७२।

३—*कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ४०।*

४—देखिए, कामायनी क्रमशः पृ० २४, ३६, ५५, ८८, १०२, ११०, ११२ १२४, १३३, १३६, १५८, १६०, १६३, १६६, १७१, १७६, १९६, २०५, २०५, २११, २१५ २४८, और २६७।

साराश यह है कि प्रसादजी ने कामायनी के अन्तर्गत खड़ी बोली के लोक-प्रचलित शब्दो, मुहावरो, लोकोक्तियो आदि के साथ-साथ सूक्ष्म आभ्यन्तर भावो को व्यक्त करने वाले कुछ नवीन लाक्षणिक एव प्रतीकात्मक शब्दों को भी अपनाया है, जिनका अनुशीलन करने पर यही ज्ञात होता है कि प्रसादजी शब्द की अन्तरात्मा मे प्रवेश करने के उपरान्त शब्दो का प्रयोग करते हैं और उनके द्वारा एक ऐसी चित्रमयी भाषा बना देते हैं, जिसमे भावों के निरूपण की अपूर्व क्षमता दिखाई देती है और जो भावों के सजीव चित्र अकित कर देती है। प्रसादजी को कुछ शब्द अधिक प्रिय हैं और उनका प्रयोग कामायनी मे अत्यधिक मिलता है। उनमे से 'सुन्दर', 'मधु', 'मधुर', 'मधुरतम' शब्द अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त हुए हैं। इनके फलस्वरूप कामायनी मे सभी कुछ सुन्दर एव मधुर बन गया है और इसी कारण यहाँ सयोग-वियोग, रात-दिन, राग-स्वर, नाद-गान, मौनता-कलरव, सभी कुछ सुन्दर, मधुर एव मधुरतम हैं। कहीं-कहीं पाठक इन मधुर शब्द से ऊब भी जाता है। फिर भी कामायनी का शब्द-विधान अत्यन्त प्रौढ, सरस एव सजीव है। यहाँ शब्दो के प्रयोग मे भावानुकूलता का ध्यान अधिक रखा गया है और शब्द-विधान मे अधिक न्यूनता एव शिथिलता के दर्शन नही होते।

स्वर विधान—सगीत मे जो स्थान लय का है वही स्थान कविता मे स्वर का है। व्याकरण मे स्वर से तात्पर्य एक प्रकार के ऐसे वर्णों से होता है, जो कोमल होते हैं तथा जिनकी सहायता से व्यजनों का उच्चारण किया जाता है, इसी कारण काव्य मे वर्ण-मैत्री के लिए जो विधान किया जाता है उसमे स्वरों का बहुत-कुछ हाथ रहता है। परन्तु काव्य मे व्यजना की जो समरूपमयी योजना होती है, वह अनुप्रास अलकार के अन्तर्गत आती है और स्वर-विधान स्वरो की एकता, समता तथा ध्वनि-साम्य पर अधिक बल देता है। अत. अनुप्रास अलकार और स्वर-विधान मे पर्याप्त अन्तर है।

भारतीय वाड्मय के अन्तर्गत अत्यन्त प्राचीन काल मे भी स्वर का अत्यधिक महत्व रहा है। वेदो मे तो स्वरो की ही एकमात्र प्रमुखता स्वीकार की गई है, क्योंकि स्वर की किंचित् गडबडी से ही वहाँ मत्रो के अर्थ बदल जाते हैं, तथा सस्वर वेद-मन्त्रो का उच्चारण ही अभीष्ट फल प्रदान करता है। आज भी जिस समय सस्वर वेद-मन्त्रो का समवेत रूप मे उच्चारण होता है, उस समय वाणी द्वारा अमृत वर्षा होती हुई प्रतीत होती है। प्राचीन काल मे इस स्वर-विधान की शिक्षा के लिए ही शाकल्य मुनि ने पद-पाठ की रीति

चलाई थी, जिसमे वैदिक स्वरो का विधिवत् अध्ययन करना पड़ता था।[1]

स्वर-विधान का विशेष सबन्ध काव्यगत पदो मे स-स्वर शब्दो की स्थापना से है। काव्य मे प्राय ऐसे शब्दो का रचना अधिक सुन्दर माना जाता है, जिनकी ध्वनि कानो को मधुर एव सुखदायक प्रतीत होती है और जो रसानुकूल होने के कारण कानो मे प्रवेश करते ही हठात् हृदय पर अपना अधिकार कर लेते हैं। अरस्तू ने स्वर-विधान सम्बन्धी इसी वैशिष्टच को जानकर अपने 'प्रोब्लम्स' (Problems) नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि 'शब्दो की अपेक्षा शब्दो की ध्वनि या उनके स्वर एक प्रकार का नैतिक गुण रहता है।'[2] इसका कारण यह है कि शब्द-ध्वनि एकदम जाकर अपना निकट सम्बन्ध आत्मा से स्थापित कर लेती है और प्रत्येक स्वर हृदय मे हलचल उत्पन्न करता हुआ सा प्रतीत होता है।[3] यही कारण है कि ग्रीक कवि भी स्वर या ध्वनि को कविता मे सबसे अधिक महत्वशाली समझते हैं और वे विचारो एव भावो की अपेक्षा स्वर-विधान को काव्य का प्रमुख एव अनिवार्य अग मानते हैं।[4]

हिन्दी के आधुनिक कवि पन्त का भी यही विचार है कि 'कविता के शब्द स-स्वर होने चाहिए, जो बोलते हो, सेब की तरह जिनके रस की मधुर-लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पडे, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि मे आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झकार मे चित्र, चित्र मे झंकार हो, जिनका भाव-संगीत विद्युत् धारा की तरह रोम-रोम मे प्रवाहित हो सके।' इसी को आपने चित्र-राग कहा है और बतलाया है कि 'काव्य-संगीत के मूल-तन्तु स्वर हैं, न कि व्यजन। जिस प्रकार सितार मे राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल स्वर के तार पर ही कर-सचालन किया जाता है और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता देने के लिए झकृत किये जाते हैं, उसी प्रकार कविता मे भी भावना का रूप स्वरो के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है।'[4]

प्रसादजी भी कविता को एक ऐसा वर्णमय चित्र बतलाते हैं, जो "स्वर्गीय भाव-पूर्ण संगीत गाया करता है।"[5] यह वर्णमय चित्र सद्य प्रभावोत्पादक होता

१—भाषा-विज्ञान—डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० ५, १६२।

2—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p 131.

३—वही, पृ० १३२। ४—वही, पृ० १३२।

४—पल्लव की भूमिका, पृ० १७–२७।

५—स्कन्दगुप्त, पृ० २१।

है, बोल सकता है और इसमे संगीत की योजना हो सकती है।[1] अतः प्रसाद जी कविता के अन्तर्गत ऐसे स्वर-विधान को महत्व देते हैं, जिसमे भाव-पूर्ण संगीत गाने की क्षमता हो, जो काव्य म संगीत तथा संगीत मे काव्य की रचना करने मे समर्थ हो और जो 'चित्रराग' के निर्माण मे भी पूर्ण सहायक हो।

साधारणतया हिन्दी म आजकल गद्य और पद्य एक ही खड़ी बोली भाषा मे लिखे जाते हैं, किन्तु उनका भेद भी बहुत कुछ स्वर-विधान पर ही निर्भर है, क्योंकि गद्य मे तो इसकी कोई आवश्यकता नही होती, जबकि पद्य बिना स्वर-विधान के शुष्क रूखा एव नीरस प्रतीत होता है। पद्य मे सरसता लाने के लिए ही भारतीय साहित्य-शास्त्र म तीन वृत्तियों की कल्पना की गई है, जो उपनागरिका, परुषा और कोमला कहलाती हैं। इनम से उपनागरिका वृत्ति मे सानुस्वार वर्णों की योजना की जाती है, परुषा वृत्ति मे कुछ कठोर एव संयुक्त वर्णों की बहुलता होती है और कोमला म प्रसाद-गुण वाले सरस-कोमल वर्णों का समावेश रहता है।[2]

साराश यह है कि कविता के स्वर-विधान के लिए स्वर-मैत्री, रसानुकूल वृत्तियो की योजना, अनुप्रासादि अलकारो की अपेक्षा शब्दो की आन्तरिक स्वर-लहरी या चित्र-राग आदि का होना अपेक्षित। वैसे तो नाद-सौन्दर्य एव ध्वन्यात्मकता का सम्बन्ध भी स्वर-विधान से दिखाई देता है, परन्तु इनका सम्बन्ध कविता की बाह्य समता से है, जबकि स्वर-मैत्री आदि का सम्बन्ध कविता के आन्तरिक साम्य मे है। अतः नाद-सौन्दर्य एव ध्वन्यात्मकता को स्वर-विधान के अन्तर्गत स्वीकार नही किया जाता।

कामायनी मे स्वर-विधान

स्वर-मैत्री—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जब कामायनी का अनुशीलन किया जाता है, तब पता चलता है कि प्रसादजी ने स्वर्गीय संगीत उत्पन्न करने के लिए कामायनी मे स्वर-विधान की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है और स्वरो के संयोग से कामायनी काव्य को इतना सरस एव मधुर बनाने का प्रयत्न किया है कि भले ही किसी पाठक या श्रोता को कामायनी के पद्यो का अर्थ प्रतीत न हो, परन्तु उन पद्यो को सुनकर ही वह सिर हिलाने लग जायेगा तथा उसका हृदय आनन्द-विभोर होकर बार-बार उसे सुनने की आकाक्षा प्रकट करेगा। इस सरसता एव माधुर्य का प्रमुख कारण यह है कि कामायनी काव्य मे स्वर-मैत्री की ओर

१—इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ला ?, स० १९६७, पृ० २०।
२—काव्यदर्पण, पृ० ४४७-४४८।

अधिक ध्यान दिया गया है। कामायनी के अधिकांश स्थलों पर हमें स्वर-मैत्री के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं, जिनमे से कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१. हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह।[1]

यहाँ ह्रस्व 'इ' स्वर ने पंक्ति में अद्भुत स्वर-मैत्री उत्पन्न की है।

२. दूर-दूर तक विस्तृत था हिम स्तब्ध उसी के हृदय समान।[2]

यहाँ पर 'ऊ' अपने प्लुत स्वर द्वारा हिम के विस्तार की सूचना दे रहा है।

३ ग्रह पथ के आलोक वृत्त से काल जाल तनता अपना।[3]

यहाँ पर दीर्घ 'आ' अपने ध्वनिसाम्य द्वारा विस्तृत जाल को तानता हुआ सा प्रतीत हो रहा है।

४. जिनमे समीर छनता-छनता बनता है प्राणों की छाया।[4]

यहाँ पर अनुनासिक ध्वनि के साथ दीर्घ 'आ' समीर के छन-छन कर आने की क्रिया का संकेत कर रहा है।

वृत्तियों का प्रयोग—स्वर-विधान में कोमलता, परुषता आदि का विचार करके जो वर्णों की योजना की जाती है, वहाँ पर वृत्तियों का स्वरूप देखा जा जा सकता है। प्रसादजी ने कामायनी मे वृत्तियो का प्रयोग स्वर-विधान के लिए भी किया है। उदाहरण के लिए जैसे उपनागरिका वृत्ति मे अनुस्वार वाले वर्णों का ही विधान अच्छा समझा जाता है। कामायनी मे निम्नलिखित पंक्तियाँ उपनागरिका-वृत्ति का स्वरूप प्रस्तुत करती हैं :—

> हिम खंड रश्मि मंडित हो मणि दीप प्रकाश दिखाता,
> जिनसे समीर टकरा कर अति मधुर मृदंग बजाता।[5]

दूसरे, परुष-वृत्ति के अनुकूल कठोर एवं परुष वर्णों की रचना कामायनी की निम्नलिखित पंक्तियो मे मिलती है :—

> प्रत्येक नाश विश्लेषण भी संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही,
> ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था, मादक मरंद की वृष्टि रही।[6]

और कोमल-वृत्ति मे जिन सरल एवं मधुर वर्णों की योजना होती है, उनके द्वारा कोई भी रचना पढ़ने एवं सुनने मे अत्यन्त कर्णप्रिय एवं हृदय को आनन्द देने वाली बन जाती है। कामायनी मे इस वृत्ति का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ है। जैसे :—

१—कामायनी, पृ० ३। २—वही, पृ० ३। ३—वही, पृ० ३४।
४—वही, पृ० ६६। ५—वही, पृ० २६३। ६—वही, पृ० ७३।

कोमल किसलय के अंचल में नन्ही कलिका ज्यों छिपती सी,
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी।[1]

स्वर-लहरी या चित्रराग—काव्य में स्वर-लहरी एवं चित्रराग उत्पन्न करने के लिए प्रायः ऐसे वर्णों की योजना की जाती है, जो सरल, सरस, सचिक्कण एवं मृदु हों तथा जिनके सुनते ही पाठक या श्रोता का ध्यान आकर्षित होकर वहीं केन्द्रित हो जाय। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसादजी ने कामायनी में कितने ही स्थलों पर इस चित्रराग एवं स्वर-लहरी के अनुकूल वर्णों की योजना की है। नीचे एक उदाहरण 'चित्रराग' का दिया जाता है जिसमें स्वरों के मधुर संयोग से व्यंजन भी मधुमय संगीत-लहरी को प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं :—

तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन!
विकल होकर नित्य चंचल खोजती जब नींद के पल,
चेतना थक सी रही तब, मैं मलय की बात रे मन![2]

सारांश यह है कि प्रसादजी ने कामायनी में जहाँ शब्द-विधान सम्बन्धी कौशल दिखलाया है, वहाँ स्वर-विधान में भी बड़े निपुण प्रतीत होते हैं। आपने अपने नाटकों में जितने गीत लिखे हैं, उनसे ही आपकी संगीत के प्रति रुचि एवं स्वर-विधान सम्बन्धी कुशलता का पता चल जाता है, किन्तु अपनी इस अन्तिम प्रौढ़ रचना 'कामायनी' में तो स्वरों के आरोह-अवरोह तथा उनके ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत एवं कोमल-परुष-स्वरूपों का भावानुकूल प्रयोग करके आपने स्वर-विधान सम्बन्धी निपुणता तथा उनकी अन्तरात्मा के ज्ञान का यथेष्ट परिचय दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारा कामायनी काव्य गेय है और अपनी संगीतात्मकता में अद्भुत प्रभाव डालने में सक्षम है, परन्तु इसका श्रेय प्रसादजी के स्वर-विधान को है, क्योंकि अपने व्यंजनों के साथ स्वरों का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण किया है, जिनसे वे मुखरित हो उठे हैं और सर्वत्र स्वर-लहरी या चित्रराग उपस्थित करने में सफल सिद्ध हुए हैं।

अलंकार-विधान

अलंकार—अलंकार का अर्थ है अलङ्कृति अर्थात् जो विभूषित करता है, उसे अलंकार कहते हैं।[3] आचार्य दण्डी ने इसी कारण काव्य को सुशोभित करने वाले धर्म को अलंकार कहा है।[4] परन्तु शोभादायक धर्म गुण भी कहलाते हैं।

१—कामायनी, पृ० ६७। २—वही, पृ० २१६।
३—काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति १।१।२ ४—काव्यादर्श २।१

अतः परवर्ती आचार्यों ने गुण और अलंकार का भेद करते हुए गुणों को काव्य का स्थायी धर्म और अलंकारों को उसका अस्थायी धर्म बतलाया है।[1]

पाश्चात्य विद्वान् भी काव्य में अलंकारों का महत्व स्वीकार करते हैं। अरस्तू ने प्रबन्ध-काव्य में रूपकालंकार का रहना उचित बतलाया है।[2] क्रोचे अलंकारों को अभिव्यंजना का अभिन्न अंग मानता है।[3] वाल्टर पेटर ने भी काव्य में अलंकारों के उचित प्रयोग को आवश्यक बतलाया है।[4]

आधुनिक युग में हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य शुक्ल ने अलंकारों को कथन की एक प्रणाली बतलाया है और लिखा है कि—"पहले से सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं, वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं, जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। *किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे* हैं।"[5] हिन्दी के दूसरे आचार्य डा० श्यामसुन्दरदास का मत है कि—"जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ाते है, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य *की वृद्धि करते, उसका उत्कर्ष बढ़ाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते* है। परन्तु उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अन्दर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए, दूसरों के विशेष महत्त्व के अधिकार का अप-*हरण करने में उन्हें किसी प्रकार की सहायता नहीं देनी चाहिए*।"[6]

आचार्यों के मतानुसार अलंकारों को भावों का उत्कर्ष-विधायक मानते हुए भी छायावादी युग से पूर्व हिन्दी के कविगण अलंकारों का प्रयोग एक बँधी-*बँधाई रीति के अनुसार ही किया करते थे। हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में तो* ये अलंकार काव्य के साधन न रहकर साध्य ही बन गये थे। द्विवेदी युग तक यही लकीर पीटी जाती रही। परन्तु हिन्दी के छायावादी कवियों ने सर्वप्रथम अलंकारों की वास्तविकता की ओर ध्यान दिया, उनके प्रयोग एवं उनकी भाव-प्रेषणीयता के बारे में अपने-अपने विचार प्रकट किये तथा उसी प्रकार उन्हें कविता में अपनाने की भी चेष्टा की। कविवर पंत ने रीतिकालीन अलंकार-पद्धति पर क्षोभ प्रकट करते हुए लिखा है कि "और इनकी भाषालंकारिकता ? जिसकी रंगीन डोरियों में वह कविता का हैंगिंग गार्डन—वह विश्व-वैचित्र्य

१—काव्य-प्रकाश ८।६६-६७ साहित्य-दर्पण ८।१, १०।१

2—*Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art p. 93.*

3—Theory of Aesthetic, p. 113 4—Appreciation, p. 15.

५—चिन्तामणि भाग १, पृ० २४७, २५१।

६—साहित्यालोचन, पृ० ३१६।

झूलता है, जिसके हृत्पट पर वह चित्रित है।''' उपमा और उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रांत उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है?"[1] तदनन्तर पंतजी ने आधुनिक काव्य में अलंकारों की स्थिति एवं उनके प्रयोग आदि पर विचार प्रकट करते हुए बतलाया है कि—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। अतः इनका प्रयोग इसी रूप में होना चाहिए। यदि इसके विरुद्ध भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण-जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"[2]

प्रसादजी काव्य में गहन अनुभूति को प्रधानता देते हैं और उस गहन अनुभूति के अभाव में यदि कोई कवि अलङ्कारों की बाह्य सजावट से ही काव्य-रचना करना चाहता है तो उनके मत से वह काव्य हेय है। उन्होंने लिखा भी है कि "जब तक समाज के उपकार के लिए कवि की लेखनी ने कुछ कार्य न किया हो, तब तक केवल उसकी उपमा और शब्द-वैचित्र्य तथा अलङ्कारों पर भूलकर हम उसे एक ऐसे कवि के आसन पर नहीं बिठा सकते, जिसने कि अपनी लेखनी से समाज को स्पंदित करके जीवन डालने का उद्योग किया है।"[3] इस कथन से स्पष्ट ही प्रसादजी की दृष्टि में काव्य के अन्तर्गत अनुभूति की अपेक्षा अलङ्कारों का गौण स्थान है। आगे चलकर भी उन्होंने अलङ्कारों की बाह्य सजावट की उपेक्षा की है तथा काव्य के आन्तरिक सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की बहिन ही है, घूँघट वाली लज्जा नहीं।" इसके उपरान्त उन्होंने वैदिक और लौकिक संस्कृत के उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि "जो अलंकार बाह्य सादृश्य की अपेक्षा आन्तर सादृश्य को प्रकट करने वाले होते हैं, वे ही काव्य में भावोत्कर्ष बढ़ाने में सहायक होते हैं।"[4]

१—पल्लव की भूमिका, पृ० ८। २—वही, पृ० ११।
३—इन्दु, कला ३, किरण ५, एप्रिल १९१२ ई०, पृ० ४०७।
४—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० १२६–१२७।

उपर्युक्त सभी विद्वानो एवं छायावादी कवियों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वाह्य साहश्य की अपेक्षा आन्तरिक साहश्य के आधार पर जिन अलंकारों का प्रयोग काव्य में होता है, उनसे ही श्रेष्ठ काव्य का निर्माण होता है, भावाभिव्यक्ति उन्नत एवं प्रभावशाली होती है और ऐसे ही अलंकार काव्योचित भी कहे जा सकते हैं। छायावाद के अन्तर्गत प्राय ऐसे ही आन्तरिक साम्य वाले अलङ्कारों की बहुलता दिखाई देती है। इस युग के कवियों ने अलङ्कारो को साध्य न मानकर उन्हे अभिव्यक्ति का एक साधन ही माना है तथा अपनी रचनाओ मे उनका ऐसा प्रयोग किया है, जिससे वे आन्तरिक भावों के निरूपण, आध्यात्मिक सौंदर्य-चित्रण, अतीन्द्रिय रूप-विधान आदि के लिए अधिक सफल सिद्ध हुए हैं।

कामायनी में अलकारों का स्वरूप—'कामायनी' प्रसादजी के विचारों की प्रौढ़ अभिव्यक्ति है। अत यहाँ प्रसादजी के अलङ्कार-सम्बन्धी प्रौढ विचारो का ही उद्घाटन अधिक मात्रा मे हुआ है। प्रसादजी अलङ्कारो के आन्तरिक साहश्य वाले रूप-विधान को ही अधिक समीचीन समझते हैं। इसी कारण उनकी मनोवृत्ति शब्दालङ्कारो की अपेक्षा साहश्य-मूलक अर्थालङ्कारो मे अधिक रमी है और साहश्य-मूलक अर्थालङ्कारों में भी रूप-साहश्य की अपेक्षा गुण-साहश्य एव भाव-साहश्य वाले अलङ्कारो को उन्होंने अधिक अपनाया है। प्रसादजी के इस अलङ्कार-विधान की सबसे बडी विशेषता ही यह है कि अलङ्कार सर्वत्र रस या भाव का बिम्बग्राही चित्र अंकित करने अथवा वस्तु का यथोचित स्वरूप पाठकों की दृष्टि के सम्मुख उपस्थित करने के लिए ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। इसके साथ ही कामायनी मे जितने भी अलङ्कार मिलते हैं, वे सब कवि की गहन अनुभूति के परिचायक है, क्योंकि उनका प्रयोग अनायास ही हुआ है और उनके लिए कवि को कुछ विशेष प्रयत्न नही करना पडा है। उक्त कथन की पुष्टि के लिए कामायनी मे आए हुए कतिपय अलङ्कारो के उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं।

शब्दालंकार

अनुप्रास—यह अलकार वर्ण-मैत्री के लिए अधिक प्रसिद्ध है। हिन्दी के सभी कवियो ने इसको थोड़ी-बहुत मात्रा मे अपने-अपने काव्यों में स्थान दिया है। वैसे भी यह अलंकार शब्दालंकारों का मूलाधार है। इसके कितने ही भेद होते हैं। कामायनी मे इसके कतिपय भेदों का स्वरूप इस तरह मिलता है :—

वृत्त्यनुप्रास—कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती।[1]
छेकानुप्रास—सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे नयन भरे आलस अनुराग,
कल कपोल था जहाँ बिछलता कल्पवृक्ष का पीत पराग।[2]
श्रुत्यनुप्रास—बाहर भीतर उन्मुक्त सघन, था अचल महा नीला अंजन,
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन, थे निर्निमेष मनु के लोचन।[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में सर्वत्र भाषा को सुसज्जित करने एवं उसे भावों के अनुकूल बनाने के लिए ही अनुप्रास अलंकार का प्रयोग हुआ है। अतः इन उदाहरणों में भाषा-सुषमा ही विशेष द्रष्टव्य है, जो भावानुकूल प्रवहमान होती दिखाई देती है।

यमक और श्लेष—कामायनी में यमक तथा श्लेष अलंकारों का प्रयोग अधिक नहीं मिलता। इन अलंकारों का प्रयोग चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ही किया जाता है। छायावादी कवि इनका प्रयोग करना अधिक समीचीन नहीं समझते। फिर भी अन्य कवियों की भाँति प्रसादजी ने भी इन दोनों अलंकारों को थोड़ा-बहुत यत्र-तत्र अपनाया है। जैसे —

यमक— मैं मुरभि खोजता भटकूँगा वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।[4]

श्लेष—(१) इन्द्रनील मणि महा चषक था सोम रहित उलटा लटका।[5]
(यहाँ पर 'सोम' शब्द चन्द्रमा तथा सोमरस दो अर्थों में आया है।)

(२) एक उल्का सा जलता भ्रान्त, शून्य में फिरता हूँ असहाय।[6]
(यहाँ 'शून्य' शब्द आकाश तथा निर्जन के अर्थ में आया है।)

(३) दे रहा हो कोकिल सानन्द सुमन को ज्यों मधुमय सन्देश।[7]
(यहाँ पर 'सुमन' तथा मधुमय सन्देश'—दोनों में से 'सुमन' शब्द सुन्दर मन एवं पुष्प का द्योतक है और 'मधुमय सन्देश', आनन्दप्रद सूचना' एवं 'वसन्त की सूचना' के लिए आया है।)

पुनरुक्ति—इस शब्दालंकार द्वारा किसी शब्द का बार-बार वर्णन करके भावों तथा कविता की लय या छन्द को और भी रुचिकर एवं प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया जाता है। कामायनी में इसका अधिक प्रयोग हुआ है। नीचे दो उदाहरण दिये जाते हैं —

१—कामायनी, पृ० १७४। २—वही, पृ० ११। ३—वही, पृ० २५१।
४—वही, पृ० १५३। ५—वही, पृ० २४। ६—वही, पृ० ४८।
७—वही, पृ० ५०।

(१) दूर-दूर तक विस्तृत था हिम[1],

(२) वरुण व्यस्त थे घनी कालिमा स्तर-स्तर जमती पीन हुई।[2]

वीप्सा—इस शब्दालंकार को भी प्रसादजी ने कामायनी मे आदर, घृणा, उद्वेग, क्षोभ, आकांक्षा आदि आकस्मिक भावों को प्रकट करने के लिये बड़ी सफलता के साथ अपनाया है। जैसेः—

(१) सब कहते है खोलो खोलो 'छवि देखूँगा जीवन-धन की।[3]

(२) पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ यह स्पर्श रूप, रस, गन्ध भरा।[4]

अर्थालंकार

उपमा—कामायनी मे अर्थालंकारो का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। प्राय. भावो को अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रसादजी ने साहश्य-मूलक अर्थालंकारों को अधिक अपनाया है, उनमे उपमा का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। कामायनी मे इस अलकार का प्रयोग सर्वाधिक मिलता है। वैसे भी अनुप्रास की भाँति उपमा अलंकार भी समस्त अर्थालङ्कारो का मूलाधार माना जाता है और साहश्य के लिए जितने अलकार प्रयोग किये जाते हैं, उनमे उपमा का ही सर्वाधिक प्रयोग होता है। साधारणतया साहश्य या साम्य दो प्रकार का देखा जाता है—आकृतिसाम्य और भावसाम्य। किन्तु आधुनिक कविताओ मे रंगसाम्य भी मिलता है और उपमादि कुछ अलङ्कार रंगसाम्य के आधार पर भी प्रयोग किये जाते हैं। नीचे कामायनी मे से तीनो प्रकार के साम्यों से सम्बन्धित उपमालङ्कार के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं.—

आकृतिसाम्य—(१) उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालो सी,
चली आ रही फेन उगलती फन फैलाये व्यालो सी।[5]

(२) उस विराट आलोड़न मे, ग्रह तारा बुद्-बुद् से लगते,
प्रखर प्रलय पावस मे जगमग, ज्योतिरिंगणों से जगते।[6]

भावसाम्य— (१) निकल रही थी मर्म वेदना करुणा विकल कहानी सी।[7]

(२) वह अनंग पीड़ा अनुभव सा मदिर भाव से आवर्त्तन।[8]

(३) व्याकुलता सी व्यक्त हो रही आशा बनकर प्राण समीर।[9]

१—कामायनी, पृ० ३। २—वही, पृ० १४। ३—वही, पृ० ६८।
४—वही, पृ० ६१। ५—वही, पृ० १४। ६—वही, पृ० १७।
७—वही, ४। ८—वही, पृ० ११। ९—वही, पृ० २७।

रंगसाम्य— (१) उषा ज्योत्स्ना सा यौवन स्मित।[1]

—(लालिमा युक्त श्वेतता का साम्य)

(२) घिर रहे थे घुँघराले बाल अंश अवलम्बित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।[2]

—(कालिमा या नीलिमा का साम्य)

(३) केतकी गर्भ सा पीला मुँह।[3] —(पीलिमा का साम्य)

कामायनी के अन्तर्गत छायावादी शैली के अनुसार उपमायें कितनी ही प्रकार की मिलती हैं। कहीं तो प्राचीन प्रणाली के अनुसार मूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमानों का प्रयोग किया है और कहीं मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान, अमूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान तथा अमूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमानों की भी योजना की है।

मूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान—

(१) नीचे जलधर दौड़ रहे थे सुन्दर सुरधनु माला पहने,
कुञ्जर कलभ सदृश्य इठलाते चमकाते चपला के गहने।[4]

(२) शिथिल शरीर वसन विशृङ्खल, कबरी अधिक अधीर खुली,
छिन्न-पत्र मकरन्द लुटी सी, ज्यों मुरझाई हुई कली।[5]

मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान—

(१) आगया फिर पास क्रीड़ाशील अतिथि उदार,
चपल शैशव सा मनोहर भूल का ले भार।[6]

(२) नव कोमल अवलम्ब साथ में वय किशोर उँगली पकड़े।
चला आ रहा मौन धैर्य सा अपनी माता को जकड़े।[7]

अमूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान—

(१) मृत्यु अरी चिर निद्रे! तेरा अङ्क हिमानी सा शीतल।[8]

(२) मधुर चाँदनी सी तन्द्रा जब फैली मूर्छित मानस पर।[9]

अमूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान—

(१) निकल रही थी मर्म वेदना करुणा विकल कहानी सी।[10]

(२) व्याकुलता सी व्यक्त हो रही आशा।[11]

पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा—भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रसादजी

१—कामायनी, पृ० ६। २—वही, पृ० ४७। ३—वही, पृ० १४२।
४—वही, पृ० २५८। ५—वही, पृ० २१२। ६—वही, पृ० ८५।
७—वही, पृ० २१३। ८—वही, पृ० १८। ९—वही, पृ० १८०।
१०—वही, पृ० १०१। ११—वही, पृ० २७।

ने उपमा के दो भेदों—पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा—का अधिक प्रयोग किया है। इन दोनों अलंकारों के पर्याप्त उदाहरण उक्त उपमा वाले उदाहरणों में ही आ गए हैं। जैसे, आकृतिसाम्य वाले उदाहरणों मे क्रमशः पहले मे पूर्णोपमा है और दूसरे मे लुप्तोपमा। भावसाम्य वाले उदाहरणों मे क्रमशः पहले और तीसरे मे लुप्तोपमा है और दूसरे उदाहरण में पूर्णोपमा है। ऐसे ही रंगसाम्य वाले उदाहरणों मे क्रमशः पहले और तीसरे मे लुप्तोपमा तथा दूसरे उदाहरण में पूर्णोपमा है।

मालोपमा—कामायनी मे मालोपमा अलकार का भी प्रयोग अधिक मिलता है। प्रसादजी भी बाण कृत 'कादम्बरी' की भाँति अपनी कामायनी मे किसी भाव या वस्तु को अधिक स्पष्ट करने के लिए तब तक नहीं रुकते, जब तक कि पर्यायवाची शब्द या तत्सम्बन्धी उपमावाचक शब्द अथवा तत्सम्बन्धी साम्य वाली प्राचीन एवं नवीन उद्भावनायें समाप्त नही होतीं। फिर भी कामायनी में वर्णित ये मालोपमायें अत्यन्त रुचिकर एव प्रभावोत्पादक हैं और किसी भाव या वस्तु का सजीव तथा बिम्बग्राही स्वरूप अंकित करने मे सार्थक प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिए 'वासना' सर्ग मे श्रद्धा के बारे में दी हुई उपमाओं को ले सकते हैं :—

> चन्द्र की विश्राम राका बालिका सी कान्त,
> विजयिनी सी दीखती तुम माधुरी सी शान्त।
> पददलित सी थकी व्रज्या ज्यों सदा आक्रान्त,
> शस्य श्यामल भूमि में होती समाप्त अशान्त।[1]

उत्प्रेक्षा—सादृश्यमूलक अलंकारों मे उत्प्रेक्षा का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। कामायनी में इसके द्वारा भी सादृश्यमूलक संभावनाएँ करते हुए वस्तुवर्णन या भाववर्णन को अधिकाधिक सजीव, बुद्धि-ग्राही एवं हृदय-ग्राही बनाने का प्रयत्न हुआ है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार के तीन प्रमुख भेद माने जाते हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। इनमे से कामायनी में अधिकाधिक हेतूत्प्रेक्षा का ही प्रयोग हुआ है। सभवतः यही प्रसादजी को अधिक प्रिय भी है। फिर भी अन्य उत्प्रेक्षा अलङ्कारो के भी उदाहरण कामायनी मे मिल जाते हैं। जैसे :—

वस्तूत्प्रेक्षा— स्वर्ण शालियों की कलमे थीं दूर दूर तक फैल रहीं,
शरद इन्दिरा के मंदिर की मानो कोई गैल रही।[2]

हेतूत्प्रेक्षा—बार-बार उस भीषण रव से कँपती धरणी देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो आलिंगन के हेतु अशेष।[3]

१—कामायनी, पृ० ६३। २—वही, पृ० २८। ३—वही, पृ० १४।

(यहाँ पर जल के रूप में आकाश के पृथ्वी पर आने का कारण पृथ्वी का कांपना कहा है, जो असिद्धहेतु है।)

फलोत्प्रेक्षा— उनको देख कौन रोया यों अंतरिक्ष में बैठ अधीर,
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय यह प्रालेय हलाहल नीर।[1]

(प्रलय काल में भयंकर वर्षा ता होती ही है, किन्तु यहाँ पशु-दग्ध को देखकर उनके ऊपर दयार्द्र होकर अन्तरिक्ष में बैठे हुए किसी के रोने के रूप में गरलपूर्ण वर्षा रूपी फल की जो कल्पना की गई है, वह असिद्ध-विषया फलोत्प्रेक्षा है।)

रूपक—जिस प्रकार उपमा एवं उत्प्रेक्षाओं द्वारा प्रसादजी ने भावों को उत्कृष्टता प्रदान की है उसी प्रकार रूपकों द्वारा भी सजीवता उत्पन्न की है तथा बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत करते हुए वस्तु एवं भावों की वास्तविकता से पाठकों को अवगत कराया है। प्रायः रूपक के तीन रूपों का प्रयोग ही कामायनी में अधिक मिलता है, जो क्रमशः निरंगरूपक, सांगरूपक और परम्परित रूपक कहलाते हैं। इन तीनों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं —

निरंगरूपक—ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा,
हरी भरी सी दौड़-धूप, ओ जल-माया की चल रेखा।[2]

सांगरूपक— अनवरत उठे कितनी उमंग
चुम्बित हो आँसू जलधर से अभिलाषाओं के शैल शृङ्ग
जीवन नद हाहाकार भरा, हो उठती पीड़ा की तरंग
+ + + +
दुख नीरद में बन इन्द्रधनुष बदले नर कितने नये रंग
बन तृष्णा ज्वाला का पतंग।[3]

परम्परित रूपक—प्रसादजी ने निरंग एवं सांग की अपेक्षा परम्परित रूपक का प्रयोग कामायनी में अधिक किया है। इस अलंकार के सहारे प्रसादजी को अपनी कल्पना के विस्तार का अच्छा अवसर मिला है और हृदयस्थ मनोभावों को सजीवता के साथ अंकित करने में सहायता मिली है। जैसे :—

१—कामायनी, पृ० १३। २—वही पृ० ५। ३—वही, पृ० १६४।

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी रजनी तू किस कोने से,
आती चूम चूम चल जाती पढ़ी हुई किस टोने से ।[1]

यहाँ पर कवि ने रात्रि के रूप को स्पष्ट करने के लिए उसे ससार-कमल की भ्रमरी बतलाया है। जिस प्रकार भ्रमरी कमल पर चक्कर काटती हुई उसे मुग्ध बना देती है, वही दशा रजनी द्वारा संसार की होती है। यहाँ विश्व मे कमल का आरोप तथा रजनी मे भ्रमरी का आरोप किया है। अत एक रूपक दूसरे पर आधारित है। दूसरे, दोनो मे रग-साम्य भी है। इसके अतिरिक्त परम्परित रूपक के अन्य उदाहरण भी कामायनी मे भरे पड़े है। जैसे —

(१) विश्व-रग मे कर्मजाल के सूत्र लगे घन हो घिरने।[2]

(२) दुख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात।[3]

(३) भुज-लता फँसा कर नर-तरु से झूले सी झोके खाती हूँ।[4]

रूपकातिशयोक्ति—कामायनी मे रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा मे मिलता है। इस अलकार मे केवल उपमानो के द्वारा ही उपमेयो का वर्णन किया जाता है। छायावादी कवियो मे यह प्रवृत्ति अधिक मात्रा मे देखी जाती है, क्योकि वे प्राय. अपनी अधिकाश कविताओं मे उपमेय के स्थान पर केवल उपमान से ही काम निकालना अधिक अच्छा समझते हैं। इससे एक तो काव्य मे कम शब्दों का व्यवहार होता है, दूसरे लाक्षणिकता एवं व्यजकता लाने मे सुगमता हो जाती है। इसके साथ ही इस अलकार द्वारा काव्य मे प्रतीकों के प्रयोग करने का भी अच्छा अवसर मिल जाता है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(१) आज तिरोहित हुआ कहाँ वह मधु से पूर्ण अनन्त वसन्त।[5]
(यहाँ अनन्त वसत, देवो के अमर यौवन के लिए आया है।)

(२) इन्द्रनील मणि महा चषक था सोम रहित उलटा लटका।[6]
(यहाँ इन्द्रनील मणि का प्रयोग आकाश के लिए हुआ है।)

(३) जब कामना सिधु-तट आई ले संध्या का तारा दीप,
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी तू हँसती क्यों अरी प्रतीप ![7]
(यहाँ पर कामना रागरंजित सध्या की उपमान है, सिधु-तट क्षितिज का उपमान है और सुनहली साड़ी संध्या की लालिमा का उपमान है।)

१—कामायनी, पृ० ३६। २—वही, पृ० ३३। ३—वही, पृ० ५३।
४—वही, पृ० १०५। ५—वही, पृ० १०। ६—वही, पृ० २४।
७—वही, पृ० ३८।

विरोधाभास—रूपकातिशयोक्ति के साथ ही विरोधाभास अलंकार का प्रयोग भी कामायनी के अंतर्गत अधिक मिलता है। सभी छायावादी कवियों ने इस अलंकार का प्रयोग अधिक मात्रा में किया है। कारण यह है कि अर्थ-गाम्भीर्य लाने के लिए इस विरोधमूलक अलंकार से बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि इसमें यथार्थतः विरोध न होकर विरोध के आभास का वर्णन किया जाता है और शब्दों में विरोध सा जान पड़ता है, किन्तु अर्थ की गहराई पर पहुँचते ही विरोध नहीं रहता और अर्थ-सौष्ठव प्रतीत होने लगता है। जैसे :—

(१) अमर मरेगा क्या ? तू कितनी गहरी डाल रही है नींव ?[1]

(२) खेल रहा है शीतल दाह ।[2]

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रचलित अर्थालंकारों का प्रयोग भी कामायनी में मिलता है, जिनके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं —

संदेह — सोने की सिकता में मानो कालिन्दी बहती भर उसास,
स्वर्ग गा में इन्दीवर की या एक पंक्ति कर रही हास ।[3]

समासोक्ति — सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किये सी, ऐंठी सी ।[4]

कैतवापह्नुति :— किस दिगन्त रेखा में इतनी संचित कर सिसकी सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही सी चली जा रही किसके पास ?[5]

उदाहरण :— जीवन की अविराम साधना भर उत्साह खड़ी थी,
ज्यों प्रतिकूल पवन में तरणी गहरे लौट पड़ी थी ।[6]

उल्लेख .— कौन हो तुम वसन्त के दूत विरस पतझड़ में अति सुकुमार,
घन तिमिर में चपला की रेख तपन में शीतल मंद बयार ।[7]

अर्थान्तरन्यास — जलनिधि के तलवासी जलचर विकल निकलते उतराते,
हुआ विलोडित गृह, तब प्राणी कौन, कहाँ, कब सुख पाते ?[8]

परिकर :— हे सर्व मंगले ! तुम महती, सबका दुख अपने पर सहती,
कल्याणमयी वाणी कहती, तुम क्षमा निलय में हो रहती ।[9]

परिकरांकुर :— वह कामायनी जगत की मंगल कामना अकेली,
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित मानस तट की वन बेली ।[10]

१—कामायनी, पृ० ५। २—वही, पृ० २७। ३—वही, पृ० १४२।
४—वही, पृ० २४। ५—वही, पृ० ३६। ६—वही, पृ० १०६।
७—वही, पृ० ५०। ८—वही, पृ० १६। ९—वही, पृ० २४६।
१०—वही, पृ० २६०।

विषम :— नहीं पा सका हूँ मैं जैसे जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी मधु धारा हो ढाल रही ।[1]

काव्यलिंग :—स्वयं देव थे हम हम सब, तो फिर क्यों न विशृंखल होती सृष्टि,
अरे अचानक हुई इसी से कड़ी आपदाओं की वृष्टि ।[2]

दृष्टान्त :— सुख, केवल सुख का वह संग्रह केन्द्रीभूत हुआ इतना,
छायापथ में नव तुषार का सघन मिलन होता जितना ।[3]

पाश्चात्य अलंकार—छायावादी कवियों ने भारतीय अलंकारों के अतिरिक्त कुछ पाश्चात्य अलंकारों का भी प्रयोग अपनी कविताओं में किया है। पाश्चात्य अलकारों में सबसे अधिक प्रयोग 'मानवीकरण' (Personification) अलकार का मिलता है। चित्रमयी भाषा का अधिक प्रयोग करने के कारण छायावादी कवियों की कविता में यह मानवीकरण अलंकार अधिक आता है। इसका कारण यह है कि भावनाओं तथा प्रकृति-जन्य पदार्थों में मानव-गुणों का आरोप करके अपने भावों को व्यक्त करने की प्रणाली छायावादी कविता में अधिक अपनायी गयी है और इसी कारण अमूर्त पदार्थों एवं अमूर्त भावों को भी मूर्त रूप में चित्रित किया गया है। इस अलंकार द्वारा खड़ी बोली की कविता में मूर्तिमत्ता, वक्रता तथा गहनता का सचार हुआ है। यद्यपि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार प्राकृतिक, निर्जीव एव निरीन्द्रिय पदार्थों में चेतना का आरोप करके उनके रति-भाव आदि का चित्रण करना रसाभास के अन्तर्गत आता है, फिर भी छायावादी कविता की यह एक प्रमुख विशेषता होने के कारण आज भी कविताओं में इसका प्रचार देखा जाता है। छायावादी युग के प्रवर्त्तक प्रसादजी ने भी इस अलंकार का अत्यधिक प्रयोग किया है और प्राकृतिक अचेतन पदार्थों एवं भावनाओं में मानवीय गुणों एवं चेतनता का आरोप करके उनके चित्रण को कविता का सजीव अंग बना दिया है। नीचे कामायनी में आए हुए मानवीकरण के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :—

मानवीकरण—प्राकृतिक पदार्थों में चेतना का आरोप :—

(१) धीरे-धीरे हिम आच्छादन हटने लगा धरातल से,
जगीं वनस्पतियाँ अलसाई मुख धोतीं शीतल जल से।[4]

(२) उच्च शैल शिखरों पर हँसती प्रकृति चंचला बाला,
धवल हँसी बिखराती अपनी फैला मधुर उजाला।[5]

अमूर्त भावों का मूर्तिकरण :—(लज्जा के लिए)

१—कामायनी, पृ० २२८। २—वही, पृ० ६। ३—वही, पृ० ८।
४—वही, पृ० २३। ५—वही, पृ० ११६।

वैसी ही माया में लिपटी अधरों पर उँगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का आँखों में पानी भरे हुए।
नीरव निशीथ में लतिका सी तुम कौन आरही हो बढ़ती ?
कोमल बाहें फैलाये सी आलिंगन का जादू पढ़ती।[1]

विशेषण-विपर्यय—मानवीकरण के अतिरिक्त पाश्चात्य अलङ्कारों में से दूसरे विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet) का अधिक प्रयोग छायावादी कविताओं में मिलता है। इस अलङ्कार के अन्तर्गत कथन को विशेष अर्थगर्भित तथा गम्भीर बनाने के लिए विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है; अर्थात् अभिधावृत्ति से विशेषण का जो स्थान है वहाँ से उसे हटाकर लक्षणा के सहारे उसे दूसरे स्थान पर रख देते हैं। ऐसा करने से विशेष्य का चित्र लक्षणा द्वारा पाठक के सम्मुख आजाता है और काव्य-सौष्ठव बढ़ जाता है। इतना ही नहीं, भावाधिक्य की भी व्यंजना हो जाती है।[2] कामायनी में विशेषण-विपर्यय का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं —

(१) जलधि लहरियों की अँगड़ाई बार-बार जाती सोने।[3]
(२) खुली उसी रमणीय दृश्य में अलस चेतना की आँखें।[4]
(३) एक करुणामय सुन्दर मौन और चंचल मन का आलस्य।[5]

ध्वन्यर्थव्यंजना—इस अलङ्कार को अँग्रेज़ी में 'ओनोमेटोपोइया' (Onomatopoeia) कहते हैं। इसका अभिप्राय वाच्यगत शब्दों की ऐसी ध्वनि से है, जो शब्द-सामर्थ्य से ही प्रसंग और अर्थ का उद्बोधन कराकर एक चित्र खड़ा कर देती है। इसमें भाव और भाषा का सामंजस्य तथा स्वरैक्य की आवश्यकता पड़ती है।[6] यद्यपि इसमें अनुप्रास और यमक का आभास रहता है, फिर भी पाठक का ध्यान इनकी ओर न जाकर सामूहिक ध्वन्यात्मकता की ओर चला जाता है, जो अपनी ध्वनि-सामर्थ्य द्वारा भाव-चित्र प्रस्तुत करती है। इस प्रकार ध्वनि की प्रधानता रहने के कारण इसे पृथक् अलङ्कार के रूप में अपनाया गया है। छायावादी कवियों ने इस अलङ्कार का प्रयोग भी अधिक मात्रा में किया है। कामायनी में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे :—

(१) धीरे-धीरे लहरों का दल, तट से टकरा होता ओझल,
छप-छप का होता शब्द विरल, थर-थर कँप रहती दीप्ति तरल।[7]

१—कामायनी, पृ० ६७। २—काव्यदर्पण, पृ० ५५३।
३—कामायनी, पृ० २३। ४—वही, पृ० ३५।
५—वही, पृ० ४५। ६—काव्यदर्पण, पृ० ५४१।
७—कामायनी, पृ० २४६।

(२) मह क्या तम मे करता सन सन ?
धारा का ही क्या यह निस्वन ।[1]

अलङ्कार-विधान मे दोष—यद्यपि प्रसादजी ने कामायनी के अन्तर्गत अलङ्कारो का बडी सावधानी के साथ प्रयोग किया है और सर्वत्र सादृश्य या साम्य का बडा ध्यान रखा है, फिर भी उनके सादृश्य-विधान मे जहाँ-तहाँ कुछ दोष आगये हैं। जैसे —

'आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हो घनश्याम,
अरुण रवि मण्डल उनको भेद दिखाई देता हो छवि धाम।
या कि, नव इन्द्र नील लघु श्रृंग फोडकर धधक रही हो कान्त,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी मे अश्रान्त।'[2]

इन पक्तियों मे श्रद्धा के मुख को 'सध्याकालीन सूर्य' तथा 'वसन्तकालीन अचेत लघु ज्वालामुखी' के समकक्ष ठहराया है। उनकी यह सादृश्य-योजना उपयुक्त नही दिखाई देती, क्योकि मृदुल एव सुकुमार मुख के लिए ऐसे उपमानो का जुटाना किसी प्रकार भी समीचीन नही है। स्वय प्रसादजी को भी यह कठिनाई अनुभव हुई जान पडती है। इसीलिए उन्होने 'सूर्य' के साथ 'छविधाम' विशेषण जोडा है और 'ज्वालामुखी के साथ 'कान्त' तथा 'माधवी रजनी मे अश्रान्त' विशेषण जोडकर इनकी अनुपयुक्तता को दूर करने का प्रयत्न किया है। इतना होने पर भी उक्त उपमानो मे अपने उपमेय के रूप-सौन्दर्य का सादृश्यमूलक चित्र प्रस्तुत करने की सामर्थ्य नही दिखाई देती।

ऐसे ही कुछ और उदाहरण लिगत्व दोष से सम्बन्ध रखने वाले मिलते है, जिनमे से कुछ इस प्रकार हैं :—

(१) कौन तुम संसृति जलनिधि तीर तरगो से फेंकी मणि एक।[3]

यहाँ पर मनु के लिए स्त्रीलिंग उपमान 'मणि' का प्रयोग हुआ है, जो असंगत है। परन्तु कवि का मन्तव्य यहाँ पर सादृश्य-योजना द्वारा लिगत्व-बोध कराना प्रतीत नही होता, अपितु वह यहाँ पर मनु के शौर्य-तेज एव प्रभाव को व्यक्त करना चाहता है और दूसरे 'मणि' को साहित्य मे श्रेष्ठ भी माना गया है। इसीलिए तो पुरुषो को भी 'शिरोमणि' कहा जाता है। अत लिगत्व-दोष के रहते हुए भी 'मणि' शब्द अनुपयुक्त नही दिखाई देता।

(२) हृदय गगन मे धूमकेतु सी, पुण्य सृष्टि मे सुन्दर पाप।[4]

१—कामायनी, पृ० २४७। २—वही, पृ० ४६।
३—वही, पृ० ४५। ४—वही, पृ० ५।

यहाँ पर 'चिन्ता' के लिए 'धूमकेतु' तथा 'पाप'—ये दो उपमान प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु 'चिन्ता' स्त्रीलिंग है और इसके अन्य सभी उपमान स्त्रीलिंग मे ही आए हैं, जबकि उक्त दो पुल्लिंग उपमानो का प्रयोग किया गया है। अत स्त्रीलिंग उपमेय के लिए इस प्रकार के पुल्लिंग उपमान उचित नही दिखाई देते, किन्तु यहाँ पर कवि को प्रभाव-साम्य दिखाना अभीष्ट है और वह चिन्ता को धूमकेतु के समान अमगलकारक तथा पाप के समान अनिष्टकर बताना चाहता है। अत ऐसे उपमानो का रहना अनुपयुक्त नही है।

साराश यह है कि प्रसादजी ने अलकार-विधान के अन्तर्गत साहृश्य-योजना की ओर ही अधिक ध्यान दिया है और प्राय ऐसे ही अलङ्कारो का अधिक प्रयोग किया है जो किसी भाव या वस्तु के साहृश्य को प्रस्तुत करते हुए उनके स्वरूप का बिम्बग्राही-चित्र पाठको के सामने उपस्थित कर देते हैं। उनके साहृश्य-विधान की दो प्रमुख विशेषताएँ दिखाई देती हैं— या तो वे स्वरूप-बोध के लिए ऐसा विधान करते हैं, या भावात्कर्ष तथवा भाव-तीव्रता दिखलाने के लिए ऐसी योजना करते हैं। साधारणतया जहाँ पर अमूर्त्त वस्तुओ के लिए मूर्त्त-साहृश्य का विधान किया गया है, वहाँ पर तो कवि का लक्ष्य स्वरूप-बोध है और जहाँ पर मूर्त्त-वस्तुओं के लिए अमूर्त्त साहृश्य प्रस्तुत किये गये हैं वहाँ पर कवि का उद्देश्य भावो की तीव्रता या भावोत्कर्ष दिखाना रहा है। इसके साथ ही वे अपने साहृश्य-विधान द्वारा किसी भी पदार्थ के बाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक रूप को चित्रित करना अधिक समीचीन समझते हैं। इसी कारण कामायनी मे सागरूपको की अपेक्षा निरग एव परम्परित रूपक अधिक आए हैं और पूर्णोपमाओ का अधिक प्रयोग हुआ है। आपने अलङ्कारों के लिए केवल प्रकृति के अवयवो को ही नही लिया, अपितु मानवीय अमूर्त्त भावो को भी अपनाकर आधुनिक कविता मे एक नवीन अध्याय प्रारम्भ किया है। यद्यपि आपके अलकार-विधान मे भी कुछ दोष प्रतीत होते हैं, तथापि गुणो की बहुलता मे वे कतिपय दोष ऐसे निमग्न हो जाते हैं कि उनकी ओर साधारण पाठको का ध्यान नही जाता। इसके साथ ही लक्षणा-शक्ति के सहारे उन सभी दोषों का समाधान भी हो सकता है।

कामायनी मे शब्द-शक्तियो का प्रयोग

१ अभिधा—साहित्य-शास्त्र मे वाच्य, लक्ष्य एव व्यग्य अर्थ की बोधक शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं, जो क्रमश अभिधा, लक्षणा और व्यजना कहलाती हैं। इनमे से सकेतिक अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं।[१]

१—साहित्य-दर्पण, २१·३०।

इस शक्ति के द्वारा शब्द के सीधे-सादे मुख्य अर्थ का बोध होता है। द्विवेदी युग की कविता मे अभिधा का ही प्राधान्य है। परन्तु छायावादी कवि अभिधा से भिन्न लक्षणा एवं व्यंजना का आश्रय लेकर अधिक चले हैं। उनकी अभिधा-सम्बन्धी विरक्ति का प्रमुख कारण यह है कि वे साधारण वाचक शब्दों को सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों को व्यक्त करने मे असमर्थ समझते हैं।[1] इसी कारण वे लक्षक एव व्यंजक शब्दों की ओर अधिक झुके हैं। इतना होने पर भी छायावादी कवि अभिधा-शक्ति का पूर्ण परित्याग नही कर पाये हैं। कारण यह है कि अभिधा ही प्रधान शक्ति है, बिना इसका आश्रय लिए लक्षणा एवं व्यंजना भी अपना-अपना कार्य नही करती। आचार्य शुक्ल ने भी लिखा है कि—"अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धि-ग्राह्य रूप मे परिणत होकर हमारे सामने आता है।"[2] इस तरह अभिधा-शक्ति तो प्रमुख मानी गई है, किन्तु अभिधा-प्रधान काव्य श्रेष्ठ नही माना गया है।[3] फिर भी प्रत्येक काव्य मे अभिधा का आश्रय लिया जाता है और प्रबन्ध-काव्यों में तो प्रायः उसकी बहुलता ही रहती है, क्योंकि कथा-सूत्र को सम्बद्ध करने मे अभिधा ही अधिक सहयोग देती है।

कामायनी काव्य छायावादी युग की मुख्य कृति है। अतः इसमें प्रसादजी ने अभिधा की अपेक्षा लक्षणा एवं व्यंजना को अधिक महत्व दिया है, फिर भी कामायनी के अनेक स्थलो पर अभिधा-शक्ति के भी दर्शन होते हैं, जो शब्दों के मुख्यार्थ या वाच्यार्थ का संकेत करती हुई कविता को सरलता एव सुबोधता को भी सूचित करती है। जैसे :—

> और सोचकर अपने मन मे जैसे हम हैं बचे हुए,
> क्या आश्चर्य और कोई हो जीवन-लीला रचे हुए।
> अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ कहीं दूर रख आते थे,
> होगा इससे तृप्त अपरिचित समझ सहज सुख पाते थे।[4]

२. लक्षणा—मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्धित कोई अन्य अर्थ लक्षित होता है उसे 'लक्षणा' कहते हैं।[5] मुख्यार्थ की बाधा के हेतुओं में से कुछ रूढ़िगत एव कुछ प्रयोजन-सापेक्ष हेतु होते हैं। इसी कारण सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद किए गये हैं—

१—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० १२३-१२८।

२—चिन्तामणि (भाग २), पृ० १७८। ३—काव्यप्रकाश, पृ० ६-७।

४—कामायनी, पृ० ३२। ५—साहित्यदर्पण २।९।

रूढि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। तदुपरान्त उपादान एवं उपलक्षण की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद किए जाते हैं—उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा। ऐसे ही उपमान-उपमेय के आरोप तथा अध्यवसान के आधार पर इसे दो और भागों में बाँटा जाता है, जो सारोपा-लक्षणा और साध्यवसाना-लक्षणा कहलाती हैं। पुनः सादृश्य और सादृश्येतर के आधार पर लक्षणा को 'गौणी' और शुद्धा इन दो भेदों में और विभक्त किया जाता है। इस प्रकार उक्त चारों भेदों को रूढि और प्रयोजनवती लक्षणा में सम्बद्ध कर देने पर आठ प्रकार की रूढिमूला और आठ प्रकार की प्रयोजनमूला-लक्षणा सिद्ध होती है। अब प्रयोजनमूला या प्रयोजनवती-लक्षणा को गूढ और अगूढ अर्थ के आधार पर दो भागों में और विभक्त किया जाता है। अतः उसके सोलह भेद हो जाते हैं। साथ ही उसे धर्मि और धर्म के भेद से दो भागों में बाँटने पर इसके बत्तीस भेद होजाते हैं। इतना ही नहीं पदगत और वाक्यगत होने से समस्त प्रयोजनवती-लक्षणा चौंसठ प्रकार की हो जाती है। साथ ही रूढि-लक्षणा के आठ भेदों को भी पदगत एवं वाक्यगत—इन दो भेदों में विभक्त कर देने पर उसके सोलह भेद हो जाते है। इस प्रकार सभी के मिलान पर लक्षणा अस्सी प्रकार की बतलाई गई है।[1]

ऊपर जितने प्रकार की लक्षणायें बतलाई गई हैं, खोजने पर उन सभी के उदाहरण कामायनी में मिल सकते हैं, परन्तु विस्तार-भय से उन सबका उल्लेख नहीं किया गया है। फिर भी जिन लक्षणाओं को प्रसादजी ने अधिक अपनाया है, उनके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

रूढि-लक्षणा :—वह सारस्वत नगर पड़ा था क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना।
जिसके ऊपर विगत कर्म का विष विषाद आवरण तना।[2]

यहाँ पर 'सारस्वत नगर' से अभिप्राय 'सारस्वत नगर-निवासियों' से है और उपर्युक्त पंक्तियों में सारस्वत नगर-निवासियों की ही क्षुब्धता, मलिनता एवं मौनावस्था का वर्णन किया गया है। अतः रूढि के कारण नगर से सम्बन्धित नगर-निवासियों का अर्थ ग्रहण करने के कारण यहाँ रूढि-लक्षणा है।

प्रयोजनवती-लक्षणा :—

नारी का वह हृदय, हृदय में सुधासिन्धु लहरें लेता,
बाडव-ज्वलन उसी में जलकर कंचन सा जल रंग देता।[3]

१—साहित्यदर्पण (पाद-टिप्पणी), पृ० ५०–५१।—सं० श्री हरिदास सिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य।
२—कामायनी, पृ० २०५। ३—वही, पृ० २०७।

यहाँ मुख्यार्थ मे बाधा यह है कि सुधा का सिन्धु नही होता और अगर हो भी तो वह हृदय मे लहरे नही ले सकता, फिर उसमें बडवाग्नि का होना और भी कठिन है। अत इसका लक्ष्यार्थ यह है कि नारी के हृदय मे अत्यधिक मधुरिमा, गम्भीरता और शान्ति रहती है। किन्तु प्रेम या विरह की ज्वाला मे उसमे हलचल मचती है और उसका रंग कांचन-वर्ण का हो जाता है। यहाँ *नारी की इन्ही विशेषताओ को बतलाने के प्रयोजन से यह लक्षणा की गई है।* अत. यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है।

उपादान-लक्षणा :—अतरिक्ष मे महाशक्ति हुंकार कर उठी,

सब शस्त्रो की धारें भीषण वेग भर उठी।[1]

यहाँ पर 'शस्त्रों की धारों' को भीषण वेग भरते हुए कहा गया है। इसमें मुख्यार्थ बाधित है, क्योकि स्वय धारे भीषण वेग नहीं भर सकती। इसका लक्ष्यार्थ यह हुआ कि महाशक्ति ने अपने तीक्ष्ण शस्त्र लेकर रौद्र रूप धारण कर लिया था। यहाँ लक्ष्यार्थ मे शस्त्र का वाच्यार्थ बना हुआ है। अत' यहाँ उपादान-लक्षणा है।

लक्षण-लक्षणा :—इस दुखमय जीवन का प्रकाश

नभ नील लता की डालों मे उलझा अपने सुख मे हताश,

कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे काँटे बिखरे आसपास।[2]

यहाँ पर 'कलियो' का लक्ष्यार्थ सुख तथा 'काँटो' का लक्ष्यार्थ दुःख है। अतः इन शब्दो ने अपने वाच्यार्थ को पूर्णतया छोड दिया है। इसी कारण यहाँ लक्षण-लक्षणा है।

गौणी-लक्षणा :—*कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा,*

एक चित्र बस रेखाओ का, अब उसमे है रग कहाँ!

वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,

वह सध्या थी, रवि-शशि-तारा ये सब कोई नही जहाँ।[3]

यहाँ पर विरहिणी श्रद्धा को 'प्रभात का हीन कला शशि' तथा 'सध्या' बतलाया गया है। इसमे मुख्यार्थ की बाधा है। किन्तु दोनो मे भाव-साम्य है। अतः ये दो भिन्न पदार्थ होते हुए भी इनकी भिन्नता प्रतीत नही होती। इसी कारण यहाँ गौणी-लक्षणा है।

शुद्धा-लक्षणा :—(१) कुसुमित कुञ्जों में वे पुलकित प्रेमालिंगन हुए विलीन,

मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें और न सुन पडती अब बीन।[4]

१—कामायनी, पृ० २०२। २—वही, पृ० १५८।

३—वही, पृ० १७५। ४—वही, पृ० १०।

(२) मरी दीपो के अंधकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य,
देव दम्भ के महामेघ में सब कुछ ही बन गया हविष्य।[1]

उपर्युक्त पदों में से प्रथम के अन्तर्गत 'पुलकित' तथा 'मूर्छित' का प्रयोग प्रेमालिंगन करने वाले एवं तान सुनाने वाले व्यक्तियों के लिए हुआ है। अतः यहाँ पर आधाराधेय भाव का सम्बन्ध है और दूसरे पद में 'देव दम्भ' तथा 'महामेघ' में अभेद आरोप किया गया है, जिसका आधार तात्पर्य सम्बन्ध यानी कर्मसाम्य है। इन दोनों कारणों से ही उक्त पदों में शुद्धा-लक्षणा है।

सारोपा-लक्षणा—संध्या घन माला की सुन्दर ओढ़े रंग-बिरंगी छींट,
गगन चुम्बिनी शैल श्रेणियाँ पहने हुए तुषार-किरीट।[2]

यहाँ 'घन माला' पर 'रंग-बिरंगी छींट' का और 'तुषार' पर 'किरीट' का आरोप किया गया है। अतः यहाँ सारोपा-लक्षणा है। प्रायः रूपक अलंकार में इसी लक्षणा का प्रयोग होता है।

साध्यवसाना-लक्षणा :—जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाये,
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये।[3]

यहाँ पर श्रद्धा में सरोवर का आरोप करके उसके अंग-प्रत्यंगों पर तामरस, इन्दीवर एवं सित शतदल का आरोप किया गया है और उसके प्रेमी पति मनु पर मधुप का आरोप किया गया है, किन्तु अंग-प्रत्यंगों एवं मनु का शब्द से कथन न होने के कारण यहाँ पर उपमेय निगीर्ण हो गया है। अतः साध्यवसाना-लक्षणा है।

गूढ़व्यंग्या-लक्षणा :—झुक चली सव्रीड वह सुकुमारता के भार,
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार।[4]

यहाँ पर 'सुकुमारता के भार से झुकने' एवं 'पुरुष के नर्ममय उपचार से लदने' में मुख्यार्थ की बाधा है। किन्तु इन पदों द्वारा श्रद्धा के हृदयस्थ 'रति भाव' को प्रकट किया गया है, जो व्यंग्य है और सहृदय-संवेद्य है तथा साधारण बुद्धि वालों के लिये गूढ़ है। अतः यहाँ गूढ़व्यंग्या-लक्षणा है।

अगूढ़व्यंग्या-लक्षणा :—हाहाकार हुआ क्रन्दनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव बार-बार होता था क्रूर।
दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के,
सघन गगन में भीम प्रकंपन झंझा के चलते झटके।[5]

१—कामायनी, पृ० ७। २—वही, पृ० ३०। ३—वही, पृ० १७१।
४—वही, पृ० ८४। ५—वही, पृ० १३।

यहाँ पर 'दिगत के बधिर होने', 'क्षितिज तट के जलधर उठने', 'गगन में प्रकम्पन होने' आदि में मुख्यार्थ की बाधा है। किन्तु इन शब्दों द्वारा प्रलय की भीषणता लक्षित होती है, जो सरलता से समझ में आजाने के कारण अगूढ़-व्यंग्या-लक्षणा के अतर्गत आती है।

रूढ़ा-शुद्धा-सारोपा-लक्षण-लक्षणा :—

> जब गूँजी यह वाणी तीखी कम्पित करती अम्बर अकूल,
> मनु को जैसा चुभ गया शूल।[1]

यहाँ पर लोक-प्रसिद्ध मुहावरे—'शूल चुभना' का प्रयोग होने के कारण रूढ़ा-लक्षणा है। 'तीखी वाणी' तथा 'शूल चुभना' मे अभेद भाव होते हुए भी 'तीखी वाणी' के मुख्यार्थ के बने रहने के कारण सारोपा-लक्षणा है। उपमान तथा उपमेय में तात्कर्म्य सम्बन्ध रहने के कारण यहाँ शुद्धा-लक्षणा है और उपर्युक्त मुहावरे का मुख्यार्थ अपने को खोकर लक्ष्यार्थ का उपलक्षण-मात्र रह गया है। अतः लक्षण-लक्षणा है।

रूढ़ा-शुद्धा-साध्यवसाना-लक्षणा :—

> (१) इतर प्राणियो की पीड़ा लख अपना मुँह मोड़ोगे।[2]
> (२) लग गया रक्त था उस मुख में हिंसा सुख लाली से ललाम।[3]
> (३) प्राणी निज भविष्य चिन्ता में वर्तमान का सुख छोड़े,
> दौड़ चला है बिखराता-सा अपने ही पथ मे रोड़े।[4]

उपर्युक्त पंक्तियो मे *'अपना मुँह मोड़ोगे'*, *'लग गया रक्त था उस मुख में'*, 'बिखराता सा पथ मे रोड़े', आदि मुहावरे लोक-प्रसिद्ध हैं। अतः यहाँ रूढ़ा-लक्षणा है। इन मुहावरों का मुख्यार्थ बाधित होने से इनका लक्ष्यार्थ क्रमशः 'उपेक्षा करना', 'माँस अच्छा लगना' और 'बाधायें उपस्थित करना' है। इन अर्थों का उपर्युक्त मुहावरों में अध्यवसान हुआ है और उनमे परस्पर सादृश्य-सम्बन्ध रहने के कारण शुद्धा-साध्यवसाना-लक्षणा है। साथ ही मुख्यार्थ के लक्ष्यार्थ का उपलक्षण मात्र रह जाने से यहाँ लक्षण-लक्षणा भी है।

प्रयोजनवती-शुद्धा-सारोपा-लक्षण-लक्षणा :—

> यौवन मधुवन की कालिन्दी वह रही चूम कर सब दिगन्त,
> मन-शिशु की क्रीड़ा नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनन्त।[5]

१—कामायनी, पृ० १६२। २—वही, पृ० १३३।
३—वही, पृ० १३६। ४—वही, पृ० २१०। ५—वही, पृ० १५६।

उपर्युक्त पद्य में क्रमश 'यौवन' और 'मधुवन की कालिन्दी', 'मन' और 'शिशु' में उपमेय तथा उपमान का अभेद-भाव होते हुए भी उपमेय के बने रहने के कारण सारोपा-लक्षणा है। उपमेयों की वास्तविकता को बतलाने के प्रयोजन से ऐसा किया गया है। अत यह प्रयोजनवती-लक्षणा है। मुख्यार्थ के लक्ष्यार्थ का उपलक्षण मात्र होने से लक्षण-लक्षणा है और उपमेय तथा उपमान में सादृश्येतर सम्बन्ध न होने के कारण यह शुद्धा-लक्षणा है।

प्रयोजनवती-गौणी-सारोपा-लक्षण-लक्षणा —

(१) तारो के फूल बिखरते है।[1]

(२) किरनो का रज्जु समेट लिया जिसका अवलम्बन ले चढती।[2]

उपर्युक्त पदो मे 'तारो और 'फूल', 'किरन' और 'रज्जु' उपमेय और उपमानो म सादृश्य-सम्बन्ध होने के कारण गौणी-लक्षणा है। शेष बातें पूर्ववत् है।

प्रयोजनवती-गौणी-साध्यवसाना-लक्षणलक्षणा —

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पडा तेरा अचल,
देख, बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या, ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिचन जगत लूटता तेरी छवि भोली भाली।[3]

उपर्युक्त पदो मे 'अचल', 'मणिराजी' तथा 'नील वसन' शब्द क्रमश आकाश, तारे और नीले आकाश के उपमान हैं। यहाँ उपमान मे उपमेय का अध्यवसान हो गया है और मुख्यार्थ बाधित होने से सादृश्य-सम्बन्ध के आधार पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है। शेष सभी बातें पूर्ववत् हैं। अतः यहाँ प्रयोजनवती-गौणी-साध्यवसाना-लक्षण-लक्षणा है।

प्रयोजनवती शुद्धा-साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा :—

मधुमय वसत जीवन-वन के बह अतरिक्ष की लहरो मे,
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरो मे।[4]

उपर्युक्त पदों मे से 'मधुमय वसत' मे यौवन का तथा 'रजनी के पिछले पहरो मे' किशोरावस्था का अध्यवसान होने तथा मुख्यार्थ एव लक्ष्यार्थ मे सादृश्येतर सम्बन्ध होने से शुद्धा-साध्यवसाना-लक्षणा है। अप्रस्तुत-योजना के साभिप्राय होने और मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के उपलक्षण-मात्र होने से यह प्रयोजनवती-लक्षण-लक्षणा भी है।

१—कामायनी, पृ० ६५। २—वही, पृ० ६१।
३—वही, पृ० ४०। ४—वही, पृ० ६३।

प्रयोजनवती-शुद्धा-साध्यवसाना उपादान-लक्षणा :—

उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।[१]

(२) मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ मैं शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुन्दरता पग मे नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।[२]

उपर्युक्त पक्तियो मे "सौन्दर्य में अभिलाषा के सपने जगते रहते हैं" का अर्थ है सुन्दर व्यक्ति के हृदय मे अभिलाषायें उठती रहती हैं और "मतवाली सुन्दरता" का अर्थ है, सौन्दर्य के मद से परिपूर्ण व्यक्ति। अत. यहाँ मुख्यार्थ बाधित होकर भी लक्ष्यार्थ के अग रूप मे विद्यमान है। इसी कारण यहाँ पर प्रयोजनवती-शुद्धा-साध्यवसाना-उपादान-लक्षणा है।

निष्कर्ष यह है कि कामायनी मे लक्षणा का प्राधान्य है, किन्तु जिस प्रकार अभिधा का आश्रय लेकर कवि ने अपने कथा-सूत्रो को सगुम्फित किया है, वैसे ही लक्षणा का पुट देकर अपने काव्य को रसाप्लावित करने का प्रयत्न किया है। इतना ही नही, लक्षणा द्वारा कवि ने अपने अभिप्रेत सूक्ष्म मनोभावो को भी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया है।

३. *व्यंजना*—अभिधा एव लक्षणा-शक्ति के विरत हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा तात्पर्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ का बोध होता है उसे 'व्यजना-शक्ति' कहते हैं।[३] इस व्यंजना-शक्ति के द्वारा काव्य को सशक्त एव सरस बनाया जाता है। इसके द्वारा कवि लोग अपने सूक्ष्म एवं गूढ मनोभावो की गहनता एव तीव्रता को व्यक्त किया करते हैं। अभिधा और लक्षणा तो केवल शब्द के बल पर अर्थ-बोध कराती हैं, किन्तु व्यजना-शक्ति मे यह विशेषता है कि वह *अर्थ के बल पर* भी अन्यार्थ को व्यजित करती है। किन्तु जहाँ पर व्यंजना शब्द के बल पर *व्यंग्यार्थ का बोध कराती है वहाँ वह दो प्रकार की होती है—अभिधामूला और* लक्षणामूला। इनमे से अभिधामूला शाब्दी व्यजना के पन्द्रह, लक्षणामूला के बत्तीस और आर्थी व्यंजना के तीस भेद होते हैं।[४] ढूँढने पर कामायनी में व्यंजना के सभी भेदों के उदाहरण मिल सकते हैं। परन्तु विस्तार-भय से नीचे कतिपय भेदों के ही उदाहरण दिये जारहे हैं।

अभिधामूला-शाब्दी-व्यंजना—इस व्यंजना में सयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, प्रकरण आदि के कारण अनेकार्थी शब्दो के किसी एक अर्थ के बोध

१—कामायनी, पृ० १०२। २—कामायनी, पृ० १०३।
३—साहित्यदर्पण २।१६। ४—साहित्यदर्पण, २।२१-२६

होने से वाच्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अभिधा से नियन्त्रित होने पर इसकी उत्पत्ति होती है। इसी से यह अभिधामूला कहलाती है।[1] नीचे अभिधामूला-शाब्दी-व्यंजना के कतिपय उदाहरण कामायनी से दिये जाते हैं :—

(१) सघन गगन में भीम प्रकम्पन झंझा के चलते झटके।[2]

(२) अन्धकार में मलिन मित्र की धुँधली आभा लीन हुई।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'भीम' तथा 'मित्र' का अर्थ क्रमशः 'द्वितीय पाण्डव' तथा 'सखा' न होकर प्रकरण के अनुसार 'भयंकर' तथा सूर्य' है। अतः यहाँ पर प्रकरण-सम्भवा-अभिधामूला-व्यञ्जना है।

(१) कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि एक।[4]

(२) वन बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से।[5]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'तीर' तथा 'मधु' का अर्थ 'वाण' एवं 'शराब' या 'शहद' न होकर साहचर्य के कारण क्रमशः 'किनारा' एवं 'मीठा' है। अतः यहाँ पर साहचर्य-सम्भवा-अभिधामूला-शाब्दी-व्यंजना है।

लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजना—यह व्यंजना लक्षणा पर आश्रित होती है और जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला-शाब्दी-व्यंजना कहते हैं।[6] इस व्यंजना का स्वरूप प्रयोजनवती-लक्षणा से पूर्णतया मिलता-जुलता है और जितने भेद प्रयोजनवती लक्षणा के होते हैं उतने ही भेद इसके भी माने जाते हैं।[7] नीचे इस व्यंजना का एक उदाहरण कामायनी के 'स्वप्न' सर्ग से दिया जाता है :—

> अरुण जलज के शोण कोण में नव तुषार के बिन्दु भरे,
> मुकुर चूर्ण बन रहे प्रतिच्छवि कितनी साथ लिए बिखरे।
> वह अनुराग हँसी दुलार की पंक्ति चली सोने तम में,
> वर्षा विरह कुहू में जलते स्मृति के जुगुनू डरे डरे।[8]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'अरुण जलज' विरहिणी श्रद्धा की रुदन करती हुई लाल-लाल आँखों के लिए आया है 'नव तुषार बिन्दु' उसके आँसुओं के लिए आया है। अतः प्रथम पंक्ति में प्रयोजनवती-साध्यवसाना-लक्षणा है। चौथी पंक्ति

१—साहित्यदर्पण २।२१
२—कामायनी, पृ० १३।
३—कामायनी, पृ० १४।
४—वही, पृ० ४५।
५—वही, पृ० १७८।
६—साहित्यदर्पण २।२२
७—छायावाद-युग, पृ० २७०।
८—कामायनी, पृ० १७६।

में वर्षा का विरह पर और जुगुनू का स्मृति पर आरोप किया गया है। अतः यहाँ प्रयोजनवती-सारोपा-लक्षणलक्षणा है। समस्त पद में विरह-जन्य आकुलता एवं विरहिणी की क्षोभपूर्ण स्थिति व्यंग्य है। अत: यहाँ लक्षणामूला-शाब्दी-व्यंजना है।

आर्थी-व्यंजना—आर्थी-व्यंजना वह शब्द-शक्ति है जो देश, काल, वाच्य, काकु, चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है। इसके तीस भेद माने जाते हैं।[1] इसमें से कुछ के उदाहरण कामायनी से दिये जाते हैं।

देशवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसंभवा—

वल्लरियाँ नृत्य निरत थीं बिखरी सुगन्ध की लहरें,
फिर वेणु रन्ध्र से उठकर मूर्छना कहाँ अब ठहरे।[2]

यहाँ पर कवि ने प्रकृति के सौम्य वातावरण द्वारा कैलाश पर्वत पर फैले हुए आनन्द-उल्लास की व्यंजना की है। अत: वातावरण या देश के वर्णन से सम्भूत होने के कारण तथा वाच्यार्थ की प्रतीति होने से यहाँ देशवैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्यसंभवा व्यंजना है।

कालवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसंभवा—

देवदारु निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
\+ \+ \+
शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कान्त,
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त।[3]

यहाँ पर अभिसार या मिलन के लिए उपयुक्त काल के चित्रण द्वारा कवि ने मनु के हृदय में स्थित काम-वासना का व्यंग्य रूप में उल्लेख किया है। यहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने के कारण कालवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसंभवा आर्थी-व्यंजना है।

वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसंभवा—

अनवरत उठे कितनी उमंग,
चुम्बित हों आँसू जलधर से अभिलाषाओं के शैल शृंग।
× × ×
दुग्ध नीरद में बन इन्द्रधनुष बदले नर कितने नये रंग,
बन तृष्णा ज्वाला का पतंग।[4]

१—साहित्यदर्पण २।२१ २—कामायनी, पृ० २६२।
३—कामायनी, पृ० ८८। ४—वही, पृ० १६४।

उपर्युक्त पद मे काम ने अपने शाप द्वारा मनु के जीवन मे आने वाली समस्त बाधाओ को प्रस्तुत किया है। अत यहाँ वाच्य-वैशिष्ट्य द्वारा 'श्रद्धा-विहीन जीवन की दु खातिशयता' व्यग्य है, क्योकि यहाँ जो-जो बातें बतलाई गई हैं लगभग उन सभी का सामना मनु को अपने आगामी जीवन मे करना पडता है। अत वाच्यवैशिष्ट्य से उत्पन्न होने के कारण यहाँ वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसभवा आर्थी-व्यजना है।

अत निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने लक्षणा एव व्यजना शक्तियो का प्रयोग करके कामायनी म उक्तिवैचित्र्य एव अर्थगाभीर्य दिखान का सफल प्रयत्न किया है। इतना अवश्य है कि कामायनी मे लक्षणा एव व्यजना का प्राधान्य होने के कारण कही-कही क्लिष्टता आगई है और कुछ स्थलो के भाव गाभीर्य को समझने मे कठिनाई होती हैं, परन्तु ऐसे स्थल एक तो कामायनी में अपेक्षाकृत कम हैं और दूसरे प्रसाद जी की प्रतीक-शैली से परिचित हो जाने पर एव उनकी कामायनी से पूर्व रचित कविताओं का सम्यक् अनुशीलन कर लेने पर वे यत्किंचित क्लिष्ट स्थल भी सरलता से समझ मे आ सकते हैं। वैसे कामायनी के काव्यत्व का सारा सौन्दर्य लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एव व्यग्यपूर्ण वर्णनो मे ही है और ये सभी बातें सर्वसाधारण की समझ मे कुछ बाहर की वस्तुएँ होती हैं। इसी कारण प्राय कामायनी काव्य को क्लिष्ट कहकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। परन्तु तनिक काव्य के मर्म तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाय और उसमें वर्णित लाक्षणिक एव व्यजना-प्रधान गूढ वर्णनो को समझने की चेष्टा की जाय तो कामायनी मे सर्वत्र भाव-सौन्दर्य के ही दर्शन होंगे।

शैली—अभिव्यजना का स्वरूप

साहित्य मे अभिव्यक्ति की प्रणाली को 'शैली' कहते हैं, क्योकि शैली का शाब्दिक अर्थ भी रचना-प्रणाली या 'अभिव्यक्ति का ढग' है। कोई-कोई विद्वान् शैली को विचारो का परिच्छद या परिधान कहते हैं। परन्तु यह कथन ठीक नही, क्योकि परिच्छद या परिधान शरीर से पृथक् रहता है और उसका अपना निजी अस्तित्व होता है, जबकि शैली का विचारो एव भावो से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इतना ही नही, शैली विचारो एव भावो को ही अभिव्यक्त करती है। अत विचार या भावो को हम यदि साहित्य का आन्तरिक रूप कहें तो शैली को हम उसका बाह्य या प्रत्यक्ष रूप कह सकते हैं, क्योकि साधारणतया

किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उसकी ध्वनि आदि को ही शैली कहा जाता है।[1]

पाश्चात्य विद्वानों ने शैली को 'स्टाइल' (Style) कहा है। अरस्तू का मत है कि शैली की पूर्णता इसी में है कि वह स्पष्ट हो और बिना किसी साधन के सरलता से समझ में आजाय। इतना ही नहीं, स्पष्ट शैली वह है जिसमें केवल प्रचलित एवं उचित शब्दों का प्रयोग होता है।[2] किन्तु पाश्चात्य साहित्य में "शैली मनुष्य है और मनुष्य ही शैली है" की धारणा अधिक प्रचलित है। इस धारणा का आंशिक विरोध क्रोचे (Croche) ने किया है और बतलाया है कि शैली को हम मनुष्य नहीं कह सकते, क्योंकि शैली में तो विचार एवं भावों की अभिव्यक्ति ही रहती है, जबकि मनुष्य में उक्त दोनों बातों के अतिरिक्त इच्छा भी रहती है।[3] शैली का सम्बन्ध प्रत्येक लेखक से अवश्य होता है, परन्तु वह रचना या अभिव्यक्ति की ही पर्यायवाची है।[4] आई० ए० रिचर्डस का मत है कि काव्य में शैली का प्रमुख रहस्य ही यह है कि उसमें शब्द-रचना (Form) तथा अर्थ (Meaning) का अत्यन्त निकट सम्बन्ध होना चाहिए।[5] वाल्टर पेटर का मत है कि ऐसे अनुपम शब्द, मुहावरे, वाक्य, गीत आदि को शैली कह सकते हैं, जो हृदय के भावों एवं मस्तिष्क के विचारों को उचित रूप से अभिव्यक्त कर सकें।[6] एबरक्रोम्बी का विचार है कि भाषा की ऐसी आदत को शैली कहते हैं, जो जीवन की विशिष्ट प्रणाली को सुन्दर ढंग से प्रकट करने में समर्थ होती है।[7] सारांश यह है कि सभी पाश्चात्य विद्वान् शैली को रचना-प्रणाली या अभिव्यक्ति के ढंग के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

भारतीय साहित्य में शैली का पर्यायवाची 'रीति' या 'वृत्ति' शब्द मिलता है, क्योंकि रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक वामनाचार्य ने पदों की विशिष्ट रचना को 'रीति' कहा है। इसके साथ ही वृत्ति के दो भेद किये गये हैं—अर्थवृत्ति और शब्दवृत्ति।[8] अर्थवृत्तियाँ चार होती हैं—'जो भारती, सात्वती, कैशिकी

१—साहित्यालोचन, पृ० ८३, ३०२।

2—*Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art*, p 81.

3—Theory of Aesthetic, p. 87.

4—Theory of Aesthetic, p. 116.

5—Practical Criticism, p. 233.

6—Appreciation, pp 25–26.

7—The Idea of Great Poetry, p. 24.

८—भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० २६३।

तथा आरभटी कहलाती हैं और जिनका प्रयोग केवल नाटकों में ही होता है। किन्तु शब्दवृत्तियाँ तीन होती हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। इनका सम्बन्ध रचना-प्रणाली से रहता है। मम्मटाचार्य ने इन वृत्तियों का अन्तर्भाव रीति के अन्तर्गत किया है और बतलाया है कि उपनागरिका-वृत्ति का वैदर्भी-रीति में, परुषा-वृत्ति का गौडी-रीति में और कोमला-वृत्ति का पाञ्चाली-रीति में अन्तर्भाव हो सकता है।[1] इस प्रकार रीति और वृत्ति—दोनों ही काव्य की रचना-प्रणाली से सम्बन्धित हैं।

रीति में जिस विशिष्ट पद-रचना का उल्लेख हुआ है, उसमें वैशिष्ट्य सम्पादन करने वाले पदार्थ को वामनाचार्य ने 'गुण' बतलाया है। इतना ही नहीं, वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक ने रीति एवं गुण का सम्बन्ध वक्रोक्ति से सिद्ध किया है और रीतियों के वैदर्भी गौडी एवं पाञ्चाली नामों को अवैज्ञानिक सिद्ध करके उनके स्थान पर क्रमशः सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग का उल्लेख किया है।[2] कुन्तक के मत में वक्रोक्ति केवल एक प्रकार का अलंकार न होकर रचना-प्रणाली से सम्बन्ध रखती है। इसी कारण उन्होंने वक्रोक्ति के छै भेद किये हैं, जो वर्ण-विन्यास-वक्रता, पद-पूर्वार्द्ध वक्रता, पद-परार्द्ध-वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता कहलाते हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि वक्रोक्ति भी रीति या शैली के ही अन्तर्गत आती है। इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक भेद बतलाए हैं और उन सबका सम्बन्ध भी रचना-प्रणाली से सिद्ध किया है। यद्यपि औचित्य का विचार भरतमुनि के समय में ही मिलता है और आनन्दवर्धनाचार्य ने उसके भेदों का मार्मिक विवेचन भी किया है, तथापि 'औचित्य' के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र ही प्रसिद्ध हैं, क्योंकि क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को स्वतन्त्र रूप में स्वीकार करके काव्य-रचना के लिए उसे आवश्यक बतलाया है। उनका मत है कि काव्य के प्रत्येक अंग तथा उपांग, शब्द तथा अर्थ, पद तथा वाक्य, गुण तथा रस इसी की छत्र-छाया में पनपते हैं और अपनी कृतार्थता सम्पादन करते हैं। इतना ही नहीं, आपने औचित्य को ही काव्य की आत्मा या जीवन स्वीकार किया है।[4] इसके अतिरिक्त काव्य की रीति या रचना-प्रणाली में छन्द या वृत्तों का भी महत्व माना गया है। अतः भारतीय दृष्टिकोण से भी शैली अभिव्यक्ति का ही साधन सिद्ध होती है और उसके अन्तर्गत रीति, वृत्ति, गुण,

---

१—काव्य प्रकाश ९।४।

२—भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ३३८–३३९। ३—वही, पृ० ३३८।

४—वही, पृ० ९४।

वक्रोक्ति, औचित्य, छन्द आदि आते है। भारतीय दृष्टि से ये सभी शैली के अभिन्न अंग हैं और पाश्चात्य दृष्टि से जब शैली को हम रचना-प्रणाली ही मानते हैं, तब भी इस मत मे कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता।

शैली के भेद—शैली अभिव्यक्ति का साधन है। अत. इसे कवि के मस्तिष्क एवं हृदय मे रहने वाले विचारो तथा भावो को वहन करने का कार्य करना पड़ता है, इसी कारण शैली मे प्रेषणीयता का गुण होना आवश्यक है। कुछ विद्वान् उसमे ओजस्विता, सजीवता, प्रौढता, प्रभाव-शालीनता आदि गुणो का रहना भी अभीष्ट समझते हैं।[1] परन्तु शैली का प्रमुख गुण—प्रेषणीयता है। इस प्रेषणीयता में कवि की कल्पना एव भावो का हाथ रहता है और बिना इन दोनों तत्वों का समावेश हुए प्रेषणीयता मे सामर्थ्य नही आती। शैली की इसी प्रेषणीयता एव विचारो की उद्‌घाटन-प्रणाली को देखकर विद्वानो ने काव्य की शैली के कुछ भेद निश्चित किये है। कोई तो व्यावहारिक या स्वाभाविक-शैली, ललित शैली, प्रौढ या उत्कृष्ट शैली तथा गद्य-काव्य शैली कहकर शैली को चार भागो मे विभक्त करता है,[2] तो कोई सरल शैली, अलंकृत शैली, गुम्फित या क्लिष्ट शैली तथा गूढ या सांकेतिक शैली का नाम देता है।[3] यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उक्त दोनो प्रकार के विभाजनों मे कोई मौलिक अन्तर नहीं है, क्योंकि जो स्वाभाविक या व्यावहारिक शैली होती है उसी को सरल शैली भी कह सकते हैं, ललित शैली का समावेश अलकृत शैली मे हो जाता है, प्रौढ या उत्कृष्ट शैली को गुम्फित या क्लिष्ट शैली भी कह सकते है तथा गद्य-काव्य शैली प्रायः गूढ या सांकेतिक ही होती है। अतः काव्य की उक्त चार शैलियाँ ही सिद्ध होती हैं।

कामायनी में काव्य-शैलियों का स्वरूप

सरल शैली—इसमें सरल, सुबोध और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग होता है, प्रसाद-गुण की प्रधानता रहती है और सरलता के साथ-साथ रसात्मकता का योग रहता है। द्विवेदी-युग में इस सरल शैली का व्यवहार अधिक रहता था, परन्तु छायावादी युग मे भी कुछ कवितायें सरल शैली मे लिखी हुई मिलती हैं। कामायनी मे भी यत्र-तत्र इस सरल शैली का रूप देखा जा सकता है। जैसे :—

१—काव्यदर्पण, पृ० ३५२। २—वही, पृ० ५३३।

३—छायावाद-युग, पृ० ३५०।

मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ, मैं पाती हूँ खो देती हूँ
इससे ले उसको देती हूँ, मैं दुख को सुख कर लेती हूँ।[1]

अलंकृत शैली—इसके अन्तर्गत अलंकारों की बहुलता होती है और सुमधुर शब्दों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। इस अलंकार-बहुला शैली को छायावादी कवियों ने प्रचुर मात्रा में अपनाया है, किन्तु रीति-कालीन कवियों की भाँति यहाँ अलंकारों की इतनी अधिकता नहीं है कि वे भावों पर भी अपना अधिकार जमा लें। फिर भी अलङ्कारों की बहुलता कहीं-कहीं खटकने लगती है। कामायनी में इसी अलङ्कृत शैली को सबसे अधिक अपनाया गया है। जैसे —

सन्ध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती।
क्षितिज भाल का कुङ्कुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती।[2]

गुम्फित या क्लिष्ट शैली—इस शैली के अन्तर्गत परस्पर सगुम्फित लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग होता है, एक ही वाक्य के अन्तर्गत कितने ही अन्य वाक्य भी सम्मिलित रहते हैं और उन वाक्यों का सम्बन्ध समझने में क्लिष्टता का अनुभव होता है। छायावादी कवियों में ऐसे सगुम्फित एवं क्लिष्टता-प्रधान वाक्य लिखने में कवि निराला प्रसिद्ध हैं। उनकी 'गीतिका', 'राम की शक्ति-पूजा' आदि में यह शैली अधिक प्रयुक्त हुई है। किन्तु कामायनी में भी ऐसे सगुम्फित वाक्यों का प्रयोग मिल जाता है, जिनके अन्तिम आशय को समझने के लिए कितने ही अन्य पदों का पढ़ना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण के लिये कामायनी का 'लज्जा' सर्ग ले सकते हैं। इसमें लज्जा का स्वरूप वर्णन करते हुए कवि ने 'अम्बर चुम्बी हिम शृंगों से कलरव कोलाहल साथ लिए' से लेकर 'ठोकर जो लगने वाली है उसको धीरे से समझाती' तक ४४ पंक्तियों में एक ही वाक्य लिखा है।[3] अतः यहाँ पर गुम्फित या क्लिष्ट शैली का स्वरूप विद्यमान है।

गूढ़ एवं सांकेतिक शैली—इस सांकेतिक शैली का भी प्रयोग छायावादी कविता में सर्वाधिक मिलता है। इसमें लाक्षणिकता एवं प्रतीकात्मकता की बहुलता रहती है और चित्रात्मकता लाने के लिए दूरारूढ़ कल्पना का सहारा लिया जाता है। दूरारूढ़ कल्पना, प्रतीकों और शब्द-शक्तियों का अधिक आश्रय

१—कामायनी, पृ० २२३। २—वही, पृ० १३४।
३—वही, पृ० १००-१०२।

लेने के कारण यह शैली सर्वसाधारण के लिए दुरुह हो जाती है और यही कारण है कि अधिकांश व्यक्ति छायावादी कविता को नहीं समझ पाते । कामायनी में इस गूढ एवं सांकेतिक शैली का प्रयोग ही मिलता है। जैसे —

> मधुमय वसन्त जीवन वन के, वह अन्तरिक्ष की लहरों में,
> कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरों में।
> क्या तुम्हें देख कर आते यों, मतवाली कोयल बोली थी,
> उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखें खोली थी।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कामायनी में काव्य की सभी प्रकार की शैलियों के दर्शन होते हैं, जिसमें उसमें कहीं क्लिष्टता है, तो कहीं सरलता भी है; कहीं विस्तार है, तो कहीं सूक्ष्मता भी है, कहीं गहनता है, तो कहीं सुबोधता भी है और कहीं सांकेतिकता है, तो कहीं स्वाभाविकता भी है। साराश यह है कि प्रसादजी ने भावानुकूल भाषा का प्रयोग करके उसमें प्रेषणीयता के आधार पर विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है।

कामायनी में रीतियाँ—*आचार्यों ने काव्य की तीन रीतियाँ बतलाई हैं, जो* वैदर्भी, गौडी और पांचाली के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिनमें वैदर्भी रीति माधुर्य गुण पर अवलम्बित रहती है। इस रीति के अन्तर्गत ट, ठ, ड, ढ से रहित कवर्ग से पवर्ग तक के वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पंचम वर्ण पहले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ और णकार ह्रस्व स्वर से अन्तरित होते हैं। समास का नियम यह है कि या तो समास बिल्कुल होती ही नहीं, यदि होती भी है तो बहुत थोड़ी होती है। इस रीति में वाक्य के दूसरे पदों के योग से उत्पन्न होने वाली रचना माधुर्य से युक्त रहती है।[2] सारे कामायनी काव्य में इसी वैदर्भी रीति की बहुलता दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि यहाँ पर सरल समासों में कोमल-कान्त पदावली के अन्तर्गत माधुर्यपूर्ण रचना का ही प्राधान्य है। जैसे:—

> नव नील कुञ्ज हैं भीम रहे, कुसुमों की कथा न बन्द हुई,
> है अन्तरिक्ष आमोद भरा, हिम कणिका ही मकरन्द हुई।[3]

कामायनी में गौडी रीति के अधिक दर्शन नहीं होते। इसमें जिन ओज॰ गुण, कठोर वर्ण, दीर्घ समास, विकट रचना आदि का समावेश रहता है और कहीं-कहीं द्वित्व वर्ण एवं गाढ बन्ध की जो योजना की जाती है,[4] वैसी बातें

१—कामायनी, पृ० ६३।

२—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० २०८। ३—कामायनी, पृ० ६५।

४—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० २०६।

कामायनी में अधिक नहीं मिलती। फिर भी जहाँ-तहाँ कुछ उदाहरण गौडी रीति के मिल जाते हैं। जैसे —

> धू धू करता नाच रहा था अनस्तित्व का ताण्डव नृत्य,
> आकर्षण विहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य।[1]

पांचाली रीति उक्त दोनों रीतियों की अन्तरालवर्तिनी रीति मानी गई है। वामन के मतानुसार इसमें माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों का निवास रहता है। ओज तथा कान्ति गुणों के अभाव में इसके पद उत्कट नहीं होते।[2] इसमें दोनों रीतियों के अतिरिक्त वर्णों का प्रयोग होता है। कामायनी में इस रीति के भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे —

> कौन हो तुम वसन्त के दूत विरस पतझड़ में अति सुकुमार,
> घन तिमिर में चपला की रेख तपन में शीतल मन्द बयार।
> नखत की आशा किरण समान, हृदय के कोमल कवि की कांत,
> कल्पना की लघु लहरी दिव्य कर रही मानस हलचल शान्त।[3]

साराश यह है कि यद्यपि प्रसादजी ने कामायनी में तीनों रीतियों का उपयोग किया है, फिर भी उन्होंने वैदर्भी रीति को अधिक अपनाया है। वैसे भी छायावादी कवियों में वैदर्भी रीति के लिए ही अधिक आकर्षण दिखाई देता है, क्योंकि अपने हृदय की कोमल भावनाओं को व्यक्त करने में वैदर्भी रीति जितनी उपयुक्त एवं उपयोगी होती है, उतनी अन्य रीतियाँ नहीं होतीं। यही कारण है कि प्रसादजी ने वैदर्भी रीति को अपने कोमल भावों के अनुकूल पाकर अधिकांश प्रसंगों का वर्णन इसी रीति में किया है जो सर्वथा सुन्दर, सुष्ठु एवं समीचीन प्रतीत होता है।

कामायनी में गुणों का स्वरूप—साहित्य शास्त्रों में अलंकार, रीति आदि की भाँति गुणों को भी रस का उत्कृष्ट बनाने वाले कहा गया है।[4] परन्तु गुण कितने होते हैं, इसके बारे में विद्वानों में मतभेद है। गुणों की संख्या निश्चित करते हुए भरत ने दस, व्यास ने उन्नीस, भामह ने तीन, दण्डी ने दस, वामन ने बीस और भोज ने चौबीस गुण बतलाये हैं।[5] किन्तु मम्मटाचार्य ने भामह द्वारा प्रतिपादित 'माधुर्य', 'ओज' और 'प्रसाद' नामक तीन गुणों का का समर्थन करते हुए अन्य गुणों में से कुछ का तो समावेश इन्हीं तीन गुणों

१—कामायनी पृ० २०।
२—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ३१०। ३—कामायनी, पृ० ५०।
४—साहित्यदर्पण ११५ ५—काव्यदर्पण, पृ ४०१।

में कर लिया है और कुछ गुणों की निस्सारता प्रकट की है।[1] साहित्यदर्पणकार ने भी उक्त तीन गुणों को ही अपनाया है।[2] आज तो काव्य के ये तीन गुण ही सर्व-सम्मति से काव्य के लिए उपयुक्त माने जाते हैं।

कामायनी मे वैसे तीनों गुण —माधुर्य, ओज और प्रसाद विद्यमान हैं। परन्तु प्रसादजी प्रेम एवं माधुर्य के कवि है और उनके 'आँसू', 'लहर', 'झरना' आदि मे भी माधुर्य गुण की ही प्रधानता है। इसी कारण अन्य गुणों की अपेक्षा कामायनी में भी माधुर्य गुण की ही प्रधानता दिखाई देती है। साहित्याचार्यों ने चित्त को द्रवीभूत करके आह्लादयुक्त बनाने वाले गुण को माधुर्य बतलाया है।[3] कामायनी के वर्णनों की भी यही विशेषता है कि उनमे भयंकर से भयंकर स्थिति के चित्रण मे भी कवि को माधुर्य के दर्शन हुए हैं और कामायनी के अधिकांश वर्णन पाठकों के चित्त को द्रवीभूत करके आह्लादयुक्त बना देते हैं। इसके अतिरिक्त कामायनी मे ओज गुण के अधिक दर्शन नहीं होते, फिर भी प्रसाद गुण अपेक्षाकृत अधिक मिल जाता है। इस तरह सम्पूर्ण कामायनी में माधुर्य और प्रसाद गुण का ही आधिक्य दिखाई देता है। इनमे से भी माधुर्य गुण का वर्णन सबसे अधिक मिलता है। नीचे कामायनी से तीनों गुणों के उदाहरण दिए जाते है —

माधुर्य :— मधु बरसती विधु किरन हैं कांपती सुकुमार,
पवन मे है पुलक मन्थर, चल रहा मधु भार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?[4]

ओज :— उठा तुमुल रणनाद, भयानक हुई अवस्था,
बढा विपक्ष समूह मौन पद दलित व्यवस्था।
आहत पीछे हटे, स्तम्भ से टिक कर मनु ने,
श्वास लिया, टंकार किया दुर्लक्ष्यी धनु ने।[5]

प्रसाद :— जल पीकर कुछ स्वस्थ हुए से लगे बहुत धीरे कहने,
'ले चल इस छाया के बाहर मुझको दे न यहाँ रहने।
मुक्त नील नभ के नीचे या कहीं गुहा में रह लेंगे,
अरे झेलना ही आया है जो आवेगा सह लेंगे।'[6]

१—काव्यप्रकाश, पृ० १८८—२६३।
२—माधुर्य्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।—साहित्यदर्पण ८।२
३—साहित्यदर्पण ८।३
४—कामायनी, पृ० ८६। ५—वही, पृ० २००। ६—वही, पृ० २१६।

कामायनी में वक्रोक्ति का स्वरूप—आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छै भेद बतलाये हैं—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता, (३) पद-परार्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबंध-वक्रता।[1] ये भेद अत्यन्त वैज्ञानिक प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनमें वर्ण से लेकर क्रमशः प्रबंध तक की वक्रता का उल्लेख किया गया है। वैसे भी वर्णों से पद बनता है और पद-समुच्चय वाक्य होते हैं। इसी तरह वाक्यों के समूह द्वारा प्रकरण की रचना होती है और अनेक प्रकरण मिलकर एक विशिष्ट प्रबन्ध की रचना करते हैं। अतः कुन्तक ने इन भेदों के अन्तर्गत प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई वर्ण से लेकर उसके महत्तम रूप प्रबन्ध तक की वक्रता पर विचार किया है।[2]

(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता—इस वक्रता के अन्तर्गत व्यंजन-वर्णों के सौन्दर्य-विषयक सभी प्रकारों का विवेचन किया जाता है। अनुप्रास एवं यमक आदि शब्दालंकार इसी के अन्तर्गत आते हैं। कुन्तक का मत है कि कवि को अनुप्रास का प्रयोग बिना प्रयत्न के ही करना चाहिए। अनुप्रास पर कवि का आग्रह रहने से काव्य के अर्थ का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। साथ ही अनुप्रास में सुन्दर अक्षरों का चयन होना चाहिए और उसमें चारुत्व रहना चाहिए। ऐसे ही यमक में भी प्रसाद गुण रहना चाहिए, जिससे उसका अर्थ पाठकों को सरलता से ज्ञात हो सके।[3] इसी वर्ण-विन्यास-वक्रता के उदाहरण कामायनी के अनुप्रास एवं यमक अलंकार के उदाहरणों में देख जा सकते हैं, जिनका कि उल्लेख पहले किया जा चुका है।[4]

(२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता—इस वक्रता के कई भेद हैं—जैसे, (क) रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रता, (ख) पर्याय-वक्रता, (ग) उपचार-वक्रता, (घ) विशेषण-वक्रता, (ङ) संवृत्ति-वक्रता, (च) प्रत्यय-वक्रता, (छ) वृत्ति-वक्रता, (ज) भाववैचित्र्य-वक्रता, (झ) लिंग-वैचित्र्य-वक्रता, और (ट) क्रिया-वक्रता। इनमें से कामायनी के अंतर्गत उपचार-वक्रता को ही अधिक अपनाया गया है। इस वक्रता के अंतर्गत साधारणतया अमूर्त पदार्थ में मूर्त पदार्थ का, घन पदार्थ में द्रव पदार्थ का, अचेतन में चेतन धर्म का अध्यारोप किया जाता है। ऐसा करने से काव्य में सरसता आ जाती है। कुन्तक के मतानुसार उपचार वह है जहाँ अन्य वस्तु का साधारण धर्म अधिक दूर वाले पदार्थ पर लेशमात्र सम्बन्ध से आरोपित

१—वक्रोक्तिजीवितम् १।१८-२१

२—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ३७४–३७५।

३—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ३७६–३८०।

४—देखिए, यही प्रकरण, पृ० २३०।

किया जाता है।[1] प्रसादजी ने भी इस उपचार-वक्रता को छायावाद की एक प्रमुख विशेषता बतलाया है।[2] इस उपचार-वक्रता के अंतर्गत ही पाश्चात्य मानवीकरण अलंकार आता है। नीचे कामायनी से एक उपचार-वक्रता का उदाहरण दिया जाता है, जहाँ अचेतन रजनी पर चेतन धर्म का आरोप करके उसे एक नारी के रूप में अंकित किया है —

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख, बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल।[3]

(३) पद-परार्ध-वक्रता—इस वक्रता के भी कई भेद हैं, जैसे काल-वैचित्र्य-वक्रता, कारक-वक्रता, संख्या-वक्रता आदि।[4] इनमें से कामायनी के अन्तर्गत कारक-वक्रता ही अधिक पाई जाती है, क्योंकि कारक-वक्रता के अन्तर्गत किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कारकों में विपर्यय कर दिया जाता है, अर्थात् अचेतन पदार्थ में चेतनत्व का अध्यारोप करके चेतन की क्रिया का निवेश किया जाता है। जैसे :—

संध्या समीप आई थी उस सर के, वल्कल वसना,
तारों की अलक गुँथी थी पहने कदम्ब की रसना।[5]

(४) वाक्य-वक्रता—इस वक्रता के भी अनन्त भेद हैं, परन्तु प्रमुख रूप से अलंकार-विधान इसी के अंतर्गत आता है। कुन्तक ने कवि की अलोकसामान्य प्रतिभा के द्वारा उत्थापित विच्छित्त-विशेष को अथवा चमत्कार के एक प्रकार को अलंकार बतलाया है।[6] इसी प्रकरण में अलंकार-विधान के अन्तर्गत कामायनी के प्रमुख-प्रमुख अलंकारों के उदाहरण दिये जा चुके हैं, वे ही उदाहरण वाक्य-वक्रता के भी हैं।

(५) प्रकरण-वक्रता—प्रबन्ध के एक देश को प्रकरण कहते हैं और प्रकरण सम्बन्धी वक्रता को प्रकरण-वक्रता कहा जाता है। साधारणतया प्रकरण को सरस, उपादेय तथा सुन्दर बनाने के लिये प्रकरण-वक्रता का प्रयोग होता है। इस प्रकरण-वक्रता के भी कितने ही प्रकार हैं। जिस प्रसंग से नायक के चरित्र में दीप्ति उत्पन्न होती है, सौन्दर्य का उन्मीलन होता है, लालित्य का विकास

१—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ३८५।
२—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० १२८।
३—कामायनी, पृ० ४०।
४—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ४००-४०८।
५—कामायनी, पृ० २८५। ६—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ४१४।

होता है, वह प्रकरण-वक्रता का अन्यतम प्रकार है।[1] कामायनी काव्य नायिका-प्रधान है। अत यहाँ पर जब श्रद्धा मनु के दुवारा भाग जाने पर इडा को अत्यन्त दुखी देखती है, तब वह उसके सब अपराध भूल जाती है और उसको राष्ट्र-नीति का सुचारु रूप से सचालन करने के लिए अपने प्राण-प्रिय पुत्र को भी सौंपती हुई यह कहकर चली जाती है —

> तुम दोनो देखो राष्ट्र-नीति, शासक बन फैलाओ न भीति,
> मैं अपने मनु को खोज चली, सरिता मरु नग या कुज गली।
> वह भोला इतना नही छली, मिल जायेगा, हूँ प्रेम पली।[2]

उपर्युक्त प्रसग मे श्रद्धा के अन्तर्गत हमे अपराधी के लिए भी क्षमा, त्याग, लोक मगल की भावना और महानता के दर्शन होते हैं। अत यहाँ प्रकरण-वक्रता के अन्यतम प्रकार का प्रयोग हुआ है।

इसके अतिरिक्त प्रकरण की रस-निर्भरता, मूल इतिवृत्त मे परिवर्तन करके नवीन प्रसग की स्थापना, अवान्तर प्रकरणो को परस्पर सम्बद्ध करना, अवान्तर नवीन घटनाओ का सन्निवेश करना, किसी विशिष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रकरण के भीतर दूसरे प्रकरण की योजना करना इत्यादि प्रकरण-वक्रता के अन्य कितने ही प्रकार और होते हैं।[3] कामायनी मे प्रकरण-वक्रता के उक्त प्रकारो के दर्शन भी दर्शन होते हैं। जैसे, यहाँ पर 'श्रद्धा' सर्ग मे इडा और मनु को पहले न मिलाकर मनु और श्रद्धा को पहले मिलाया है। इनके प्रथम मिलन मे हमे मूल इतिवृत्त के अन्तर्गत परिवर्तन करके नवीन प्रसग की स्थापना के दर्शन होते हैं। दूसरे, मनु और श्रद्धा, मनु और आकुलि-किलात तथा मनु और इडा की कथाओ को परस्पर सम्बद्ध करके प्रसादजी ने अवान्तर प्रकरणों को भी सम्बद्ध कर दिया है। तीसरे, काम सन्देश, श्रद्धा के साथ मनु की कैलाश-यात्रा और अन्त मे इडा तथा मानव के साथ समस्त सारस्वत नगर-निवासियो की कैलाश-यात्रा आदि मे प्रसादजी ने नयी-नयी अवान्तर घटनाओ की भी उद्‌भावना की है। चौथे, मानव-मात्र को उनकी वस्तु स्थिति का ज्ञान कराने के लिए कवि ने 'रहस्य' सर्ग मे भावलोक, कर्मलोक एव ज्ञानलोक के वर्णन में विशिष्ट अर्थ-सिद्धि के लिये नए प्रकरण की योजना की है। इस प्रकार कामायनी में हमे प्रकरण-वक्रता के भीसुन्दर उदाहरण मिल जाते है।

(६) **प्रबन्ध-वक्रता**—प्रबन्ध-वक्रोक्ति काव्य की सबसे अधिक व्यापक

१—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ४१७।

२—कामायनी, पृ० २४३।   ३—वक्रोक्तिजीवितम् ४।२-११

वक्रोक्ति है। इसका आश्रय न अक्षर है, न पद, न वाक्य और न वाक्यार्थ, प्रत्युत आदि से अन्त तक सबलित समग्र काव्य तथा नाटक ही इस वक्रोक्ति का आधार-स्थल होता है। इसके भी अनेक प्रकार होते हैं। किन्तु उनमे से दो-तीन प्रमुख हैं। प्रथम वह है, जहाँ कवि मूल कथानक के रस को बदल कर नवीन चमत्कारी रस का आविर्भाव करता है, जिससे कथामूर्ति आमूल रस-स्निग्ध हो जाती है तथा श्रोताओं का विशेष अनुरंजन होता है। दूसरा प्रकार वह है, जहाँ कवि कथा के नीरस या विरस भाग का परित्याग करके केवल सरस भाग को ही उपादान के रूप में ग्रहण करता है। तीसरा प्रकार वह है, जहाँ कविजन एक कमनीय फल की प्राप्ति के उद्देश्य से कथानक आरम्भ करते हैं, परन्तु नायक अपने बुद्धि-वैभव से अन्य फलो की भी प्राप्ति कर लेता है।[1]

कामायनी में उक्त तीनों प्रमुख प्रकारों के भी दर्शन होते हैं, क्योंकि कामायनी की मूल कथा वैदिक एवं पौराणिक ग्रंथों में बिखरी हुई है और सर्वत्र यह कथा नीरस या विरस ही है, किन्तु उन सभी स्थलों से इस कथा को लेकर प्रसादजी ने इसे महाकाव्य के ढाँचे में ढाल कर इसमें सरसता उत्पन्न की है तथा अधिकाधिक रसो से ओत-प्रोत कर दिया है। दूसरे, मनु-श्रद्धा की कथा के अधिकांश सरस भागो को ही कामायनी में स्थान दिया गया है। जैसे, 'चिन्ता' सर्ग में देव-सृष्टि और प्रलय का होना, 'श्रद्धा' सर्ग में श्रद्धा-मनु-मिलन, 'लज्जा' सर्ग में लज्जा मनोभाव का चित्रण, 'ईर्ष्या' सर्ग में श्रद्धा का गृहस्थी निर्माण 'इडा' सर्ग में मनु-इडा मिलन, 'दर्शन' सर्ग में मनु-श्रद्धा का पुर्नमिलन, आनन्द' सर्ग में इडा आदि की कैलाश-यात्रा तथा कुटुम्ब के सभी व्यक्तियों का अन्त में कैलाश पर मिलना आदि ऐसे प्रसग हैं, जो सरस हैं और जिनके कारण सारा कामायनी काव्य भी सरस हो गया है। तीसरे, मनु को यहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों फलो को प्राप्त करते हुए दिखलाया है। अतः हमें कामायनी में प्रबंध-वक्रता का भी सुन्दर रूप दिखाई देता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने वक्रोक्ति के प्रमुख प्रकारो का प्रयोग करते हुए अपने कामायनी काव्य की अभिव्यक्ति में एक विशिष्टता उत्पन्न की है, जो हिन्दी-साहित्य के लिए सर्वथा गौरव की बात है। इतना ही नहीं, आपने अभिव्यंजना की इस उत्कृष्ट प्रणाली का प्रयोग करके प्राचीन प्रणाली को भी पुनर्जीवन प्रदान किया है और उक्ति-वैचित्र्य द्वारा काव्य में कलात्मकता को प्रश्रय दिया है।

१—वक्रोक्तिजीवितम् ४।१८–२३

कामायनी मे औचित्य—औचित्य की परिभाषा लिखते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे हम 'उचित' कहते है और उचित का भाव ही 'औचित्य' कहलाता है। अत औचित्य से तात्पर्य उपयुक्त, अनुरूप अथवा अनुकूल प्रयोग से है। इस औचित्य की सर्वाधिक व्यवस्था क्षेमेन्द्र ने की है। इसलिए क्षेमेन्द्र औचित्य के व्यवस्थापक तो है, किन्तु उद्भावक नही, क्योकि समीक्षा के आद्य आचार्य भरत मुनि ने ही नाट्यशास्त्र मे नाटकीय प्रसग के अन्तर्गत पात्र, प्रकृति, वेशभूषा, भाषा आदि के औचित्य का विस्तृत प्रतिपादन किया है। वही से प्रेरणा पाकर भरत के उपरान्त होने वाले आलकारिको ने भी अपने-अपने काव्य- विवेचन मे इस तथ्य को यत्र-तत्र दिखलाया है।[1] औचित्य के अनन्त भेद-प्रभेद हो सकते हैं क्योकि काव्य के प्रत्येक अग तथा उपाग पर इस तथ्य का व्यापक प्रभाव रहता है। फिर भी क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' मे पद, वाक्य, प्रबधार्थ, गुण, अलकार, रस आदि सत्ताईस प्रकार के औचित्य सम्बन्धी भेद बतलाये हैं।[2] इन भेदो के उदाहरण कामायनी मे ढूँढना तो सर्वथा असभव है, किन्तु क्षेमेन्द्र ने कुछ प्रमुख भेदो की चर्चा भी की है, जिनमे से प्रबन्धौचित्य, गुणौचित्य, अलकारौचित्य, रसौचित्य, लिंगौचित्य, नामौचित्य आदि प्रमुख है। कामायनी मे औचित्य के इन प्रमुख भेदो का स्वरूप इस प्रकार मिलता है —

(१) प्रबन्धौचित्य—प्रबध-औचित्य का अर्थ यह है कि समग्र प्रबध का तात्पर्य अनुरूप होना चाहिए। ऐसा होने से उसमे सहृदयो के चित्त को आवर्जन करने वाले चमत्कार की क्षमता उत्पन्न होती है।[3] कामायनी के प्रबधौचित्य के रूप को हम श्रद्धा के वर्णनो मे देख सकते है। कवि प्रसाद ने श्रद्धा को सात्विक भावनाओ से ओत-प्रोत करके नारी-सुलभ समस्त गुणो से अलकृत दिखाया है। अत जहाँ-जहाँ श्रद्धा-विषयक उक्तियाँ आती हैं, वहाँ-वहाँ सर्वत्र हमे श्रद्धा के अन्तर्गत उदारता, क्षमा, दया, ममता, सबके कल्याण की भावना आदि दिखाई देती है। कामायनी मे श्रद्धा को सर्वत्र, उदार मातृमूर्ति, सर्वमगलकारिणी एव कल्याणमयी निर्विकार देवी के रूप मे चित्रित किया गया है।[4] अत. कामायनी मे श्रद्धा के वर्णनो मे सर्वत्र औचित्य का निर्वाह हुआ है। परन्तु यहाँ प्रबन्धगत अनौचित्य भी मिलता है, क्योकि मनु हमारे आदि पुरुष हैं, पूर्वज हैं और सृष्टि के प्रारभकर्त्ता भी हैं। अत उनके चरित्र को इतना पतित रूप मे दिखाना प्रबन्धौचित्य की सीमा का अतिक्रमण करना है। प्रसादजी ने उन्हे

१—भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ६३। २—वही, पृ० ६७।
३—वही, पृ० ६७। ४—कामायनी, पृ० २४६।

स्थान-स्थान पर अपराधी, पतित और दोषी के रूप मे चित्रित किया है, जो सर्वथा प्रबन्धगत अनौचित्य का परिचायक है।

(२) गुणौचित्य—ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य आदि गुण काव्य मे तभी सौभाग्य-सम्पन्न होते हैं, जब वे प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप होते हैं। अर्थ पर दृष्टि रखकर जहाँ काव्यो मे गुणो का सन्निवेश किया जाता है, वहाँ काव्यो में गुणौचित्य पाया जाता है। जैसे, विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यंजना के लिए माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणो का निवेश सर्वथा हृदयाह्लादकारी होता है।[1] कामायनी मे 'स्वप्न' सर्ग के प्रारम्भ मे ही श्रद्धा की विरह-विधुरावस्था का चित्रण करते हुए उसकी वियोग-जन्य पीडा एवं अन्तर्द्वन्द्व का जो चित्रण किया गया है,[2] उसमे माधुर्य एव सौकुमार्य की प्रधानता होने के कारण गुणौचित्य के दर्शन होते हैं।

(३) अलंकारौचित्य—आचार्य क्षेमेन्द्र का मत है कि 'प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलकार-विन्यास होने से कवि की उक्ति उसी प्रकार चमत्कृत होती है जिस प्रकार पीन-स्तन पर रखे गये हार से हरिणलोचना सुन्दरी।'[3] अलंकार का अलकारत्व ही इसमे है कि वह प्रकृत अर्थ तथा प्रस्तुत रस का पोषक हो। नीरस अलंकार कभी काव्य के लिए उपयुक्त नहीं होते। कामायनी में अलंकार-औचित्य की ओर प्रसादजी ने अधिक ध्यान दिया है। उनके उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों के वर्णनो में इस अलकारौचित्य के भी दर्शन होते हैं, जिनका कि वर्णन पहले ही किया जा चुका है। परन्तु कुछ स्थल ऐसे भी मिलते हैं, जहाँ अलकारगत अनौचित्य भी विद्यमान है। ऐसे अनौचित्य वाले अलंकारो का भी उल्लेख पहले ही अलंकारो के अन्तर्गत किया जा चुका है।[4]

(४) रसौचित्य—रस ही काव्य की आत्मा है। अत जब तक रस औचित्य द्वारा काव्य को रुचिर नही बनाया जाता है तब तक वह सहृदयों को आकृष्ट नही करता। कामायनी मे रसौचित्य के अनेक उदाहरण भरे हुए हैं, जिनका विशद वर्णन इससे पूर्व तीसरे प्रकरण मे किया जा चुका है।[5]

(५) लिंगौचित्य—साधारणतया प्रकृत अर्थ के पोषक विशिष्ट लिंग वाले शब्दों का चुनाव ही लिंगौचित्य के अन्तर्गत आता है। कामायनी के 'स्वप्न' सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियों में लिंगौचित्य के दर्शन होते हैं :—

१—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ६६।
२—कामायनी, पृ० १७५-१७६। ३—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० १००।
४—देखिए, यही प्रकरण पृ० २४१-२४४।
५—देखिए, प्रकरण ३, पृ० १६२-१७०।

बुझ न जाय वह साँझ किरन सी दीप शिखा इस कुटिया की,
शलभ समीप नहीं तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ ।[1]

यहाँ पर कवि ने विरहिणी श्रद्धा को कुटिया की दीप-शिखा बतलाया है और उसकी उपमा 'साँझ किरन' से दी है। इतना ही नहीं, मनु को यहाँ 'शलभ' बतलाया है। अत स्त्रीलिंग श्रद्धा के लिए स्त्रीलिंग 'दीप-शिखा,' 'साँझ किरन' आदि का प्रयोग और पुल्लिंग 'मनु' के लिए पुल्लिंग 'शलभ' का प्रयोग करके प्रसादजी ने लिंगौचित्य का निर्वाह किया है, जिससे प्रकृत अर्थ भी स्पष्ट हो गया है और शब्दो का प्रयोग मार्मिक हो गया है, क्योंकि विरहिणी श्रद्धा रात में मनु के वियोग में 'दीप-शिखा' की तरह ही जल रही है और मनु वास्तव में 'शलभ' बने हुए हैं, जो आज इस 'दीप-शिखा' के पास नहीं है, किन्तु इड़ा रूपी दूसरी आलोक-प्रभा के पास मँडरा रहे हैं। अत प्रसादजी ने यहाँ जिस लिंगौचित्य का प्रयोग किया है, वह प्रकृत अर्थ का पोषक होने के कारण नितान्त मार्मिक है। किन्तु कहीं-कहीं लिंग-सम्बन्धी अनौचित्य के भी उदाहरण कामायनी में मिलते हैं, जिनका उल्लेख अलङ्कारो के साथ पहले ही किया जा चुका है।[2]

नामौचित्य—जहाँ पर प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप नामो की योजना की जाती है वहाँ नामौचित्य के दर्शन होते हैं। साधारणतया सार्थक नामो को सुनकर ही सहृदयो के हृदय विकसित होते हैं और काव्य में उत्कृष्टता आती है। अत काव्य में जहाँ अर्थ के अनुसार सर्वथा उचित एव उपयुक्त नामो का प्रयोग किया जाता है वहाँ नामौचित्य होता है। कामायनी की निम्नलिखित पंक्तियो में नामौचित्य के दर्शन होते हैं :—

(१) शक्ति तरगो में आन्दोलन, रुद्र क्रोध भीषणतम था ।[3]

यहाँ पर 'रुद्र' शिवजी का ही दूसरा नाम है। जब वे क्रुद्ध होकर भयकर रूप धारण करते हैं, उस क्षण उन्हें 'रुद्र' कहना ही सर्वथा सार्थक है।

(२) वह कामायनी जगत की मगल कामना अकेली ।[4]

यहाँ 'कामायनी' शब्द का प्रयोग पूर्णतया सार्थक है, क्योंकि काम का अयन (आश्रय) होने से ही जगत की मगल कामना हो सकती है।

उपर्युक्त औचित्यों की भाँति और भी अनेक औचित्यों का उल्लेख क्षेमेन्द्र ने किया है। विस्तार-भय से सभी का दिखाना उचित न जानकर कतिपय औचित्यों का ही ऊपर उल्लेख किया गया है। इन औचित्यो के अध्ययन से यही

१—कामायनी, पृ० १७६। ३—कामायनी, पृ० १८६।
२—यही प्रकरण, पृ० २४१–२४४। ४—वही, पृ० २१६।

ज्ञात होता है कि प्रसादजी ने कामायनी काव्य की रचना में औचित्य का पर्याप्त ध्यान रखा है। किन्तु जहाँ-जहाँ अनौचित्य दिखाई देता है, वह प्रसादजी की नव-निर्माण करने की उत्कट अभिलाषा के कारण आगया है। दूसरे, प्रसादजी ने सर्वत्र काव्यशास्त्र के नियमों का ध्यान रखकर ही अपना काव्य नहीं लिखा। अतः औचित्य के साथ-साथ यदि कहीं अनौचित्य दिखाई देता है, तो वह भी उनकी कला का एक अंग प्रतीत होता है और उसके कारण रस-परिपाक में कोई विशेष बाधा उपस्थित नहीं होती। जैसे, अपने प्रमुख नायक मनु के चरित्र की हीनता दिखाने से प्रबन्ध-औचित्य में कुछ व्याघात अवश्य उपस्थित होता है, किन्तु आधुनिक विचारधारा के अनुसार यथार्थ जीवन का चित्र अंकित करने के लिए मनु की चारित्रिक दुर्बलतायें भी दिखाना कवि को अभीष्ट है। इसी कारण यहाँ शास्त्रीय दृष्टि से अनौचित्य है। किन्तु वैसे लौकिक व्यवहार एवं यथार्थवाद की दृष्टि से यह भी सर्वथा उचित ही है। फिर 'कामायनी' काव्य का प्रमुख पात्र श्रद्धा है और उसके चरित्र में कहीं दुर्बलता या हीनता दिखाई नहीं देती। अतः प्रबन्धगत औचित्य का ही निर्वाह कामायनी में दिखाई देता है। ऐसे ही अन्य अनौचित्यों के बारे में भी कहा जा सकता है। किन्तु यह कहना सर्वथा अनुचित है कि कामायनी में कहीं भी अनौचित्य नहीं। जैसे 'चिन्ता' सर्ग में प्रलय-वर्णन के समय कम्पित धरणी का आकाश द्वारा आलिंगन करना और तरल तिमिर एवं पवन का परस्पर आलिंगन करना[1] रस सम्बन्धी अनौचित्य के अन्तर्गत आते हैं। ऐसे ही श्रद्धा का अनायास मनु के लिए आत्म-समर्पण करना, मनु द्वारा श्रद्धा का आकस्मिक त्याग, सारस्वत प्रदेश की अचानक समृद्धि के साथ मनु का निराधार लोकों में भ्रमण आदि प्रकरणगत अनौचित्य के उदाहरण हैं और अलंकारगत अनौचित्य पहले ही दिखाया जा चुका है। अतः अनौचित्य भी कामायनी में विद्यमान है, किन्तु औचित्य की अपेक्षा अनौचित्य अत्यन्त अल्प हैं। इसी कारण अनौचित्य चन्द्रमा के धब्बों की भाँति औचित्य की ज्योत्स्ना में लीन होकर उसके सौन्दर्य की ही वृद्धि करते हैं।

कामायनी में छंद-योजना

छंद-विधान—काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए जहाँ भाषा प्रमुख साधन है, वहाँ यदि वह तनिक लय और स्वर के साथ अपने भावों को वहन करती है तो उसमें प्रेषणीयता का गुण और भी अधिक बढ़ जाता है। यदि

१—कामायनी, पृ० १४-१५।

लोग इसी गुण की वृद्धि के लिए वृत्तों या छन्दों का प्रयोग करते हैं। इससे एक ओर तो अभिव्यंजना में संगीतात्मकता आ जाती है और दूसरी ओर स्वर-लय-युक्त मधुर छन्द भावानुकूलता को प्राप्त होकर श्रोता के हृदय को अनायास आकृष्ट कर लेते हैं। अतः वही कविता अधिक प्रभावशालिनी मानी जा सकती है, जिसमें स्वर-लय-युक्त भावानुकूल छन्दों या वृत्तों का भी प्रयोग किया जाता है।

भारतीय वाङ्मय में षड् वेदांग के अंतर्गत 'छंद' को वेद का एक अंग माना गया है। बहुधा वेद की एक पुरुष के रूप में कल्पना की गई है, जिसके पैरों को छन्द, हाथों को कल्प, नेत्रों को ज्योतिष, कानों को निरुक्त, नासिका को शिक्षा और मुख को व्याकरण कहा गया है।[1] जिससे सिद्ध है कि छन्द के बिना काव्य पंगु है। छन्द शास्त्र के आदि प्रवर्तक भगवान् शिव माने जाते हैं और उन्हीं की शिष्य परम्परा में पिंगल मुनि का नाम प्रसिद्ध है, जो आगे चलकर वैदिक एवं लौकिक छन्दों के प्रणेता माने गये हैं।[2]

पाश्चात्य समीक्षकों में अरस्तू ने छन्द को बड़ा महत्त्व दिया है और कहा है कि यदि कोई भी वाक्य छन्द में लिखा जाता है तो वह कविता बन जाता है।[3] इसके साथ ही उसका मत है कि छन्दगत लय में शब्दों से पृथक् एक प्रकार का नैतिक गुण रहता है।[4] बूचर का मत है कि ट्रेजडी की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने जिस 'अलङ्कृत भाषा' का उल्लेख किया है, वहाँ अरस्तू का 'अलङ्कृत भाषा' से अभिप्राय ही यह है कि काव्य की भाषा में छन्द एवं लय सम्बन्धी दोनों प्रकार की विशेषताएँ होनी चाहिए।[5] कविता में छन्द की प्रशंसा करते हुए अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि कॉलरिज ने लिखा है कि छन्द साधारण मनोवेगों और ध्यान सम्बन्धी चेतना एवं संवेदनशीलता की वृद्धि में बड़ी सहायता

१—छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

—वृत्तरत्नाकर, भूमिका, पृ० १।

२—वृत्तरत्नाकर, भूमिका, पृ० २।

3—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p 141

४—वही, पृ० १३१।

५—वही, पृ० १४६।

पहुँचाता है।[1] ऐसे ही यीट्स का कथन है कि छन्द मस्तिष्क को जाग्रत-मूर्च्छा की स्थिति मे मुलाने का कार्य करता है।[2] आई० ए० रिचर्डस् का मत है कि छन्द एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा प्रयुक्त शब्द अत्यधिक मात्रा मे अपना प्रभाव एक-दूसरे पर डालने का कार्य करते हैं।[3]

हिन्दी-साहित्य के अंतर्गत भी आदिकाल से ही कविता के लिए छद आवश्यक समझे गये है और दोहा, चौपाई, छप्पय, पद, कवित्त, सवैया आदि में कविता होती रही है, किन्तु आधुनिक युग मे पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित कुछ कवियो का विचार है कि अब कविता के लिए छन्द-बधन आवश्यक नही है, फिर भी यदि वे छन्द-बंधन को अस्वीकार करके अपनी कवितायें लिखते हैं, तो उनमें भी एक क्रम, गति, नियम एव बंधन सा दिखाई देता है। अत आज भले ही पुराने छन्दो का व्यवहार उचित न हो, किन्तु बिना छन्द, बिना गति और बिना किसी नियम के कविता कभी पनप नही सकती।[4] कविता मे छन्दो की आवश्यकता का विचार करते हुए कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा भी है कि "कविता तथा छन्द के बीच बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द मे लयमान होना है।"[5]

भारतीय साहित्य मे यहाँ दो प्रकार के छन्दो का प्रयोग हुआ है—एक वर्णिक तथा दूसरे मात्रिक। वर्णिक छन्द संस्कृत-साहित्य मे अधिक प्रयुक्त हुए हैं और मात्रिक छंद हिन्दी के कवियो ने अधिक अपनाये हैं। किन्तु प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के आग्रह से हिन्दी मे भी वर्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने तो अपना सम्पूर्ण 'प्रिय-प्रवास' वर्णिक छन्दो मे ही लिखा, किन्तु इन दोनो प्रकार के छन्दो के बारे में छायावादी कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत का मत है कि—"हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दो मे ही अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, वर्णिक छन्दो मे नहीं।"[6]

आचार्य शुक्ल भी छन्दो के पक्षपाती है। आपने लिखा भी है कि—"छन्द के बधन के सर्वथा त्याग मे हमे तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता (Communicability of Sound Impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पडता है। हाँ, नए-नए छन्दो के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं।"[7] प्रसादजी भी

1—Principles of Literay Criticism, p 143.
२—वही, पृ० १४३। ३—वही, पृ० १३१।
४—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ३६५।
५—पल्लव की भूमिका, पृ० २१। ६—वही, पृ० २३।
७—चिन्तामणि (भाग २), पृ० १५६।

छन्दोमयी रचना को अधिक प्रभावशाली कहते हैं। उनका मत तो यहाँ तक है कि—"प्रायः संक्षिप्त और प्रभावमयी तथा चिरस्थायिनी जितनी पद्यमय रचना होती है, उतनी गद्य-रचना नहीं। इसी स्थान में हम संगीत की भी योजना कर सकते हैं। सद्य प्रभावोत्पादक जैसा संगीत पद्यमय होता है, वैसी गद्य रचना नहीं।"[1] अतः प्रसादजी ने संगीत और कविता का समन्वय करके कविता में संगीतात्मकता की ओर आग्रह किया है, किन्तु संगीतात्मकता छन्द के बिना नहीं आती। अतः प्राच्य और पाश्चात्य सभी विद्वानों के मत से कविता को सुमधुर एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए छन्दों का प्रयोग आवश्यक होता है।

प्रसादजी ने 'चित्राधार', 'कानन-कुसुम', 'झरना', 'लहर' आदि कविता संग्रहों में संगृहीत कविताओं में प्राचीन-नवीन, तुकान्त-अतुकान्त, प्राच्य-पाश्चात्य, अनेक प्रकार के छन्दों को अपनाया है। किन्तु 'कामायनी' में प्रायः तुकान्त एवं अन्त्यानुप्रास युक्त छन्दों का ही प्रयोग किया है, जिनमें से कुछ छन्द तो पूर्णतया शास्त्रीय पद्धति पर चलते हैं, कुछ छन्दों में दो-दो छन्दों का मिश्रण करके नवीनता उत्पन्न करने का प्रयत्न हुआ है और कुछ छन्द कवि ने अपनी प्रतिभा के आधार पर निर्माण किए हैं। इस तरह सम्पूर्ण कामायनी तीन प्रकार के छन्दों में ही लिखी गई है, जिन्हें (१) शास्त्रीय छन्द, (२) मिश्रित छन्द, तथा (३) कवि-निर्मित छन्द कह सकते हैं।

(१) कामायनी में शास्त्रीय छन्द —कामायनी में प्रमुख रूप से ताटंक छन्द का प्रयोग हुआ है। इसमें १६ और १४ मात्राओं के विराम से ३० मात्रायें होती हैं और अन्त में मगण (SSS) होता है।[2] किन्तु इसी ताटंक छन्द में अन्त में यदि एक लघु अक्षर और बढ़ा दिया जाता है तो वह 'वीर' छन्द बन जाता है।[3] यद्यपि कामायनी का प्रथम 'चिन्ता' सर्ग ताटंक छन्द में ही लिखा गया है, तथापि उसमें कहीं-कहीं 'वीर' छन्द के भी दर्शन हो जाते हैं। इतना ही नहीं, 'चिन्ता' सर्ग का आरम्भ तो इसी 'वीर' छन्द से ही हुआ है। यथा :—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर	(१६ मात्रायें)
बैठ शिला की शीतल छाँह	(१५ मात्रायें)

आगे चलकर शुद्ध ताटंक का स्वरूप इस प्रकार मिलता है—

निकल रही थी मर्म वेदना	(१६ मात्रायें)
करुणा विकल कहानी सी	(१४ मात्रायें)

१—इन्दु, कला २, किरण १, श्रावण शुक्ल २, सं० १९६७, पृ० २०।
२—छंद प्रभाकर, पृ० ७०। ३—छंद-प्रभाकर, पृ० ७२।

यहाँ 'चिन्ता', 'आशा', 'स्वप्न' तथा 'निर्वेद' सर्ग इन्हीं ताटंक तथा वीर छन्दों में लिखे गये हैं। ये दोनों छन्द इतने मिलते-जुलते हैं कि साधारण पाठक इनके सूक्ष्म अन्तर को सहसा जान नहीं सकते।

कामायनी का तृतीय 'श्रद्धा' सर्ग शृङ्गार छन्द में लिखा गया है। शृङ्गार छन्द के प्रत्येक पद में १६ मात्रायें होती हैं और अन्त में गुरु लघु (ऽ।) का क्रम रहता है।[1] जैसे :—

सुना यह मनु ने मधु गुंजार (१६ मात्रायें)
मधुकरी का सा जब सानन्द (१६ मात्रायें)

किन्तु कहीं-कहीं इसमें अन्तिम गुरु लघु (ऽ।) के स्थान पर लघु गुरु (।ऽ) का भी प्रयोग किया गया है :—

तरल अकांक्षा से है भरा (१६ मात्रायें, अन्त में लघु गुरु)
सो रहा आशा का आह्लाद (१६ मात्रायें, अन्त में गुरु लघु)

'काम' तथा 'लज्जा' सर्ग में कवि ने पादाकुलक छन्द का प्रयोग किया है। इस छन्द में भी १६ मात्रायें होती हैं, किन्तु प्रत्येक पद में चार-चार मात्राओं के चार चौकल बनते हैं और अन्त में गुरु (ऽ) होता है।[2] जैसे :—

(१) मधुमय, वसन्त, जीवन, वन के,
वह अं, तरिक्ष, की लह, रों में।—(काम सर्ग)

(२) कोमल, किसलय, के अं, चल में।
नन्हीं, कलिका, ज्यों छिप, ती सी।—(लज्जा सर्ग)

कामायनी के 'वासना' सर्ग में रूपमाला छन्द का प्रयोग हुआ है, जिसमें चौदह और दस मात्राओं के विराम से २४ मात्रायें होती हैं और अन्त में गुरु लघु (ऽ।) होता है। इसे मदन छन्द भी कहा गया है।[3] जैसे :—

चल पड़े कब से हृदय दो, पथिक से श्रान्त,
यहाँ मिलने के लिए जो, भटकते थे भ्रान्त।
(चौदह मात्रायें) (दस मात्रायें)

'कर्म' सर्ग में सार छन्द का प्रयोग हुआ है। इसमें १६ और १२ की यति से कुल २८ मात्रायें होती हैं और अन्त में दो गुरु (ऽऽ) होते हैं। कहीं-कहीं अन्त में एक गुरु का भी प्रयोग होता है और कोई-कोई कवि तीन गुरु का भी प्रयोग करता है।[4] कर्म सर्ग में सार के तीनों रूप मिलते हैं :—

१—छन्द-प्रभाकर, पृ० ५१। २—वही, पृ० ४७-४८।
३—वही, पृ० ६२। ४—छन्द-प्रभाकर, पृ० ६६-६७।

अन्त में एक गुरु— आकुलि ने तब कहा, देखते (१६ मात्रायें)
नहीं साथ में उसके। (१२ ")
अन्त में दो गुरु— कर्म यज्ञ से जीवन के (१६ ")
सपनों का स्वर्ग मिलेगा। (१२ ")
अन्त में तीन गुरु— ठीक यही है सत्य यही है (१६ ")
उन्नति सुख की सीढ़ी। (१२ ")

'स्वप्न' सर्ग में ताटंक छन्द का ही प्रयोग मिलता है, जिसमें १६ और १४ की यति से ३० मात्रायें हैं और अन्त में एक गुरु (ऽ) आया है।[1] किन्तु इसमें प्रसादजी ने तनिक सा परिवर्तन तुक में किया है। इस छन्द के प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ चरण की तुक एक है, जबकि तृतीय चरण अतुकान्त है। जैसे —

सन्ध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती।
क्षितिज भाल का कुङ्कुम मिटता मलिन कालिमा के कर में,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती।

'संघर्ष' सर्ग में रोला छन्द का प्रयोग मिलता है, जिसमें ११ और १३ मात्रा के विराम से २४ मात्रायें होती हैं।[2] किन्तु इस रोला छन्द में ही यदि ११ वीं मात्रा लघु होती है तो उसे काव्य छन्द कहा जाता है।[3] कामायनी के 'संघर्ष' सर्ग में रोला छन्द की ११ वीं लघु मात्रा वाले ही चरण अधिक हैं। अतः यहाँ काव्य छन्द का व्यवहार अधिक दिखाई देता है। जैसे :—

श्रद्धा का था स्वप्न, किन्तु वह सत्य बना था।
इड़ा संकुचित उधर, प्रजा में क्षोभ घना था॥

'निर्वेद' सर्ग में ताटंक छन्द है, किन्तु इसमें 'चिन्ता' और 'आशा' सर्गों की भाँति पहले और दूसरे तथा तीसरे और चौथे चरणों में तुक का क्रम एक सा रखा गया है। अन्त में गुरु (ऽ) आया है और मगण (ऽऽऽ) का प्रयोग सर्वत्र नहीं मिलता। जैसे :—

वह सारस्वत नगर पड़ा था क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना,
जिसके ऊपर विगत कर्म का विष विषाद आवरण तना।
उल्काधारी प्रहरी से ग्रह तारा नभ में टहल रहे,
वसुधा पर यह होता क्या है अणु-परमाणु क्यों हैं मचल रहे?

१—छन्द प्रभाकर, पृ० ७० ।
२— वही, पृ० ६१ ।
३—वही, पृ० ६१ ।

इसी 'निर्वेद' सर्ग मे प्रसादजी ने एक गीत और लिखा है, जिसमें सरस छन्द का प्रयोग किया है, क्योंकि सरस छन्द में ७–७ की यति से १४ मात्रायें होती हैं। इस छन्द को मोहन भी कहते हैं। यहाँ अन्त मे लघु गुरु का कोई नियम नही होता, किन्तु अन्त मे प्रायः लघु ही आता है।[1] जैसे—

तुमुल कोला, हल कलह में, (७, ७ मात्रायें)
मैं हृदय की, वात रे मन। („ „ „)

(२) मिश्रित छन्द—प्रसाद जी ने जैसे ऊपर शास्त्रीय छन्दो के प्रयोग किये हैं, वैसे ही कुछ शास्त्र-सम्मत छन्दो के चरणों को मिलाकर नये छन्द भी बनाये हैं, जिन्हें मिश्रित छन्द कह सकते हैं। कामायनी के 'ईर्ष्या' सर्ग मे हमे सर्वप्रथम मिश्रित छन्द के दर्शन होते हैं। यहाँ पर प्रथम चरण मे १६ मात्राओं का पादाकुलक है[2] और दूसरे चरण मे १६ मात्राओं का पद्धरि छन्द है।[3] इस प्रकार दोनों के सयोग से यह ३२ मात्राओं का एक नया छन्द बनाया है। जैसे :—

पादाकुलक— पल भर की उस चचलता मे (१६ मात्रायें)
पद्धरि— खो दिया हृदय का स्वाधिकार (१६ मात्रायें)

ऐसे ही 'दर्शन' सर्ग में भी मिश्रित छन्द का प्रयोग मिलता है। यहाँ पर आठ चरणों का छन्द बनाया है, जिसमे से पहला, दूसरा, सातवाँ और आठवाँ चरण पद्धरि छन्द का है और तीसरा, चौथा, पाँचवा और छठा चरण पादाकुलक छन्द का है। पद्धरि तथा पादाकुलक के लक्षण ऊपर दिये जा चुके हैं। यह मिश्रित छन्द इस प्रकार है :—

पद्धरि— वह चन्द्र हीन थी एक रात,
जिसमे सोया था स्वच्छ प्रात
पादाकुलक— उजले उजले तारक झलमल
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल
धारा बह जाती बिम्ब अटल
खुलता था धीरे पवन पटल,
पद्धरि चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पाँत,
सुनती जैसे कुछ निजी बात।

(३) कवि-निर्मित-छन्द—मिश्रित छन्दों के अतिरिक्त कवि ने कामायनी में कुछ नये छन्दो का भी आविष्कार किया है जिन्हे देखकर उनकी नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा का पता चलता है। प्रसादजी ने 'इड़ा', 'रहस्य' और 'आनन्द'

१—छन्द-प्रभाकर, पृ० ४६। २—वही, पृ० ५१। ३—वही, पृ० ४८।

सर्ग मे स्व निर्मित छन्दो का प्रयोग किया है । 'इडा' सर्ग मे गेय पद रखे हैं, जो पद-शैली के समान ही रचे गय हैं, जिनकी प्रथम और अन्तिम पक्तियों में तो १६ मात्राओ का पद्धरि छन्द है तथा शेष सात पक्तियो मे ३२ मात्रायें हैं। इस प्रकार ६ पक्तिया का यह पद प्रसादजी न सारे 'इडा' सर्ग मे प्रयोग किया है । इसकी पहली, दूसरी, तीसरी, आठवी तथा नवी—इन पाँच पक्तियो की तुक एक है । शेष चौथी, पाँचवी एव छठी, सातवीं पक्तियो की तुकें मिलती हैं। इनम से छठी और सातवी पक्तियाँ मत्तसवैया स मिलती हैं और इनके अन्त म लघु गुरु (। ऽ) का प्रयोग है। शेष सभी पक्तियो के अन्त मे गुरु लघु (ऽ ।) आए है । जैस —

किस गहन गुहा स अति अधीर
झझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर
ले साथ विकल परमाणु-पुज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर
भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना मे विलीन
प्राणी कटुता को बाँट रहा जगती को करता अधिक दीन
निर्माण और प्रतिपद विनाश म दिखलाता अपनी क्षमता
सघर्ष कर रहा-सा जब से, सबसे विराग सब पर ममता
अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब यह छूट पडा है विषम तीर
किस लक्ष्य भेद को शून्य चीर ।

'रहस्य' सर्ग म भी कवि न ताटक छन्द के अन्त मे एक गुरु (ऽ) जोडकर नया छन्द बना लिया है, जिसमे १६-१६ की यति से ३२ मात्राओ का यह छन्द बन गया है । जैसे —

दोनो पथिक चले हैं कब से, ऊँचे-ऊँचे चढते-चढते ।
श्रद्धा आगे मनु पीछे थे, साहस उत्साही से बढते ॥

अन्तिम 'आनन्द' सर्ग मे भी कवि न स्व-निर्मित छन्द का व्यवहार किया है। यह छन्द कवि को अत्यधिक प्रिय है। 'आँसू' काव्य मे भी यही छन्द व्यवहृत हुआ है । इसके अन्तर्गत १४-१४ मात्राओं के विराम से २८ मात्रायें होती हैं । इसके प्रथम एव तृतीय चरण तो हाकलि छन्द के चरण से मिलते हैं, किन्तु द्वितीय एव चतुर्थ चरण कहीं मिलते हैं और कहीं नहीं मिलते । यह छन्द प्रसादजी न स्वय निर्माण किया है । इसका रूप इस प्रकार है —

चलता था धीरे धीरे
वह एक यात्रियो का दल,
सरिता के रम्य पुलिन मे,
गिरि पथ मे ले निज सम्बल ।

छन्दों में दोष—प्रसादजी ने कामायनी में अधिकांश छन्दों का प्रयोग बड़ी सावधानी के साथ किया है, किन्तु इतना होने पर भी यत्र-तत्र यति-भंग तथा छन्द-भंग सम्बन्धी दोष आ गये हैं। जैसे 'चिन्ता' सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियों में १६ और १४ से यति होनी चाहिए, परन्तु १४, १६ से यति करके ताटंक छन्द का दूषित प्रयोग किया है :—

वे अम्लान कुसुम सुरभित,
मणि रचित मनोहर मालायें।

'कर्म' सर्ग में सार छन्द का प्रयोग है, जिसमें १६ और १२ की यति से २८ मात्रा का चरण होना चाहिए, किन्तु निम्नलिखित पंक्तियों में प्रथम चरण तो ठीक है, जबकि दूसरे चरण में १४, १४ की यति से दूषित सार छन्द का प्रयोग हुआ है :—

श्रद्धा ! पुण्य-प्राप्य है मेरी, वह अनन्त अभिलाषा,
फिर इस निर्जन में खोजे, अब किसको मेरी आशा।

'कर्म' सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रथम चरण के अन्तर्गत १६ मात्राओं के स्थान पर १५ मात्रायें होने से एक मात्रा की कमी है। अतः यहाँ छन्द-भंग दोष है :—

सुख अपने सन्तोष के लिए, (१५ मात्रायें)
संग्रह मूल नहीं है। (१२ मात्रायें)

'ईर्ष्या' सर्ग में १६-१६ की यति से पादाकुलक तथा पद्धरि छन्दों का मिश्रित प्रयोग हुआ है, किन्तु निम्नलिखित पंक्तियों में यति-भङ्ग दोष है, क्योंकि प्रथम पादाकुलक में यहाँ १८ मात्राओं के उपरान्त यति है और दूसरे पद्धरि छन्द के चरण में केवल १४ मात्रायें ही रह गई हैं :—

मैं बैठी गाती हूँ तकली के (१८ मात्रायें)
प्रतिवर्तन में स्वर-विभोर। (१४ मात्रायें)

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी के छन्दों में दोष बहुत कम मिलते हैं। उनके अधिकांश छन्द स्वर और लय के अनुसार चलने के कारण भावों के अनुकूल ही प्रयुक्त हुए हैं तथा उनमें संगीतात्मकता सर्वत्र विद्यमान है। कामायनी की संगीतात्मकता का प्रभाव तो यहाँ तक देखा जाता है कि बहुत से पाठक एवं श्रोता कामायनी की प्रशंसा ही केवल इसलिए करते हैं कि उसमें सुमधुर छन्दों का व्यवहार हुआ है। भले ही उनकी समझ में अर्थ न आवे, किन्तु लयपूर्वक पढ़ने या सुनने पर उनके मुख से 'वाह-वाह' निकल पड़ती है। इतना ही नहीं कामायनी का ताटंक छन्द तो वास्तव में प्रभावशाली सिद्ध हुआ है; क्योंकि उसमें जो गतिशीलता एवं त्वरा-सहित भाव-प्रेषणीयता पायी जाती है, उसके फलस्वरूप वह सहृदयों को अनायास आनन्द-विभोर कर देता है।

इस तरह अभिव्यंजना की विविध विधाओं का सम्यक् अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि कामायनी में जैसी गहन अनुभूति दिखाई देती है, वैसी ही गहन अभिव्यक्ति भी है। कामायनी में आधुनिक युग की छायावादी शैली का उत्कृष्ट रूप मिलता है। लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, उपचार-वक्रता, औचित्य आदि ने काव्य को अत्यधिक रुचिरता प्रदान की है और इनके सहारे प्रसादजी ने स्वानुभूति की सुन्दर विवृत्ति की है। प्रसादजी ने छायावाद की जिन कलागत विशेषताओं का उल्लेख किया है और अन्य विद्वान् भी जिन विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं, उन सबका स्वरूप कामायनी में अत्यन्त उत्कृष्टता के साथ मिलता है। कामायनी के इसी अभिव्यंजना-कौशल को देखकर प० रामचन्द्र शुक्ल का भी यही मत है कि कामायनी में "अभिव्यंजना की अत्यन्त मनोरम पद्धति के दर्शन होते हैं।"[1] प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी इनके अभिव्यंजना-कौशल की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "प्रसाद की काव्य-शैली में नवीनता और उनके भाषा प्रयोगों में पर्याप्त व्यंजकता और काव्यानुरूपता है। प्रथम बार काव्योपयुक्त पदावली का प्रयोग कामायनी में किया गया है।"[2] इसके अतिरिक्त श्री प्रफुल्लचन्द्र पट्टनायक ने भी लिखा है कि "कामायनी का अभिव्यंग्य स्वयं एक पूर्ण मानवता है और अभिव्यंजना उस मानवता की कला। इसीलिए उसकी शैली में एक शाश्वत सौंदर्यमय व्यक्तित्व निहित है। खड़ीबोली में आधुनिक शैली का ऐसा कोई चिन्तनशील महाकाव्य नहीं था, जो हिन्दी-जगत की गर्व की वस्तु बन सकती, कामायनी ने उस अभाव को दूर किया।"[3] सारांश यह है कि प्रसादजी ने अभिव्यंजना की प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी प्रणालियों का प्रयोग करते हुए कामायनी के रूप में एक नूतन काव्य की सृष्टि की है, जिसमें सुमधुर भाषा, उपयुक्त अलंकार, नाद-सौंदर्य से परिपूर्ण छन्द आदि के सहारे मनोभावों के मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किये हैं और जो कलात्मकता एवं भावाभिव्यंजकता में आधुनिक युग के अन्तर्गत सर्वथा अद्वितीय हैं।

कामायनी में दोष—यद्यपि कला-पक्ष का विवेचन करते हुए स्थान-स्थान पर कामायनी में प्राप्त दोषों का उल्लेख किया जा चुका है, फिर भी उन शब्द-गत, अलंकारगत एवं शैलीगत दोषों के अतिरिक्त कुछ अन्य दोष भी मिलते हैं,

---

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६३।

२—आधुनिक साहित्य, पृ० ७६।

३—हंस, वर्ष १०, अंक २, नवम्बर १९३९ ई०, पृ० १६५, १८०।

जिनका विवेचन पहले नहीं हुआ है। सबसे पहली बात तो यह है कि कामायनी काव्य सर्वसाधारण के लिए क्लिष्ट है और उसकी क्लिष्टता का मूल कारण यह है कि प्रसादजी के अन्य ग्रन्थों तथा कुछ बाहरी शास्त्रों का अध्ययन किये बिना वह समझ में नहीं आता। दूसरे, इसमे संकेत अधिक है, किन्तु उनकी स्पष्टता के लिए कोई विशेष योजना नहीं दिखाई देती। प्रसादजी की इस साकेतिक प्रणाली के कारण ही यह महाकाव्य ध्वनि-प्रधान हो गया है। वैसे तो मम्मटाचार्य के मत से ध्वनिप्रधान काव्य सर्वश्रेष्ठ माना जाता है,[1] किन्तु सर्वसाधारण की दृष्टि मे ऐसा काव्य सदैव क्लिष्ट ही रहता है, क्योंकि उसके चित्रणो मे लक्षणा और व्यंजना का आधिक्य होने के कारण उनमे गूढ व्यंग्य होता है, जो सर्वसाधारण की समझ मे नहीं आता और केवल सहृदयो को ही आनन्द-विभोर कर सकता है।

इसके अतिरिक्त कथा मे अन्विति का अभाव है। बीच-बीच मे कितने ही ऐसे स्थल मिलते हैं, जहाँ कथासूत्र बार-बार टूट कर बडी दूर जाकर जुड़ता है। उदाहरण के लिए 'काम', वासना', लज्जा' आदि सर्ग लिए जा सकते हैं। इन सर्गों मे प्राय. भाव-निरूपण का ही प्राधान्य है तथा कथा की गतिशीलता का पूर्णतया अभाव है, जो खटकता है। साथ ही कथा का निर्माण भी ऐतिहासिक आधारों की अपेक्षा कल्पना पर अधिक निर्भर है, जिसमे प्रसादजी ने अपनी विचार-परम्परा का उद्घाटन तो अच्छी तरह किया है और प्रतीकात्मक चरित्रो का निरूपण भी युक्ति-संगत है, किन्तु ऐतिहासिक पात्रों के प्रतीकात्मक चरित्रो मे सामंजस्य ठीक नहीं दिखाई देता। जैसे, इतिहास प्रसिद्ध मानव मात्र के पूर्वज मनु का इतना पतित रूप दिखलाने के कारण मनु के प्रति साधारणीकरण की भावना को ठेस पहुँचती है। किन्तु उसकी आवश्यकता इसलिए हुई है कि मनु मन के प्रतीक हैं और मन मे ऐसी दुर्बलताएँ होना स्वाभाविक है। दूसरे, कामायनी के सभी पात्र बने-बनाये प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनके चरित्र के क्रमिक विकास को दिखाने की चेष्टा अधिक नहीं हुई है। इसमे कोई सन्देह नहीं, कि ये पात्र मानव-मनोवृत्तियों के साथ-साथ आधुनिक युग के स्त्री-पुरुषों का स्वरूप सामूहिक रूप से प्रस्तुत करते हैं, किन्तु एक महाकाव्य मे जिस तरह मानव-जीवन की विभिन्नताओं को चित्रित करने के लिए विभिन्न पात्रों का प्रयोग होता है, वैसा कामायनी मे नहीं है।

कामायनी मे कुछ बातें देश-काल तथा भारतीय संस्कृति के विरुद्ध भी दिखाई देती हैं। जैसे, मनु के हृदय मे श्रद्धा के गर्भस्थ शिशु के प्रति जो ईर्ष्या

१—काव्य-प्रकाश १।४

दिखलाई गयी है, उनमें फ्राइड के विचारों से समता भले ही हो, किन्तु वह भारतीय संस्कृति के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि भारतीय जीवन में तो माता और पिता—दोनों ही अपनी गर्भस्थ सन्तान के लिए एक प्रकार की आन्तरिक प्रसन्नता में मग्न रहते हैं और फिर प्रथम संतान के प्रति तो उनके हृदय में अत्यधिक उल्लास की भावना रहती है। दूसरे, आदियुग में जिस समय मनुष्य गुफा में रहता था तथा आखेट से ही अपना जीवन-यापन करता था, उस समय श्रद्धा नारी के मुख से अहिंसा, सत्य, निःस्वार्थ जीवन आदि के उपदेशात्मक वाक्यों का उच्चारण कराना भी देश-काल के विपरीत है। ऐसे ही मनु के विरुद्ध जन-क्रान्ति का उल्लेख भी ऐतिहासिक आधारों की अपेक्षा काल्पनिक अधिक है। इन विचारों पर निस्सन्देह आधुनिक युग की छाप है और अपने युग को चित्रित करने के लिए ही प्रसादजी ने प्राचीन कथानक में उक्त सभी बातों का समावेश किया है, फिर भी ये सभी बातें खटकती हैं।

कामायनी की कविता में कहीं-कहीं वर्णन सम्बन्धी दोष भी दिखाई देता है। जैसे, 'कर्म' सर्ग में जिस समय आकुलि-किलात नामक असुर पुरोहितों के कथोपकथन का वर्णन किया है, उस समय "क्यों किलात ! खाते-खाते तृण और कहाँ तक जीऊँ"[1] आदि वाक्य भी आकुलि ही कहता है और इन वाक्यों के उपरान्त आकुलि ने तब कहा, 'देखते नहीं साथ में उनके"[2] आदि वाक्यों में उत्तर भी आकुलि ही देता है। अतः प्रश्न और उत्तर दोनों आकुलि के नाम से ही कामायनी में उद्धृत किये गये हैं, जो दोषपूर्ण है। यदि प्रथम कथन में 'किलात' के स्थान पर 'आकुलि' करके यह पद इस तरह रखा जाय, "क्यों आकुलि ! खाते-खाते तृण और कहाँ तक जीऊँ।" तब इस दोष का निराकरण हो सकता है।

कामायनी की कविता में कहीं-कहीं शैथिल्य भी दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'संघर्ष' सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं :—

> मायाविनि ! बस पा ली तुमने ऐसे छुट्टी,
> लड़के जैसे खेलों में कर लेते छुट्टी।[3]

ऐसे ही 'दर्शन' सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी शिथिल कविता की द्योतक हैं :—

> श्रम भाग वर्ग बन गया जिन्हें,
> अपने बल का है गर्व उन्हें,

१—कामायनी, पृ० १११। २—वही, पृ० ११२। ३—वही, पृ० १६६।

नियमों को करनी सृष्टि जिन्हे,
विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें ।[1]

यहाँ 'जिन्हे', 'उन्हे' के कारण कविता मे शैथिल्य आगया है। किन्तु ऐसी कविता कामायनी मे अधिक नही है। बहुत खोजने पर ही दो-चार ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमे शैथिल्य दिखाई देता है, अन्यथा शेष समस्त कविता में प्रौढ अभिव्यक्ति ही विद्यमान है।

कामायनी मे कही-कही 'नियति', 'महाचिति', 'अभिराम उन्मीलन', 'स्पदन' 'समरसता','प्रेमकला','त्रिकोण','अनाहत नाद' आदि कितने ही पारिभाषिक शब्दो का भी प्रयोग हुआ है,[2] जो अप्रतीत्व-दोष के अन्तर्गत आता है। कामायनी मे कुछ ऐसे भी स्थल मिलते हैं, जहाँ व्याकरण-विरुद्ध शब्द मिलते है, जिनका उल्लेख 'शब्द-विधान' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है, वहाँ पर च्युत-संस्कृति दोष के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त 'गैल', 'बयार','डीह', 'सर्राटा' आदि ग्रामीण प्रयोगो मे ग्राम्यत्व-दोष तथा जिन स्थलो पर छन्दो के अन्तर्गत यति-भग दिखाई देता है, वहाँ पर हतवृत्त-दोष दिखाई देता है। इनका उल्लेख भी इसी प्रकरण मे *शब्द-विधान तथा छन्द-विधान के अन्तर्गत किया जा चुका है।* साथ ही कही-कही कामायनी मे स्वशब्द-वाच्यत्व-दोष भी मिलता है। जैसे— 'चेतनता चल जा, जडता मे आज शून्य मेरा भरदे', 'लगे कहने मनु सहित विषाद', 'व्रीडा है यह चचल कितनी', 'तारा बन कर यह बिखर रहा क्यो स्वप्नो का उन्माद अरे'[3] आदि पदो मे क्रमश. जडता, विषाद, व्रीडा, उन्माद आदि सचारी भावो का स्वशब्द मे कथन होने के कारण यहाँ स्वशब्द-वाच्यत्व-दोष है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इन सभी शास्त्रीय दोषो का कोई विशेष महत्व नही दिखाई देता।

कामायनी के कुछ स्थलो पर व्यर्थपदत्व तथा कथितपदत्व-दोष भी मिलते हैं, जैसे 'हाँ, कि गर्व-रथ मे तुरंग सा जितना जो चाहे जुतले।[4] पद मे 'कि' शब्द व्यर्थ है। अतः यहाँ व्यर्थ-पदत्व-दोष है और 'तो यह वृष क्यो तू यो ही वैसे ही चला रही है।'[5] इस पद मे 'यो ही' के रहते हुए भी 'वैसे ही' के पुन' प्रयोग से कथित-पदत्व-दोष आ गया है। इसके साथ ही कामायनी के 'जो कुछ

१—कामायनी, पृ० २३६।

२—देखिए, कामायनी, पृ० ३४, ५३, ५४, ७६, २६२ आदि।

३—देखिए, कामायनी क्रमश, पृ० ६, ५४, ६७ और ७०।

४—कामायनी, पृ० २५।   ५—वही, पृ० २८२।

हो मैं न सम्हालूँगा इस मधुर भार को जीवन के'[1], 'वह शीतलता है शान्ति-मयी जीवन के उष्ण विचारों की'[2] आदि पदों में अक्रमत्व-दोष भी दिखाई देता है, परन्तु अन्वय करने पर यह दोष मिट जाता है।

साराश यह है कि जब ससार की सभी कृतियाँ गुण दोषमय होती हैं, तब कामायनी काव्य में भी दोषों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी यहाँ गुणों की अपेक्षा दोषों की सख्या अत्यन्त अल्प है और उन दोषों से कामायनी के महाकाव्यत्व पर कोई विशेष आघात नहीं पहुँचता, अपितु कुछ दोष तो उसकी नूतन अभिव्यजना प्रणाली, नूतन मनोवृत्ति एव काव्य की नवीन कला के परिचायक हैं। जैसे, व्यग्य-प्रधान सांकेतिक वर्णन-प्रणाली, प्रतीकात्मक चरित्रों की ओर अधिक झुकाव, बीच-बीच में भावात्मक वर्णनों की अधिकता, आधुनिक युग की विचारधारा का चित्रण, काव्य में दार्शनिक पदावली का प्रयोग आदि न कामायनी के काव्यत्व में व्याघात पहुँचाने की अपेक्षा उसकी सौन्दर्य-वृद्धि में ही सहायता प्रदान की है। अत कतिपय दोषों के रहते हुए भी कामायनी महाकाव्य अपने गुणों की अधिकता से हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

युगीन और युगयुगीन साहित्य की काव्य-भूमि में कामायनी का मूल्यांकन

युगीन साहित्य— युगीन साहित्य से हमारा तात्पर्य किसी युग विशेष के साहित्य से है। इस साहित्य की कोटि में ऐसे ग्रन्थ-रत्न आते हैं, जिनका प्रभाव व्यापक न होकर देश-काल की सीमाओं में बद्ध रहता है और भावों एव विचारों से अपने-अपने युग के मानवों को प्रभावित करके केवल उसी युग में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करते हैं। ऐसे साहित्य का प्रभाव चिरस्थायी नहीं होता, क्योंकि वह एकदेशीय होकर कुछ काल तक ही अपने विचारों से जनता को प्रभावित करता है। ऐसा साहित्य प्रत्येक युग में प्रत्येक भाषा के अन्तर्गत असित सख्या में रचा जाता है। अत प्रत्येक भाषा के प्रत्येक युग के साहित्य की गणना करना असम्भव है। किन्तु हिन्दी भाषा के जिस युग में 'कामायनी' महाकाव्य की रचना हुई है, वह 'आधुनिक' युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में 'कामायनी' से पूर्व रचे हुए तीन महाकाव्य मिलते हैं, जो 'प्रियप्रवास', 'कृष्णायन' तथा 'साकेत' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

'प्रियप्रवास' काव्य के रचयिता प० अयोध्यासिंह उपाध्याय हैं, जिन्होंने

१—कामायनी, पृ० ६६। २—वही, पृ० ७१।

शुद्ध खड़ी-बोली मे संस्कृत के अतुकान्त वर्णिक वृत्तों में श्रीकृष्ण के इतिवृत्त को लेकर इस काव्य का निर्माण किया है। इसमे आधुनिक युग की विचार-धारा के अनुसार श्रीकृष्ण जाति के लोकप्रिय नेता तथा राधा लोक-सेविका के रूप में चित्रित की गई है। इस ग्रन्थ मे करुण-विप्रलम्भ श्रृंगार तथा वात्सल्य के वियोग पक्ष का प्राधान्य है। यद्यपि इसमे महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षण मिल जाते हैं, प्रकृति-चित्रण भी सजीव और सुन्दर है, भाव-पक्ष भी पर्याप्त पुष्ट है, वर्णन-कौशल भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है, फिर भी 'कामायनी' जैसी न तो इसमें गहन अनुभूति है और न भावो की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति। बाह्य-प्रकृति और मानव-अन्तःप्रकृति का सामजस्य भी यहाँ ऐसा नही मिलता जैसा कि 'कामायनी' मे स्थान-स्थान पर मिलता है। वर्णिक वृत्तो में भावो को सीमित रूप मे प्रगट करने के कारण यहाँ पर 'कामायनी' के तुल्य भावो का स्वच्छन्द प्रवाह भी नही है। इन सभी कारणो से 'प्रियप्रवास' काव्य अपने युग की महान् कृति होते हुए भी तुलना मे 'कामायनी' के समकक्ष नही ठहरता।

दूसरा 'कृष्णायन' महाकाव्य अवधी भाषा में श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र द्वारा लिखा गया है। इसमें कवि ने श्रीकृष्ण के समग्र जीवन की झाँकी प्रस्तुत की है। सारा काव्य दोहा, चौपाई और सोरठा छन्दों में लिखा गया है। रचना-शैली अत्यन्त सरल और प्राचीन है तथा अवधी भाषा में संस्कृत-तत्समता की ओर अधिक झुकाव रहा है। इसमें 'कामायनी' जैसी काव्यगत उत्कृष्टता, भावों के सुन्दर और सजीव वर्णन, युग की अभिव्यक्ति आदि के दर्शन नही होते। अतः यह काव्य भी 'कामायनी' की अपेक्षा उत्कृष्ट नही है।

तीसरा प्रसिद्ध महाकाव्य 'साकेत' है। इसके रचयिता राष्ट्रकवि मैथिली-शरण गुप्त हैं। इसमे रामचरित के आधार पर उर्मिला-विषयक उदासीनता को दूर करने का प्रयत्न हुआ है। अत. यहाँ राम की अपेक्षा उर्मिला एवं लक्ष्मण के चरित्र को उभारा अवश्य है; किन्तु राम के चरित्र को गौण नहीं बनाया है। इसमें महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षण मिलते हैं, युग की अभिव्यक्ति भी पर्याप्त मात्रा मे हुई है, विरह-वर्णन भी सुन्दर है और राम-कथा की कुछ कमियों को दूर करने का भी प्रयत्न हुआ है, परन्तु इतना होने पर भी इस महाकाव्य मे कामायनी के कवि जैसी न तो गहन अनुभूति के दर्शन होते हैं और न रस और वस्तु का संतुलन ही दिखाई देता है। 'कामायनी' मे जिस तरह भावो के वर्णन मे लीन हो जाने के कारण कथा विशृङ्खलित हो जाती है, उसी भाँति 'साकेत' के विरह-वर्णन से भी घटना-प्रवाह कुण्ठित हो गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि कामायनी का 'लज्जा' सर्ग जैसे कामायनी के

कथा-प्रवाह में बाधक हुआ है, वैसे ही 'साकेत' का नवम सर्ग भी है। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि 'साकेत' के नवम सर्ग की अपेक्षा कामायनी का 'लज्जा' सर्ग कहीं अधिक सुन्दर, सजीव एवं मार्मिक है। इसी तरह 'साकेत' के अन्त प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति के चित्रणों में भी उतनी भाव-प्रवणता, सूक्ष्म निरीक्षण, गतिशीलता एवं व्यापारों की विवृति आदि के दर्शन नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त 'साकेत' में न तो 'कामायनी' के समान मानव-मनोभावों की बारीकियों का निरूपण हुआ है, न वैसा अन्तर्द्वन्द्व का सजीव वर्णन मिलता है, न वैसा अन्तःप्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का सफल सामंजस्य दिखाई देता है और न 'कामायनी' की भाँति मानव-जीवन के उत्थान-पतन का ही उद्घाटन हुआ है। वैसे 'साकेत' में युग के संघर्षों, विचारों, अनुभूतियों आदि का सुन्दर वर्णन मिलता है, परन्तु उन वर्णनों में 'कामायनी' जैसी लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, उपचार-वक्रता आदि से परिपुष्ट उत्कृष्ट रचना-शैली के दर्शन नहीं होते। अतः 'साकेत' युग की महान् कृति होते हुए भी तुलनात्मक दृष्टि से 'कामायनी' की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं है।

उक्त तीन महाकाव्यों के अतिरिक्त आधुनिक युग में 'कामायनी' के उपरान्त 'नूरजहाँ', 'हल्दीघाटी', 'साकेत-सन्त', 'कुरुक्षेत्र', 'कैकेयी', 'आर्यावर्त' आदि आख्यान काव्य और लिखे गये हैं। किन्तु इन सभी काव्यों में न तो भारतीय संस्कृति के नव-निर्माण का वैसा स्वरूप दिखाई देता है और न कामायनी जैसी नव-चेतना, परिपक्व अनुभूति, दार्शनिकता, उत्कृष्ट अभिव्यक्ति आदि के ही दर्शन होते हैं। अतः श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'ये सभी काव्य अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं, पर इनमें से किसी में भी 'कामायनी' का सा सर्वांगपूर्ण जीवन-दर्शन, नारी और पुरुष का सम्पूर्ण चित्रण और नई परिस्थिति का व्यापक निरूपण नहीं दिखाई देता। नए ज्ञान का इतना विस्तृत उपयोग भी कदाचित् किसी नवीन काव्य में नहीं किया गया है।'[1]

निष्कर्ष यह है कि आधुनिक युग के महाकाव्यों अथवा श्रेष्ठ आख्यान काव्यों में 'कामायनी' का स्थान सर्वोपरि है और अपनी इसी महानता के कारण यह महाकाव्य युगीन साहित्य की काव्य-भूमि में कुछ समुन्नत प्रतीत होता है।

युगयुगीन साहित्य—युगयुगीन साहित्य से हमारा तात्पर्य ऐसी रचना से है, जो किसी देश-काल की सीमा में आबद्ध न होकर देश-देशान्तर एवं युग-युगान्तर की वस्तु कहलाती है। प्रायः युगयुगीन साहित्य की कोटि में वे ग्रन्थ-रत्न आते हैं, जिनका प्रभाव व्यापक होना है और जिनमें वर्णित भाव-राशि

१—आधुनिक काव्य, भूमिका, पृ० ३६-३७।

मानव-मात्र के हृदय को स्पर्श करके किसी एक प्रदेश या एक देश अथवा एक राष्ट्र को ही नही, अपितु समस्त विश्व को आन्दोलित कर देती है। इतना ही नही, जिनमे सचित भावों एव विचारो की एक युग में ही नही, वरन् युग-युगों तक मानव मात्र आदर की दृष्टि से देखते हैं और उन्हे अपनाने में अत्यन्त गौरव का अनुभव करते हैं। ऐसे ग्रन्थ-रत्न शाश्वत होते हैं और इन ग्रन्थो के रचयिता महाकवि भी अजर-अमर होकर अपनी यशःकाया द्वारा सदैव जीवित रहते हैं। ऐसे युग-युगीन साहित्य की कोटि मे संस्कृत भाषा के 'रामायण,' 'महाभारत','रघुवश', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' आदि, हिन्दी भाषा का 'रामचरित-मानस', ग्रीक भाषा के 'इलियड' और 'ओडेसी,' लैटिन भाषा के 'एनियड' और 'डिवाइन कामेडी,' जर्मनी भाषा का 'फॉस्ट', अंग्रेजी भाषा के 'पैरेडाइज लॉस्ट,' 'पैरेडाइज रिगेन्ड,' 'हैमलेट' आदि आते हैं। इन ग्रन्थ-रत्नों का आज विश्व-व्यापी महत्व दिखाई देता है और सभी मानव इनके भावो एवं विचारो का समुचित आदर करते हैं।

अब युगयुगीन साहित्य की काव्य-भूमि में कामायनी का मूल्यांकन करने के लिए देखना यह है कि युगयुगीन साहित्य की ऐसी कौन-कौनसी विशेषताओं की ओर विद्वानो ने सकेत किए हैं, जिनके कारण सम्पूर्ण जगत इन ग्रन्थ-रत्नो को महान् कहता है और जिनसे प्रेरणा पाकर आज भी विश्व-मानव उनके विचारों को अपनाने के लिए लालायित रहता है।

युगयुगीन साहित्य की विशेषताएं—पाश्चात्य विद्वान् अरस्तू ने युगयुगीन काव्य की विशेषता का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि जिस काव्य मे मानव-जीवन के विश्वव्यापी तत्त्वो का उद्घाटन होता है, उसे हम युगयुगीन काव्य कह सकते हैं।[1] आई० ए० रिचर्ड्स का भी यही मत है कि जिस साहित्य में विशेष रूप से शाश्वत सत्यों की अभिव्यक्ति होती है अथवा जिसमे मानव-मनोभावों की एकरूपता का दिग्दर्शन कराया जाता है वह साहित्य अमर होता है।[2] किन्तु विश्वव्यापी तत्त्व एव शाश्वत सत्य क्या हैं? आदिकाल से मानव-हृदय एक-सा चला आरहा है और सुख-दुःख, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद आदि लोक-सामान्य भावो से आन्दोलित होता रहा है। अतः शाश्वत सत्यों के अन्तर्गत ये ही लोक-सामान्य भाव आते हैं। इसी कारण आचार्य शुक्ल के विचार मे वही साहित्य शाश्वत है, जिसमें 'भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता के सामंजस्य' के साथ-साथ

1—Aristotle's Theory of Poetry of Fine Art, p. 150.

2—Principles of Literary Criticism, p. 221.

लोक-सामान्य भावों का उद्घाटन होता है।[1] कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी यही लिखा है कि "ग्रीस में होमर का काव्य और भारतवर्ष में रामायण-महाभारत ऐसे ही ग्रन्थ हैं, जिनमें मानव-जीवन के समस्त बिखरे हुए भावों के एकत्र करने की चेष्टा की गई है।"[2] अतः युगयुगीन काव्य की प्रथम विशेषता ही यह सिद्ध होती है कि उसमें मानव-जीवन के शाश्वत भावों अथवा लोक-सामान्य भावों का चित्रण करते हुए मानव-जीवन की समग्रता एवं पूर्णता का चित्र सफलता के साथ अंकित होना चाहिए।

आचार्य शुक्ल का विचार है कि महाकवियों के काव्यों में सत् और असत्, सात्विकी और तामसी प्रवृत्ति अथवा मंगल और अमंगल में द्वन्द्व दिखाया जाता है और अन्त में सत् प्रवृत्ति या मंगल की विजय दिखाई जाती है। ऐसे ग्रन्थों में शिक्षावाद (Didacticism) या अस्वाभाविकता की गंध समझ कर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जायेंगे।[3] इस द्वन्द्व या संघर्ष का स्वरूप प्रायः विश्व भर के महाकाव्यों में मिलता है। अतः सत् और असत् या मंगल और अमंगल का निरन्तर संघर्ष भी युगयुगीन काव्य की एक विशेषता है।

सम्पूर्ण ग्रीक साहित्य का विश्लेषण करते हुए बूचर ने प्राचीन ग्रीक साहित्य को इसलिए महान् कहा है कि उसमें आदर्श एवं यथार्थ का समन्वित रूप मिलता है। उसकी दृष्टि में आदर्श और यथार्थ—दोनों एक ही भूमि से उत्पन्न होते हैं। यदि एक विकसित पुष्प है तो दूसरा उसका बीज।[4] अतः आदर्श एवं यथार्थ का समन्वित स्वरूप भी युगयुगीन काव्य की एक विशेषता ठहरता है।

इसके अतिरिक्त बूचर का मत है कि वही साहित्य महान् एवं विश्व-विश्रुत कहला सकता है जिसमें नारी-जीवन के महत्व का प्रतिपादन होता है। उसकी दृष्टि में इसी आधार पर आज प्राचीन ग्रीक साहित्य में महानता एवं सार्वभौमिकता के दर्शन होते हैं कि उसमें नारी-जीवन का उदात्त एवं भव्य रूप अंकित है।[5] यही बात भारतीय साहित्य पर भी लागू होती है, क्योंकि यहाँ पर भी

१—चिन्तामणि (भाग १), पृ० २६५ तथा

जायसी ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० २११।

२—साहित्य, पृ० १०७। ३—चिन्तामणि (भाग १), पृ० २८७।

4—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p 407.

५—वही, पृ० ४००।

रामायण मे सती सीता, महाभारत मे पतिपरायणा द्रौपदी, अभिज्ञान शाकुंतल मे वनवासिनी शकुन्तला आदि के रूप मे नारी के भव्य एव उदात्त चरित्र के दर्शन होते हैं। अत अमर साहित्य की एक यह भी विशेषता सिद्ध होती है कि उसमे नारी-जीवन की उज्ज्वल, उदात्त एव दिव्य झाँकी अङ्कित होनी चाहिए

आचार्य श्यामसुन्दरदास का मत है कि 'किसी प्रतिभाशाली ग्रन्थकार की स्थिति अपने काल और अपने ही व्यक्तित्व से सीमा-बद्ध नही होती। वह उनसे भी आगे बढ जाती है, यहाँ तक कि वह पीछे की भी खबर लेती है। उसका सम्बन्ध भूत और भविष्य दोनो से होता है।'[1] बूचर का भी यही कथन है कि ग्रीक काव्य एव कला मे केवल वर्त्तमान के ही दर्शन नही होते, अपितु उसमे भूत एव भविष्यकाल भी अनुस्यूत है।[2] अत. युगयुगीन काव्य की एक यह विशेषता भी दिखाई देती है कि उसमें वर्णित घटना या कथायें यद्यपि भूतकाल से सम्बन्धित होती हैं, फिर भी वे वर्तमान पर भी लागू होती हैं, और भविष्य की ओर भी सकेत करती हैं। साथ ही सत्य का भी यही आदर्श हमारे यहाँ स्वीकार किया गया है कि जो त्रिकाल सत्य हो, वही वास्तविक सत्य माना जाता है। अतः शाश्वत साहित्य मे त्रिकाल सत्य का उद्घाटन होता है।

आचार्य शुक्ल का मत है कि मानव की अन्त प्रकृति मे विद्यमान भावों एव प्रवृत्तियो तथा विश्व मे व्याप्त बाह्य प्रकृति के रूपो या व्यापारो के अतर्गत घोर जटिलताएँ दिखाई देती हैं, किन्तु 'इन्ही-परस्पर सम्बद्ध विविध वृत्तियो का सामजस्य काव्य का चरम उत्कर्ष और सबमे बड़ा मूल्य है। सामंजस्य काव्य और जीवन दोनो की सफलता का मूलमन्त्र है।'[3] अत. एक सच्ची कविता 'बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्त प्रकृति का सामजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।'[4] महादेवी जी का भी यही विचार है कि 'जिस काव्य मे अन्त प्रकृति और बाह्य प्रकृति का सफल सामजस्य दिखाया जाता है वह महान् होता है।'[5] अत' शाश्वत काव्य की एक पहचान यह भी है कि उसमे बाह्य प्रकृति के साथ-साथ मानव की अन्त-प्रकृति के सफल सामंजस्य का चित्रण होना चाहिए।

वाल्टर पेटर के मतानुसार युगयुगीन काव्य की एक विशेषता यह भी है कि

१—साहित्यालोचन, पृ० ४६।

2—*Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art.* p. 406.

३—चिन्तामणि (भाग २), पृ० ६०–६१।

४—चिन्तामणि भाग १, पृ० १६६।

५—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ४८, २३४।

उसमे पारस्परिक सहानुभूति, सामाजिक समता, मानव-कल्याण, ईश्वर की महत्ता, विश्व-बंधुत्व की भावना आदि का निरूपण होता है। महाकवि दाँते की 'डिवाइन कामेडी' को श्री वाल्टर पेटर ने उक्त आधारों पर ही श्रेष्ठ काव्य बतलाया है।[1] भारतीय ग्रंथो मे से 'रामायण', 'महाभारत', 'रामचरितमानस' आदि ग्रंथो मे भी उक्त विचार बडी सजीवता के साथ मिलते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास का विचार है कि उत्तम काव्य वही है जिससे 'सुरसरि सम सबकर हित होई'—अर्थात् गगाजी के समान सभी का हित हो।[2] डा० श्यामसुन्दरदास भी काव्य मे शिवत्व या लोकहित को उसकी श्रेष्ठता का परिचायक मानते हैं।[3] आचार्य शुक्ल भी उसी काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं जिसमे 'लोक की पीडा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति मे परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमगल और लोकानुरजन के रूप म अपना प्रकाश करती है।'[4] प्रसादजी भी काव्य की श्रेष्ठता के लिए उसमे लोकहित एव लोकानुरजन की भावना का होना आवश्यक समझते हैं। उन्होने लिखा भी है, कि 'ऐसे अच्छे नाटक या काव्य लिखने वाले को ही महाकवि कह सकते हैं, जिसके ग्रन्थो से पाठको का अच्छी शिक्षा के साथ मनोरजन होता चले और चित्त की कोमल वृत्तियाँ भी सुन्दर होकर प्रस्फुटित होने लगें।''[5] अत लोकहित एव लोकानुरजन भी युगयुगीन काव्य की विशेषता सिद्ध होते हैं।

आचार्य शुक्ल का मत है कि एक शाश्वत काव्य मे 'कई प्रकार के सौंदर्यो का मेल आप-से आप हो जाया करता है।' साधारणतया भाव-सौंदर्य और कर्म-सौन्दर्य उसमें प्रमुख रूप से होते हैं।[6] पाश्चात्य विद्वान् तो काव्य के इसी पक्ष को जहाँ अधिक विकसित रूप म देखते हैं, उसी काव्य की गणना स्थायी साहित्य के अतर्गत करते हैं। अत युगयुगीन काव्य की एक विशेषता यह भी है कि उसमे इन्द्रिय-जन्य भौतिक सौन्दर्य और अतीन्द्रिय कर्म-सौन्दर्य का भी चित्रण होना है।

एबरक्रोम्बी का मत है कि एक शाश्वत काव्य मे उदात्त कल्पना, गहन अनुभूति एव अनुभवो की प्रौढता तथा परिपक्वता के दर्शन होते हैं। उन्होंने

1—Appreciations, pp 34 35

२—रामचरितमानस, बालकाण्ड १३।८ ३—साहित्यालोचन, पृ० ७४।

४—चिन्तामणि (भाग १), पृ० २९१।

५—इन्दु, कला, ३, किरण ७, एप्रिल सन् १९२२, पृ० ४०३।

६—चिन्तामणि (भाग १), पृ० २६७–२६८।

मिल्टन के काव्य को इसीलिए महान् कहा है कि उसमें उक्त सभी बातें विद्यमान हैं।[1]

ध्वन्यालोककार का मत है कि एक श्रेष्ठ प्रबंध-काव्य की रचना में इतिवृत्त और रस का उचित संतुलन होता है।[2] अरस्तू ने भी कलात्मक विचारों एवं कलात्मक रचना-शैली के कारण ही होमर की बड़ी प्रशंसा की है और उसे आदर्श कवि बतलाया है।[3] आई० ए० रिचर्ड्स ने भी एक महान् रचना के अंतर्गत भाषा-शैली सम्बन्धी शाश्वत तत्वों का रहना आवश्यक बतलाया है।[4] श्री रामदहिन मिश्र का भी यही मत है कि काव्य-रचना में स्पष्टता, एकता, ओजस्विता, धारावाहिकता, लालित्य, सुन्दरता और व्यंजना हो तो वह रचना उत्तम कोटि की समझी जाती है।[5] अतः इतिवृत्त और रस के उचित संतुलन के साथ उसमें उत्कृष्ट भाषा एवं रचना-शैली का होना भी युगयुगीन काव्य की एक विशेषता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्य-शास्त्रों का मत है कि एक युगयुगीन काव्य किसी महान् उद्देश्य से लिखा जाता है और वह जीवन के चारों फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से युक्त होता है।[6] पाश्चात्य विद्वान् एबरक्रोम्बी भी एक अमर काव्य में किसी महान् उद्देश्य का होना अनिवार्य बतलाते हैं।[7] डा० श्यामसुन्दरदास ने भी शाश्वत साहित्य के महान् उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि उसका 'सबसे बड़ा उपयोग नैतिक उन्नति और सामाजिक कल्याण' में है।[8] अतः किसी महान् उद्देश्य का होना भी किसी शाश्वत साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है।

इस प्रकार प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर युगयुगीन काव्यों की निम्नलिखित विशेषताएँ ज्ञात होती हैं :—

१. मानव-जीवन के शाश्वत सत्यों का उद्घाटन,
२. सत्-असत् प्रवृत्तियों के संघर्ष का चित्रण,
३. आदर्श और यथार्थ के समन्वित स्वरूप का निरूपण,

1—The Idea of Great Poetry, pp. 12-13.
२—हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २५६–२५७।
3—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p. 91.
4—*Principles of Literary Criticism*, p. 222.
५—काव्यदर्पण, पृ० ३५३। ६—काव्यादर्श, १।१५
7—The Epic, by Abercrombe. pp. 64-65.
८—साहित्यालोचन, पृ० ११२।

४ नारी-जीवन की महत्ता का प्रतिपादन,
५ भूतकाल के साथ वर्तमान एव भविष्य का भी समावेश,
६ अन्त प्रकृति और बाह्य प्रकृति का सुन्दर सामजस्य,
७. पारस्परिक सहानुभूति, समता, विश्व-बधुत्व आदि का वर्णन,
८ लोकहित एव लोकानुरजन की प्रवृत्ति,
९ भाव, रूप और कर्म-सम्बन्धी सौन्दर्य का दिग्दर्शन,
१० उदात्त कल्पना, गहन अनुभूति एव अनुभावो की प्रौढता का उल्लेख,
११ रसानुकूल भव्य एव उत्कृष्ट शैली का प्रयोग, और
१२ किसी महान् उद्देश्य का निरूपण ।

कामायनी—एक युगयुगीन काव्य

१ मानव-जीवन के शाश्वत सत्य—'कामायनी' मे मानव-मनोभावों के चित्रो का ही सुन्दर सकलन मिलता है। यहाँ पर मानव-मात्र के चिन्ता, आशा, वासना, लज्जा, ईर्ष्या, क्रोध, निर्वेद, आनन्द आदि ऐसे मनोभावों का निरूपण हुआ है, जो एकदेशीय न होकर विश्वव्यापी हैं। कामायनी के सयोग एव वियोग सम्बन्धी वर्णनों मे हमे मानव-मात्र की भावनाओ का साक्षात्कार होता है। सयोग के अवसर पर विश्व-भर की नारी मे ऐसी ही चेष्टायें देखी जा सकती हैं, जिनका वर्णन 'वासना' सर्ग मे इस तरह मिलता है :—

गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका नोंक,
भ्रू-लता थी कान तक चढती रही वे रोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्गद् बोल।[१]

इतना ही नही, वियोग की दशा मे व्यथा-पीडित कान्तिहीन नारी का जैसा चित्रण कामायनी के 'स्वप्न' सर्ग मे मिलता है, वैसी ही दशा विश्व की किसी भी विरह-विधुरा नारी की देखी जा सकती है। जैसे :—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पडी न वह मकरन्द रहा,
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमे है रग कहाँ!
वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी कहाँ,
वह सध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।[२]

वैसे तो ससार मे मानव-मनोभावों की कोई सीमा नहीं है और गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'भाव भेद रस भेद अपारा'[३] कहकर भावो का निस्सीम होना

१—कामायनी, पृ० ६४। २—वही, पृ० १७५।
३—रामचरितमानस, बालकाण्ड ८।१०

बतलाया है। अत कोई भी महाकवि मानव-मात्र के समस्त भावो का निरूपण नही कर सकता, फिर भी सभी महाकाव्य यथासम्भव अधिकाश भावों को एकत्रित करके अपने-अपने महाकाव्यो मे उन्हें स्थान देते हैं। कामायनी मे भी हमे मानव-मात्र के अनेकानेक भावो के सजीव चित्र मिलते हैं। 'चिन्ता' सर्ग के चिन्ता, शोक, स्मृति आदि, 'आशा' सर्ग के आशा, उद्वेग, औत्सुक्य आदि, 'श्रद्धा' सर्ग के दैन्य, विषाद, मोह आदि, 'काम' सर्ग के वितर्क, जडता, निद्रा आदि; 'वासना' सर्ग के हर्ष, उल्लास, रति आदि, ऐसे ही मनोभाव हैं, जिनका सम्बन्ध मानव-मात्र से है। ऐसे ही भावचित्र अन्य सर्गों मे भी भरे पडे हैं। कही-कही तो इन मनोभावो को मूर्त्त रूप प्रदान करके उनकी नराकार उद्भावना भी की गई है, जिससे वे भाव अत्यन्त सजीव और हृदयग्राही होगये हैं। कामायनी का 'लज्जा' सर्ग इसका ज्वलत प्रमाण है। आचार्य शुक्ल ने भी प्रसादजी की ऐसी नराकार उद्भावनाओ की भूरि-भूरि प्रशसा की है।[1] रस की दृष्टि से भी विचार करें तो पता चलेगा कि जिस काव्य मे मानव-मात्र की भावनाओ का समावेश होता है उन्ही के साथ साधारणीकरण भी होता है। कामायनी के सभी भाव-वर्णनों के साथ हृदय का साधारणीकरण होता है। अत निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि कामायनी मे मानव-जीवन के चिरन्तन सत्यों का उद्घाटन हुआ है।

२. सत्-असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष—कामायनी मे मूलतः सत् और असत् अथवा सात्त्विकी एव तामसी दोनों प्रवृत्तियो के संघर्ष का ही चित्र अकित किया गया है। यहां पर श्रद्धा सत्प्रवृत्ति का नेतृत्व करने वाली है और असुर-पुरोहित आकुलि और किलात असत्प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं। श्रद्धा अपनी सात्त्विकी प्रवृत्ति के कारण मनु को अहिंसापूर्ण, सरल और शान्तिमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है, किन्तु असुर-पुरोहित मनु को हिंसा-कर्म, सुरापान आदि की प्रेरणा देकर विलासी, अहकारी और असन्तुष्ट बना देते हैं। यह संघर्ष कामायनी के 'संघर्ष' सर्ग मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। वहाँ जिस समय असत्प्रवृत्तियो के प्रतिनिधि आकुलि-किलात का वध होजाता है, उस समय यह संघर्ष समाप्त होता है और इनके चंगुल में फँसे हुए मनु पुन सत्प्रवृत्तियो की प्रतिनिधि श्रद्धा की शरण में आकर शान्ति एवं आनन्द लाभ करते हैं। इस तरह सत्-असत् प्रवृत्तियों के संघर्ष का रूप ही कामायनी मे दिखलाया गया है और अन्त मे असत् प्रवृत्तियो पर सत्प्रवृत्ति की विजय दिखाकर अन्य युगयुगीन काव्यों का सा आदर्श भी उपस्थित किया गया है। इतना अवश्य है कि

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६३।

अन्य महाकाव्यों की भाँति यहाँ किसी महान् युद्ध का वर्णन नहीं मिलता, फिर भी कामायनी के उक्त संघर्ष में श्रद्धा के पशु का बलिदान करने वाले एवं मनु को पथ भ्रष्ट करने वाले असुर-पुरोहितों का वध कराकर अन्त में श्रद्धा की जो विजय दिखलाई गई है, उसमें मानव-इतिहास के उस चिरन्तन संघर्ष की ओर संकेत मिलता है जिसका आभास देव मानव, राम-रावण, पांडव-कौरव, पेरिस-मनीलास आदि के युद्धों में मिलता है।

३ आदर्श और यथार्थ का समन्वय—कामायनी में चरित्र-नायक मनु के जीवन में पहले जिन मानवीय दुर्बलताओं, अभावों, अतृप्त वासनाओं आदि को दिखाने की चेष्टा की गई है वे सभी बातें यथार्थवाद की भूमिका पर स्थित हैं। किन्तु ऐसे पथभ्रष्ट एवं पतित व्यक्ति को भी मुमूर्ष अवस्था में सचेत और सावधान कराकर श्रद्धा के प्रयत्न द्वारा अन्त में जो अत्यन्त सात्विक, शुद्ध, उदार जनसेवी, मानवता का प्रेमी, विश्व-बन्धुत्व का अनुयायी आदि चित्रित किया गया है, वहाँ पर आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। इस तरह सारे काव्य में मानव-जीवन के यथार्थ रूप को अंकित करके अन्त में उसका पर्यवसान आदर्श में किया गया है। इसी कारण अन्य युगयुगीन काव्यों की भाँति यहाँ भी आदर्श और यथार्थ का सफल समन्वय दिखाई देता है।

४ नारी जीवन की महत्ता—कामायनी के अन्तर्गत श्रद्धा और इडा के रूप में दो प्रकार की नारियों के चित्र अंकित किए गए हैं, इनमें से श्रद्धा भारतीय नारी के उच्चादर्श को प्रस्तुत करती है और इडा यांत्रिक सभ्यता में निष्णात वैज्ञानिक युग की एक तर्कशीला नारी का प्रतिनिधित्व करती है। दोनों अपने-अपने विचारों के आधार पर मनु के जीवन का मार्ग-दर्शन करती हैं। भारतीय आदर्शों के अनुकूल चलने वाली श्रद्धा अपनी उदारता, सच्चरित्रता, पतिपरायणता आदि के कारण अन्त में मनु के जीवन को आनन्दमय बना देती है, जब कि यांत्रिक सभ्यता की समर्थक तर्कशीला नारी इडा मनु के जीवन को आनन्दमय बनाने में असफल रहती है। परन्तु श्रद्धा अपने सद्गुणों के कारण न केवल 'कामायनी' के चरित्र-नायक मनु को ही अखंड आनन्द प्राप्त कराती है, बल्कि अपने विरोधी पात्र, इडा को भी उसकी भूलें बतलाकर सत्य मार्ग का निर्देश करती है, जिससे इडा का सारा उजड़ा हुआ प्रदेश पुनः सुख-समृद्धिशाली बन जाता है। अतः कामायनी के अन्तर्गत सर्वत्र श्रद्धा-पात्र के रूप में सच्चरित्र, उदार, पतिपरायणा, कर्तव्यनिष्ठ एवं गृह-कार्य में कुशल एक ऐसी नारी के दर्शन होते हैं, जो 'रामायण' की सीता, 'महाभारत' की द्रौपदी, 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की शकुन्तला, 'इलियड' की हेलेन, 'डिवाइन कामेडिया' की बिएट्रिस आदि से सौंदर्य एवं चरित्र में किसी प्रकार भी कम नहीं है तथा जिससे नारी-

जीवन की दिव्यता, महत्ता एवं पूर्णता के दर्शन एक स्थान पर ही हो जाते हैं।

५. **तीनों कालों का समावेश**—कामायनी की कथा आदि पुरुष एवं आद्या नारी के जीवन की गाथा है। इसमें देव-सृष्टि के उपरान्त विकसित मानव-सृष्टि का संक्षिप्त इतिहास अंकित किया गया है। अतः इस कथा का सम्बन्ध सुदूर अतीत से है। परन्तु इस अतीतकाल की गाथा में स्थान-स्थान पर वर्त्तमान जीवन को इस तरह सगुम्फित किया गया है कि पाठक अनायास ही अपनी वर्त्तमान स्थिति का स्वरूप भी जान सकता है। उदाहरण के लिए, 'स्वप्न' और 'संघर्ष' सर्ग को लिया जा सकता है, जिसमें आधुनिक यांत्रिक सभ्यता के उत्थान-पतन का उल्लेख करके कवि ने विश्व-मानव को उसके वर्तमान जीवन की स्थिति एवं उसके दुष्परिणाम से पूर्णतया अवगत करा दिया है। वर्त्तमान के साथ-साथ भविष्य के संकेत भी कामायनी में विद्यमान हैं। देव-सृष्टि के विनाश द्वारा कवि ने विलास-प्रिय जाति का भविष्य अंकित कर दिया है। ऐसे ही कामायनी के अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में प्रसादजी ने मानव-जीवन के भविष्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि यदि मानव पारस्परिक भेद-भाव को छोड़कर इस पृथ्वी पर एक कुटुम्ब के रूप में निवास करने लगे और उनका जीवन समन्वयात्मक हो जाय तो फिर यहाँ न कोई शापित रहेगा, न कोई तापित पापी, वरन् जीवन की वसुधा समतल हो जायगी और उस पर निवास करने वाले सभी प्राणी समरस होकर अखंड आनन्द को प्राप्त होंगे। अतः कामायनी में भूतकाल के साथ-साथ वर्तमान और भविष्य का भी समावेश हुआ है।

६. **अन्त प्रकृति और बाह्य प्रकृति का सामंजस्य**—कामायनी में जहाँ मानव-जीवन की जटिलताओं का चित्रण किया गया है, वहाँ मानवेतर बाह्य प्रकृति में व्याप्त विविधताओं एवं जटिलताओं के चित्र अंकित करने का भी प्रयत्न हुआ है। प्रायः प्रत्येक महाकवि यह मानता है कि मानव-जीवन में जैसी जटिलताएँ हैं, वैसी जटिलताएँ प्रकृति में भी भरी हुई हैं। इसका कारण यह है कि ये कवि बाह्यप्रकृति में मानव-प्रकृति की ही प्रतिच्छाया देखते हैं। इसीलिए ये बाह्य प्रकृति का भी ऐसा ही चित्रण करते हैं जैसा कि मानव-प्रकृति का। छायावादी कवियों में यह प्रवृत्ति कुछ अधिक मात्रा में दिखाई देती है। फिर कामायनी तो छायावादी युग की प्रतिनिधि रचना है अतः इसमें अन्त प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का सफल सामंजस्य उसी भाँति दिखाई देता है जैसा कि रामायण, महाभारत, रामचरितमानस आदि ग्रंथों में है। परन्तु इसमें अन्तर इतना ही है कि कामायनी में प्रकृति के अधिकांश ऐसे चित्र अंकित किए गए हैं जिनमें चेतना का आरोप करके उसे मानव मनोभावों एवं मानव-व्यापारों के अनुरूप ही अंकित किया गया है, जबकि उक्त काव्यों में ऐसे चित्र नहीं मिलते।

७ सहानुभूति, समता एवं विश्वबन्धुत्व—अन्य युगप्रवर्तक काव्यों की भाँति कामायनी के 'कर्म' सर्ग में भीषण एकान्त स्वार्थ का विरोध करते हुए सामाजिक समता, सामूहिक विकास, प्राणीमात्र की सुख-समृद्धि, मानवता-प्रेम आदि की ओर संकेत किया गया है।[1] पुनः 'निर्वेद' सर्ग में प्रसादजी ने श्रद्धा के मुख से सारे विश्व को 'मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार'[2] कहा है तथा अन्त में 'आनन्द' सर्ग के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज की सेवा को अपनी ही सेवा और प्राणीमात्र के सुख को अपना सुख बतलाया है, 'मैं-मेरी' की भावना को छोड़ने का आग्रह किया है तथा समस्त भेद-भाव को भुला कर सारे विश्व को एक 'नीड़' बनाने का आग्रह किया है।[3] विश्व को एक नीड़ बनाने की भावना कवीन्द्र रवीन्द्र के शान्ति-निकेतन के आदर्श वाक्य में भी मिलती है, क्योंकि वहाँ लिखा है 'यत्र भवति विश्वैक नीड़म्'। अतः कामायनी में स्थान-स्थान पर ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनमें पारस्परिक सहानुभूति, समता, विश्वबन्धुत्व आदि की भावनाओं को मानव-मात्र के हृदय में जाग्रत करने का सफल प्रयत्न हुआ है।

८ लोकहित एवं लोकानुरंजन—कामायनी काव्य के अन्तर्गत मानव-कल्याण के लिए ऐसी कथा को सकलित किया गया है, जिसमें विलासमय भौतिक जीवन के दुष्परिणाम को दिखाकर मानव-मात्र के लिए सच्चरित्रता, सात्विकता, समरसता आदि लोकहित की भावनाओं को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। 'संघर्ष' सर्ग में यान्त्रिक सभ्यता की बुराइयों का चित्र अंकित करते हुए यह स्पष्ट बतलाया गया है कि किस प्रकार आज मानव दूसरों का शोषण कर रहा है, यन्त्रों द्वारा प्राकृतिक शक्ति को छीनकर जनता को दुर्बल बना रहा है और नये-नये अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करके भीषण नर-संहार कर रहा है।[4] अन्त में लोक-हित एवं लोकानुरंजन का ध्यान रखकर ही प्रसादजी ने इड़ा के मुख से 'बस रोको रण' कहकर इस भीषण नर-संहार को रोकते हुए 'जीने दे सब को फिर तू भी सुख से जी ले' कहकर आजकल के रक्त-रंजित संघर्ष के शान्तिमय विराम की ओर संकेत किया है।[5]

९. भाव, रूप एवं कर्म-संबधी सौन्दर्य—कामायनी में भाव-सौंदर्य, रूप-सौंदर्य एवं कर्म-सौन्दर्य का भी अत्यन्त सजीव चित्रण मिलता है, जिसका निरूपण 'सौन्दर्य-विधान' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।[6] इतना अवश्य है कि

१—कामायनी, पृ० १३२–१३३।
२—वही, पृ० २३४।
३—वही, पृ० २८६।
४—वही, पृ० १९९–२०२।
५—वही, पृ० २०१।
६—देखिए, प्रकरण ३, पृ० २०७-२१४।

अन्य युगयुगीन काव्यों की भाँति यहाँ पर पुरुष के उदात्त कर्मों का विवरण नहीं दिया गया है, परन्तु युग की विशेष मनोवृत्ति के कारण तथा नारी के महत्व को दिखलाने के लिए यहाँ नारी के कर्म-सौन्दर्य की अत्यन्त भव्य भाँकी प्रस्तुत की गई है।

१०. **कल्पना, अनुभूति और प्रौढ़ अनुभव**—आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र प्रभृति अधिकांश आलोचकों ने यह स्वीकार किया है कि 'कामायनी' में उदात्त कल्पना एवं गहन अनुभूति अत्यधिक मात्रा में मिलती है किन्तु अनुभवों की प्रौढता विचारणीय है। निस्सदेह 'रामायण', 'महाभारत', 'रामचरितमानस' आदि ग्रंथ-रत्न तो प्रौढ़ अनुभवों से ओत-प्रोत हैं, किन्तु ऐसा नहीं है कि 'कामायनी' में हमें प्रौढ अनुभवों के दर्शन न मिलते हो। यहाँ प्रसादजी ने विलासी पुरुष,[1] सलज्ज नारी,[2] गर्भवती कार्य-रत गृहिणी,[3] विरहिणी एवं संतप्त तरुणी,[4] स्वच्छन्द राष्ट्र-नायक,[5] जन-क्रांति,[6] पतिपरायणा पत्नी[7] आदि के जो चित्र अंकित किए हैं, वे उनकी उदात्त कल्पना तथा गहन अनुभूति के साथ प्रौढ़ अनुभव के भी परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त कामायनी में अनेकानेक ऐसे विचार एवं कवि के उद्गार मिलते हैं, जिनमे प्रसादजी ने एक अनुभवी व्यक्ति की भाँति सार्वभौम सत्य का उद्घाटन किया है। जैसे, मृत्यु को 'छिपी सृष्टि के कण-कण में तू'[8] कहना, 'जीवन तेरा क्षुद्र अंश है'[9] कहकर जीवन को मृत्यु का क्षुद्र अंश बतलाना, 'सवेदन ! जीवन जगती को जो कटुता से देता घोट'[10] कहकर अभाव की अनुभूति को कटुता उत्पन्न करने वाली बतलाना, 'दुःख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात'[11] बतलाते हुए दुःख-सुख के आवागमन को स्पष्ट करना, सौंदर्य को उज्ज्वल वरदान चेतना का' कहना,[12] लज्जा के लिए 'गौरव महिमा हूँ सिखलाती', ठोकर जो लगने वाली है उसको धीरे से समझाती', 'चचल किशोर सुन्दरता की मैं करती रहती रखवाली'[13] आदि कहकर उसके वास्तविक स्वरूप का निरूपण करना, सत्य को 'मेधा के क्रीड़ा-पंजर का पाला हुआ

१—कामायनी, पृ० ११, १८३। २—वही, पृ० ६४।
३—वही, पृ० १४२-१४३। ४—वही, पृ १७५-१८२।
५—वही, पृ० १८६-१९१। ६—वही, पृ १९८-२०२।
७—वही, पृ० २११-२२०। ८—वही, पृ० १९।
९—वही, पृ० १९। १०—वही, पृ० ३६।
११—वही, पृ० ५३। १२—वही, पृ० १०२।
१३—वही, पृ० १०२-१०३।

सुआ'[1] कहना, भूल, को 'चेतना के कौशल का स्खलन'[2] बतलाना, 'मन परवशता महादुःख'[3] कहकर मानसिक गुलामी का चित्रण करना, 'मन शिशु की क्रीडा नौकाएँ बस दौड लगाती हैं अनन्त'[4] कहकर मन की चचलता का स्पष्टीकरण करना, 'डाली मे कटक सग कुसुम खिलते भी हैं नवीन'[5] कहते हुए ससार के वैषम्य का वर्णन करना, 'विश्व एक बधन विहीन परिवर्तन तो है'[6] बतलाकर विश्व की परिवर्तनशीलता का निरूपण करना, 'आज शक्ति का खेल खेलने मे आतुर नर'[7] कहकर युग की वैज्ञानिक स्थिति का आभास देना, 'जीवन है तो कभी मिलन है कट जाती दुख की रातें'[8] कहकर सयोग-वियोग की स्थिति का चित्रण करना आदि। अत उक्त कथनो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कामायनी मे युगयुगीन काव्य की सी उदात्त कल्पना, गहन अनुभूति एव प्रौढ अनुभव विद्यमान है।

११ रसानुकूल उत्कृष्ट शैली—कामायनी छायावादी शैली मे लिखी गई एक उत्कृष्ट रचना है, जिसमे सरस एव मधुर 'खडीबोली' भाषा के अन्तर्गत विचार प्रगट किए गये हैं। सर्वत्र भावानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है और उसमे लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एव व्यजना-शक्ति अपार मात्रा मे विद्यमान है। भाषा एव शैली की इन सभी विशेषताओ का उल्लेख इसी प्रकरण मे कामायनी के 'कलापक्ष' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक किया जा चुका है।[9] अत कहा जा सकता है कि 'कामायनी' मे रसवती, ऊर्जस्विनी, परिमार्जित एव तुली हुई भाषा मे एक युगयुगीन काव्य की भाँति उत्कृष्ट विचार व्यक्त हुए हैं।

१२ महान् उद्देश्य—अन्य युगयुगीन काव्यो की भाँति कामायनी की रचना भी एक महान् उद्देश्य से हुई है, क्योकि कामायनी का उद्देश्य है—आधुनिक भ्रमित मानव को आनन्द उपलब्धि का उपाय बतलाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहले तो प्रसादजी ने मानव-जीवन की विषमताओ का चित्रण किया है, तदुपरान्त इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय करते हुए जीवन मे समरसता के सिद्धान्त को अपनाने की सलाह दी है। इतना ही नही, अन्त मे ससार को 'सत्य, सतत, चिर सुन्दर' कहकर नित्य उचित कर्म करते हुए 'भव-धाम' को सफल बनाने की प्रेरणा प्रदान की है। 'कामायनी' के इन विचारो मे प्रसादजी

१—कामायनी, पृ० १११। २—वही, पृ० १२२।
३—वही, पृ० १५४। ४—वही, पृ० १५६।
५—वही, पृ० १६३। ६—वही, पृ० १६०।
७—वही, पृ० १६६। ८—वही, पृ० २१४।
९—देखिए, प्रकरण ४, पृ० २२१-२६०।

ने विश्व और जीवन के अन्तर्गत आस्था उत्पन्न करके मनुष्य को सत्कर्मों की ओर प्रेरित किया है और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से युक्त मानव-जीवन के चरम लक्ष्य 'अखड आनन्द' का विधान करके मानव-मात्र मे नैतिक गुणों की अभिवृद्धि एवं सामाजिक कल्याण की भावना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। निस्सदेह कामायनी का यह उद्देश्य महान् है और इसी उद्देश्य के कारण कामायनी की गणना युगयुगीन काव्यो मे की जा सकती है।

निष्कर्ष यह है कि एक युगयुगीन काव्य की अधिकाश विशेषताएँ कामायनी के अन्तर्गत दिखाई देती हैं। इन विशेषताओं के कारण ही यह महाकाव्य अब दिन-दिन महत्व प्राप्त करता जारहा है और विश्व की अन्य-अन्य भाषाओं मे भी इसके अनुवाद हो रहे हैं, जिससे न केवल हिन्दी भाषा की ही गौरव-वृद्धि हो रही है, अपितु इससे सम्पूर्ण भारत भी आज गौरवान्वित हो रहा है, क्योंकि भारत की किसी भी भाषा की गौरव-वृद्धि होना, समस्त भारत का गौरवान्वित होना है। इसमे कोई सदेह नही कि यह महाकाव्य अपनी नवीनता, अनुभूति की गहनता, विचारों की परिपक्वता, भाव-गम्भीरता आदि के कारण युगयुगीन काव्यों की श्रेणी में रखा जाता है, किन्तु अन्य युगयुगीन काव्यो मे भावो एव विचारो का जैसा विस्तार दिखाई देता है, विभिन्न पात्रो द्वारा जीवन की विवधता का जैसा विवेचन मिलता है, जातीय एव राष्ट्रीय भावनाओ के उद्-घाटन का जैसा विस्तृत प्रयत्न लक्षित होता है तथा तत्तद्देशीय धार्मिक विचारों का जैसा स्पष्टीकरण मिलता है, वैसी सब बातें 'कामायनी' के अन्तर्गत विस्तार के साथ नही मिलती। यहाँ तो जातीय जीवन एव जातीय सस्कृति की मूल भावनायें सक्षिप्त रूप में अङ्कित की गई हैं और उनको प्रमाणित करने वाले उदाहरण-बाहुल्य का अभाव है। साथ ही कामायनी मे जो शैव-धर्म सम्बन्धी विचार मिलते हैं, उनमे भी प्रसादजी ने मानव-कल्याण के सार्वजनीन नियमो का संक्षेप में ही निरूपण किया है। अत. यह कामायनी महाकाव्य यद्यपि अपने व्यापक प्रभावोत्पादन एव जीवन के विस्तृत विवेचन के कारण अन्य युगयुगीन काव्यों के समकक्ष नहीं ठहरता, तथापि उच्चकोटि के काव्यत्व एव संक्षेप मे मानव-जीवन के मूलभूत सिद्धान्तो के प्रतिपादन की दृष्टि से इस महाकाव्य की गणना भी युगयुगीन काव्यो की श्रेणी मे की जा सकती है।

प्रकरण ५

कामायनी में सांस्कृतिक निरूपण

संस्कृति—'संस्कृति' शब्द आजकल अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस शब्द की व्याख्या धार्मिक, साहित्यिक एवं इतिहास-वेत्ता विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। संस्कृतज्ञ धार्मिक विद्वानों का विचार है कि 'संस्कृति' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—संशोधन करना, सुधारना, उत्तम बनाना, सुन्दर या पूर्ण बनाना अथवा परिष्कार करना।[1] श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती का मत है कि 'संस्कृति' शब्द 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करने पर बना है, जिसका अर्थ है—भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा। अतः जिन चेष्टाओं द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करता है वे ही संस्कृति कही जा सकती हैं, अथवा 'मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचारों को 'संस्कृति' कहा जा सकता है।'[2] श्री करपात्री जी ने भी 'संस्कृति' की ऐसी ही व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टायें एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।'[3]

१—कल्याण—हिन्दू-संस्कृति अङ्क, पृ० २४। २—वही, पृ० ३४।
३—वही, पृ० ३५।

श्री राजगोपालाचारी का मत है कि 'किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति है।'[1] डा० सम्पूर्णानन्द का विचार है कि 'संस्कृति' उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें कोई समुदाय-विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि-निक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर करता है। थोड़े में कह सकते हैं कि समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है।'[2] इस तरह आप संस्कृति का संस्कारों से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि 'संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नाना-विध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।'[3] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का।'[4] डा० गुलाबराय का मत है कि 'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है—संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कृत शब्द का भी यही अर्थ है और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी, किन्तु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। भाववाचक होने के कारण संस्कृति एक समूह-वाचक शब्द है।'[5]

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार का कथन है कि 'मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को 'संस्कृति' कहते हैं।......मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शन-शास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया; साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया; सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं व संस्थाओं को विकसित किया उन सबका समावेश हम 'संस्कृति' में करते हैं।'[6] डा० रामजी उपाध्याय का मत है कि 'मानव ने जो प्रगति की है, उसके मूल में बुद्धि और सौन्दर्य की अभिरुचि है। इनका अवलम्बन लेकर वह संसार की यथेष्ट रूप-रेखा बनाता जा रहा है। वह स्वभावतः किसी रचना को पूर्ण मानकर संतोष नहीं कर

१—कल्याण—हिन्दू-संस्कृति अङ्क, पृ० ६३। २—वही, पृ० ७०।
३—कला और संस्कृति, पृ० ११। ४—विचार और वितर्क, पृ० १८१।
५—भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा, पृ० १।
६—भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २०।

लेता, बल्कि नित्य ही कल की वस्तुओं को यथाशक्ति पूर्ण या सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। सुन्दर बनाने, सुधारने या पूर्ण बनाने का प्रयत्न मनुष्य की बुद्धि और सौन्दर्य-भावना के विकास का परिचय देता है। मानव का यही विकास 'संस्कृति' है। संस्कृति का मौलिक अर्थ सुधारना, सुन्दर या पूर्ण बनाना है।'[1] इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति का क्रम-बद्ध इतिहास प्रस्तुत करते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध आधुनिक कवि एवं आलोचक श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखा है कि—"संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं, अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अङ्ग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी सन्तानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए, संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं, बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तर तक करती है।"[2]

अंग्रेजी साहित्य में 'संस्कृति' शब्द का पर्यायवाची 'कल्चर' शब्द माना जाता है। यह 'कल्चर' शब्द लैटिन भाषा के 'कुलतुरा' (Cultura) शब्द से निकला है और 'कल्चर' में वही धातु है जो 'एग्रीकल्चर' में है। अतः इसका भी अर्थ—पैदा करना या सुधारना है।[3] किन्तु इसका एक लाक्षणिक अर्थ यह भी है कि मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियों को विकसित करना अथवा शिक्षा द्वारा मानसिक वृत्तियों को सुधारना।[4] समाज-विज्ञान के विश्वकोश में श्री मैलिनोव्स्की ने 'कल्चर' (Culture) की परिभाषा करते हुए लिखा है कि इसमें पैतृक निपुणताएँ, श्रेष्ठताएँ, कलागत प्रक्रिया, विचार, आदतें और विशेषताएँ सम्मिलित रहती हैं। अतः 'संस्कृति' का सम्बन्ध दर्शन और धर्म से लेकर सामाजिक संस्थाओं तथा रीति-रिवाजों तक मानव जीवन की समस्त महत्वपूर्ण विचार-प्रणालियों से है।[5]

१—भारत की प्राचीन संस्कृति, पृ० २।

२—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ६५३।

३—भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा, पृ० १।

४—आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ० ४१४-४१५।

5—Encyclopaedia of Social Science, Vol. III-IV, p. 621.

निष्कर्ष यह है कि 'संस्कृति' का सम्बन्ध मानव के भौतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक, कलात्मक आदि सभी प्रकार के महत्वपूर्ण विकासों एवं जीवन के विविध पहलुओं से है। मानव के इन विकासों में परम्परागत संस्कारों का बड़ा हाथ रहता है। इसलिए संस्कृति का संस्कारों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त इन विकासों द्वारा ही किसी देश की सभ्यता का भी पता चलता है। इसी कारण सभ्यता को मानव के विकास की समस्त चेष्टाओं का बाह्य रूप कहा जाता है और संस्कृति उनका आन्तरिक रूप है। अतः किसी देश की संस्कृति से उस देश के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, ज्ञान-विज्ञान, परम्परागत अनुभव, जीवन-यापन के ढंग, कला-प्रेम, रुचि आदि का बोध होता है।

भारतीय संस्कृति

साधारणतया भारत से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति को 'भारतीय संस्कृति' कहा जा सकता है। परन्तु भारतीय संस्कृति में कितनी ही अन्य संस्कृतियों का भी सम्मिश्रण हुआ है और जिसे हम 'भारतीय संस्कृति' कहते हैं, वह आदि से अन्त तक न तो आर्यों की रचना है और न द्रविडों की, प्रत्युत उसके भीतर अनेक जातियों का अंशदान है। यह संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है एवं उसके भीतर अनेक औषधियों का रस समाहित है।[1] इसका कारण यह है कि यहाँ पर द्रविड़, आर्य, शक, हूण, पठान, मुगल, अंग्रेज आदि कितनी ही जातियाँ आईं और सभी ने अपनी-अपनी संस्कृति से भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। परन्तु भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह समन्वय-प्रधान है। इसी कारण वह आज तक अक्षुण्ण एवं एक रूप बनी हुई है। अन्य सभी संस्कृतियाँ यहाँ आकर इस अखंड स्रोत में ऐसी विलीन हो गईं कि आज उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं दिखाई देता। यह संस्कृति अपने इसी गुण के कारण अन्य संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने पर भी मौलिक रूप में विद्यमान है, जबकि संसार की प्राचीन से प्राचीन संस्कृतियाँ या तो परिवर्तित हो गईं या वे सदैव के लिए अतीत के गर्त में समा गईं। मिस्र, असीरिया, बैबिलोनिया आदि देशों की संस्कृतियों का यही हाल है कि उनका प्राचीन रूप नष्ट हो चुका है।[2] परन्तु भारतीय संस्कृति की इस पुनीत गंगा में नदी-नालों का मिश्रण अवश्य हुआ है, फिर भी उसकी पावनी शक्ति इतनी

१—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५।

२—भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २१।

प्रबल है कि सबको गांगेय रूप मिल गया है[1] और अपनी इसी विशेषता के कारण उसका अविनश्वर रूप यहाँ की कला-कृतियों, आचार-विचारों आदि में सुरक्षित है।

भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूप—भारतीय संस्कृति के इस सामाजिक स्वरूप का विश्लेषण करने पर पहले उसे हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) देव संस्कृति और (२) मानव संस्कृति। देव संस्कृति को प्रथम मानने का कारण यह है कि यहाँ पर शतपथब्राह्मण,[2] जैमिनीय ब्राह्मण,[3] ऐतरेय आरण्यक,[4] वायु पुराण,[5] मार्कण्डेय पुराण,[6] श्रीमद्भागवत पुराण[7] आदि में सर्वत्र मानव-सृष्टि से पूर्व देव-सृष्टि के प्रादुर्भाव का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि खण्डप्रलय में देव-सृष्टि का विनाश हो गया और उसके उपरान्त मनु के द्वारा मानव-सृष्टि का विकास हुआ।[8] इन्हीं आधारों पर देव-सृष्टि की संस्कृति को देव-संस्कृति और मानव-सृष्टि की संस्कृति को मानव-संस्कृति नाम दिया गया है।

आगे चलकर यह मानव-संस्कृति भी कई रूपों में विकसित हुई। सुगमता की दृष्टि से पहले इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—वैदिक संस्कृति और अवैदिक संस्कृति। जिस संस्कृति का विकास वेद-शास्त्रों अथवा निगमागमों के आधार पर हुआ उसे 'वैदिक संस्कृति' कहा जा सकता है और जो संस्कृति वेद-बाह्य विचारों के आधार पर विकसित हुई उसे 'अवैदिक संस्कृति' कह सकते हैं। वैदिक संस्कृति के पुनः दो रूप मिलते हैं—निगम संस्कृति और आगम संस्कृति। निगम संस्कृति से अभिप्राय उस वैदिक संस्कृति से है जिसका विकास वेदानुकूल सूत्रग्रन्थों एवं स्मृति-ग्रन्थों के आधार पर हुआ है और आगम संस्कृति वह है जिसका विकास वैदिक परम्परा में ही विकसित तन्त्रों या आगमों के आधार पर हुआ है। इसके अतिरिक्त अवैदिक संस्कृति के अन्तर्गत कितनी ही अन्य संस्कृतियाँ आती हैं, जिन्हें सुविधा की दृष्टि से पाँच भागों में बाँट सकते हैं—आग्नेय संस्कृति, द्रविड संस्कृति, जैन संस्कृति, बौद्ध संस्कृति एवं अन्य विदेशी संस्कृतियाँ। अन्य विदेशी संस्कृतियों में यूनानी, शक, आभीर, मुस्लिम, अंग्रेजी

१—भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ० १५।

२—शतपथब्राह्मण, ११।१।२।२२ ३—जैमिनीय ब्राह्मण, ३।१८०-३८१

४—ऐतरेय आरण्यक, २।१।३ ५—वायुपुराण, ६।६३-६४

६—मार्कण्डेयपुराण, ४७।१४ ७—श्रीमद्भागवतपुराण, ३।१०।१३।२५

८—शतपथ ब्राह्मण, १।८।१-६, जैमिनीय ब्राह्मण, ३।९९ आदि।

आदि सस्कृतियाँ आती हैं, क्योकि इनका भी प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ा है। इस तरह मानव-सस्कृति का विकास विभिन्न रूपों मे दिखाई देता है। किन्तु इस विभिन्नता मे भी इसके अन्तर्गत बराबर एकरूपता विद्यमान रही है और बाह्य सस्कृतियो से प्रभावित होकर भी भारतीय सस्कृति की अन्तरात्मा मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही हुआ है।

१. देव-सस्कृति–भारतवर्ष मे सर्वप्रथम देव-सस्कृति का विकास हुआ। देव-संस्कृति का 'देव' शब्द पाणिनीय व्याकरण के अनुसार क्रीड़ार्थक 'दिव्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर बना है। निरुक्तकार यास्क ने दानार्थक 'दा' धातु एवं द्योतनार्थक 'द्यु त्' धातु और दीपनार्थक 'दीप्' धातु से 'व' प्रत्यय करके वर्णो का विकार या नाश करके 'देव' शब्द का बनना सिद्ध किया है। क्योंकि वहाँ लिखा भी है 'दान और दीपन के लिए जो द्यु स्थानगत हो वे ही देव और देवता हैं। योगी याज्ञवल्क्य का मत है कि जो दीप्ति पाते हैं, क्रीड़ा करते हैं, स्वर्ग मे शोभा पाते है और द्यु ति-विशिष्ट हैं वे ही देव कहलाते हैं।[1] इस प्रकार 'देव' शब्द की व्युत्पत्ति से ही उनकी कुछ सास्कृतिक विशेषताओं का पता चल जाता है। जैसे वे दीप्तिशाली हैं, क्रीड़ाशील हैं, स्वर्ग मे रहते हैं और द्यु ति-सम्पन्न हैं। देवो की ये सब बातें उनकी भव्यता, श्रेष्ठता एव वैभव-सम्पन्नता की ओर सकेत करती है।

भारतीय विद्वान् देवों के दो रूप मानते है—प्राणवान् तथा प्राणरहित। इन्द्र, वरुण, विष्णु, अश्विनीकुमार आदि प्राणवान् देवता हैं और अग्नि, वायु, अक्ष, मन्यु आदि प्राणहीन देवता है।[2] किन्तु निरुक्तकार यास्क ने इन सभी देवों को तीन भागो मे बाँटा है—(१) पृथ्वी-स्थानीय, (२) अन्तरिक्ष-स्थानीय, और (३) द्यु स्थानीय। पृथ्वी-स्थानीय देवो मे अग्नि का स्थान श्रेष्ठ है, अन्तरिक्ष-स्थानीयों में इन्द्र का स्थान श्रेष्ठ है और द्यु स्थानीयों मे सूर्य, विष्णु आदि का स्थान श्रेष्ठ बतलाया गया है।[3] ऋग्वेद में प्रथम तो इन देवों की संख्या तेतीस मिलती है अर्थात् ग्यारह स्वर्ग मे, ग्यारह द्यौ में और ग्यारह पृथ्वी मे बतलाये हैं।[4] किन्तु आगे चलकर एक स्थान पर इनकी संख्या ३३३६ भी बतलाई गई है।[5] इतना होने पर भी ऋग्वेद मे यह पता नहीं चलता कि

१—हिन्दी विश्व-कोष (भाग १०), पृ० ६१० ।

२—मनुस्मृति, मेधातिथि भाष्य, पृ० १६ ।

३—धर्म-सस्कृति के मूलाधार, पृ० ४७-४८ ।

४—ऋग्वेद, १।१३६।११   ५—ऋग्वेद, ३।६।६

ये देवता कौन से हैं, इनके नाम क्या हैं ? इस बात का पता हमे शतपथ-ब्राह्मण से चलता है, क्योंकि वहाँ लिखा है कि आठ वसु हैं, ग्यारह रुद्र हैं, बारह आदित्य हैं और एक इन्द्र तथा एक प्रजापति है। इस प्रकार कुल तेतीस देवता हैं।[1] ऐतरेय ब्राह्मण मे इनकी संख्या छियासठ दी गई है और उनमे से तेतीस सोम पीने वाले तथा तेतीस सोम न पीने वाले बतलाये हैं।[2] किन्तु शतपथ-ब्राह्मण मे एक स्थान पर पुन ऋग्वेद की ही भाँति ३३३६ देवताओ का भी उल्लेख मिलता है।[3] यह सख्या पुराणो मे आकर तेतीस करोड़ हो गई है।[4] ऋग्वेद मे इन देवो की पाँच जातियो का उल्लेख मिलता है। सायणाचार्य ने उनको गन्धर्व, अप्सरस्, देव, असुर तथा राक्षस बतलाया है।[5] किन्तु पुराणों में इनकी आठ प्रमुख जातियो का वर्णन मिलता है तथा उन जातियों मे भी कई अन्य गौण जातियाँ भी हो सकती हैं। पुराणो के अनुसार देवो की आठ प्रमुख जातियाँ इस प्रकार हैं—(१) विबुध, (२) पितर, (३) असुर, (४) गन्धर्व एव अप्सरस्, (५) सिद्ध, (६) यक्षराक्षसचारणादि, (७) भूत-प्रेतादि, और (८) विद्याधर किन्नरादि।[6] इस प्रकार देवताओ की अनेक जातियाँ भारतवर्ष मे पहले निवास करती थी।

ये देव लोग अलौकिक शक्ति-सम्पन्न थे। इनकी सत्ता चारों ओर स्थापित हो गई थी। इनके राजा इन्द्र कहलाते थे। देवो के अनेक इन्द्र हो चुके हैं, जिनमें से विश्वभुज, भूतधावन, शिवि, शान्ति, तेजस्वी, देवराज आदि के नाम बलि ने इन्द्र का अनाचार देख कर बतलाये थे और इन्द्र को उसकी पुरानी परम्परा का स्मरण कराया था।[7] देवों के राजा इन्द्र ने वृत्र, बल, शुष्ण, अहि, शम्बर, रौहिण आदि असुरो को मारकर अपना राज्य निष्कटक बनाया था।[8] इसी कारण इन्द्र को दस्युहन्ता भी कहा जाता था।[9] इतना ही नहीं असुरों के कितने ही नगरो का भी विध्वस इन्द्र ने किया था।[10] वह इन्द्र असुरो का नाश करके ही पृथ्वी एव अन्तरिक्ष का राजा हुआ था।[11]

१—शतपथ ब्राह्मण, ११।६।३।५ २—ऐतरेय ब्राह्मण, २।१८
३—शतपथ ब्राह्मण, ११।६।३।४ ४—पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ५।६
५—ऋग्वेद १।१००।१२—सायणकृत टीका।
६—श्रीमद्भागवत पुराण, ३।१०।२७-२८
७—प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ० ६४।
८—देखिए, ऋग्वेद क्रमशः १।५२।२, १।११५, १।११।७, २।१२।११, २।१२।१२, १।३२।१५ आदि।
९—ऋग्वेद २।१२।१० १०—वही, १।६३।७
११—वही, १।५२।१२

देवों ने एक सार्वभौम सत्ता स्थापित करके अनन्त ऐश्वर्य एवं अनन्त कीर्ति प्राप्त की थी, जिसका आभास इन्द्र की उन प्रशंसात्मक स्तुतियों में मिलता है जहाँ उसे विश्वजित्, धनजित्, स्वर्गजित्, नृजित्, उर्वराजित, अश्वजित्, गोजित्, अप्जित्, आदि नामों से पुकारा गया है।[1] इतना ही नहीं, इन्द्र के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में लिखा है कि इसके अधिकार में अनेक घोड़े, अनेक गायें, अनेक ग्राम तथा अनेक रथ थे।[2]

देवों को सुन्दर, सुदृढ एवं विशाल भवनों में रहना अधिक प्रिय था। ऋग्वेद में कितने ही ऐसे दुर्गों एवं भवनों का वर्णन मिलता है जो लोहे एवं पत्थरों के बने हुए थे, तथा जिनमें सौ-सौ खम्भे होते थे।[4] इतना ही नहीं, उनके राज-महल तो प्रायः स्वर्ण के बने होते थे, उनमें एक-एक हजार खम्भे एवं द्वार होते थे तथा वे अत्यन्त ऊँचे, सुदृढ एवं विशाल होते थे।[5] इसके साथ ही *ऐसे-ऐसे भवनों का भी वर्णन मिलता है, जो शरदऋतु में विशेष तौर से काम में* लाए जाते थे और जो 'शारदी' कहलाते थे।[6] पुराणों में तो देवों के और भी सुन्दर एवं सुसज्जित भवनों का वर्णन मिलता है। पद्मपुराण में लिखा है कि देवताओं के महल नाना वर्णों के रत्नों से जड़े रहते थे, उनमें करोड़ों खम्भे होते थे और वे निर्मल आदर्श (शीशे) की भांति सुशोभित होते थे।[7] वे आश्चर्यजनक भवन अनेक वृक्षों से सकुलित रहते थे, जिनमें विचित्र-विचित्र धातुओं के सुन्दर चित्र बने रहते थे, जो स्वच्छ स्फटिक शिला के समान निर्मल थे, जहाँ लतायें छाई रहती थीं और मयूर बोला करते थे।[8] वायुपुराण में लिखा है कि देवों के भवनों में मणि-रत्नों से जटित स्तम्भ होते थे, वेदिकाएँ मणियों की बनी होती थी तथा वे सुवर्ण एवं मणियों के चित्रों तथा विद्रुम के तोरणों से युक्त होते थे।[9] कूर्मपुराण में भी उनके भव्य भवनों का वर्णन करते हुए लिखा है कि देवों के भव्य प्रासाद अट्टालिकाओं से युक्त होते थे, जिनमें स्वर्ण एवं रत्नों से जड़े हुए हजारों द्वार होते थे, जिनके ऊपर अनेक *चित्र-विचित्र पताकायें फहराया करती थी, जिनके चारों ओर वीथियाँ होती थीं तथा जिनके सोपान रत्नों से सुशोभित रहते थे।*[10] इस प्रकार उनकी वैभव एवं ऐश्वर्यपूर्ण रुचि का आभास उपर्युक्त वर्णनों में मिल जाता है।

१—ऋग्वेद, २।१२।१ २—वही, २।१२।७ ३—वही, ४।३०।२०
४—वही, १।१६६।८, ७।१५।१४ 5–The Vedic Age, p. 365
६—हिन्दू सभ्यता, पृ० ३३। ७—पद्मपुराण, सृष्टि खंड १५।१०
८—पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड १५।७ ९—वायुपुराण ३४।६७
१०—कूर्मपुराण, अध्याय ४६।

देवो में सगीत प्रियता अधिक थी। वे जीवन मे सगीत को अत्यधिक महत्व देते थे और नाचना, गाना, बजना ये सभी उनकी रुचिकर क्रीड़ाएँ थीं। ऋग्वेद मे देवो एव देवागनाओ के साथ-साथ नृत्य करने के सकेत मिलते हैं।[1] उस समय वे लोग 'कर्करि' नाम के बाजे को बजाया करते थे।[2] सप्तस्वरों वाली वीणा का प्रचार ऋग्वेद काल मे ही हो गया था।[3] ऋग्वेद में यम के भवनो मे प्राय 'नाली' नाम के बाजे बजने का उल्लेख मिलता है[4] और मरुतो को गाना गाते हुए लिखा है।[5] जैमिनीय ब्राह्मण मे देवो को यज्ञ के अवसरो पर वीणा वादन एव नृत्य करते हुए बतलाया है।[6] इतना ही नही, अप्सराओ के नृत्य, गीत एव वीणा-वादन का भी उल्लेख जैमिनीय ब्राह्मण मे मिल जाता है।[7] पुराणो मे आकर तो देवताओ के सगीत-प्रेम का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। पद्मपुराण म लिखा है कि देवागनायें पारिजात की मजरियो की बनी हुई मालायें पहनकर मधुर ध्वनि के साथ गीत गाया करती थी, अप्सरायें बडे हाव-भाव पूर्ण नृत्य किया करती थीं और लय-ताल-युक्त अनेक वाद्य बजा करते थे।[8] मत्स्यपुराण मे भी लिखा है कि राजा पुरुरवा ने अनेक देवागनाओ के मधुर तन्त्री-स्वरों से युक्त गीत सुने थे।[9] कूर्मपुराण मे लिखा है कि सुमेरु पर्वत पर अप्सराओ के समूह नृत्य किया करते थे, मृदग, पणव, वेणु वीणा, आदि बजा करते थे और गन्धर्व, किन्नर आदि एकत्र होकर आनन्द क्रीडा किया करते थे।[10] महाभारत मे भी लिखा है कि मनोहर अप्सरायें तथा गन्धर्वगण नृत्य, वाद्य, गीत एव नाना प्रकार के हास्यों द्वारा देवराज इन्द्र का मनोरजन किया करते थे।[11] इसी प्रकार महाभारत मे सभी देवो की सभाओ में नृत्य-गान आदि का वर्णन मिलता है और प्राय गन्धर्व एव अप्सराओ को ही सगीत का विशेषज्ञ बतलाया है।[12]

सगीत की ही भाँति देवों को अपने शरीरो को सुसज्जित करने तथा गध-पूर्ण अगराग एव सुवासित पराग लगाने का बडा चाव था। ऋग्वेद में लिखा है कि देव लोग कानो में कर्णशोभन पहना करते थे।[13] गले में सुन्दर 'निष्क'

१—हिन्दू सभ्यता, पृ० ८१। २—ऋग्वेद २।४३।३
३—ऋग्वेद, १०।३२।४ ४—वही, १०।१३५।७
५—वही, १।८५।२ ६—जैमिनीय ब्राह्मण, २।६६
७—जैमिनीय ब्राह्मण, १।४२
८—पद्मपुराण सृष्टि खड १५।६-१२ ९—मत्स्यपुराण, १२०।११
१०—कूर्मपुराण, अध्याय ४८। ११—महाभारत (सभा पर्व), ७।२४
१२—महाभारत (सभापर्व), ८।३८ १३—ऋग्वेद, ८।७८।३

या हार पहनते थे।[1] हाथो मे 'खादि' या कडे पहना करते थे।[2] ऋग्वेद में एक स्थान पर मरुतो के श्रृंगार का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे कधे पर धनुष, पैरो मे खडुवे (खादय), छाती पर हार (रुक्म) तथा सिर पर सुनहरी पगडी (वितता) पहनकर सुन्दर रथ मे बैठ कर घूमते थे।[3] कानो मे स्वर्ण-कुण्डल तथा गले मे मणियो के हार तो सभी देवता धारण करते थे।[4] देवागनायें विशेषकर नववधुयें एक प्रकार का शिरोभूषण भी धारण किया करती थी जो 'कुरीर' कहलाता था और कुछ देवता फूलो की मालाये भी धारण करते थे। अश्विनीकुमारो को प्राय कमल की माला धारण करते हुए लिखा है।[5] देव लोग बालो मे तेल डालते और उन्हे सुन्दर ढग मे सँवारते भी थे।[6] देवागनाएँ अपने केशो के जूडे भी बनाती थी। ऋग्वेद मे एक युवती को 'चतुष्कपर्दा' अर्थात् चार-चोटियाँ या चार जूडे बनाने वाली कहा है।[7] कुछ देवतागण दाई ओर बालो का जूडा बाँधते थे।[8] देवतागण अपने शरीर एव भवनो को सुवासित रखने के लिए अनेक प्रकार के सुगधित द्रव्यो का प्रयोग *किया करते थे। ताड्य ब्राह्मण मे गूगल, सुगन्धितेजन और पीतुदारु को देव*ताओं के सुगन्धित द्रव्य बताया गया है।[9] जैमिनीय ब्राह्मण मे भी अप्सराओ को अनेक सुगन्धियाँ धारण करने वाली बताया गया है।[10] पद्मपुराण मे देवा*गनाओं को पारिजात वृक्ष की मजरियो से बनी हुई मालायें धारण करते हुए* लिखा है।[11] महाभारत मे समस्त देवगणो को सुवर्ण की मालायें तथा नाना प्रकार के उत्तमोत्तम अलकारो से अलकृत कहा गया है।[12] इसके साथ ही इन्द्र के शरीर की *सजावट का वर्णन करते हुए महाभारत मे लिखा है कि* 'इन्द्र के मस्तक पर किरीट रहता है, दोनो भुजाओ मे लाल रग के बाजूबद शोभा पाते हैं, शरीर पर स्वच्छ वस्त्र तथा कंठ मे विचित्र माला सुशोभित होती है।'[13] इसी तरह वहाँ यमराज को *अद्भुत* बाजूबद, *विचित्र हार और जगमगाते हुए* कुण्डल धारण करते हुए[14] और आदित्यो को दिव्य हार, दिव्य सुगन्ध तथा दिव्य

१—ऋग्वेद, २।३३।१०
२—वही, १।१६६।६
३—वही, ५।५४।११
४—वही, १।१२३।१४
५—The Vedic Age, p. 394.
६—हिन्दू सभ्यता, पृ० ८०।
७—ऋग्वेद, १०।११४।३
८—ऋग्वेद, ७।३३।१
९—ताड्य ब्राह्मण, २४।१३।५
१०—जैमिनीय ब्राह्मण, १।४२
११—पद्मपुराण (सृष्टि खंड), १५।६
१२—महाभारत (सभापर्व), ७।७-८
१३—महाभारत (सभापर्व), ७।५
१४—वही, ८।३७

चदन धारण करते हुए लिखा है।[१] इस प्रकार देवो मे आभूषण-प्रियता एवं शरीर को सुसज्जित करने की भावना सभी ग्रथो मे अत्यधिक मात्रा में मिलती है।

देवता लोग मधुर तथा सुस्वादु भोजन के बडे शौकीन थे। वे प्राय दूध, घृत एव दधि के बने हुए भोजनो को बडी रुचि के साथ खाया करते थे,[२] किन्तु उनमें से कुछ ऐसी भी देव-जातियाँ थी, जो मांस को भी बडे प्रेम से खाती थीं। ऋग्वेद मे गौ के दूध की बनी हुई क्षीर तथा दही के खान का अधिक वर्णन मिलता है।[३] वहाँ चमडे की मशक मे भरकर दही से बने हुए पनीर के रखे जाने का भी उल्लेख मिलता है।[४] एक स्थान पर खूब घी मे बने हुए पूओं (अपूपो) का भी वर्णन ऋग्वेद म आया है।[५] किन्तु उसके साथ ही बकरे तथा घोडे के मास को पूषण आदि देवो के लिए समर्पित करने का वर्णन भी ऋग्वेद मे मिलता है।[६] इतना ही नही, ऋग्वेद मे एक स्थान पर इन्द्र का यह कथन भी मिलता है कि मेरे लिए बीस बैल मारो, जिन्हें खाकर मैं मोटा बनूँगा।'[७] अत देवगण घोडा, बैल, सूअर, बकरा या भेड आदि के मांस का भी सेवन किया करते थे।[८] देवो मे सोम पीने का बडा ही प्रचार था। ऋग्वेद मे सोम की बडी प्रशसा की गई है। ऋग्वेद मे ही नहीं, पारसी ग्रथ अवेस्ता मे भी सोम (होम—पारसी उच्चारण) को बुद्धि, वीरता, समृद्धि, आरोग्य-वृद्धि और महत्व प्रदान करने वाला कहा है। इतना ही नहीं, इसे स्वर्ग, स्वास्थ्य, दीर्घायु, पाप-निराकरण की शक्ति, शत्रुओ पर विजय तथा चोर-डाकुओ आदि से प्राप्त होने वाले भयों की आगामी सूचना देने वाला बतलाया है।[९] ऋग्वेद मे भी सोम देवो को अमरता देने वाला, ज्योति प्रदान करने वाला,[१०] मद उत्पन्न करने वाला,[११] शरीर का रक्षक (गोपा),[१२] सब प्रकार की शक्तियो को बढाने वाला (वयोधाम)[१३] आदि बताया गया है। देवतागण अकेले ही सोमपान नहीं करते थे, अपितु देवागनायें भी उनके साथ सोम पिया करती थीं क्योंकि एक स्थान पर तेतीसों देवताओ को अपनी-अपनी पत्नियो के

१—महाभारत (सभा पर्व), ६।७ २—ऋग्वेद, १।१३४।६
३—ऋग्वेद ८।२।६ ४—वही, ६।४८।१८
५—वही, १०।४५।६ ६—वही, १।१६२।३
७—वही, १०।८६।१४ ८—गंगा-वेदाक, पृ० २१८।
९—ऋग्वेद-संहिता, हिन्दी टीका, कलकत्ता, पृ० ४८५।
१०—ऋग्वेद, ८।४८।१ ११—ऋग्वेद, ८।४४।६
१२—वही, ८।४४।६ १३—वही, ८।४८।१५

साथ सोमपान करने के लिए (मादयस्व) बुलाया गया है।[1] इसके साथ ही इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी (अग्नि की पत्नी) भी सोमपान किया करती थी।[2] एक स्थान पर उषा को भी समस्त देवों के साथ सोम पीने के लिए बुलाया गया है।[3] सोम के साथ-साथ सुरा पीने की प्रथा भी देवों में मिलती है। उसे ऋग्वेद में मदिरा कहा गया।[4] वे प्रायः देवांगनाओं के साथ मदिरापान किया करते थे। अतः एक स्थान पर यह भी वर्णन मिलता है कि मदिरा पीने के कारण उन्मत्त होकर देवांगनायें इधर-उधर चली गई थी।[5] ऋग्वेद में मदिरा को सुरा भी कहा है और एक स्थान पर सुरा पीकर उन्मत्त हुए देवों का परस्पर लड़ना भी लिखा है।[6] पुराणों में आपान गोष्ठियों में देवगणों को अपनी-अपनी रमणियों के साथ मदिरापान करते हुए कई स्थलों पर लिखा है।[7]

देवों में यज्ञों के प्रति बड़ी आस्था थी। यज्ञ उनके धर्म का एक विशेष अंग था।[8] उनके सभी कार्य यज्ञ द्वारा सम्पन्न होते थे। प्रजापति ने सर्वप्रथम सृष्टि-रचना करने के लिए यज्ञ किया था।[9] देवताओं को पहले स्वर्ग का स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। अतः स्वर्ग-प्राप्ति के लिए देवों ने भी यज्ञ किया और तभी उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई।[10] इसके साथ ही यज्ञ की भावना से भी देवों ने यज्ञ किया था।[11] देवों के यज्ञ में साधारणतया क्षीर, अन्न, घृत, सोम तथा मांस की आहुतियाँ दी जाती थीं और यज्ञावशिष्ट पदार्थों का स्वयं भी सेवन किया जाता था।[12] पहले तो सोम-यज्ञ की ही प्रधानता थी, परन्तु धीरे-धीरे पशु-यज्ञों की प्रबलता होगई। पशु-यज्ञों का संकेत ऋग्वेद में कई स्थलों पर मिलता है। किन्तु उनमें अश्वमेध का वर्णन ही अधिक है। 'अप्रि-सूक्तों' में अन्य पशुओं के वध करने का भी संकेत मिल जाता है। इतना ही नहीं, 'पुरुष-सूक्त' में यद्यपि नरमेध-यज्ञ का वर्णन नहीं है, तथापि उसके वर्णन में नरमेध का संकेत विद्यमान है। ऐसे ही यद्यपि ऋग्वेद में जो शुनःशेप की कथा आई है, वह ऐतरेय ब्राह्मण की कथा से नहीं मिलती, फिर भी उसमें नरमेध यज्ञ का संकेत मिल जाता है।[13] किन्तु यजुर्वेद के अन्तर्गत तो स्पष्ट ही पशु-यज्ञों का वर्णन

१—ऋग्वेद, ३।६।६   २—वही, १।२२।१२
३—वही, १।४८।१२   ४—वही, १।१६६।७
५—वही, १।८३।५   ६—वही, ८।२।१२
७—मत्स्यपुराण, १२०।३०-३१   ८—शतपथब्राह्मण १।८।१।७
९—ऋग्वेद १।१६४।५०   १०—ऐतरेयब्राह्मण १।१६
११—ताण्ड्यब्राह्मण ७।४।६   १२—हिन्दू सभ्यता, पृ० ९१।
13—The Vedic Age, p. 378.

आया है। यजुर्वेद की वाजसनेयी-संहिता मे लिखा है कि १०,८०० ईटों से यज्ञ वेदी बनाई जाती थी। उसकी आकृति एक उडती हुई चिडिया के समान होती थी। यज्ञवेदी के नीचे की ओर यज्ञीय पशुओ के पाँच सिर काटकर बन्द कर दिए जाते थे तथा पशुओ के शरीर को उस पानी के अन्दर फेंक दिया जाता था, जहाँ से ईट तथा हवन-कुंड बनाने के लिए मिट्टी ली जाती थी। इतना ही नही, वाजसनेयी-संहिता म नरमेध-यज्ञो का भी वर्णन मिलता है और उसके तीसवे काड मे नरमेध के योग्य १८४ व्यक्तियो का उल्लेख भी किया गया है।[1] इस प्रकार यज्ञीय विधान अत्यन्त विस्तृत होगया था और एक दिन के सोमयज्ञ से लेकर द्वादश रात्र, एक सवत्सर या कई वर्षों तक चलने वाले यज्ञ का विकास हो गया था।[2] शतपथ-ब्राह्मण म भी व्यक्तियो एव पशुओ के बध करने वाले यज्ञो का वर्णन मिलता है।[3] जैमिनीय ब्राह्मण मे भी देवो के लिए पशु यज्ञो का वर्णन मिलता है।[4] ऐतरेय ब्राह्मण म भी लिखा है कि पशु-यज्ञ पर्याप्त मात्रा म होते थे।

देवों मे विलासिता की अत्यन्त प्रबलता थी। उनके जीवन के अधिक से अधिक क्षण देवागनाओ के साथ क्रीडा करने, विहार करने एव आनन्दोल्लास मनाने म ही व्यतीत होते थ। ऋग्वेद मे देवो के ऐसे भव्य प्रासादो का वर्णन आया है, जहाँ पर अमृत-कुंड भरे रहते थे और उनमे सभी लोग स्वर्गीय आनन्द प्राप्त किया करते थे। उन प्रासादो मे तीव्र आलोक रहता था और वे उच्च-शिखर पर बनाये जाते थे।[6] देवो के समीप सुन्दर सुन्दर रथ थे[7] और अपनी देवागनाओ को साथ लेकर प्राय रथ म भ्रमण किया करते थे। ऋग्वेद म स्थान-स्थान पर सूर्य के साथ उषा का रथ मे बैठकर घूमना लिखा है।[8] ऋग्वेद मे उषा के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन मिलता है और उषा सुन्दरी के पीछे सूर्य को इस प्रकार घूमते हुए लिखा है जैसे कोई युवक किसी युवती को प्राप्त करने के लिए उसके पीछे-पीछे घूमता है।[9] उषा के अतिरिक्त सूर्य की पुत्री सूर्या पर अश्विनीकुमारो को आसक्त होते हुए लिखा है और बतलाया है कि अश्विनीकुमार सूर्या के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसको एक बार हठात् हर ले जाते हैं। परन्तु सूर्या सोम से प्रेम करती थी। अत सूर्यदेव अपनी पुत्री को

1—A History of Indian Literature, Vol I, pp 173-174
२—हिन्दू सभ्यता, पृ० ११८।
3—Vedic India, p 408
४—जैमिनीय ब्राह्मण, ११६०
५—ऐतरेय ब्राह्मण ६१६
६—ऋग्वेद ११५४१४,६
७—ऋग्वेद, १८५१५
८—वही, ४१४१२
९—वही, ११११५१२

अश्विनीकुमारों से छीन लाते हैं और पुनः उसके प्रेमी सोम के साथ उसका विवाह कर देते हैं।[1] ऐसे ही अपानपात देवता के पीछे कितनी ही युवतियाँ घूमती हैं और उसे एक युवराज की भाँति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करती हैं।[2]

देवों के विलास का और भी अधिक संकेत 'बृहद्देवता' नामक ग्रन्थ से मिलता है। वहाँ पर प्रत्येक देवता की अनेक देवांगनाओं के उल्लेख मिलते हैं। जैसे इन्द्र की पृथ्वी, अनुमती, राका, शची, उर्वशी आदि २४ पत्नियाँ बताई गई हैं।[3] ऐसे ही मरीचि पुत्र कश्यप की अदिति, दिति, दनु, वनिता, कद्रू आदि १३ पत्नियाँ कही गई हैं।[4] ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन देवताओं के विलासमय जीवन की और भी सुन्दर झाँकी मिलती है। शतपथ ब्राह्मण में चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, आदित्य, दित्य आदि को गन्धर्व कहा है और वे सभी युवतियों की कामना करने वाले तथा उनमें निशि-दिन अनुरक्त रहने वाले बताये गये हैं।[5] साधारणतया वहाँ पर गन्धर्वों को सौन्दर्य-प्रेमी, रूप के उपासक एवं सौन्दर्यमयी अप्सराओं के साथ रमण करने वाला बतलाया है।[6] इसके अतिरिक्त अधिकांश देवताओं को वहाँ अपनी-अपनी अप्सराओं के साथ विहार करते हुए भी लिखा है। इनमें से अग्नि की अप्सरा का नाम ओषधि दिया है, सूर्य की अप्सरा मरीचि बताई है, चन्द्रमा की नक्षत्र, वात की आपो, यज्ञदेव की दक्षिणा और विश्वकर्मा के पुत्र मनु की अप्सराओं के नाम ऋक् तथा साम दिये गये हैं।[7] जैमिनीय ब्राह्मण में इन अप्सराओं के नृत्य-गान, हास-विलास आदि का भी उल्लेख मिलता है।[8] महाभारत में इन्द्र को अनेक मनोहर अप्सराओं तथा सुन्दर गंधर्वों से घिरा हुआ बताया गया है और लिखा है कि वे सभी इन्द्र का मनोरंजन करने के लिए सदैव उसकी सभा में रहते हैं।[9] यमराज को अनेकानेक अप्सराओं के गीत, नृत्य, वाद्य से मनोरंजन करते हुए कहा गया है।[10] इसी तरह वरुण, कुबेर तथा ब्रह्मा को भी असंख्य अप्सराओं एवं देवांगनाओं से घिरा हुआ बताया गया है तथा उनके नृत्य, गान आदि से मनोरंजन करते हुए

१—ऋग्वेद, १०।८५।९
२—वही २।३५।४,
३—बृहद्देवता ११।२८-१२६
४—बृहद्देवता ५।१४४–१४५
५—शतपथब्राह्मण ३।२।४।३ तथा १४।६।३।१
६—वही, १३।४।३।७—८, १०।५।३।२० तथा ६।४।१।४
७—वही, ६।४।१।७–११
८—जैमिनीय ब्राह्मण, ३।२५।८
९—महाभारत (सभापर्व), ७।२४
१०—वही, ८।३६–३८

लिखा है।[1] पुराणों में देवों के विलास का विस्तृत वर्णन मिलता है। वायु-पुराण में सुमेर पर्वत की अद्भुत छटा का वर्णन करते हुए उसे नाना प्रकार के रत्नों, मणियों आदि से अलंकृत बताया गया है तथा वहाँ पर श्री-सम्पन्न देवताओं को अपनी-अपनी देवागनाओं के साथ विमानों में विहार करते हुए लिखा है।[2] ऐसे ही वैभव-विलास से परिपूर्ण वर्णन मत्स्य,[3] पद्म,[4] वाराह,[5] ब्रह्माण्ड,[6] श्रीमद्भागवत,[7] कूर्म्म,[8] आदि पुराणों में मिलते हैं, जहाँ पर देवताओं को देवागनाओं एवं अप्सराओं के साथ सुमेर पर्वत पर रमण करते हुए, सरोवरों में क्रीड़ा करते हुए, नन्दन-वन में विहार करते हुए, आपान गोष्ठी में मधुपान करते हुए तथा नृत्य, गीत, वाद्य आदि का आनन्द लेते हुए चित्रित किया गया है। शैवागमों में भी देवों के विलासमय जीवन की झाँकी स्थान-स्थान पर मिलती है। वहाँ पर भी सुमेर पर्वत को अत्यन्त भव्य एवं मणि-रत्नों से अलंकृत बतला कर देवताओं के निवास-स्थानों को सभी ऋतुओं में अत्यन्त सुखद, बड़े विस्तृत तथा पारिजात पुष्पों के पराग से सुवासित लिखा है।[9] इसी तरह जैन-ग्रन्थों में भी देवों के निवास-स्थान सुमेरु का वैभवशाली चित्र अंकित करते हुए देवताओं को हाव-भावयुक्त अप्सराओं से घिरा हुआ बताया गया है तथा उन्हें नित्य-प्रति कटक, कुण्डलादि विभूषणों से सुसज्जित होकर देवागनाओं के साथ विहार करते हुए अथवा नाट्यशालाओं में अप्सराओं के गीत, नृत्य, वाद्य का आनन्द लेते हुए लिखा है।[10]

देव-संस्कृति में आत्मवादी विचारधारा का भी आविर्भाव मिलता है। वे अपने अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति की सत्ता स्वीकार नहीं करते थे और स्वयं को सर्वोपरि समझते थे। पहले समस्त देवगण इकट्ठे ही रहते थे। किन्तु कुछ कालोपरान्त उनमें दो दल हो गये, जो सुर और असुर के नाम से प्रसिद्ध हुए। असुर वरुण के अनुयायी थे और सुर वरुण को अपना अधिपति न मान-कर इन्द्र को अपना राजा मानते थे। इन्द्र के सभी अनुयायियों ने वरुण-पूजा

१—महाभारत (सभा पर्व), ६।६, २६, १०।५–६, १०–१८, ११।३६–४३

२—वायुपुराण, अध्याय ४ तथा ३४।

३—मत्स्यपुराण, अध्याय ११३ १२०।

४—पद्मपुराण, भूमिखण्ड, ६५।३–१२। ५—वाराहपुराण, ७५।५०–६५

६—ब्रह्मांडपुराण, अध्याय ११। ७—श्रीमद्भागवतपुराण, ५।१६

८—कूर्म्मपुराण, अध्याय ४८, ४६।

६—मृगेन्द्रतन्त्र, १।१३।४१–५६

१०—महापुराण ५।१६४–२६६ तथा कल्पसूत्र (हिन्दी), पृ० १७।

का निषेध किया। इसी कारण त्वष्टा के पुत्र वरुणोपासक वृत्र ने असुरों का नेतृत्व ग्रहण किया। अन्त में देवासुर संग्राम हुआ और इन्द्र ने वृत्र का ही नहीं, अपितु अन्य वरुणानुयायी असुरों का भी वध किया तथा सर्वत्र अपनी पूजा करायी।[1] इसीलिए ऋग्वेद में इन्द्र को देवों का सम्राट् बताया गया है।[2] इतना ही नहीं, सत्ता एवं शक्ति के आधिक्य से फिर तो इन्द्र स्वयं को ही मनु, सूर्य, ऋषि, विप्र, शुक्राचार्य, भूमि, जलवृष्टि आदि भी कहने लगा।[3] ऋग्वेद के दशम मंडल में पुनः इन्द्र का आत्म-स्तुति-परक सूक्त मिलता है।[4] अतः इन सभी आधारों पर यही ज्ञात होता है कि देवों में आत्मवादी विचारधारा अत्यधिक फैल गई थी।[5]

इसके अतिरिक्त देव-संस्कृति में अमरता की भावना का भी अत्यधिक प्रचार था। देवगण स्वयं को अमर कहते थे और इसी कारण वे किसी ज्ञात और अज्ञात शक्ति से कभी भयभीत नहीं होते थे। शतपथ ब्राह्मण में उनके अमरत्व के स्थान-स्थान पर संकेत मिलते हैं।[6] ताड्य ब्राह्मण में लिखा है कि पहले देवगण भी मृत्यु से डरते थे, किन्तु प्रजापति के आदेशानुसार देवों ने नवरात्रि तक तपस्या की और उस तपस्या के प्रभाव से ही वे अमरता को प्राप्त हुए।[7]

निष्कर्ष यह है कि देव-संस्कृति भोग-प्रधान थी। देवताओं ने पहले तो अवश्य महान् कार्य किये थे और अपने राज्य की स्थापना के लिए अनेकानेक शत्रुओं का सामना भी किया था, किन्तु राज्य-सत्ता के स्थापित हो जाने के उपरान्त इन्द्र आदि सभी देवगण भोग-विलास और मनोरंजन में अत्यधिक लीन हो गये। उन्हें अपने भविष्य की कोई चिन्ता न रही। उनकी दृष्टि में जीवन सदैव सुखमय हो गया और उसका पूर्ण उपभोग करना ही वे अपना चरम उद्देश्य समझने लगे। खाना-पीना, यज्ञ करना, नित्य नये उत्सव मनाना, जूआ खेलना, नृत्य करना, गाने-बजाने में लीन रहना इत्यादि उनके दैनिक कृत्य थे। अतः देव-संस्कृति में जो-जो प्रमुख विशेषताएँ ज्ञात होती हैं, उन्हें निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं:—

१—गंगा-वेदांक, पृ० १८१। २—ऋग्वेद १।१६१।
३—ऋग्वेद, ४।२६।१-२ ४—वही, १०।४८
५—कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, पृ० १८०।
६—शतपथ ब्राह्मण २।१।३।४, ११।१।२।१२
७—ताड्य ब्राह्मण, २२।१२।१

(१) अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता,	(६) सोम एवं सुरापान में रुचि,
(२) अनन्त ऐश्वर्य की प्राप्ति,	(७) यज्ञों में आस्था,
(३) भव्य एव विशाल भवनो में निवास,	(८) विलास-प्रियता,
(४) सगीत-प्रियता,	(९) आत्मवाद की प्रबलता, और
(५) अलकार-प्रियता,	(१०) अमरता की भावना का प्रसार।

कामायनी मे देव-सस्कृति का निरूपण

१ **अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता**—कामायनी के 'चिन्ता' सर्ग में देवों की अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता का विशद उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है कि देवताओं ने विश्व भर के अपार बल, वैभव एव आनन्द को अपने अधिकार मे कर लिया था। सर्वत्र उद्वेलित लहरो के समान इनकी समृद्धि का सुख-सचार होता था। सूर्य की किरणो के समान इनकी कीर्ति, दीप्ति और शोभा चारो ओर नृत्य करती थीं। देवो की शक्ति इतनी अपरिमित थी कि प्रकृति उनके पद-तल मे झुकी रहती थी और पृथ्वी इनके चरणो से आक्रन्त होकर प्रतिदिन काँपती रहती थी।[1]

२ **अनन्त ऐश्वर्य की प्राप्ति**—कामायनी मे देवो के अनन्त ऐश्वर्य का भी वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है कि देवताओं ने अनन्त सुख का सग्रह किया था। उनके सुरभित अचल मे जीवन के मधुमय निश्वास पलते थे। उस अनन्त वैभव से भरे हुए कोलाहलमय वातावरण मे देव-जाति के सुख एव विश्वास की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पडती थी। देवताओ द्वारा भोगे जाने वाले सुखो की गणना करना कठिन है। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य ही सुखोप-भोग बन गया था। इस देव-जाति में सम्पूर्ण सुख इस तरह केन्द्रीभूत हो गये थे, जिस तरह आकाश-गगा मे नये-नये तुषार-कणो का सघन मिलन होता है।[2]

३ **भव्य एव विशाल-भवनों में निवास**—'कामायनी' मे देवताओं के भव्य एव विशाल भवनो का सकेत भी मिलता है। वहाँ पर लिखा है कि देवताओं के भवन रत्न-जटित होते थे, वे चूने से पुते हुए थे तथा उनमें जगह-जगह पर वातायन भी छूटे रहते थे, जिनमे से 'मधु मदिर समीर' आया करता था।[3] उनमे रात्रि के समय मणियों के दीपक जलते थे[4] तथा उनके आस-पास उद्यानों मे कुसुमित कुजें होती थीं, जिनमे देव और देवागनायें परस्पर प्रेमालिंगन करते हुए विहार करते थे।[5]

४ **सगीत-प्रियता**—कामायनी मे देवो की सगीत प्रियता का भी विशद वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है कि देवगण कुसुमित कुजो मे एकत्र होकर नृत्य

१—कामायनी, पृ० ६। २—वही, पृ० ८। ३—वही, पृ० १२।
४—वही, पृ० ७। ५—वही, पृ० १०।

करते, गाने गाते और 'वीन' आदि वाद्यों को बजाया करते थे।[1] नृत्य के समय देवांगनाओं के कंकण और नूपुरों की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। उनकी छाती पर हार हिला करते थे। वे अनंग-पीडा के समान अपनी अंग-भंगियों का प्रदर्शन किया करती थी तथा उनके गीतों मे स्वर और लय का सुन्दर सयोग रहता था।[2]

५. अलंकार-प्रियता—देवताओं को अपने-अपने शरीरो को सुसज्जित करने का बड़ा चाव था। कामायनी में लिखा है कि देवागनाएँ प्राय. हाथों में कंकण, पैरों में नुपुर *तथा गले में मणियों के हार एवं पारिजात पुष्पों की मालाएँ* पहनती थीं।[3] अपने मुखों को सजाने के लिए प्राय देवागनायें कपोलों पर 'कल्पवृक्ष का पीत पराग' लगाया करती थी।[4]

६. सोम एवं सुरापान—कामायनी मे देवों को सोम एव सुरा दोनों का पान करते हुए वर्णन किया है। यहाँ लिखा है कि प्रायः यज्ञ के अवसर पर देवगण सोमपान करते थे[5] तथा अन्य आनन्दोल्लास के अवसर पर वे सुरापान किया करते थे।[6] प्रायः नृत्य-गान के समय देवता लोग अवश्य सुरापान करते थे। देवगण नित्य सुरापान करके मधुकर के मकरन्द-उत्सव की भाँति नित्य उन्मत्तता के साथ झूमते हुए आनन्दोत्सव मनाते थे, उनके मुखो से सुरा की सुरभि निकलती रहती थी, मुख लाल पड जाता था और आँखें आलस्य और अनुराग से भरी रहती थी।[7]

७. यज्ञों में आस्था-कामायनी मे देवों के यज्ञ-कर्म का उल्लेख मिलता है। यहाँ लिखा है कि सुर-संस्कृति में देव-यज्ञो का विशिष्ट स्थान है। इन यज्ञों में अन्न, सोम, पशु-मांस आदि की आहुतियाँ दी जाती थी।[8] यह यज्ञ-कर्म अत्यन्त जटिल एवं विस्तृत होता था। इसमे बिना पुरोहित के सफलता नही मिलती थी और प्रायः मंत्रावरुण यज्ञ अधिक हुआ करते थे।[9] देवता लोग *यज्ञों को जीवन मे सुख प्रदान करने वाला, कार्यों की प्रेरणा देने वाला, जीवन* मे गतिशीलता उत्पन्न करने वाला, अपनी उत्सव-लीला से उदासीनता को दूर करने वाला आदि मानते थे।[10] यज्ञ के समय पहले पशु को यूप से बाँधकर यज्ञ-वेदी पर ही उसका वध किया जाता था, जिससे उसके रुधिर के छींटे वेदी

१—कामायनी, पृ० १०। २—वही, पृ० ११। ३—वही, पृ० ११, १२।
४—वही, पृ० ११। ५—वही, पृ० ११७। ६—वही, ११।
७—वही, पृ० ११। ८—वही, १३, ३१, ३२।
९—वही, पृ० ११३-११४। १०—वही, पृ० ११५।

के चारों ओर फैल जाते थे। वेदी के समीप ही सोम से भरा हुआ पात्र रखा रहता था और यज्ञ करने के उपरान्त पुरोडाश के साथ-साथ सोम-पान किया जाता था।[1] ये यज्ञ कितने ही प्रकार के होते थे, किन्तु कामायनी में पाकयज्ञ तथा मैत्रावरुण यज्ञ का ही वर्णन मिलता है।[2]

८. विलास-प्रियता—कामायनी में देवों की विलास-प्रियता का विस्तृत उल्लेख मिलता है। प्रसादजी ने उन्हें बार-बार वासना के उपासक,[3] विलासिता के मद में तिरने वाले,[4] उन्मत्त विलास में लीन,[5] मधुप सदृश निश्चिन्त विहार करने वाले,[6] नित्य विलासी,[7] विकल वासना के प्रतिनिधि[8] आदि कहा है। साथ ही देवों की विलास-क्रीडाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे कुसुमित कुंजों अथवा रत्न-जटित भव्य भवनों में देवांगनाओं के साथ एकत्रित होकर नित्यप्रति प्रेमालिंगन, स्पर्श, चुम्बन आदि में लीन रहते थे,[9] सम्मिलित रूप से नृत्यगान का आनन्द लिया करते थे,[10] भ्रमरों की तरह देवांगनाओं के समीप सदा से उन्मत्त होकर मँडराया करते थे,[11] उनमें अतृप्ति एवं निर्बाध विलास की अधिकता थी तथा उनके नेत्रों में अपने-अपने प्रेमी-प्रेमिकाओं के दर्शन की भूख सदैव बनी रहती थी।[12] इतना ही नहीं, विलास-वासना की प्रबलता के कारण सभी देवों में एक ऐसी अचेतन गति दिखाई देती थी, जिसके सामने समीर भी पिछड़ जाता था।[13]

९. आत्मवाद की प्रबलता—कामायनी में प्रसादजी ने देवों को 'अहंता' का पुजारी बतलाया है[14] और देवों के आत्मवाद का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रत्येक देवता आत्म-विश्वास में निरत होकर यही कहा करता था कि 'मैं स्वयं सतत आराध्य आत्मा का पुजारी हूँ, मैं स्वयं उल्लासशील शक्ति का केन्द्र हूँ, अतः अन्य किसी की शरण में नहीं जा सकता, मेरा जीवन ही आनन्द-उच्छलित शक्ति का स्रोत है तथा सभी प्रकार के विकास-वैचित्र्य से भरा हुआ है। साथ ही मुझमें वे सभी शक्तियाँ विद्यमान हैं, जिनसे नव-निर्माण के

१—कामायनी, पृ० ११६-११७। २—वही, पृ० ३२-११४।
३—वही, पृ० ७। ४—वही, पृ० ७। ५—वही, पृ० ८।
६—वही, पृ० ९। ७—वही, पृ० १०। ८—वही, पृ० ११।
९—वही, पृ० १०, १२। १०—वही, पृ० ११। ११—वही पृ० ११।
१२—वही, पृ० १२। १३—वही, पृ० ११। १४—वही, पृ० १६१।

कार्य करता हुआ मैं सारे विश्व को सदैव हरा-भरा रख सकता हूँ।'[1] इसी कारण देवगण अपने अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को नहीं मानते थे और स्वयं को ही सर्वोपरि देवता समझते थे। आत्मवाद की इसी प्रबलता के कारण उनमें अहंकार, दम्भ आदि की भी वृद्धि हो गई और इसी अहंकार एवं दम्भ के महामेघ में उनका सब कुछ हविष्य बन गया।[2]

१०. अमरता की भावना—कामायनी में देवों की अमरता का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है और यह बताया गया है कि देवों ने अत्यधिक शक्ति प्राप्त की थी और शक्ति की इसी अधिकता के कारण वे स्वयं को 'अमर' समझने लगे थे। वास्तव में वे नश्वर ही थे और इसी कारण प्रलय में सभी मृत्यु का ग्रास हो गये।[3] देवों की यह अमरत्व-भावना मिथ्या थी। इसी कारण प्रसाद जी ने मनु के मुख से इस अमरता का उपहास करते हुए लिखा है कि 'यह अमरता जीवन की मरु-मरीचिका है, इसे कायरता का अलस विषाद कहना चाहिए, यह अगतिमय है और मोह से मुग्ध जर्जर अवसाद के तुल्य है। इसे *कदापि सत्य नहीं कहा जा सकता। केवल मृत्यु ही सत्य है, जिसकी गोद बर्फ* के तुल्य शीतल होती है, जिसे चिर निद्रा कह सकते हैं, जो मौनता, विनाश, *विध्वंस, अन्धकार, शून्यता, अभाव आदि के रूप में प्रकट होती है तथा जो* सृष्टि के कण-कण में छिपी हुई है।'[4] अतः अमरता की इसी मिथ्या भावना के कारण मनु ने भी स्वयं को अमरता का जीवित 'भीषण जर्जर दम्भ' कहा है।[5]

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने 'कामायनी' में देव-संस्कृति की सभी प्रमुख-प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है और उनकी भोग-प्रधान संस्कृति का निरूपण करते हुए दिखाया है कि विलासिता, मिथ्या अमरता की भावना, पशु-यज्ञों की अधिकता, आत्मवाद की प्रबलता आदि के कारण ही यह सुर-संस्कृति नष्ट हो गई, क्योंकि देवों के ऊपर भी एक ऐसी नियामिका शक्ति थी, जो उनकी उच्छृङ्खल एवं अत्यधिक विलासमयी मनोवृत्ति को सहन न कर सकी और उसने 'जलौघ' द्वारा अमरता का दम्भ भरने वाली इस देव-जाति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसके उपरान्त एक नवीन संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, जो मानव-संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध है।

मानव-संस्कृति—इस संस्कृति में निगम, आगम, बौद्ध, जैन, द्रविड़, आभीर, मुस्लिम, अङ्ग्रेजी आदि कितनी ही संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ

१—कामायनी, पृ० १६१। २—वही, पृ० ७। ३—वही पृ० ७-१०।
४—वही, पृ० १८-१९। ५—वही, पृ० १८।

है। इसमे से निगम-सस्कृति का विकास वैदिक ग्रन्थो के आधार पर हुआ है। इसके अन्तर्गत त्याग और भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति एव सासारिकता और आध्यात्मिकता दोनो को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए चार वर्ण, चार आश्रम, सोलह, सस्कार, धर्माधर्म-विचार, बाह्य और आन्तरिक शुद्धि, भेद मे भी अभेद की स्थापना, प्राणीमात्र की एकता, समदर्शिता 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना आदि का प्रचार मिलता है। इस सस्कृति मे साख्य, योग, न्याय आदि षट् दर्शनो का अपना महत्वपूर्ण स्थान है और इसमे देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, मानवता, प्राणिमात्र का कल्याण एव समन्वय की भावना का बाहुल्य दिखाई देता है। दूसरी, आगम सस्कृति का विकास वैदिक ग्रन्थो के ही आधार पर पल्लवित तन्त्रो एव आगम-ग्रन्थो के आधार पर हुआ है। इस सस्कृति मे तत्कालीन समाज के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म के द्वारा फैली हुई ऊँच-नीच एव जाति-पाँति की भावना को मिटाकर समरसता के सिद्धान्त का प्रचार करते हुए धर्म को सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने का प्रयत्न हुआ है और ऐसी साधना प्रणालियो, उपासना-पद्धतियो, दार्शनिक विचारो आदि का प्रवर्त्तन किया गया है, जिनमे वैदिक और अवैदिक, आर्य और आर्येतर मतो, सम्प्रदायो, धर्मों आदि का समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न दिखाई देता है। आगम सस्कृति मे ससार को सत्य बतलाकर समाज को अकर्मण्य बनाने की अपेक्षा कर्मण्यता की ओर मोड़ने का स्तुत्य प्रयत्न हुआ है और नारी तथा शूद्रो को भी धर्माचरण करने, शास्त्रो को पढने आदि की व्यवस्था करके समाज के सभी अङ्गो के सामूहिक विकास पर जोर दिया गया है।

निगमागम सस्कृतियो के अतिरिक्त बौद्ध एव जैन सस्कृतियो मे सयमित जीवन, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अतिथि-सेवा, आदि का प्रचार करते हुए सामाजिक कुरीतियो का सुधार, यज्ञो म पशु-बलि का विरोध, जीवो पर दया, प्राणिमात्र मे प्रेम, सामाजिक समानता आदि के विचारो का सुन्दर समुच्चय मिलता है। जैनियो के 'अनेकान्तवाद' तथा 'स्याद्वाद' का अत्यधिक महत्व है, जिसमे यह बताया गया है कि 'किसी भी बात को बहुत जोर देकर कहना असत्य है, क्योकि सत्य के अनेक पहलू होते है और हम जब जिस पहलू को देखते है, तब वही पहलू हमे सत्य दिखाई देता है। अत दुनिया मे कोई भी बात ऐसी नहीं है जिसे अधिक बलपूर्वक यह कहा जा सके कि यही ठीक है। इसी कारण सत्य के अनेक पहलुओ के विषय मे सम्यक् दृष्टि रखना ही 'अनेकान्तवाद' तथा 'स्याद्वाद' कहलाते हैं।[1] इसी तरह बौद्ध सस्कृति का

[1]—सस्कृति के चार अध्याय, पृ० ११३।

'मध्यम प्रतिपदा' का सिद्धान्त भी बड़ा महत्वपूर्ण है। जिसमें यह बताया गया है कि मनुष्य को ससार में न तो काम्य वस्तुओ के भोग में ही सर्वदा लीन रहना चाहिए और न व्रत, उपवास, तप आदि के द्वारा शरीर को ही कष्ट देना चाहिए, अपितु इन दोनो अतियो को छोड़कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए—अर्थात् शील, समाधि और प्रज्ञा के सम्पादन मे चित्त लगाकर अनुपम शान्ति प्राप्त करनी चाहिए।[1] इसके अतिरिक्त द्रविड-सस्कृति द्वारा उत्सव-प्रियता, मागलिक अवसरो पर रोली-चन्दन या गोरोचन आदि के प्रयोग, समाधियाँ बनाने आदि का प्रचार हुआ है[2] तथा भवन-निर्माण-कला एवं तक्षण कला का विकास भी सम्पूर्ण भारत मे हुआ है।[3] आभीर-संस्कृति से भारतीय साहित्य मे नायक-नायिकाओं की प्रेम-लीलायें, वन-विहार, उनकी श्रृङ्गारिक चेष्टायें आदि आई हैं।[4] मुस्लिम सस्कृति ने भोग-विलास की नयी-नयी सामग्रियों, जैसे सुन्दर-सुन्दर उद्यान, फुब्बारे, शराब, साकी, गद्दे, तोशक, गलीचे, सुन्दर पलग, जरीदार वस्त्र, सुगंधित तेल, इत्र, पान आदि का प्रचार किया है तथा साकी, शराब, मयखाने से सम्बन्धित प्रेम-कथाओ एव फुटकल साहित्य की रचना की है।[5] अँग्रेजी सस्कृति ने भारतीय जीवन को एक नई दिशा प्रदान की है और विज्ञान के चमत्कार द्वारा नई-नई बातें सोचने का अवसर दिया है। इसी संस्कृति के द्वारा भारत मे पुनः जाति-पाँति तथा छूआछूत की भावना को दूर करने के प्रयत्न हुए, विश्व-बधुत्व की भावना का प्रचार हुआ, जनता में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, समानता आदि की भावनाएँ फैली। सामाजिक आचार-विचारो मे परिवर्तन हुए, बाल-विवाह बद हुए, विधवा-विवाह तथा अन्त-र्जातीय विवाह प्रारम्भ हुए, पर्दा-प्रथा कम हुई, वर्ण-व्यवस्था शिथिल हुई और धार्मिक कट्टरता में भी कमी आई। इतना ही नही, इसी सस्कृति से प्रभावित होकर भारतीय जनता अनुसन्धान एव आविष्कार की ओर भी प्रवृत्त हुई, अपने अतीत जीवन के महत्व को समझने लगी और एकता एवं सङ्गठन की ओर प्रवृत्त हुई।

इस प्रकार मानव-सस्कृति के सर्वांगीण रूप का अध्ययन करने पर यही ज्ञात होता है कि इस पर अनेक सस्कृतियों का प्रभाव पड़ा है, परन्तु इतना होने

१—बौद्ध दर्शन, पृ० ७२–७३।

2—The Vedic Age, p. 165.

३—भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० २८६–२८७।

४—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ११३–११४।

५—भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० ४१८।

पर भी मानव-संस्कृति की आत्मा भारतीय है, उसमें विकृति नहीं आने पाई है। इसका कारण यह है कि भारतीय मनीषियों ने मानव-जीवन का गहन अध्ययन करके उनके लिए जिन आचार-विचारों को सुदूर अतीत में स्थिर किया था, उनकी जड़ें भारतीय जीवन में इतनी गहरी पहुँच चुकी हैं कि कितनी ही सुन्दर एवं भव्य संस्कृतियाँ यहाँ क्यों न आवें, वे उन जड़ों को हिला नहीं सकतीं और यहाँ के जन-जीवन में जो भावनायें पहले से घर कर गई हैं, उनको वे हटा नहीं सकतीं। इस संस्कृति में क्रिया-प्रधान और ज्ञान-प्रधान—दोनों प्रकार की बातों का सुन्दर समन्वय मिलता है। संक्षेप में भारतवर्ष के अन्तर्गत विकसित इस मानव-संस्कृति की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ ज्ञात होती हैं—

१. पंच महायज्ञ का विधान,
२. सोलह संस्कारों की योजना,
३. वर्णाश्रम धर्म का प्रसार,
४. यम-नियमों की व्यवस्था,
५. उपासना-पद्धति का प्रचार,
६. समन्वयवाद या समरसता की प्रधानता,
७. नारी का महत्व,
८. विश्व-मैत्री, मानवता-प्रेम एवं विश्व-बंधुत्व की भावनाएँ,
९. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का महत्व, और
१०. स्वदेश-प्रेम एवं राष्ट्रीयता की प्रबलता।

कामायनी में मानव-संस्कृति का निरूपण

१. पंच महायज्ञ—निगम संस्कृति का यह 'यज्ञ' शब्द कर्त्तव्य का द्योतक है, क्योंकि यहाँ जिन पंच महायज्ञों का विधान किया गया है, उनके द्वारा मानव-मात्र के लिए पाँच दैनिक कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। इन्हीं पाँच कर्त्तव्यों को बौद्ध, जैन एवं आगम-संस्कृति में भी देखा जा सकता है। 'कामायनी' में प्रसादजी ने भी उक्त पंच महायज्ञों में वर्णित मानव-मात्र के दैनिक पाँच कर्त्तव्यों की ओर संकेत किया है। प्रलय से बचने के उपरान्त मनु सबसे पहले अपने निकट संचित अग्नि द्वारा समुद्र के किनारे बैठकर अग्निहोत्र करते हैं,[1] यज्ञ में देव-तुष्टि के लिए नये अन्न की आहुति देते हैं[2] और आगे चलकर 'मैत्रावरुण' यज्ञ करते हैं।[3] इन स्थलों पर स्पष्ट ही 'देवयज्ञ' या 'पितृयज्ञ' अथवा उस विराट् सत्ता के प्रति अपने कर्त्तव्य की पूर्ति का संकेत मिलता है। दूसरे,

---

१—कामायनी, पृ० ३१। २—वही, पृ० ३२। ३—वही, पृ० ११४।

'पाकयज्ञ' करके मनु यज्ञ से अविशिष्ट अन्न अपनी गुफा से कुछ दूरी पर इसलिए रख आते हैं कि यदि कोई और प्राणी जीवित बचा होगा तो वह इस अन्न को खाकर तृप्त हो जायेगा।[1] मनु के इसी भूत-हित बलि के अन्न को देखकर श्रद्धा उनके समीप आती है।[2] अतः मनु की इस प्रक्रिया में हमें 'भूतयज्ञ' एवं 'नृयज्ञ' दोनों का संकेत मिल जाता है। इसके साथ ही यज्ञ के उपरान्त जलती हुई अग्नि के समीप बैठे-बैठे मनु निरन्तर संसार, अपने जीवन एवं विश्व-नियन्ता के बारे में मनन किया करते हैं, उनके हृदय में अनेक प्रश्न उठते हैं और स्वयं ही उन्हें अर्ध-प्रस्फुटित उत्तर मिलते हैं।[3] मनु की इस चिन्तन-प्रणाली में 'ब्रह्मयज्ञ' का आभास मिल जाता है। इस तरह कामायनी में यत्र-तत्र पंच महायज्ञों के संकेत मिलते हैं और दैनिक कृत्यों के रूप में ही उनका उल्लेख भी हुआ है, परन्तु शास्त्रों में जिस तरह उनके करने का क्रम-बद्ध विधान बतलाया है, वैसा वर्णन यहाँ नहीं मिलता। केवल यहाँ अपने इन सांस्कृतिक कार्यों का आभास ही मिलता है।

२. सोलह संस्कार–निगम संस्कृति में पहले सोलह संस्कारों का बड़ा महत्व था और प्रत्येक द्विजातीय को इन सभी संस्कारों को करना पड़ता था। किन्तु आगम, बौद्ध, जैन तथा अन्य विदेशी संस्कृतियों के प्रभाव से पीछे संस्कारों में शिथिलता आने लगी। इसी कारण अब मानव-संस्कृति में कुछ प्रमुख-प्रमुख संस्कार ही शेष रहे हैं, जिनमें से गर्भाधान, नामकरण, विद्यारम्भ, विवाह, अन्त्येष्टि आदि संस्कार प्रसिद्ध हैं। 'कामायनी' में सम्पूर्ण संस्कारों का उल्लेख नहीं मिलता, केवल कुछ प्रमुख संस्कारों की ओर ही संकेत किया गया है। जैसे 'वासना' सर्ग में मनु द्वारा श्रद्धा का कर पकड़ने[4] एवं 'लज्जा' सर्ग में श्रद्धा द्वारा 'स्थिति रेखा से सन्धि-पत्र लिखने'[5] में 'पाणिग्रहण संस्कार' की ओर संकेत मिलता है। 'कर्म' सर्ग के अन्त में पारस्परिक मन-मुटाव के शान्त होने पर श्रद्धा एवं मनु के मिलन[6] द्वारा 'गर्भाधान संस्कार' की ओर संकेत किया गया है। इनके अतिरिक्त 'वानप्रस्थ' और 'सन्यास' संस्कारों का उल्लेख आगे चलकर 'आश्रमों' के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकार केवल चार संस्कारों का ही उल्लेख 'कामायनी' में मिलता है, जो आधुनिक मानव की नूतन एवं परिवर्तित रुचि का द्योतक है।

१—कामायनी, पृ० ३२।
२—वही, पृ० ५२।
३—वही, पृ० ३३।
४—वही, पृ० ६३।
५—वही, पृ० १०६।
६—वही, पृ० १३६

३ वर्णाश्रम धर्म-प्राचीन निगम-सस्कृति मे वर्ण-व्यवस्था का कठोरता के साथ पालन होता था। यद्यपि कुछ व्यक्ति अपने-अपने कर्मों के अनुसार वर्ण-परिवर्तन भी कर सकते थे, तथापि अधिकाश व्यक्तियो को अपने-अपने वर्ण के अनुसार ही कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता था। पीछे जैन, बौद्ध एव आगम-सस्कृतियो के प्रभाव से वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी कठोरता दूर होने लगी। फिर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण समाज मे बराबर बने रहे। अन्त मे मुस्लिम तथा अग्रेजी सस्कृति के प्रभाव से वर्ण-व्यवस्था मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ और आजकल भारतीय सस्कृति मे वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी उतनी कट्टरता एव कठोरता नही है, जितनी निगम-सस्कृति के समय मे विद्यमान थी। 'कामायनी मे भी इसी कारण पहले सारस्वत नगर के अन्तर्गत वर्ण-व्यवस्था की ओर सकेत करते हुए लिखा है कि :—

अपने वर्ग बनाकर श्रम का करते सभी उपाय वहाँ,
उनकी मिलित प्रयत्न-प्रथा से पुर की श्री दिखती निखरी।[1]

किन्तु इस वर्ण-व्यवस्था के कारण ही समाज मे ऊँच नीच, छोटे-बडे, पवित्र-अपवित्र आदि की भावना का प्रसार हुआ। इसी कारण आगे चलकर कवि ने सम्पूर्ण मानव-समाज को अपने-पराये की भावना से ऊपर उठकर और भेद-भाव को भूलकर एक कुटुम्ब मे व्यक्ति समझने की सलाह दी है तथा सारे विश्व को एक नीड मानने का आग्रह किया है।[2]

यही दशा आश्रमो की है। निगम-सस्कृति मे पहले ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वान-प्रस्थ और सन्यास, इन चार आश्रमों की व्यवस्था की गई थी। आगम-सस्कृति मे केवल गृहस्थ और सन्यास इन दो आश्रमो पर ही बल दिया गया। किन्तु अन्य सस्कृतियो के प्रभाव से धीरे-धीरे यह आश्रम-व्यवस्था भी शिथिल होने लगी और आज भारतीय जीवन मे केवल ब्रह्मचर्य और गृहस्थ, इन दो आश्रमों का ही रूप सर्व-साधारण में शेष रह गया है। किन्तु 'कामायनी' मे मानव-सस्कृति के आरम्भिक युग का अधिक उल्लेख होने के कारण मनु के जीवन मे चारो आश्रमो का स्वरूप देखा जा सकता है। जैसे, श्रद्धा के मिलन से पूर्व मनु हिमालय के तपोवन मे निरन्तर अग्निहोत्र, यज्ञ, स्वाध्याय, तपश्चर्या आदि कार्यों मे लीन रहकर ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करते है।[3] श्रद्धा के साथ विवाह करके वे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते हैं और श्रद्धा उनके लिए एक सुखमय गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने के सभी साधन इकट्ठे करती है।[4] गृहस्थाश्रम मे रहते

१—कामायनी, पृ० १८१। २—वही, पृ० २८६।
३—वही, पृ० ३१-३४। ४—वही, पृ० १४६-१५२।

हुए ही मानव को राज्य-व्यवस्था आदि कार्यों में भी लीन रहना पड़ता था। 'कामायनी' में मनु सारस्वत नगर का राज-काज सँभालने, नगर की श्री-वृद्धि करने, नियम बनाने आदि में भी गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करते हैं।[1] इसके अनन्तर 'निर्वेद' और 'दर्शन' सर्ग में मनु सारस्वत नगर की राज्य-व्यवस्था को छोड़कर सरस्वती नदी के किनारे तपश्चर्या में लीन हो जाते है।[2] सारस्वत नगर की राज्य-व्यवस्था उनका पुत्र 'मानव' सँभालता है और शास्त्रों में यह विधान भी है कि वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिए गृहस्थ का भार अपने पुत्र को सौंपा जाता था तथा स्वयं जंगल में रहकर मयमित जीवन व्यतीत करते हुए आत्म-विकास में लीन रहना पड़ता था।[3] कामायनी मनु भी इसी तरह कैलाश गिरि की उपत्यका मे देवाराधना करते हुए वानप्रस्थ आश्रम के नियमो का पालन करते हैं। इसके उपरान्त 'आनन्द' सर्ग मे मनु 'सन्यासाश्रम' का पालन करते हुए दिखाई देते हैं, क्योंकि कैलाश गिरि पर पहुँचकर वे श्रद्धा के साथ आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुए निरन्तर ससृति की सेवा में लीन रहते हैं तथा सन्तोष एवं सुख प्रदान करके सभी प्राणियों की दुःखजन्य ज्वाला को हरते रहते हैं।[4] इस तरह 'कामायनी' में भारतीय संस्कृति के अनुकूल वर्णाश्रम धर्म की ओर भी सकेत मिलते हैं।

४. यम-नियम—निगम-संस्कृति में मानव-जीवन को सन्तुलित बनाने के लिए जिन यम-नियमों की व्यवस्था की गई है, उनमें से पाँच बातें प्रमुख हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। बौद्ध, जैन एवं आगम-संस्कृतियों में भी उक्त पाँचों बातों को मानव-जीवन के लिए अनिवार्य बताया गया है। अतः ये पाँच बातें मानव-संस्कृति में विशेष स्थान रखती हैं। प्रसादजी ने 'कामायनी' में भी उक्त पाँचों बातों का सम्यक् निरूपण किया है। यहाँ श्रद्धा सत्य का आचरण करने के लिए आग्रह करती हुई मनु से स्पष्ट कहती है कि 'यह तुम क्या कहते हो? आज अभी तो तुम किसी और ही भाव-धारा में बह रहे हो, किन्तु कल ही यदि इस भाव-धारा में परिवर्तन होगया तो फिर किसी मित्र के साथ नूतन यज्ञ करने लगोगे और देवो के लिए पशुओं की बलि दोगे। अतः सोचो यह कितने धोखे की बातें हैं।'[5] इसी तरह कामायनी में 'अहिंसा' का वर्णन भी मिलता है। अहिंसा का तात्पर्य केवल हिंसा न करना ही नहीं है, अपितु जीवों के प्रति दया करना और किसी भी प्राणी से द्रोह न करना भी

१—कामायनी, पृ० १८९-१९०।
२—वही, पृ० २३०, २४७।
३—मनुस्मृति ६।१-३५
४—कामायनी, पृ० २८२।
५—वही, पृ० १२६।

अहिंसा के ही अन्तर्गत आता है। 'कामायनी' मे मनु के पशु-वध करने पर श्रद्धा जब मनु को यह समझाती है कि 'अस्त्र का प्रयोग केवल अपनी रक्षा के लिए करना ही ठीक है, उससे कभी निरीह प्राणियों का वध करना उचित नही; क्योंकि जो निरीह प्राणी उपकारी होने मे समर्थ हैं तथा हमारे लिए उपयोगी हो सकते हैं उन्हे क्यो नही जीवित रहना चाहिए ? वे हमारे लिए बड़े ही उपयोगी हैं क्योंकि उनसे ऊन लेकर हम वस्त्र बना सकते हैं और उनके दूध से अपनी भूख शान्त कर सकते हैं। अत ऐसे निरीह प्राणियों से कभी द्रोह करना उचित नही, उन्हे तो हमे पालना चाहिए और यदि हम उनसे कुछ ऊँचे हैं तो हमे ससार-सागर मे उनके लिए सेतु बनाना चाहिए।'[1]

इनके अतिरिक्त 'कामायनी' मे अस्तेय की भावना का भी निर्देश मिलता है। 'अस्तेय' का शाब्दिक अर्थ है चोरी न करना। परन्तु अपने पास जो कुछ है उसी से सन्तुष्ट होकर कदापि दूसरे के धन की इच्छा न करना तथा औरों को सुखी देखकर सुखी होना वास्तव मे 'अस्तेय' कहलाता है। इसी 'अस्तेय' की भावना का निरूपण करते हुए ईशावास्योपनिषद् मे भी यही कहा है कि 'सदैव त्यागपूर्वक उपभोग करो और कदापि किसी के भी धन के लिए इच्छा मत करो।'[2] प्रसादजी ने 'कामायनी' मे भी इसी 'अस्तेय' भाव का उल्लेख करते हुए श्रद्धा के मुख से कहा है कि 'अपने मे सब कुछ भर के कोई व्यक्ति कैसे अपना विकास कर सकता है ? यह एकान्त स्वार्थ तो भीषण है, इससे तो व्यक्ति का नाश हो जाता है। इसलिए दूसरो का सर्वस्व अपहरण करने की अपेक्षा जो कुछ अपने पास है उसी मे सन्तोष करते हुए जीवन को सुखी बनाना उचित है। इसके लिए सरल मार्ग यह है कि औरो को हँसते देखो और स्वय भी हँसते हुए सुख पाओ। इस तरह अपने सुख को विस्तृत करके सभी प्राणियो को सुखी बनाने की चेष्टा करो।'[3]

'ब्रह्मचर्य' का साधारण अर्थ है, इन्द्रियो को वश मे करके जीवन-यापन करना। परन्तु इसका एक लाक्षणिक अर्थ भी है। 'ब्रह्म' का अर्थ है बड़ा, महान्, विशाल। 'चर्य' शब्द 'चर गति भक्षणयो' धातु से बना है, जिसका अर्थ है चलना या गति करना। अत ब्रह्म होने के लिए, क्षुद्र से महान् होने के लिए, विषयो के छोटे-छोटे रूपो से निकलकर आत्मतत्त्व के विराट् रूप मे अपने को

१—कामायनी, पृ० १४६-१४७।
२—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद् धनम्। ईशोपनिषद् १।१
३—कामायनी, पृ० १३२।

अनुभव करने के लिए चल पड़ना 'ब्रह्मचर्य' है।[1] 'कामायनी' में 'शक्तिशाली हो विजयी बनो' कहकर श्रद्धा ने मनु को आगे बढ़ने की जो प्रेरणा दी है और मानवता को विजयिनी बनाने का जो आग्रह किया है वहाँ इन्द्रियों के संयम के साथ-साथ महान् बनाने वाले ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विचारों का भी उल्लेख मिलता है।[2]

'अपरिग्रह' का तात्पर्य है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना। साधारणतया दूसरे की वस्तुओं का परित्याग 'अस्तेय' है और अपनी वस्तु का भी परित्याग कर देना 'अपरिग्रह' कहलाता है।[3] 'कामायनी' में इसी 'अपरिग्रह' की भावना का उल्लेख करते हुए प्रसादजी ने श्रद्धा के मुख से कहा है कि 'मनुष्य को कभी समस्त सुखों को अपने में ही सीमित नहीं करना चाहिए और न कभी दूसरे प्राणियों की पीड़ा देखकर अपना मुँह ही मोड़ना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से उस व्यक्ति की दशा उन सूखी और मुरझाई कलियों के समान हो जायगी, जो समस्त सौरभ को अपने अन्दर ही बन्द कर लेती हैं और जो मकरन्द-बिन्दु से सरस नहीं होती। अन्त में ऐसे परिग्रही या संचयशील व्यक्ति को पृथ्वी पर कहीं भी आमोद के दर्शन नहीं होते। अतः केवल अपने सन्तोष के लिए कभी समस्त सुखों का संग्रह करना ठीक नहीं।'[4]

५. उपासना-पद्धति—मानव-संस्कृति में अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ईश्वर, आराध्य देव, सिद्ध पुरुष, साधु-सन्त आदि की मूर्ति बनाकर उनकी उपासना का विधान मिलता है। प्रायः समस्त भारत में शिव, राम, कृष्ण आदि की उपासना का अधिक प्रचार है। 'कामायनी' में 'शिव' की उपासना को महत्व दिया गया है और बतलाया गया है कि 'उनकी शरण में जाते ही समस्त पाप और पुण्य नष्ट होकर निर्मल और पवित्र बन जाते हैं, समस्त मिथ्या ज्ञान समाप्त हो जाता है और प्राणी समरस होकर अखण्ड आनन्द को प्राप्त करता है, क्योंकि शिव स्वयं समरस एवं अखण्ड आनन्द वेशधारी हैं।'[5] किन्तु शिव को चिति का रूप प्रदान करके शिव की उपासना को भी संकीर्ण दायरे से निकाल कर अत्यन्त व्यापक बना दिया गया है।

६. समन्वयवाद या समरसता—मानव-संस्कृति के आधार पर जिस समन्वयवाद की भावना का प्रचार सम्पूर्ण भारतीय जीवन में दिखाई देता है, उसका विशद

१—आर्य-संस्कृति के मूलतत्व, पृ० २३४।
२—कामायनी, पृ० ५७-५६।
३—आर्य संस्कृति के मूलतत्व, पृ० २४२। ४—कामायनी, १३३।
५—वही, पृ० २५४।

उल्लेख कामायनी' मे भी मिलता है। 'कामायनी' के इस समन्वयवाद का विस्तृत विवेचन इसी प्रकरण मे आगे चलकर 'प्रसादजी के समन्वयवाद' नामक शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। इसके अतिरिक्त आगम सस्कृति ने प्राणिमात्र मे समता एव समन्वय स्थापित करने के लिए समरसता के सिद्धान्त की स्थापना की है। यह सिद्धान्त भी समन्वयवाद का एक अग है। 'कामायनी' मे इस 'समरसता' के सिद्धान्त का भी सुन्दर निरूपण मिलता है। 'समरसता' का विस्तृत विवेचन प्रकरण७ के अन्तर्गत कामायनी के दार्शनिक पक्ष का स्पष्टीकरण करते हुए किया गया है।[1]

७ नारी की महत्ता—आगम और निगम सभी सस्कृतियो मे नारी को अद्भुत एव अलौकिक शक्ति-सम्पन्न, अनन्त-सौन्दर्यमयी, सहधर्मिणी, मानव-जीवन को समुन्नत बनाने वाली सम्पूर्ण अभावो को दूर करने वाली एव अपनी उदार एव सौम्य भावनाओं तथा अपने सतत प्रयत्नो द्वारा मानव के अतृप्त जीवन को तृप्ति प्रदान करने वाली नव-जीवन का सचार करने वाली, सम्पूर्ण कष्टों को हरने वाली आदि कहा है। 'कामायनी' मे भी नारी के इसी महत्व का निरूपण हुआ है। यहाँ श्रद्धा-पात्र के रूप मे प्रसादजी ने भारतीय नारी के आदर्श को चित्रित किया है, क्योकि वह त्याग और उदारता की देवी दया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास आदि से परिपूर्ण है,[2] वह अमृत-स्वरूपा है,[3] वह थकी हुई चेतना के लिए मलय-पवन है,[4] चिर विषाद रूपी अन्धकार के लिए उषा की ज्योति-रेखा है, जीवन की मरुज्वाला के लिए सरस बरसात है,[5] वह सुहाग की सजल वर्षा है, स्नेह की मधु रजनी है, जीवन की चिर अतृप्ति के लिए सन्तोषदायिनी है,[6] आदि। इतना ही नही, वह अनुपम सौन्दर्यमयी है और उसका शरीर पराग के परमाणुओं से रचा हुआ है।[7] साथ ही वह सम्पूर्ण जगत की एकमात्र मगल-कामना है, वह विश्व-चेतना से पुलकित रहती है तथा पूर्ण काम की साकार प्रतिमा है। उसकी तुलना एक ऐसे गम्भीर महाह्रद से की जा सकती है, जो अपनी महिमा के निर्मल जल से परिपूर्ण हो।[8] इस तरह कामायनी मे नारी के अलौकिक गुणो का चित्रण करते हुए उसके महत्व का प्रतिपादन किया गया है।

१—देखिए, पृ० ४२५-४२६। २—कामायनी, पृ० ५७।
३—वही, पृ० १०६। ४—वही, पृ० २१६।
५—वही, पृ०, २१७। ६—वही, पृ०२२६।
७—वही, पृ० ४७-४८। ८—वही, पृ० २६०।

८. विश्व-मैत्री, मानवता-प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व–निगम-संस्कृति में सबसे प्रबल स्वर विश्व-प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व का सुनाई देता है। आगम-संस्कृति में भी विश्व-बन्धुत्व पर अधिक बल दिया है और बौद्ध-संस्कृति तो विश्व-मैत्री के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त आधुनिक युग में प्रवर्तित ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, आदि के द्वारा भी मानवता-प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना को अधिक बल मिला है। यही कारण है कि कामायनी में मानवता-प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ पर 'श्रद्धा' सर्ग में पहले मानवता की अक्षय कीर्ति, उसके अभ्युदय एवं उसकी विजय की कामना की गई है।[1] इसके अनन्तर 'कर्म' सर्ग में श्रद्धा मनु को प्राणी-मात्र से प्रेम करने एवं सभी को सुखी बनाने का आग्रह करती है।[2] श्रद्धा की इस विश्व-मैत्री की भावना को मनु भी स्वीकार करते हैं और वे 'निर्वेद' सर्ग में स्पष्ट कहते हैं कि 'तुमने मिलकर मुझे बताया सबसे करते मेल चलो।'[3] इतना ही नहीं, यहाँ इड़ा भी मनु को विश्व-मैत्री या विश्व-बन्धुत्व की भावना को अपनाने का आग्रह करती हुई यहीं कहती है :—

ताल ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।[4]

इसके अनन्तर 'आनन्द' सर्ग में मनु भी यही कहते हैं कि 'देखो, यहाँ पर कोई भी पराया नहीं है। सभी एक हैं। न हम कोई अन्य हैं और न ये कुटुम्बी। हम सब एक ही अङ्ग के अवयव हैं, जिनमें तनिक भी कोई कमी नहीं है। अतः हम केवल एक हमी हैं। ····· यहाँ जो सबकी सेवा की जाती है, वह किसी अन्य की सेवा नहीं है, अपितु वह अपने ही सुखों की सृष्टि है, क्योंकि यहाँ का अणु-अणु और कण-कण अपना ही है और द्वैत के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है।'[5] इस तरह सम्पूर्ण 'कामायनी' में यत्र-तत्र विश्व-मैत्री, मानवता-प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व की भावनाएँ भरी हुई हैं।

९. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–मानव-संस्कृति में ये चारों मानव के पुरुषार्थ माने गये हैं। इन्हीं पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए चार आश्रमों की भी कल्पना की गई थी। इस वर्ग-चतुष्टय में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का सुन्दर समावेश हुआ है तथा मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति के चार साधन एकत्रित किए गए हैं। 'धर्म' से तात्पर्य उन व्यावहारिक बातों से है, जो जीवन को प्रेरणा देती हैं और जीवन को प्रेरणा

१—कामायनी, पृ० ५८-५९। २—वही, पृ० १३२-१३३।
३—वही, पृ० २२६। ४—वही, पृ० १६३।
५—वही, पृ० २८७-२८९।

देने वाली प्रमुख बातें पांच मानी गई है—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[1] 'कामायनी' में वर्णित इन सभी बातों का उल्लेख 'यम-नियम' के अन्तर्गत पहले ही किया जा चुका है। 'अर्थ' से अभिप्राय धन-सम्पत्ति आदि से है और 'काम' से तात्पर्य हमारी कामना और भावना से है। इसलिए 'अर्थ' का सम्बन्ध हमारी शारीरिक आवश्यकताओं से है और 'काम' का सम्बन्ध हमारी मानसिक आवश्यकताओं एवं कामनाओं से है।[2] मानव को शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी प्रयत्न करने पड़ते हैं। किन्तु जब वह धर्म, काम और मोक्ष को भूल कर केवल 'अर्थ' के ही पीछे पड़ जाता है और अपार सम्पत्ति एकत्र कर लेता है, तब उसमें विलासिता की वृद्धि हो जाती है और वह अपने जीवन का सन्तुलन खो बैठता है। 'कामायनी' में सारस्वत नगर के अन्तर्गत मनु की यही दशा हुई है कि वे अन्य सभी बातें भूलकर एकमात्र 'अर्थ' के पीछे पड़ जाते हैं और इस आर्थिक दृष्टिकोण की प्रबलता के कारण वे विलास में मदांध होकर पतन के गर्त में जा गिरते हैं।[3] तीसरे 'काम' का सम्बन्ध मानसिक आवश्यकताओं से है, जिनकी पूर्ति के लिए संगीत, नृत्य, मूर्ति आदि ललित-कलाओं का जन्म हुआ है। यह 'काम' वासना का पर्यायवाची नहीं है, अपितु सृष्टि का सृजनकर्ता है। भारतीय संस्कृति में 'काम' को 'इच्छा' या 'कामना' का प्रतीक न मानकर अत्यन्त भव्य एवं उदार रूप प्रदान किया गया है। 'कामायनी' में भी काम का यही भव्य रूप अपनाया गया है, जिसका विस्तृत विवेचन छठे प्रकरण में किया गया है।[4] चौथे 'मोक्ष' से तात्पर्य निवृत्ति या वैराग्य से है। जहाँ धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों प्रवृत्ति-मार्ग की ओर ले जाते हैं, वहाँ 'मोक्ष' के द्वारा निवृत्ति-मार्ग की योजना की गई है। कामायनी के अन्तिम चार सर्गों—'निर्वेद', 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' में इसी 'मोक्ष' का वर्णन मिलता है। 'कामायनी' के अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में जहाँ मनु को समस्त सांसारिक मोह-माया से दूर एक संन्यासी की भांति सात्विक एवं आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुए दिखाया गया है, वहाँ वे पूर्णतया 'मोक्ष' को ही प्राप्त हुए हैं, क्योंकि उस समय वे समरसता एवं पूर्ण अद्वैतभाव को प्राप्त होकर अखण्ड आनन्द लाभ करते हैं और यही जीव की मुक्तावस्था है। इस तरह 'कामायनी' में मानव-संस्कृति के वर्ग-चतुष्टय का सुन्दर निरूपण मिलता है।

१—आर्य संस्कृति के मूलतत्व, पृ० २२२। २—वही, पृ० २२४।

३—कामायनी पृ० १९४, २०२।

४—देखिए, ६, पृ० ३७६-३७८।

१०. स्वदेश-प्रेम एवं राष्ट्रीयता—मानव-संस्कृति में स्वदेश-प्रेम एवं राष्ट्रीयता की भावना को जगाने के लिए प्रारम्भ से ही प्रयत्न दिखाई देते हैं। 'कामायनी' में भी उक्त दोनों भावनाएँ स्थान-स्थान पर व्यक्त हुई हैं, जैसे—यहाँ पर हिमालय, कैलाश, मानसरोवर, मन्दाकिनी एवं अन्य वन-प्रदेश, नदी, निर्झर आदि की भव्य झाँकियों में स्वदेश-प्रेम की भावना फूट निकली है।[1] इसी प्रकार 'कामायनी' में जहाँ 'कल्याण भूमि यह लोक',[2] या 'निर्वासित अधिकार आज तक किसने भोगा'[3] अथवा 'प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में'[4] आदि के रूप में प्रसादजी के जो हृदयोद्‌गार व्यक्त हुए हैं, उनमें राष्ट्रीयता की भावना का भी प्रबल स्वर सुनाई पड़ता है।

सारांश यह है कि 'कामायनी' में भारतीय संस्कृति की अधिकांश प्रमुख-प्रमुख विशेषताओं को चित्रित करने का प्रयत्न हुआ है। भारतीय संस्कृति में प्रवृत्ति-निवृत्ति, भोग-त्याग, भौतिकता-आध्यात्मिकता, धार्मिकता, पवित्रता, सच्चरित्रता आदि की जितनी भी उन्नत भावनाएँ मिलती हैं, कामायनी में उन सभी का निरूपण किया गया है। अतः महाकाव्य की दृष्टि से जहाँ 'कामायनी' आधुनिक युग के काव्यों में सर्वश्रेष्ठ है, वहाँ सांस्कृतिक निरूपण की दृष्टि से भी उसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। निस्सन्देह भारतीय संस्कृति का सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत करने वाले महाकाव्यों में तुलसी कृत 'रामचरितमानस' के उपरान्त 'कामायनी' का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति का भौतिक एवं आध्यात्मिक रूप—भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता ही यह है कि इसकी विचारधारा में भौतिक एवं आध्यात्मिक—दोनों रूपों को देखा जा सकता है। इस संस्कृति की सबसे बड़ी महत्ता वर्णाश्रम धर्म की स्थापना में है। यहाँ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की जो व्यवस्था की गई थी, उसमें ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत सात्त्विकता एवं आध्यात्मिकता की प्रधानता मानी गई और शेष तीनों वर्णों में से क्षत्रिय वर्ण में सात्त्विकता एवं राजसिकता, वैश्य वर्ण में राजसिकता एवं तामसिकता तथा शूद्र वर्ण में केवल तामसिकता की प्रबलता स्वीकार की गई थी। ये चारों वर्ण ही भारतीय समाज का रूप प्रस्तुत करते थे, जिनमें से ब्राह्मण वर्ण भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का प्रतीक था तथा शेष तीन वर्णों में उसका भौतिक रूप विद्यमान था। इसी तरह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों में से ब्रह्मचर्य तथा संन्यास आश्रमों में सात्त्विकता एवं

१—देखिए, ६, पृ० २१, २६१, २८७, १७६, २४७, २८१, २८३।
२—वही, पृ० १६६। ३—वही, पृ० १६२। ४—वही, पृ० १६३।

आध्यात्मिकता की प्रबलता होने के कारण वे आश्रम भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक रूप के परिचायक थे तथा गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था मानव के भौतिक विकास के लिए की गई थी। अतः यह आश्रम इस संस्कृति के भौतिक रूप का द्योतक था।

भारतीय संस्कृति में धर्म का लक्षण है—आचरण करते हुए अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति होना। अभ्युदय से तात्पर्य सांसारिक एवं भौतिक सुखों की उन्नति से है और निःश्रेयस् का अभिप्राय कल्याण, मोक्ष या आध्यात्मिक आनन्द से है। इन्हीं को दूसरे शब्दों में प्रेय तथा श्रेय भी कह सकते हैं, क्योंकि अभ्युदय में जिस उन्नति की कामना की जाती है वही प्रेय है तथा निःश्रेयस् में जिस कल्याण, मोक्ष या आध्यात्मिक आनन्द की कल्पना की जाती है वही श्रेय है। प्रेय क्षणिक होता है और श्रेय स्थायी माना गया है। इसके विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् में एक कथा आती है, जिसमें याज्ञवल्क्य मुनि अपनी पत्नी मैत्रेयी के प्रति उपदेश करते हुए भौतिक सुखों को प्रेय एवं आत्मतत्व की प्राप्ति को 'श्रेय' बतलाते हैं।[1] इस तरह भारतीय ग्रन्थों में अभ्युदय तथा निःश्रेयस् एवं प्रेय तथा श्रेय का वर्णन मिलता है। किन्तु भारतीय संस्कृति धर्माचरण द्वारा दोनों की सिद्धि प्राप्त करने का आग्रह करती है, इसीलिए इसमें भौतिकता एवं आध्यात्मिकता—दोनों के दर्शन होते हैं।

भारतीय संस्कृति में दो विद्याओं की प्राप्ति के लिए मानव-मात्र से आग्रह किया गया है। यहाँ उपनिषदों में कहा गया है कि मानव को अपने जीवन को उन्नत बनाने के लिए 'अपरा' और 'परा' नाम की दो विद्यायें सीखनी चाहिए। 'अपरा' विद्या का अर्थ है भौतिक उन्नति की ओर ले जाने वाली वेद-वेदांग विद्या और 'परा' का अर्थ है अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली अध्यात्म विद्या।[2] इस प्रकार दोनों विद्याओं की प्राप्ति द्वारा यहाँ भौतिकता एवं आध्यात्मिकता दोनों के समन्वय की ओर संकेत किया गया है।

इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग, उपासना और कर्मकाण्ड, भक्ति और ज्ञानकाण्ड, साहित्य और दर्शन, कला और विद्या, भवन और मन्दिर निर्माण, उत्सव और रीति रिवाज आदि में सर्वत्र भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का संतुलित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। अतः यहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आध्यात्मिकता एवं भौतिकता—दोनों के समन्वित स्वरूप को ही महत्व दिया गया है।

१—बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५ २—मुंडकोपनिषद्, १।१।४-५

'कामायनी' में भी भारतीय संस्कृति के इसी समन्वित स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत की गई है और मनु के जीवन मे भोग और त्याग, प्रेय और श्रेय, अभ्युदय एवं निश्रेयस् दोनो—रूपों को अङ्कित करने के लिए ही पहले उन्हें कामायनी. के 'वासना', 'कर्म', 'ईर्ष्या', 'इडा', 'स्वप्न' 'संघर्ष' आदि सर्गों में अत्यन्त विलास-प्रिय, भौतिक सुखों मे अनुरक्त एव अभ्युदय मे मग्न दिखाया गया है और 'निर्वेद' सर्ग से लेकर 'आनन्द' सर्ग तक उनके आध्यात्मिक जीवन या निश्रेयस् की झाँकी प्रस्तुत की गई है। अत. 'कामायनी' मे भारतीय संस्कृति के भौतिक एवं आध्यात्मिक—दोनों रूपों का चित्रण करते हुए मानव-जीवन मे दोनों की अनिवार्यता की ओर संकेत किया गया है।

सांस्कृतिक सस्थायें और कामायनी

१. कुटुम्ब-संस्था—अत्यत प्राचीन काल से भारत में कितनी ही सास्कृतिक सस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। ये सस्थायें समाज की आवश्यकता के अनुसार बनी हैं। पहले-पहल जब मानवों का प्रादुर्भाव हुआ तो वे इधर-उधर घूमा करते थे, फिर इन लोगों ने खुले मे ही किसी पानी वाले स्थल के निकट वास करना आरंभ किया। आग के प्रयोग से इन्हें परिचय हो चुका था। अत खुले में ही रात को ये लोग सोने की जगह के चारों ओर आग जला लेते थे और दिन में आग को राख से ढक देते थे। धीरे-धीरे कुछ थोडे से लोगो का एक समूह बना, जिसमे एक बुड्ढा आदमी समूह का पिता या स्वामी होता था। शेष समूह के सभी स्त्री, युवा, बच्चे आदि उससे डरते थे। वह तो बैठा-बैठा चकमक पत्थर तथा हड्डियो के औजार बनाया करता था और उनको तेज किया करता था, शेष बच्चे उसका अनुकरण करते थे और स्त्रियाँ तथा अन्य युवा लोग उसके लिए ईंधन तथा चकमक पत्थर बीन कर लाया करते थे। यहीं से हमें 'कुटुम्ब-संस्था' के जन्म का संकेत मिलता है, जो सांस्कृतिक सस्थाओं मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है और जिसके द्वारा मानवों मे आत्मीयता का संचार हुआ है। इस सस्था का जन्म प्राचीन पाषाण-युग मे हुआ था।[1] 'कामायनी' में इस कुटुम्ब-सस्था का वर्णन 'वासना' सर्ग में मनु और श्रद्धा के मिलन के उपरान्त मिलता है। श्रद्धा जैसे ही आत्म-समर्पण करके मनु की सहायता करने को उद्यत होती है और मनु के समीप ही गुफा में रहने लगती है, वैसे ही वह एक कुटुम्ब का

१—मानव की कहानी (भाग १), पृ० ११६-११७।

निर्माण करती है,[1] जिसमे एक पशु, मनु और श्रद्धा—पहले ये तीन सदस्य होते हैं। इसके उपरान्त मनु कुटुम्ब के एक सदस्य उस पशु का वध करते हैं, जिससे श्रद्धा खिन्न हो उठती है और मनु को ऐसे हिंसा-कर्म से रोकती है। जब वह गर्भवती हो जाती है और ऐसी अवस्था मे मनु उसे अकेला छोड जाते हैं, तब पुत्र के रूप मे एक और सदस्य उसके कुटुम्ब मे बढ जाता है। धीरे-धीरे अब उसके कुटुम्ब का विस्तार होता है और अन्तिम 'आनन्द' सर्ग मे इडा, सारस्वत-नगर-निवासी, कुमार, मनु आदि सभी उसके बृहत् कुटुम्ब के सदस्य बन जाते हैं और सभी के अन्दर आत्मीयता का सचार हो जाता है।[2] इतना ही नही, यहाँ 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' के आधार पर सारा विश्व ही उस उदार आशय वाली श्रद्धा का कुटुम्ब बन जाता है। अत 'कामायनी' मे आत्मीयता को उत्पन्न करने वाली इस कुटुम्ब-सस्था के लघु और महान्—दोनो रूपो का चित्रण मिलता है।

२ कृषि-सस्था—आरम्भिक काल मे मानव फल-फूल बीनकर या शिकार करके अपना पेट भरता था, किन्तु धीरे-धीरे उसने पहले पशु-पालना प्रारम्भ किया और वह गाय, बैल, भेड, बकरी, घोडा, कुत्ता आदि पालने लगा। तदुपरान्त जंगल मे उत्पन्न धान, गेहूँ, जौ, मक्का आदि के बीजों को बीन कर और उन्हें बोकर वह खेती करने लगा।[3] इस तरह पशु-पालन तथा खेती करने के द्वारा मानव ने दूसरी सास्कृतिक सस्था को जन्म दिया, जो "कृषि-सस्था" के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रादुर्भाव नव पाषाण-युग मे हुआ था।[4] 'कामायनी' मे इस सस्था का उल्लेख 'वासना' तथा 'ईर्ष्या' सर्ग मे मिलता है।[5] क्योंकि इन दोनों सर्गों मे श्रद्धा को शस्य, पशु और धान्य का सचार करते हुए, बालियाँ बीनकर अन्न इक्ट्ठा करते हुए तथा बीजो का संग्रह करते हुए दिखाया गया है। इसके उपरान्त 'स्वप्न' सर्ग मे सारस्वत नगर की श्री-वृद्धि के समय इस सस्था का पूर्ण विकास दिखाते हुए लिखा है कि "खेतों मे हैं कृषक चलाते हल प्रमुदित श्रम स्वेद सने।"[6] इस तरह मानव ने अपनी भोजन की समस्या को हल करने के लिए जिस 'कृषि-सस्था' का श्रीगणेश किया था, उसके प्रादुर्भाव एव विकास का उल्लेख 'कामायनी' मे भी मिलता है।

३. गृह-उद्योग-सस्था—नव पाषाण-युग में मानव ने खेती और पशु-पालन के साथ ही चाक का भी आविष्कार किया और वह मिट्टी के बर्तन बनाने लगा।

१—कामायनी, पृ० ८१। २—कामायनी, पृ० २८७।
३—मानव की कहानी (भाग १), पृ० १३५।
४—वही, (भाग १), पृ० १३५।
५—कामायनी, पृ० ८२, १४१। ६—कामायनी, पृ० १८१।

इसी समय वह सरकंडों तथा तिनकों के भी बर्तन बनाने लगा। पत्तों एवं खालों से शरीर को न ढक कर अब वह पौधों के रेशो तथा ऊन के वस्त्र बनाने लगा। उसने घर बनाना भी सीख लिया और कुटीर-उद्योग की ओर ध्यान देने लगा।[1] यहीं से 'गृह-उद्योग-संस्था' का जन्म हुआ, जो सास्कृतिक संस्थाओं मे मानव के क्रमिक विकास की सूचक है तथा जिसके द्वारा मानव अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करने, अपने लिए सुरक्षित स्थान, दुर्ग, अस्त्र-शस्त्र आदि के बनाने मे भी सफल हुआ है। 'कामायनी' मे 'ईर्ष्या' सर्ग के अंतर्गत इस 'गृह-उद्योग-संस्था' का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर श्रद्धा कोमल काले ऊनो की नव पट्टिका बनाने में लगी रहती है।[2] पशुओं की ऊन काटती और उनका दूध निकालती है।[3] सुन्दर कुटीर का निर्माण करती है[4] तथा तकली पर ऊन कातती है।[5] इसके अनन्तर 'स्वप्न' सर्ग मे इस सस्था का पूर्ण विकास दिखाया गया है, जहाँ पर धातु गलाना, आभूषण और अस्त्र बनाना, पुष्प-चुनना, लोध्र-कुसुम-रज से गन्ध-चूर्ण बनाना, लोहे के पदार्थ बनाना आदि का उल्लेख मिलता है।[6] इस तरह 'कामायनी' में मानव की आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाली इस सास्कृतिक सस्था का भी उद्‌गम और विकास चित्रित किया गया है।

४. धर्म-सस्था—नव पाषाण-युग मे मानव एक ओर तो फसल पक जाने पर किसी प्राणी की बलि देने लगा था और दूसरी ओर कुछ ऐसे भी मानव थे, जो प्राकृतिक ज्ञान रखते थे, जादू-टौना जानते थे और चन्द्रमा के घटने-बढने एव मौसमों के बारे मे भी कुछ जानकारी रखते थे। ऐसे योग्य लोगों का सभी व्यक्ति आदर करते थे। साथ ही उस युग मे स्त्रियां भी पुरुषों के विषय मे नाना प्रकार की भावनायें रखने लगी थीं। अतः बलिदान-कर्म, जादू-टौना, प्राकृतिक ज्ञान, पुरुषो के प्रति स्त्रियों की अनेक भावनाओं आदि ने इस 'धर्म-संस्था' को जन्म दिया,[7] जो सांस्कृतिक संस्थाओं मे महत्वपूर्ण स्थान रखती है तथा जिसमें मानव-जीवन के आचार विचार, जीवन-यापन के ढग आदि की व्यवस्था की जाती है। 'कामायनी' में इस सास्कृतिक संस्था का प्रथम उल्लेख 'आशा' सर्ग में मिलता है, जहाँ मनु विराट् सत्ता के अलौकिक कार्यों को देखकर चकित होते हैं तथा अपने जीवन को संयमित बनाने के लिए अग्निहोत्र, पाकयज्ञ, तपश्चर्या

१—मानव की कहानी (भाग १), पृ० १३६।
२—कामायनी, पृ० १४२। ३—वही, पृ० १४७।
४—वही, पृ० १४६। ५—वही, पृ० १५०।
६—वही, पृ० १८१।
७—मानव की कहानी (भाग १), पृ० १३८।

आदि में लीन दिखाई देते हैं।[1] इसके उपरान्त इस सस्था के विकसित रूप का वर्णन 'दर्शन', 'आनन्द' आदि सर्गों में मिलता है, जहाँ मानव जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उस विराट् सत्ता में विश्वास रखने, इच्छा-ज्ञान क्रिया का समन्वय करके समरसता पूर्ण जीवन व्यतीत करने, भौतिक और आध्यात्मिक तत्वों को सतुलित रूप में अपनाने, ससार को सत्य समझने, अद्वैत-भाव, सेवा, सदाचार, त्याग, तपस्या आदि से युक्त जीवन-यापन करने एव भेद-भाव-रहित समस्त विश्व को एक नीड समझने की सलाह दी है।[2] इस तरह मानव-जीवन के मानसिक एव आध्यात्मिक विकास में सहायक इस सास्कृतिक सस्था का विवेचन भी 'कामायनी' में पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

५. समाज-सस्था—पहले मानव इधर-उधर गुफाओ में पडा रहता था, किन्तु धीरे-धीरे वह दलों में इकट्ठा होकर किसी एक स्थान पर रहने लगा। वैसे भी इतिहास-वेत्ताओ का मत है कि पशु-पालन के समय में तो जगम सम्पत्ति रहती है। अत मानव इधर उधर डोलता रहता है, किन्तु कृषि का उदय होते ही वह स्थावर सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है और फिर वह किसी एक ही स्थान पर अपना समाज बनाकर रहने लगता है।[3] इस तरह कृषि-सस्था का विकास होते ही मानवों में 'समाज सस्था' का भी प्रादुर्भाव हुआ और वे पहले छोटे-छोटे गाँवों में सगठित होकर अपनी टोलियाँ बनाकर रहने लगे। इस 'समाज सस्था' का जन्म नव पाषाण युग में हुआ था।[4] 'कामायनी' में इस 'समाज सस्था' का वर्णन 'स्वप्न' और 'सघर्ष' सर्ग में मिलता है और वहाँ यह बतलाया गया है कि एक सुसङ्गठित समाज अपने दुराचारी शासक को बदल सकता है, अपनी व्यवस्था स्वय कर सकता है, अपनी जाति एव अपने राष्ट्र की उन्नति कर सकता है तथा यायावर विदेशी आततायियो से अपनी रक्षा कर सकता है।[5] अन्त में 'आनन्द' सर्ग के अन्तर्गत प्रसादजी ने एक ऐसे समाज की कल्पना की है, जो वर्गहीन हो, जिसमें सभी प्राणी परस्पर एक-दूसरे को समाज का अभिन्न अग समझते हों, इस समाज में कोई भी शापित या तापित व्यक्ति न हो तथा सभी समता का जीवन व्यतीत करते हों।[6] यहाँ पर 'समाज-सस्था' का आदर्श प्रस्तुत किया गया है।

१—कामायनी, पृ० ३१-३३।

२—वही, पृ० २४४, २५४, २७२, २८६।

३—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० १७३।

४—भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ७१।

५—कामायनी, पृ० १६८-२०७। ६—वही, पृ० २८७-२८८।

इस प्रकार 'कामायनी' मे इस सास्कृतिक सस्था का भी सुन्दर निरूपण मिलता है ।

६. राज्य-संस्था—अपने सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रखने तथा शत्रुओ से अपनी रक्षा करने के लिए मानवों में राजा तथा राज्य की कल्पना हुई । पहले कोई राज्य न था अर्थात् कोई ऐसी शक्ति न थी, जो सबको नियन्त्रण मे रख सके । लोगो की मछलियो की सी दशा थी—अर्थात् बलवान निर्बल को निगल जाता था और उसे भी अपने से अधिक बलवान का डर बना रहता था। इस दशा से तंग आकर कहते हैं सर्वप्रथम मनु को राजा चुना गया और उसके आधीन सब रहने लगे । राज्य-प्रबन्ध के खर्च के लिए सभी अपनी-अपनी खेती की उपज का छठा भाग राज्य को देते थे ।[1] इस तरह समाज-सस्था के उपरान्त 'राज्य-सस्था' का जन्म हुआ । 'कामायनी' मे इस सास्कृतिक संस्था का आरम्भ उस समय दिखलाया गया है, जिस समय मनु श्रद्धा को छोड़कर सारस्वत नगर में आते हैं और वहाँ आकर सारस्वत नगर की रानी इड़ा से उनकी भेंट होती है । इड़ा का नगर भौतिक हलचलो मे नष्ट हो चुका था और वह उसे पुनः बसाने के लिए किसी योग्य शासक की खोज में थी । मनु को पाकर वह उन्हें अपने नगर का शासक बना देती है और मनु अपने अथक् परिश्रम द्वारा राज्य की सुन्दर व्यवस्था करते हैं । परन्तु भौतिकता की प्रबलता एवं निर्बाध अधिकार भोगने की लालसा से वह सारी सुन्दर राज्य-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है ।[2] इसके उपरान्त 'कामायनी' में 'राज्य-संस्था' का आदर्श उपस्थित करने के लिए दो बातो पर बल दिया गया है—एक तो शासक को अपनी राष्ट्रनीति द्वारा प्रजा मे कदापि भय और आतंक नहीं फैलाना चाहिए; दूसरे राजा को अपनी सारी प्रजा को समान समझ कर समरसता का प्रचार करते हुए अपना शासन करना चाहिए ।[3] ऐसी व्यवस्था से सारी प्रजा अपने को एक कुटुम्ब समझने लगती है और शासक-शासित का भेद मिट जाता है । उक्त दोनों सिद्धान्तों को अपनाने के कारण सारस्वत नगर की सारी प्रजा मे एक कुटुम्ब की स्थापना हो जाती है और सभी आनन्द-मग्न हो जाते हैं ।[4] इस प्रकार 'कामायनी' मे राज्य-संस्था का भी सुन्दर निरूपण हुआ है ।

७. विवाह-सस्था—जब मानव-समाज असभ्यता की स्थिति से सभ्यता की ओर बढ़ने लगा, तब उसमे पहले जैसे पारस्परिक यौनि-सम्बन्ध की अपेक्षा एक

१—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० १२५ ।

२—कामायनी, पृ० १६६–१७२, १९२–२११ ।

३—वही, पृ० २४३–२४८ ४—वही, पृ० २८३, २९४ ।

कुटुम्ब को बचाकर दूसरे कुटुम्ब के साथ यौनि-सम्बन्ध होने लगे। यहीं से 'विवाह-सस्था' का श्रीगणेश हुआ। एक कुटुम्ब के भाई-बहन मे यौनि-सम्बन्ध का निषेध हमारे यहाँ ऋग्वेद-काल मे यम-यमी के सवाद मे मिल जाता है, जहाँ यमी अपने भाई यम से विवाह का प्रस्ताव करती है, परन्तु यम देव-नियमों की ओर सकेत करके उसके विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार नही करता।[1] अत ऋग्वेद-काल से ही समुन्नत 'विवाह-सस्था' का प्रादुर्भाव मिल जाता है। 'कामायनी' मे इस सास्कृतिक सस्था का वर्णन मनु और श्रद्धा के पाणिग्रहण के अवसर पर मिलता है।[2] इस सस्था का भारतीय रूप यह है कि वधू अपना सर्वस्व अपने पति के लिए न्योछावर कर देती है, उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही रहता, वह अपने पति की अर्धाङ्गिनी बन जाती है और पति को अपने इहलोक और परलोक का स्वामी समझ कर एव पतिपरायणा होकर सदैव जीवन व्यतीत करती है। भारतीय जीवन मे विवाह एव ठेका नहीं है, अपितु वह एक एसा पवित्र बन्धन माना गया है, जो पति के दुराचारी या अत्याचारी होने पर भी नही टूटता, अपितु जिसका सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर से होता है। इसी कारण कामायनी के 'लज्जा' सर्ग में श्रद्धा 'आँसू से भीगे अञ्चल पर मन का सब कुछ' रखते हुए अपनी स्मित रेखा से यह विवाह का सन्धि-पत्र लिखती है[3] और मनु द्वारा परित्यक्त होकर भी 'मैं नित्य तुम्हारी सत्य बात'[4] कह कर पुन मनु के दु ख-सुख की चिर सहचरी बन जाती है।[5] इतना ही नही अन्त मे मनु को आनन्द-धाम तक ले जाती है।[6] अत 'कामायनी' में विवाह-सस्था के उज्ज्वल एव उदात्त रूप के दर्शन होते हैं।

८ शिक्षा-सस्था—मानव ने सभ्य होकर अपने ज्ञान-विज्ञान का प्रसार करने के लिए एक ऐसी 'सस्था' का निर्माण किया, जहाँ छोटे-छोटे बालक आरम्भ से ही ज्ञान प्राप्त करें और उस ज्ञान को लेकर अपने आगामी जीवन को सुख-समृद्धि-पूर्ण बनाने के प्रयत्न कर सकें। इसी सास्कृतिक सस्था को 'शिक्षा-सस्था' कहा जाता है। इस सस्था का सकेत भी ऋग्वेद-काल से ही मिल जाता है, क्योंकि ऋग्वेद मे आचार्य द्वारा पढाए हुए शब्दों को शिष्यों द्वारा दुहराने का उल्लेख मिलता है।[7] 'कामायनी' मे आधुनिक युग की भाँति इस 'शिक्षा-सस्था' का रूप

१—ऋग्वेद, १०।१०
२—कामायनी, पृ० ६२-६४।
३—कामायनी, पृ० १०६।
४—वही, २५०।
५—वही, पृ० २५०।
६—वही, पृ० २५६, २७२, २८४।
७—ऋग्वेद, ७।१०३।५

नही मिलता और न इसमें प्राचीन गुरुकुल-पद्धति वाली शिक्षा-सस्था का ही उल्लेख है। 'कामायनी' तो मानव-जीवन के उस आरम्भिक-काल को प्रस्तुत करती है, जब शिक्षा-संस्था का गुरुकुल या स्कूल-कॉलेज के रूप में विकास नही हुआ था, अपितु मानव प्रकृति के साधनो से या परिवार के लोगो से अथवा अपने सम्बन्धियो से ही शिक्षा ग्रहण करता था। कामायनी मे उक्त तीनो प्रकार की शिक्षा-प्रणाली का ही उल्लेख मिलता है, क्योंकि 'आशा' सर्ग मे मनु प्रकृति से जीवन मे अग्रसर होने की शिक्षा ग्रहण करते हैं।[1] 'कर्म' सर्ग मे श्रद्धा से वे सत्य, निःस्वार्थ प्रेम एव अहिंसा की शिक्षा प्राप्त करते हैं[2] और 'संघर्ष' सर्ग मे मनु इडा के मुख से एक सुयोग्य अधिकारी बनने की शिक्षा लेते हैं।[3] इसी तरह श्रद्धा 'दर्शन' सर्ग मे अपने पुत्र एव इडा को राजनीति की शिक्षा देती है[4] और 'रहस्य' सर्ग मे ब्रह्मांड के तीन गोलो को दिखलाकर मनु को संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराती है।[5] इस प्रकार 'कामायनी' मे प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसरण पर इस सास्कृतिक संस्था का उल्लेख मिलता है और यह बतलाया गया है कि मानव को पग-पग पर इस सास्कृतिक सस्था की आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना उसे ठीक मार्ग-दर्शन नहीं मिलता।

सारांश यह है कि 'कामायनी' में सांस्कृतिक संस्थाओं का बड़ा समीचीन वर्णन मिलता है। प्रसादजी भारतीय संस्कृति के अन्तर्बाह्य सभी रूपों से भली-भाँति परिचित थे। उन्हें अपने भारतीय जीवन का प्रत्येक पहलू ज्ञात था। यही कारण है कि वे प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनो विचार-प्रणालियो का गहन अध्ययन करके भारतीय सास्कृतिक जीवन की सुन्दर व्याख्या कर गये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'कामायनी' मे प्राचीन वातावरण को बनाये रखने मे प्रसादजी को पूर्ण सफलता मिली है, किन्तु उसके साथ वर्तमान जीवन को भी वे इतनी कुशलता के साथ चित्रित कर गये हैं कि उससे प्राचीन वातावरण एवं प्राचीन सभ्यता को तनिक भी आघात नही पहुँचा है। यह तो स्पष्ट है कि भारतीय सास्कृतिक परम्परा अक्षुण्ण है, उसमे किसी प्रकार का विकार आने की संभावना नही। यदि विकार आ गया तो वह संस्कृति न रहकर विकृति हो जायगी। अतः सास्कृतिक संस्थाओं के निरूपण मे भी कोई विकार नहीं आ सका है। वे संस्थायें भले ही आज बाह्य रूप में कुछ बदली हुई सी ज्ञात हों, किन्तु उनकी अन्तरात्मा वही है, जो प्राचीन-काल में थी और कामायनी

१—कामायनी, पृ० २८। २—कामायनी, पृ० १३२-१३४।
३—वही, पृ० १६२-१६३। ४—वही, पृ० २४३-२४४।
५—वही, पृ० २६२-२७२।

मे हमे उन सास्कृतिक संस्थाओ के उस अक्षुण्ण रूप की ही झाँकी मिलती है।

कामायनी मे अन्य सास्कृतिक उपादानों का निरूपण

१ विविध देवता–'कामायनी' के अन्तर्गत कितने ही वैदिक एवं पौराणिक देवताओं का उल्लेख मिलता है। ये सभी देवता यहाँ पर भिन्न-भिन्न सर्गों में वर्णित हैं, जैसे 'चिन्ता' सर्ग मे केवल वरुण देवता का वर्णन मिलता है।[1] 'आशा' सर्ग मे प्रथम तो विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम, मरुत, पवमान और वरुण का एक साथ ही उल्लेख आया है,[2] किन्तु दूसरे स्थान पर केवल मित्र और वरुण का ही वर्णन मिलता है।[3] 'काम' सर्ग मे काम और रति के दर्शन देव रूप मे होते हैं[4] और 'कर्म' सर्ग में मित्रवरुण का फिर एक साथ दर्शन मिलता है।[5] 'इडा' सर्ग में पहले देवेश इन्द्र का वर्णन मिलता है[6] और इसके उपरान्त कामदेव का दर्शन हमे मनु को शाप देते हुए होता है।[7] 'स्वप्न' सर्ग में हम रुद्र देवता को हुँकार करते हुए तथा अपने तीसरे नेत्र को खोलते हुए पाते हैं[8] और 'संघर्ष' सर्ग मे पुन इसी रुद्र देवता को भयकर नाराच (बाण) चलाते हुए देखते हैं।[9] 'दर्शन' सर्ग मे ये ही रुद्र देवता रोष करते हुए दिखाई देते हैं[10] और अन्त में 'नर्तित नटेश' का दर्शन होता है।[11] इसके उपरान्त 'दर्शन' सर्ग मे पुनः हम महाकाल को ताडव नृत्य करते हुए देखते हैं।[12] इस तरह 'कामायनी' मे वरुण, विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम, मरुत, पवमान, मित्र, काम, रति, इन्द्र तथा रुद्र अथवा महाकाल–इन १२ देवताओ का वर्णन मिलता है। इनमे से देवेश इन्द्र को तो प्रसादजी ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तथा उन्हे आर्यावर्त का प्रथम सम्राट् घोषित करते हैं।[13] काम और रति दोनों देवता भावनाओ के प्रतीक हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य सभी देवताओं को प्रसादजी ने 'प्रकृति के शक्ति-चिह्न' कहा है।[14] प्राय इन सभी देवताओ का प्रयोग कामायनी मे प्राकृतिक कार्यों के लिए ही हुआ है, जैसे वरुण अन्तरिक्ष में हल-चल उत्पन्न करते हुए दिखाई देते हैं,[15] रुद्र अन्य प्राकृतिक शक्तियों के साथ अपना क्षोभ प्रकट करते हुए प्राकृतिक हलचल द्वारा मनु के अनाचार एव अति-चार का दमन करते हैं, इत्यादि।[16] अत सास्कृतिक दृष्टि से 'कामायनी' में

१—कामायनी, पृ० १४। २—वही, पृ० २५। ३—वही, पृ० ३६।
४—वही, पृ० ७१-७२। ५—वही पृ०, ११४। ६— वही, पृ० १६०।
७—वही, पृ० १६२। ८—वही, पृ० १८५। ९—वही, पृ० २०२।
१०—वही, पृ० २४१। ११—वही, २५४। १२—वही, पृ० २७३।
१३—कोशोत्सव-स्मारक संग्रह, पृ० १६४। १४—कामायनी, पृ० २५।
१५—कामायनी, पृ० १४। १६—वही, पृ० १८५, २०२।

अधिकांश देवताओं को प्राकृतिक शक्तियों का ही प्रतीक माना गया है और ये सभी देवता हमारे दैनिक जीवन से इतने सम्बद्ध हैं, क्योंकि कोई हमें प्रकाश प्रदान करता है, कोई वायु चलाता है, कोई वर्षा करता है, कोई अन्न-धन की वृद्धि करता है और कोई हमारे जीवन का मार्ग-दर्शन करता है। सारांश यह है कि 'कामायनी' में भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही विविध देवी-देवताओं की कल्पना की गई है।

२. गृह—सांस्कृतिक दृष्टि से गृह का भी बड़ा महत्व है। प्रत्येक जीवधारी जल, थल, वृक्ष, पर्वत आदि में अपने-अपने गृह बनाकर रहता है। गृह के द्वारा पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता आदि की उत्पत्ति होती है और इसे प्राणियों के जीवन का विकास-केन्द्र कह सकते हैं। पहले मानव पशुओं की भाँति खोह, कन्दरा, गुफा आदि में अपना गृह बनाकर रहता था।[1] पुरातन प्रस्तर-युग में वह खाल के तम्बुओं में अपना घर बनाकर रहने लगा[2] और नव प्रस्तर-युग में आकर पहले उसने कच्ची मिट्टी के घर बनाये।[3] तदुपरान्त वह पक्के घर भी बनाने लगा। सिंधुघाटी की खुदाई से ज्ञात होता है कि भारत में ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व सुन्दर और सुदृढ़ पक्के घर बनने लगे थे।[4] 'कामायनी' में भी इस सांस्कृतिक उपकरण के क्रमिक विकास का उल्लेख मिलता है, क्योंकि पहले मनु गुफा में अपना घर बनाते हैं।[5] तदुपरान्त श्रद्धा का सम्पर्क पाकर उनके जीवन में विकास होता है और श्रद्धा पुआलों का छाजन डालकर एक सुन्दर कुटीर का निर्माण करती है, जिसमें उस गृहलक्ष्मी के गृह-विधान की निपुणता देखते ही बनती है।[6] इसके उपरान्त मनु सारस्वत नगर में पहुँच कर ऊँचे-ऊँचे स्तम्भों पर वलभीयुत रम्य प्रासादों का निर्माण कराते हैं, जिनके ऊपर स्वर्ण-कलश शोभा पाते हैं तथा निकट में उद्यानों की भी व्यवस्था की जाती है।[7] इस तरह 'कामायनी' में इस सांस्कृतिक उपादान का भी क्रमिक विकास चित्रित किया गया है।

३. दाम्पत्य जीवन—सांस्कृतिक दृष्टि से दाम्पत्य जीवन का भी बड़ा महत्व है। प्राचीन संस्कृति में गृहस्थाश्रम को सबमें श्रेष्ठ माना गया है और इस

१—मानव की कहानी (भाग १), पृ० १२३।
२—भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ५३।
३—मानव की कहानी (भाग १), पृ० १३७।
४—भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ८५–९०।
५—कामायनी, पृ ३०।
६—वही, पृ० १४९-१५०। ७—वही, पृ० १८२।

आश्रम का मूलाधार दाम्पत्य-जीवन ही है, अर्थात् पति-पत्नी मिलकर ही इस आश्रम का पालन करते हैं, धार्मिक अनुष्ठान करते हैं, सन्तान-वृद्धि करते हैं तथा अन्य सामाजिक कृत्यों को पूर्ण करते हैं। अकेला पुरुष या अकेली स्त्री न गृहस्थ का निर्माण कर सकती है, न धार्मिक अनुष्ठान कर सकती है और न सामाजिक रीति रिवाजों का पालन ही नियम-पूर्वक कर सकती है। 'कामायनी' में मनु और श्रद्धा—दोनों दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते हुए मानवता का विकास करते हैं, धार्मिक अनुष्ठान करते हैं तथा अन्य सामाजिक आचार-विचारों का पालन करते हैं। इतना अवश्य है कि असुर पुरोहित इनके दाम्पत्य जीवन में बाधा डाल देते हैं और मनु को स्वार्थी, विलास-प्रिय, अहंकारी, हिंसक आदि बनाकर श्रद्धा से दूर हटा देते हैं। परन्तु दाम्पत्य जीवन का ही प्रताप है कि श्रद्धा पुनः अपने भ्रमित पति को प्राप्त कर लेती है और दोनों फिर सुख और प्रसन्नता के साथ ससृति की सेवा करते हुए अखंड आनन्द को प्राप्त होते हैं। अत: 'कामायनी' में श्रद्धा और मनु के दाम्पत्य-जीवन की सुन्दर और शिक्षाप्रद भाँकी प्रस्तुत की गई है, जो सास्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महान् है।

४ अग्नि—मानव-जीवन में अग्नि सबसे अधिक उपयोगी उपकरण है। अग्नि के द्वारा हम भोजन बनाते, अग्निहोत्र या यज्ञ करते, शीत से से बचते, जगली पशुओं से रक्षा करते तथा अन्त में अन्त्येष्टि-क्रिया को सम्पन्न करते हैं। प्राचीन काल में यह अग्नि चकमक पत्थरों द्वारा उत्पन्न की जाती थी और प्राचीन मानव पशुओं के मांस को भूनने में इसका उपयोग करता था।[1] धीरे-धीरे मानव ने ऐसी लकडियों की खोज की, जिनके रगडने से आग उत्पन्न हो जाती थी। ये लकड़ियाँ 'अरणि' कहलाती थीं और वैदिक युग में प्राय यज्ञ अरणि की दो लकडयों को रगड कर अग्नि उत्पन्न करके ही किये जाते थे।[2] इस अग्नि का वैदिक युग से ही बडा महत्त्व मिलता है और उसे देवता का रूप देकर ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्तों में इसकी प्रशंसा की गई है। इसका गृहस्थ जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी कारण ऋग्वेद में इसे प्रथम पुरोहित, गृहपति, देवदूत आदि कहा गया है।[3] यह ससार में भिन्न भिन्न रूपों में विद्यमान रहकर भिन्न-भिन्न कार्य करता है। जैसे, आकाश में सूर्य के रूप में यह हमें प्रकाश देता, वर्षा करता एवं रोगों को दूर करता है। जल में वडवाग्नि के रूप में रहकर गलाने का कार्य करता है, दावाग्नि के रूप में वनों

१—मानव की कहानी (भाग १), पृ० ११७।

2—A History of Indian Literature, Vol. I p. 179.

3—A Vedic Reader, pp 1-2

को जलाने का कार्य करता है और उदर में जठराग्नि के रूप में रहकर भोज्य-पदार्थों को पचाता, उनका रस बनाता और प्राणियों को शक्ति प्रदान करता है। 'कामायनी' में इस सांस्कृतिक उपकरण की बड़ी प्रशंसा की गई है और इसे वहाँ शक्ति और जागरण का चिह्न बताया गया है।[1] इतना ही नहीं, इसे 'कामायनी' में मनु के जीवन का चिर-सहचर एवं जीवन के लक्ष्य की पूर्ति करने वाला भी सिद्ध किया गया है, क्योंकि पूर्व संचित अग्नि द्वारा ही मनु अग्निहोत्र, पाकयज्ञ आदि करते हैं और भूत-हित बलि का अन्न दूर रख आते हैं। उसी अन्न को देखकर श्रद्धा मनु के समीप आती है तथा मनु के निराश एवं एकाकी जीवन को आनन्दमय बनाती है। इस तरह 'कामायनी' में यह अग्नि सचमुच ही मनु की शक्ति एवं जागृति का प्रतीक है।

५. यज्ञ—प्रायः हवन-कुण्ड में हव्य पदार्थ डालकर अग्निहोत्र करने को यज्ञ कहा जाता है; परन्तु अग्निहोत्र करना ही यज्ञ नहीं है। गीता में द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि कितने ही यज्ञों का वर्णन मिलता है।[2] अतः यज्ञ कर्म या कर्त्तव्य का वाचक है। श्री एन० वी० पवानी ने यज्ञ को सृष्टि-निर्माण की क्रिया बताया है।[3] कीथ ने यज्ञ की तीन विशेषताएँ बताई हैं—प्रथम तो वह देवताओं को भेंट देने का साधन था। दूसरे, यज्ञ एक प्रकार का जादू था जिसका प्रयोग अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिए होता था और तीसरे, यज्ञ के द्वारा यजमान अपने पापों एवं अपराधों से मुक्त होने का प्रबन्ध करता था।[4] कामायनी में पहले तो अग्निहोत्र, पाकयज्ञ आदि के रूप में 'यज्ञ' का प्रयोग लोक-प्रचलित अर्थ में ही हुआ है, किन्तु आगे चलकर 'कर्म' सर्ग में "रचना मूलक सृष्टि-यज्ञ यह"[5] कहकर उसके सांकेतिक स्वरूप को भी अपनाया गया है। सांस्कृतिक दृष्टि से 'यज्ञ' मानव-कर्त्तव्य का ही द्योतक है और 'कामायनी' में इसीलिए मनु के यज्ञ-कार्य के साथ-साथ 'नियमित कर्म'[6] अथवा 'परम्परागत कर्म'[7] आदि शब्द जोड़े गये हैं।

६. बलि—विद्वानों का मत है कि नव प्रस्तर-युग के मानवों में सर्वप्रथम बलि देने या रक्त चढ़ाने की प्रथा मिलती है। ये लोग विशेषतया बीज बोने के समय अथवा अनाज पक जाने पर किसी सुन्दर नवयुवक या नवयुवती का बलिदान

१—कामायनी, पृ० ३१। २—श्रीमद्भगवद्गीता ४।२८

3—The Mystery of the Mahabharat, Vol II, pp. 242-243.

4—The Religion and Philosophy of Vedas and Upanisads, pp. 257-264.

५—कामायनी, पृ० १३२। ६—वही, पृ० ३३। ७—वही, पृ० ११५।

करते थे। कुछ समय के उपरान्त व्यक्तियों के स्थान पर पशुओं की बलि दी जाने लगी। परन्तु ऐसा क्यों किया जाता था, यह ज्ञात नहीं।[1] ऋग्वेद में पशु-बलि का उल्लेख अत्यन्त अल्प मात्रा में मिलता है, परन्तु ब्राह्मण-काल में इस पशु-बलि की बहुलता मिलती है। साथ ही स्मृति-काल में आकर तो यह विचार फैलाया गया कि यज्ञ में जिस पशु की बलि दी जाती है वह पशु उच्च योनि को प्राप्त हो जाता है।[2] ऐसा जान पड़ता है कि आर्यों में पहले मांस खाने की प्रथा न थी और अनार्य लोग मांसभोजी थे। अतः जिस समय आर्य और अनार्य परस्पर घुल-मिल गए, तबसे धीरे-धीरे आर्यों में भी मांस खाने का प्रचार होने लगा और यज्ञों में भी पशु-बलि की जाने लगी। 'कामायनी' में भी पहले 'आशा' सर्ग में यज्ञ के अन्दर अन्न की हवि का ही वर्णन मिलता है,[3] परन्तु 'कर्म' सर्ग में जब मनु को असुर पुरोहितों का सम्पर्क प्राप्त होता है, तब वे पशु-बलि करते हैं।[4] फिर भी श्रद्धा इस पशु-बलि का घोर विरोध करती है। अत पशु-बलि पहले भले ही हमारे सांस्कृतिक जीवन का कोई अंग रही हो, जैसा कि नीच जाति के लोगों, शाक्तों आदि में अभी तक बकरे के बलिदान की प्रथा मिलती है। परन्तु बौद्ध, जैन, एवं वैष्णव धर्मों के उदय होने के उपरान्त पशु-बलि का भारतीय जीवन में कोई महत्व न रहा, प्रत्युत इसे बुरा ही बतलाया गया। इसी कारण प्राचीन सांस्कृतिक प्रथा का उल्लेख करने के लिए कामायनी में पशु-बलि का वर्णन अवश्य मिलता है, किन्तु उसे महत्व नहीं दिया गया है।

७ पशु-पालन—भारतीय सांस्कृतिक जीवन में पशु-पालन का भी बड़ा महत्व है। अत्यन्त प्राचीन काल में मानव ने सबसे पहले पशु पालना ही सीखा और पशु को ही उसकी प्रथम सम्पत्ति कहा गया है। वैदिक-काल में अधिकांश संघर्ष पशुओं के लिए ही होते थे। पशुओं में भी गाय का वहाँ अधिक महत्व था। ऋग्वेद में गायों की चोरी करने के कारण इन्द्र ने वल नामक असुर का बध किया था और उससे सारी गायें पुनः प्राप्त की थीं।[5] गौ को यहाँ माता कहा जाता है, क्योंकि उससे यज्ञादि के लिए घृत मिलता है, खेती के लिए बैल प्राप्त होते हैं और भोजन के लिए घी, दूध, खोआ, मक्खन, मलाई आदि मिलती हैं। गौ का इतना अधिक महत्व रहा है कि अधिकांश शब्द इसी के आधार पर बने हैं। जैसे गोष्ठी, गवेषणा, गोपन, गवाक्ष, गोमुखी, गोधूलि, गुरसी आदि।

१—मानव की कहानी (भाग १), पृ० १३७। २—मनुस्मृति, ५।४०
३—कामायनी, पृ० ३२। ४—वही, पृ० ११४-११६।
५—ऋग्वेद, २।१२।३

भारतीयों का यह विश्वास है कि गौ न केवल इहलोक मे ही हमारी रक्षा करती है, अपितु मरने के उपरान्त वैतरणी से भी पार कर देती है। गौ-पालन या पशु-पालन का महत्व इससे भी ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण का अवतार लेकर स्वय भगवान् ने भी गौ-पालन या पशु-पालन को अपनाया था।[1] 'कामायनी' मे भी हमे श्रद्धा और मनु के मिलन के उपरान्त 'वासना' सर्ग मे सर्वप्रथम श्रद्धा पशु-पालन मे ही लीन दिखाई देती है। वह उस पशु को इतना पालतू बना लेती है कि वह पशु श्रद्धा के मोह एव करुणा की सजीव मूर्ति बन जाता है और जब वह अपना कोमल एव चपल हाथ उसके शरीर पर फेरती है, तब वह पशु अपनी पूँछ उठाकर स्नेह प्रदर्शित करता है।[2] 'कामायनी' मे पशु-पालन के आर्थिक महत्व का भी वर्णन मिलता है, क्योकि 'ईर्ष्या' सर्ग मे श्रद्धा मनु को समझाती है कि 'पशुओं को मारने की अपेक्षा उनका पालना हमारे लिए कही अधिक उपयोगी है, क्योकि उनसे हमे ऊन मिलता है, जिसके हम वस्त्र बना सकते हैं और उनसे दूध मिलता है, जो हमारे लिए अमृतमय भोजन का काम देता है।'[3] इस तरह 'कामायनी' मे पशु-पालन का महत्व प्रदर्शित करते हुए भारतीय संस्कृति की एक उदात्त भावना को अपनाया गया है।

८ प्रकृति—भारतीय सास्कृतिक जीवन मे प्रकृति का भी बडा हाथ रहा है। भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण विकास प्रकृति की गोद मे ही हुआ है, क्योकि तपोवनो मे बैठकर महर्षियों ने जिन उच्च विचारो का प्रवर्त्तन किया था, वे ही भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं। नगर के कोलाहल-पूर्ण अशान्त वातावरण मे तथा नागरिक जीवन के अहर्निशि सघर्ष मे भला ऐसे उच्च विचार मस्तिष्क मे कैसे आ सकते थे? इनके लिए तो प्रकृति की मनोरम गोद ही अपेक्षित थी। इसी कारण प्रकृति की रमणीक वनस्थली ही भारतीय संस्कृति को जन्म देने वाली है। 'कामायनी' मे भी हमे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रकृति की सुरम्य गोद में ही मानव-संस्कृति के पल्लवित होने का संकेत मिलता है, क्योकि मनु का यज्ञ-कार्य तथा मनु-श्रद्धा मिलन भी हिमगिरि की रमणीक उपत्यका में होता है, वहीं श्रद्धा पशु-पालन, कृषि-कार्य, कुटीर-निर्माण, वस्त्र बुनना, मनु को सत्य-अहिंसा की शिक्षा आदि देने का कार्य करती है। नगर के जनाकीर्ण वातावरण में पहुँच कर जब मनु पतित हो जाते हैं, तब पुनः श्रद्धा उन्हें कैलाश-गिरि की मनोरम घाटी मे लाकर भारतीय संस्कृति के सभी रहस्यो से अवगत कराती है। वहीं पर ऋषि-दम्पति की भाँति

१—मेरे निबन्ध—जीवन और जगत, पृ० २२४।
२—कामायनी, पृ० ८३। ३—कामायनी, पृ० १४३।

श्रद्धा और मनु निवास करते हैं तथा प्रकृति की उसी रमणीक घाटी में रहते हुए सम्पूर्ण विश्व की सेवा और जन-कल्याण का कार्य करते रहते हैं। इस तरह 'कामायनी' में प्रकृति के सांस्कृतिक महत्व का भी प्रतिपादन हुआ है।

६ युद्ध—किसी भी संस्कृति के विकास में युद्ध का भी बड़ा महत्व है। प्रायः युद्ध में जो विजयी होता है उसकी संस्कृति विजित जाति में भी फैल जाती है। भारतीय संस्कृति के विकास में युद्ध का सबसे अधिक योगदान है। वैदिक काल में भारतीय संस्कृति के विरुद्ध जब असुर-संस्कृति ने हाथ-पैर फैलाना आरम्भ किया, तब देवासुर संग्राम हुआ और असुरों को पराजित करके देवों ने अपनी संस्कृति की रक्षा की। रामायण-काल में रावण ने जब भारतीय संस्कृति के विरुद्ध असुर-संस्कृति का प्रचार करना चाहा, तब राम ने युद्ध करके रावण को परास्त किया और अपनी भारतीय संस्कृति की रक्षा की। ऐसे ही महाभारत-काल में कौरवों द्वारा भारतीय संस्कृति के विरुद्ध आचरण किये जाने पर महाभारत हुआ, जिसमें कौरवों का विनाश हुआ और पुनः भारतीय संस्कृति की रक्षा हुई। गीता में इसी कारण महाभारत के युद्ध को 'धर्मयुद्ध' कहा गया है।[1] अतः सांस्कृतिक दृष्टि से युद्ध मानव-सभ्यता एवं मानव-जीवन के विकास का सूचक है। 'कामायनी' में भी हमें 'संघर्ष' सर्ग में ऐसे ही युद्ध का वर्णन मिलता है, जिसमें जनता दुराचार एवं अनाचार का विरोध करती हुई मनु से युद्ध करती है। जनता की सहायता समस्त देव-शक्तियाँ भी करती हैं, किन्तु मनु को कोई सहायक नहीं मिलता। मनु हार जाते हैं और इस पराजय के उपरान्त ही सारस्वत नगर में पुनः नवीन सांस्कृतिक उत्थान का कार्य होता है। वहाँ निरंकुशता समाप्त हो जाती है और शासन-कार्य बुद्धि और हृदय की समन्वित योजनाओं के अनुसार समरसता के सिद्धान्त पर होता है। इस प्रकार 'कामायनी' में भारतीय संस्कृति के विकास में सहायता देने वाले युद्ध का वर्णन भी सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार ही हुआ है।

गांधीवाद से प्रभावित संस्कृति का कामायनी में निरूपण

१. अहिंसा—भारतीय संस्कृति पर गांधीवादी विचारधारा का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गांधीजी ने अपने व्यक्तित्व एवं आचरण द्वारा न केवल राजनीति को ही प्रभावित किया है, अपितु भारतीय आचार विचार, रहन सहन, धर्माचरण आदि सांस्कृतिक पक्षों पर भी पर्याप्त मात्रा में प्रभाव डाला है और आधुनिक युग में कुछ नई मान्यताओं को भी जन्म दिया है। गांधीवाद की

१—श्रीमद्भगवद्गीता १।१

सबसे बड़ी विशेषता 'अहिंसा' के सिद्धान्त मे दिखाई देती है। गांधीजी ने अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा न करना ही नहीं लिया था, अपितु उन्होंने अहिंसा को बडा व्यापक रूप दिया। उनका कहना था कि बुराई पृथक् वस्तु है और बुराई करने वाला व्यक्ति, जाति या देश पृथक् है। अतः हमे बुराई का विरोध करना चाहिए न कि बुरे व्यक्ति का। क्योंकि जब वह व्यक्ति बुराई छोड़ देता है, तब वह भी भला हो जाता है। इसी कारण हमें सदैव क्रोध का मुकाबला शान्ति से, घृणा का मुकाबला प्रेम से तथा असाधुता का मुकाबला साधुता से करना चाहिए। गांधीवाद का यही व्यापक अहिंसा सिद्धान्त है।[1] 'कामायनी' मे भी इसी अहिंसा-सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए श्रद्धा अपने प्रेम, स्नेह, धैर्य, औदार्य, शान्ति आदि के द्वारा हिंसक, विलास-प्रिय, अनाचार मे अनुरक्त, छली, कपट-व्यवहारी एवं अपराधी मनु के हृदय का परिष्कार करती है। मनु को कभी अपराधी नहीं कहती, अपितु मनु मे जो बुराइयाँ आगई हैं उनके लिए अपनी ही भूल स्वीकार करती है[2] और अन्त मे ईर्ष्या द्वेष, डाह या घृणा को प्रेम, उदारता, अक्रोध, साधुता आदि के द्वारा विजय करती हुई अपने बिछुड़े हुए दोषी पति को पुनः अपना बना लेती है तथा उसके हृदय को पूर्णतया बदल देती है।

२. सहिष्णुता एवं समता—गांधीजी ने धार्मिक एवं साम्प्रदायिक असहिष्णुता की भावना को दूर करके देश मे सहिष्णुता, एकता एवं समता का प्रचार किया। आपने परस्पर विरोध करने वाले हिन्दू, मुस्लिम एवं ईसाइयों मे बढ़ती हुई वैमनस्य की भावना को दूर करके भारत मे एकता स्थापित करने एवं सुसंगठित होकर स्वातन्त्र्य युद्ध करने के लिए पारस्परिक मेल-जोल पर अधिक बल दिया और स्वयं हिन्दू-धर्म के कट्टर अनुयायी होकर भी ईसा और मुहम्मद साहब के सिद्धान्तों का स्वागत किया। इस तरह गांधीजी ने जिस साम्प्रदायिक एवं धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया था, उसी का प्रभाव 'कामायनी' पर भी पड़ा है और इसी कारण शैव धर्म के कट्टर अनुयायी होकर भी प्रसादजी ने 'कामायनी' मे धर्म के प्रतिनिधि वृषभ का उत्सर्ग कराकर विश्वजनीन धर्म को अपनाने, सम्पूर्ण भेद-भाव एवं संकीर्णता को छोड़कर सारे विश्व को अपना घर समझने तथा उसे एक 'नीड़' बनाने की सलाह दी है।[3]

३. यन्त्रों का बहिष्कार—गांधीजी ने यन्त्रों के विरुद्ध आवाज उठाकर कुटीर-उद्योग पर अधिक जोर दिया और प्रत्येक भारतीय को विदेशी वस्तुओं का

१—आर्य संस्कृति के मूलतत्व, पृ० २२६। २—कामायनी, पृ० २१२।
३—कामायनी, पृ० २१४, २३६, २८६।

बहिष्कार करके स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने की सलाह दी। इसके लिए आपने चरखा या तकली पर सूत कातने, अपने हाथ से बुने वस्त्रों को पहनने तथा घरेलू उद्योग-धन्धों को फिर से चालू करने के प्रयत्न किये। 'कामायनी' पर गाँधीवाद के इन विचारों का प्रभाव पड़ा है और इसी कारण यहाँ तकली पर ऊन कातने,[1] हाथ से वस्त्र बुनने[2] कुटीर-उद्योग को अपनाने,[3] तथा यन्त्रों के बहिष्कार करने[4] का उल्लेख मिलता है।

४ सत्याग्रह-गाँधीजी ने सत्य पर आरूढ़ रहने के लिए अधिक जोर दिया। गाँधीजी का सत्य पर आरूढ़ रहने से तात्पर्य यह था कि मनुष्य को छल, छद्म एवं कपट व्यवहार को छोड़कर असत्य एवं अनुचित बात का विरोध करने के लिए सत्याचरण करना चाहिए। प्रायः लोगों मे यह देखा जाता है कि वे हृदय मे कुछ सोचते है, बाहरी बातें कुछ और होती हैं और आचरण उन सबसे भिन्न होते हैं। गाँधीजी ने 'सत्य' द्वारा यही प्रचार किया कि अन्तर्बाह्य किसी प्रकार का भेद न रखकर सदैव अन्तःकरण मे सभी के प्रति शुद्ध विचार रखने चाहिए और उन विचारों के अनुकूल ही विनम्रता के साथ अहिंसात्मक प्रणाली को अपनाते हुए असत्य या अनुचित कार्य का विरोध करना चाहिए। साथ ही अपनी उचित माँग अथवा अपनी यथार्थ बात पर अनेक कष्ट सहते हुए भी दृढ़ता के साथ आरूढ़ रहना चाहिए। गाँधीवाद का यही 'सत्याग्रह' है। प्रसाद जी ने 'कामायनी' मे भी इसी 'सत्याग्रह' का वर्णन मनु के विरुद्ध उठ खड़ी हुई सारस्वत नगर की प्रजा की क्रान्ति के रूप मे किया है, परन्तु यहाँ इतना ही अन्तर है कि यह जनता अहिंसात्मक प्रयोगों के स्थान पर हिंसात्मक सक्रिय प्रतिरोध के आदर्श को अपना कर चली है।[5]

५ अस्पृश्यता निवारण-गाँधीजी ने अस्पृश्यता निवारण के लिए भी अथक परिश्रम किया था। भारत मे यह ऊँची-नीच एवं भेद-भाव की भावना इतनी अधिक बढ़ गई थी कि अपने समाज के एक उपयोगी अङ्ग को शूद्र या नीच कहकर उसकी उपेक्षा की जाती थी। गाँधीजी ने इस मनोवृत्ति को बदलने के लिए उन अस्पृश्य जाति के लोगों को 'हरिजन' कहना प्रारम्भ किया और स्वयं उनके निवास-स्थानों पर रहना तथा उनके अन्दर शुद्धता, सात्विकता आदि का प्रचार करके उन्हें अपने गले लगाने का प्रयत्न किया। गाँधीवाद की यह देन सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व रखती है। 'कामायनी' मे भी गाँधीवाद की

१—कामायनी, पृ० १५०। २—वही, पृ० १५२।
३—वही, पृ० १५६। ४—वही, पृ० १९९।
५—वही, पृ० २००-२०१।

इस अस्पृश्यता-निवारण सम्बन्धी भावना को महत्व दिया गया है और छूत-अछूत, ऊँच-नीच आदि में एकता स्थापित करने के लिए भेद-भावों का विरोध करते हुए स्थल-स्थल पर ममता सम्बन्धी विचार व्यक्त किए गए हैं तथा प्राणि मात्र के प्रति सहानुभूति, स्नेह, सौहार्द्र आदि को जाग्रत करने का प्रयत्न हुआ है।[1]

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने गांधीवाद द्वारा प्रचारित उच्चकोटि की सांस्कृतिक भावनाओं को भी अपने 'कामायनी' महाकाव्य में स्थान दिया है और उनके द्वारा भारतीय संस्कृति के पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गांधीवाद की ये भावनाएँ भारतीय संस्कृति में पहले से ही विद्यमान थी, किन्तु गांधीजी ने उनको नया रूप देकर भारतीय जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि भारतीय सांस्कृतिक विकास में उक्त भावनाओं का भी महत्व है और यही जानकर प्रसादजी ने भी आदि-मानव की कथा में आधुनिक सांस्कृतिक विशेषताओं का भी समावेश किया है।

कामायनी का समन्वयवाद

भारतीय संस्कृति समन्वय-प्रधान है। यहाँ पर अनेक परस्पर विरोधिनी साधनाएँ, संस्कृतियाँ, जातियाँ, आचार-निष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं, किन्तु समय-समय पर अवतीर्ण महात्माओं एवं महापुरुषों ने सदैव समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में भी समन्वय किया गया है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।[2] इतना ही नहीं, यहाँ की वर्ण-व्यवस्था, दार्शनिक विचारधारा, उपासना-पद्धति, रुचि, मान्यता आदि में भी सर्वत्र भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, ज्ञान और भक्ति, भौतिकता और आध्यात्मिकता आदि का समन्वय मिलता है।[3] अतः समन्वय की भावना भारतीय संस्कृति का मुख्य अंग है।

श्री दादा धर्माधिकारी ने 'समन्वय' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "भेदों में जो विषमता या विरोध हो, उसके परिहार का नाम 'समन्वय' है। अविरोध सिद्धि अर्थात् विविधताओं में विषमता के अंश का निराकरण ही समन्वय की पद्धति का सार है। समन्वय का अर्थ 'समझौता' नहीं है। समझौता

१—कामायनी, पृ० १२४-१३२, १८७-१८८।
२—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १०३।
३—भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा, पृ० ७-८।

एक बाह्य और यान्त्रिक प्रक्रिया है। उसमे आदान प्रदान है। हम कुछ इष्ट अश का त्याग करके कुछ अनिष्ट अ श का स्वीकार करते हैं। इसमे दोनो पक्षो का समाधान नही होता। एक अश मे दोनो को सन्तोष होता है और एक अश मे दोनो को असन्तोष। समान सन्तोष के साथ-साथ समान असन्तोष होता है। अर्ध-सम्मति के साथ अर्ध-असम्मति भी होती है। इसमे सगति और सम्वाद नही है। इसमे समान 'अन्वय' नही है। समन्वय मे विसगति और विप्रतिपत्ति का परिहार है। इसलिए उसमे समान सम्मति और समान सन्तोष है।"[1]

भारतीय चिन्तन-प्रणाली का अनुसरण करते हुए प्रसादजी ने भी 'कामायनी' मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इसी कारण यहाँ ऐहिकता और आध्यात्मिकता, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, प्रवृत्ति और निवृत्ति या भोग और त्याग, बुद्धि और हृदय, शैव और वैष्णव, गार्हस्थ्य और वैराग्य, भक्ति और ज्ञान, श्रेय और प्रेय, जड और चेतन, भले और बुरे, ईश्वर और जगत आदि का समन्वय मिलता है।

१ ऐहिकता और आध्यात्मिकता—'कामायनी' मे ऐहिकता और आध्यात्मिकता का सफल समन्वय मिलता है, क्योकि यहाँ पर पहले तो मनु को भोग-प्रधान एव विलासिता मे परिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए दिखलाया जाता है और अन्त मे श्रद्धा के प्रयत्नों से वे सात्विकता, पवित्रता आदि से युक्त आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुए दिखाई देते हैं। ऐसे ही श्रद्धा एक ओर तो मनु को तपस्या, वैराग्य आदि से हटाकर 'कर्म का भोग, भोग का कर्म' आदि कहती हुई ऐहिक जीवन की प्रेरणा देती हुई दिखाई देती है और दूसरी ओर वही श्रद्धा मनु को समाज से दूर कैलाश के उन्नत शिखर पर ले जाकर सरल और सात्विक जीवन व्यतीत करने का आग्रह करती है। ऐसे ही इडा मे हमे पहले भौतिकता की प्रबलता के कारण ऐहिक जीवन के प्रति अगाध मोह दिखाई देता है, किन्तु वही इडा अन्त मे 'गैरिक वसना'[2] होकर कैलाश यात्रा करती हुई आध्यात्मिक जीवन को महत्व देने लगती है। इस तरह 'कामायनी' मे यह दिखलाया गया है कि न तो घोर विलासितापूर्ण या सतत वासनामय ऐहिक जीवन व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है और न वैराग्य धारण करके आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना ही उचित है, अपितु दोनों के सफल समन्वय से ही मानव-जीवन कल्याणमय होता है।

१—कल्याण—हिन्दू-सस्कृति अक, पृ० ३८१।
२—कामायनी, पृ० २७७। 252 के ऊपर पढ़ा

२. इच्छा, ज्ञान और क्रिया—'कामायनी' में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का भी सफल समन्वय किया गया है और बताया गया है कि यदि मनुष्य कुछ सोचता है और कुछ करता है, तो उसकी इच्छायें कभी पूरी नहीं होतीं और वह सदैव जीवन की विडम्बनाओं का ही शिकार बना रहता है।[1] इसका कारण यह है कि इच्छा के लोक में विचरण करता हुआ वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियों के नृत्य में ही फँसा रहता है।[2] ज्ञानलोक में उसे बुद्धि-चक्र में पिसकर भेद, निरंकुशता, तर्क, उदासीनता आदि का सामना करना पड़ता है[3] और कर्मलोक में नित्यप्रति एषणा के चंगुल में फँसकर सतत संघर्ष, विफलता, कोलाहल, व्याकुलता आदि सहनी पड़ती हैं।[4] इस तरह तीनों के पृथक्-पृथक् रहने से मानव को कदापि आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु जैसे ही मानव-जीवन में इन तीनों का समन्वय हो जाता है, वैसे ही उसके स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि भस्म हो जाते हैं और वह दिव्य अनाहत नाद को सुनता हुआ अखंड आनन्द का अधिकारी हो जाता है।[5]

३. प्रवृत्ति और निवृत्ति—भारतीय संस्कृति में प्रवृत्ति-निवृत्ति के समन्वय को भी अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग ब्रह्मचक्र के दो अंश बतलाये गये हैं। प्रवृत्ति-मार्ग में मनुष्य भगवान् के विमुख रहता है और निरंतर भोग में लीन रहकर जीवन व्यतीत करता है, जबकि निवृत्ति-मार्ग में वह भगवान् के सम्मुख रहता है और त्यागमय जीवन व्यतीत करता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि प्रवृत्ति-मार्ग में जीव आदान (ग्रहण) से समृद्ध होता है और निवृत्ति-मार्ग में वह प्रदान (त्याग) से समृद्ध होता है।[6] किन्तु जीवन की सफलता दोनों के समन्वय में ही है। 'कामायनी' में भी दोनों का समन्वय किया गया है, क्योंकि यहाँ काम के धर्माविरुद्ध रूप को अपनाते हुए एक ओर संसार में प्रवृत्त होने की सलाह दी है और दूसरी ओर हिंसा, विलास, स्वार्थ आदि से दूर रहकर त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए निवृत्ति-मार्ग को अपनाने का भी आग्रह किया गया है। मनु के जीवन में ये दोनों बातें स्पष्ट लक्षित होती हैं। ऐसे ही श्रद्धा का जीवन तो प्रवृत्ति और निवृत्ति का साकार रूप प्रस्तुत करता है; क्योंकि दया, माया, ममता की वह देवी सुन्दर गृहस्थ का निर्माण करती हुई तनिक भी उसमें आसक्त नहीं होती और अपने पुत्र तक का परित्याग करके पति की इच्छा-पूर्ति के लिए कैलाश-शिखर पर जाकर सात्विक जीवन व्यतीत करने

१—कामायनी, पृ० २७२। २—वही, पृ० २६२। ३—वही, पृ० २७०।
४—वही, पृ० २६६-२६७। ५—वही, पृ० २७३।
६—आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ० ४२७।

लगती है। साथ ही 'कामायनी' की सारी कथा भी यही संकेत करती है कि जीवन में भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही अपेक्षित हैं, दोनों का समन्वय हुए बिना मानव ऐसे ही भटकता है, जैसे कि मनु। किन्तु दोनों का समन्वय होते ही मानव अंत में मनु की भाँति अखंड आनन्द का अधिकारी भी बन जाता है।

४ बुद्धि और हृदय—प्रसादजी ने 'कामायनी' में बुद्धि और हृदय का भी सुन्दर समन्वय किया है और दोनों के समन्वय से ही मानव-जीवन में सिद्धि, सफलता एवं समृद्धि का होना बतलाया है। सर्वप्रथम मनु में केवल बुद्धिपक्ष की ही प्रधानता थी। वे निरंतर चिंतन एवं मनन में ही लीन रहते थे, परन्तु श्रद्धा ने आकर मनु को उस चिंतन प्रधान जीवन से मुक्त करने का प्रयत्न किया और कहा कि 'मेरा सहयोग प्राप्त करो। संसार में शक्तिशाली होकर विजयी बनो। डरो मत, आगे बढ़ो। देखो, सारी समृद्धि तुम्हारी ओर स्वतः खिचकर चली आवेगी।'[1] कामायनी में श्रद्धा हृदय का प्रतीक मानी गई है। अतः मनु के बुद्धि प्रधान जीवन में सर्वप्रथम श्रद्धा के सहयोग से हृदय और बुद्धि का समन्वय किया गया है। दूसरे 'कामायनी' में इड़ा को बुद्धि का प्रतीक कहा है और श्रद्धा-पुत्र मानव में श्रद्धा की प्रधानता मानी गई है। इड़ा की प्रेरणा से मनु जब सारस्वत नगर का का नियमन करते हैं, तब वहाँ संघर्ष, क्रान्ति एवं युद्ध उत्पन्न हो जाता है, किन्तु श्रद्धा-पुत्र मानव और इड़ा जब दोनों मिलकर सारस्वत प्रदेश का शासन करते हैं, तब वहाँ बड़ी सुन्दर व्यवस्था होती है और एक परिवार सा स्थापित हो जाता है। अतः इड़ा और मानव के सम्मिलन में पुनः बुद्धि और हृदय के समन्वय का सुन्दर वर्णन मिलता है। ऐसे ही मननशील होने के कारण मनु, तर्कमयी होने के कारण इड़ा और तर्कशील समस्त सारस्वत नगर-निवासी ये सभी बुद्धि-पक्ष की प्रधानता वाले व्यक्ति हैं और 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' होने के कारण श्रद्धा तथा 'श्रद्धामय' होने के कारण कुमार ये दोनों हृदय-पक्ष की प्रधानता वाले व्यक्ति हैं। किन्तु अन्त में जाकर प्रसादजी इन सभी पात्रों को कैलाश शिखिर पर मिलाकर एक सम्मिलित कुटुम्ब का रूप दे दिया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रसादजी को बुद्धि और हृदय का समन्वय अभीष्ट है। इस प्रकार वैयक्तिक जीवन, समाज तथा राष्ट्र की समुचित व्यवस्था के लिए 'कामायनी' में बुद्धि एवं हृदय का समन्वय किया गया है।

५. शैव और वैष्णव—'कामायनी' में शैव और वैष्णव दोनों सिद्धान्तों का समन्वय मिलता है। यहाँ पर शिव को एक महान् सत्ता के रूप में स्वीकार करके

१—कामायनी, पृ० ५८। ६४

स्थान-स्थान पर शैव-दर्शन के अनुकूल चिति की आनन्द-क्रीडा, समरसता, ससार की सत्यता, आनन्दवाद आदि का वर्णन मिलता है।[1] किन्तु कितनी ही बातें वैष्णव मत की भी अपनायी गई हैं। जैसे, वैष्णव मत मे पशु-बलि का विरोध, भगवान् की भक्ति तथा शरणागति का महत्व, नियमो की अपेक्षा प्रेम की प्रधानता, जाति-पाँति के बन्धन को तोडकर कोमलता तथा पराई पीर को जानने का भाव जाग्रत किया गया है,[2] वे ही सब बातें 'कामायनी' के अन्तर्गत भी अपनायी गई हैं, क्योकि यहाँ पर श्रद्धा मनु के पशु-बलि-प्रधान यज्ञ का विरोध करती है,[3] मनु भगवान् भूतनाथ की शरण मे जाने को लालायित दिखलाये जाते हैं[4] श्रद्धा स्वयं प्रेम मे पगी हुई होने के कारण सर्वत्र प्रेम-भावना का प्रसार करती है[5] और 'कामायनी' मे स्थान-स्थान पर प्राणीमात्र को एक समझ कर दया, करुणा, सेवा, उदारता आदि को अपनाते हुए पर-पीड़ा को जानने का आग्रह किया गया है।[6] इस तरह 'कामायनी' मे शैव और वैष्णव मतो का भी समन्वय मिलता है।

६. गार्हस्थ्य और वैराग्य—'कामायनी' मे जहाँ भोग और त्याग एवं प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय किया गया है, वहाँ पर गार्हस्थ्य जीवन एव वैराग्य के समन्वय का भी प्रयत्न मिलता है। कबीर ने जिस प्रकार 'गृही मे वैराग'[7] कहकर गृहस्थ और वैराग्य का समन्वय किया था, उसी प्रकार प्रसादजी ने भी तपस्या एवं साधना मे लीन मनु को अन्त मे एक ऐसे गृहस्थी के रूप मे चित्रित किया है, जो एक विशाल परिवार के स्वामी हैं और इडा, मानव, सारस्वत नगर निवासी आदि सब जिनके परिवार के अग बने हुए हैं, फिर भी उनकी अद्वैत भावना, तपस्या, सेवा आदि मे कोई अन्तर नही आता।[8] इस तरह प्रसादजी ने मनु के अन्तिम जीवन की झाँकी द्वारा गार्हस्थ्य जीवन एवं वैराग्य का भी सुन्दर समन्वय किया है।

७. भक्ति और ज्ञान—प्रसादजी शिव-भक्त थे। शिव की भक्ति का प्रभाव उनके हृदय पर इतना गहरा था कि उन्होंने आदि-पुरुष मनु एवं आद्या-नारी श्रद्धा को भी 'आनन्द' सर्ग मे शिव और शक्ति के रूप मे अंकित किया है।[9]

१—कामायनी, पृ० ५३, २८८, २६४।
२—भारतीय सस्कृति की रूपरेखा, पृ० २२।
३—कामायनी पृ० १२६-१३०।
४—वही, पृ० २५४। ५—वही, पृ० [illegible], २१६-२१७, २४३।
६—वही, पृ० १३२-१३३, २४४, २८८-२८६।
७—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६। ८—कामायनी, पृ० २८७।
६—कामायनी, पृ० २८६।

इसके साथ ही उन्होंने 'कामायनी' में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि संसार में सन्तप्त प्राणी के लिए भगवान् की भक्ति ही एकमात्र अवलम्ब है। मनु भी विश्व-पीड़ा से पीड़ित होकर नटराज के चरणों में ही शान्ति प्राप्त करते हैं।[1] किन्तु आगे चलकर 'रहस्य' सर्ग में श्रद्धा जैसे ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया के त्रिकोण को अपनी स्मिति से एक कर देती है, वैसे ही उस त्रिकोण से प्रलयाग्नि की लपटें निकलने लगती हैं, डमरू और शृंग-नाद सुनाई पड़ने लगता है और मनु भक्तिमार्ग को छोड़कर ज्ञानमार्गियों की भाँति समाधिस्थ होकर अनाहत नाद को सुनने लगते हैं।[2] इतना ही नहीं, अन्तिम 'आनन्द' सर्ग में भी भक्त मनु एक योगी या ज्ञानी की भाँति मानसरोवर के किनारे ध्यान-मग्न दिखाई देते हैं और श्रद्धा भक्ति की साकार मूर्ति बनकर सुमनों की अंजलि भरे हुए उनके निकट खड़ी दिखाई देती है।[3] इस तरह 'कामायनी' में भक्ति और ज्ञान का सुन्दर समन्वय किया गया है।

८ श्रेय और प्रेय—इन दोनों के बारे में कठोपनिषद् में कहा गया है कि आनन्द स्वरूप पर-ब्रह्म की प्राप्ति के साधन को 'श्रेय', तथा स्त्री, पुत्र, धन, यश आदि लौकिक सुख-भोग की प्राप्ति के उपाय को 'प्रेय' कहते हैं। श्रेय आरम्भ में कटु एवं अन्त में सुखद होता है तथा प्रेय प्रारम्भ में सुखद एवं अन्त में कटु होता है।[4] अतः श्रेय का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है और प्रेय का सम्बन्ध भौतिकता से है। प्रसादजी ने 'कामायनी' की कथा में न तो केवल भौतिकता को ही महत्व दिया है और न यही आग्रह किया है कि सभी लोग संसार को छोड़कर जंगलों में तपस्या करें, अपितु दोनों अतियों का समन्वय करके यह बतलाया है कि जीवन में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता को सन्तुलित रूप में अपनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रसादजी तो काव्य को 'श्रेयमयी प्रेय रचना' कहते हैं।[5] अतः अपने इसी विचार के आधार पर प्रसादजी ने 'कामायनी' में श्रेय एवं प्रेय का भी सफल समन्वय प्रस्तुत किया है।

९ जड़ और चेतन—'कामायनी' में जड़ और चेतन में कोई भेद नहीं माना गया है। प्रसादजी का विचार है कि ये दोनों एक ही चेतन तत्व के दो रूप हैं, जैसे जल जम जाता है, तब वह बर्फ के रूप में जड़-रूप को धारण कर लेता है, किन्तु जब वह बहता रहता है तो उसे 'चेतन' कह सकते हैं।[6] इस सृष्टि

१—कामायनी, पृ० २५४। २—वही, पृ० २७३। ३—वही, पृ० २८१।
४—कल्याण—उपनिषद् अंक, पृ० १६६।
५—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४४।
६—कामायनी, पृ० ३।

में सर्वत्र एक चेतन-तत्त्व ही समाया हुआ है और उसी की सर्वत्र प्रधानता है, केवल स्थूल दृष्टि वालों को जड़त्व का आभास होता है। इसी कारण आप जड़-चेतन-मय जगत को भी चेतना-शक्ति 'चिति' का 'विराट वपु' कहते हैं[1] और जड़-चेतन सभी को समरस कहकर सभी के अन्दर एक चेतनता को विलास करते हुए एवं सभी को अखण्ड आनन्द में मग्न देखते हैं।[2] इस तरह आपने 'कामायनी' में जड़ और चेतन का भी सुन्दर समन्वय किया है।

१०. **भला और बुरा**—भारत के अधिकांश मनीषियों ने संसार को गुण-दोष-मय बतलाया है और दोषों को छोड़ने तथा गुणों को ग्रहण करने का आग्रह किया है।[3] परन्तु ध्यान से देखा जाय तो एक के बिना दूसरे का महत्व प्रतीत नहीं होता। यही दशा भले और बुरे की है, क्योंकि ये दोनों भी परस्पर एक-दूसरे के महत्व को प्रदर्शित करते हैं। इसी कारण प्रसादजी ने भले और बुरे—दोनों को सर्ग-अंकुर के दो पल्लव कहा है और दोनों को एक-दूसरे की सीमा बतलाते हुए दोनों से प्यार करने का आग्रह किया है।[4] अतः *'कामायनी' में इन दोनों का भी समन्वय मिलता है।*

११. **ईश्वर और जगत**—भारतीय चिन्तन-पद्धति के अनुसार वह जगत-*नियन्ता जगत के अणु-अणु और कण-कण में व्याप्त होकर इस जगत का संचालन* करता रहता है। प्रसादजी उस जगत-नियन्ता को शैव-दर्शन के आधार पर शिव या 'चिति' कहते हैं तथा इस सम्पूर्ण जगत को उसका विराट शरीर कहकर 'सत्य सतत चिर सुन्दर'[5] बतलाते हैं। उनका मत है कि उस चिति से पृथक् जगत की कोई सत्ता नहीं है, सारा जगत उसी का रूप है और उसकी इच्छा के अनुसार ही इस जगत का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। वैसे वह ईश्वर इस जगत में निरन्तर लीला करता रहता है।[6] अतः ईश्वर और जगत परस्पर भिन्न नहीं हैं, अपितु पूर्णतया अभिन्न हैं। इस तरह प्रसादजी ने ईश्वर और जगत का भी समन्वय किया है।

प्रसादजी के इस समन्वयवाद में हमें एक ओर तो भारतीय चिन्तन-पद्धति का अनुसरण मिलता है और दूसरी ओर उनकी कुछ मौलिक धारणायें भी दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे ऐहिकता और आध्यात्मिकता, प्रवृत्ति और निवृत्ति,

---

१—कामायनी, पृ० २८८। २—वही, पृ० २६४।

३—जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥
—रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ६

४—कामायनी, पृ० २१०। ५—वही, पृ० २८८। ६—वही, पृ० ४१

त्याग और भोग, गार्हस्थ्य और वैराग्य, भक्ति और ज्ञान, चिति और जगत के समन्वय मे आपने भारतीय चिन्तन परम्परा का अनुसरण किया है, किन्तु बुद्धि और हृदय, शैव और वैष्णव, श्रेय और प्रेय, भले और बुरे आदि के समन्वय मे आपने अपने मौलिक चिन्तन का भी आभास दिया है । प्रसादजी के इस समन्वयवाद मे सर्वत्र उनकी उदारता, देशानुराग, मानवता-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व की भावना आदि के दर्शन होते हैं किन्तु इस समन्वयवाद मे यह बात नही है कि वे स्वय कुछ झुके हो और दूसरो को भी झुकने के लिए बाध्य किया हो। आपने तो 'कामायनी' की कथा को आदि-मानव से सम्बद्ध करके उसमे ऐसे समन्वय को स्थान दिया है, जिससे किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती और ससार के सभी व्यक्ति अपनी-अपनी त्रुटियो को देखकर इससे लाभ उठा सकते हैं । प्रसादजी का यह समन्वयवाद भौतिक जीवन की सभी उलझनो को सुलझाने मे समर्थ है तथा मानव-मात्र के कल्याण-मार्ग को प्रशस्त करके उसे कर्मशील, उद्यमशायी और मानवता का पुजारी बनाने वाला है ।

'कामायनी' मे सास्कृतिक समन्वय की जो यह भावना दिखायी देती है, उसकी प्रेरक-शक्ति श्रद्धा है, क्योकि वह अपनी उदात्त एव सौम्य भावनाओ द्वारा अन्य सभी पात्रो के हृदय को मुग्ध कर लेती है और अपनी विचारधारा के अनुकूल बनाती हुई उन्हे हठात् असत्य से सत्य की ओर, बुराई से भलाई की ओर, भोग से त्याग की ओर, प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर और ऐहिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाती है, परन्तु वह किसी एक बात मे ही लीन रहने का आग्रह नही करती । वह ससार के दोनो पक्षो को प्यार करना सिखाती है, दोनो मे सन्तुलन लाने का प्रयत्न करती है और दोनों को अपनी-अपनी मर्यादा मे ही रहने का आग्रह करती है। यही श्रद्धा द्वारा प्रतिपादित प्रसादजी का समन्वयवाद या सामरस्य का सिद्धान्त है, जिसमे भले और बुरे, जड और चेतन, भोगी और विरागी—सभी समान भाव से आनन्द-विभोर होकर एकरूपता को प्राप्त होते हैं, फिर न कोई शापित रहता है, न कोई तापित । यह जीवन रूपी वसुधा समतल प्रतीत होने लगती है और मानव को अखड आनन्द का साक्षात्कार होने लगता है ।

अत प्रसादजी की यही सबसे बडी सास्कृतिक देन है कि आपने श्रद्धा और मनु की कथा द्वारा 'कामायनी' मे उच्चकोटि के सास्कृतिक समन्वय अथवा समरसता के सिद्धान्त की स्थापना की है, जो विश्व-भर की अशान्ति को दूर करने का एकमात्र उपाय है और जिसके द्वारा सभी मानव आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं ।

प्रकरण ६

कामायनी का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

मन-सम्बन्धी भारतीय मत—भारतीय ग्रन्थों में मन का विवेचन अत्यन्त प्राचीन काल से मिलता है। ऋग्वेद में काम से मन की उत्पत्ति बताई गई है और वहाँ पर काम को मन का रेतम् या मूल बीज कहा गया है।[1] ब्राह्मण-ग्रन्थों में काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय इन सभी को 'मन' के अन्तर्गत ही माना गया है।[2] निरुक्त में यास्क ने 'मनु' धातु से मन की व्युत्पत्ति सिद्ध की है और उसका धात्वर्थ—अवबोधन करना, मनन करना आदि बताया है।[3] उपनिषदों में मन का विशद विवेचन मिलता है। उपनिषदों ने कहीं तो मन को इन्द्रिय रूपी घोड़ों की लगाम कहा है,[4] कहीं मन को ब्रह्म बताया है[5] और जानने, धारणा करने, देखने, संकल्प करने आदि की अनेक शक्तियों से सम्पन्न बताया है[6] तथा वहीं पर मन को समस्त इन्द्रियों

१—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

—ऋग्वेद १०।१२६।४

२—शतपथ ब्राह्मण १४।४।३।६

३—निरुक्त—नैगम कांड ४।१।५ ४—कठोपनिषद् १।३।६–७

५—छांदोग्य उपनिषद् ३।१८।१ ६—ऐतरेय उपनिषद् ३।२

से अधिक बलशाली एवं सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया है।[1] इतना ही नहीं, मन को बंधन एवं मोक्ष का कारण भी बताया गया है।[2] श्रीमद्भगवद्गीता में मन को अत्यन्त चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, अतीव दृढ़ एवं बलवान् बताया गया है तथा वायु के समान इसको वश में करना सर्वथा दुष्कर कहा गया है।[3] योगवाशिष्ठ में मन को संसार का उत्पादक, अत्यन्त बलशाली एवं संकल्प-विकल्प करने वाला बताया गया है और इसको जीत लेने पर ही शान्ति एवं कल्याण का प्राप्त होना लिखा है।[4] भारतीय दर्शनों में से बौद्ध-दर्शन में विज्ञान-स्कंध को ही चेतना या मन माना गया है तथा इसे एक प्रकार का आयतन भी कहा गया है, जिसकी उत्पत्ति अविद्या एवं तृष्णा से मानी गई है।[5] न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में मन को सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाली साधन इन्द्रिय माना गया है और उसे प्रत्येक आत्मा में नियत रहने के कारण अनन्त, परमाणुरूप तथा नित्य बताया गया है।[6] सांख्य तथा योगदर्शन में मन की उत्पत्ति पंचतन्मात्राओं से मानी गयी है तथा इसे कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय उभयात्मक रूपों में स्वीकार करते हुए एक ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है, किन्तु इसे विभु एवं व्यापक नहीं कहा गया है।[7] वेदान्त दर्शन में अन्तःकरण के चार भेद किए गए हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। जिनमें मन को एक तरह की अन्तरिन्द्रिय माना गया है तथा सत्त्व, रज तथा तम को मन के गुण कहा गया है। यहाँ इसके दो रूप स्वीकार किए गए हैं-शुद्ध और अशुद्ध। काम, क्रोधादि विकारों से युक्त मन 'अशुद्ध' कहलाता है और इन विकारों से रहित मन को शुद्ध मन कहा गया है।[8]

अतः भारतीय चिन्तन प्रणाली में मन को भौतिक रूप दिया गया है और उसे आत्मा की सहायता करने वाली अत्यन्त चंचल, दृढ़ एवं बलशाली इन्द्रिय माना गया है। यह मन ही यहाँ मानव जीवन का संचालक है और इसी को मानव मात्र के लिए शुभ और अशुभ गति प्रदान करने वाला कहा गया है। इसका मुख्य कार्य संकल्प विकल्प या मनन करना है। यह चेतना-युक्त रहता है और मानव को सभी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति कराने में सहायता पहुँचाता है। यह इन्द्रियों का राजा है और इसी कारण 'मन के हारे हार है, मन के

१—कठोपनिषद् १।३।१०, २।३।७
२—कल्याण—उपनिषद् अंक, पृ० १६४।
३—श्रीमद्भगवद्गीता ६।३४ ४—योगवाशिष्ठ, पृ० १४७—१४८।
५—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ५०५, ५७८।
६—तर्क-संग्रह, पृ० ३५। ७—सांख्यदर्शन, १।६१, २।२६, ४।६६
८—पंचदशी २।१२-१३, ११।११६

जीते जीत' कहकर इसे मानव की जय-पराजय का विधाता कहा जाता है। इसको वश में रखने से ही मानव अपने अभीष्ट कार्य में सफल होता है। किन्तु इसके तनिक अनियंत्रित हो जाने से मानव का सारा जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, वह मार्ग-भ्रष्ट होकर इधर-उधर मारा-मारा फिरता है और अपने उद्देश्य में कदापि सफल नही होता। यही कारण है कि भारतीय मनीषियो ने सबसे अधिक मन को वश मे करने का उपदेश दिया है और मन को समस्त विकारो का केन्द्र-स्थान बताकर सत् और असत् दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो का अनुगामी सिद्ध किया है। अत भारतीय दृष्टिकोण से मानव-जीवन की उन्नति एवं अवनति मन पर ही निर्भर है और यह मन शुद्ध, नियन्त्रित एव शान्त होकर ही अन्त मे आनन्द-लाभ करता है।

मन-सम्बन्धी पाश्चात्य मत—भारतीय दार्शनिको की भाँति पाश्चात्य दार्शनिको एवं मनोवैज्ञानिको ने भी मन के बारे मे अपने-अपने विभिन्न मतो का प्रतिपादन किया है। यूनानी दार्शनिको में पहले यह धारणा थी कि मन एक ठोस द्रव्य है, जो जीवित प्राणियो के अन्तर्गत विद्यमान रहता है और इसी के आधार पर मृत एव जीवित प्राणी का ज्ञान होता है। परन्तु सर्वप्रथम एनैक्सेगोरस ने इस प्राचीन मत का खंडन करते हुए मन को एक ऐसी शक्ति सिद्ध किया, जोकि समस्त चेतन प्राणियो पर अपना अधिकार रखती है, जो असीम एव सर्वथा स्वशासित है और जिसमे किसी भी पदार्थ का मिश्रण नही है, यह मन ही समस्त भावो का उद्गम स्थान है, यही ससार के परिवर्तन का कारण है और इसी की प्रेरणा से हलके पदार्थ परिधि में घूमा करते हैं तथा भारी पदार्थ केन्द्र की ओर गिरा करते हैं।[1] इसके उपरान्त प्लेटो ने भी मन को सर्वोपरि सिद्ध किया है उसका मत है कि समस्त कार्यों के दो प्रकार के कारण होते हैं—(१) बुद्धिगत या स्वतन्त्र, तथा (२) परतन्त्र या पर-चालित। प्रथम का सम्बन्ध मन से है और यह मन ही ससार मे अच्छे और भले का निर्माता है। यह मन स्व-शासित है और सर्वथा उन्मुक्त होकर कार्य करता है, जबकि अन्य सभी कार्य शारीरिक शक्ति से संचालित होते हैं। हम कठोर एव कोमल पदार्थों को देखते हैं और स्पर्श भी करते हैं, परन्तु यह मन ही हमे उन पदार्थों की सत्ता तथा उनके विरोधी गुणों का ज्ञान कराता है। हम मन के द्वारा ही अन्य इन्द्रिय-विषयक ज्ञान भी प्राप्त करते हैं।[2]

इसके उपरान्त अरस्तू ने मन को विचार करने की शक्ति कहा है तथा उसे आत्मा से सर्वथा भिन्न स्वीकार किया है।[3] प्लोटीनस ने मन को देवोगुरा

1—History of Western Philosophy, p. 82.
२—वही, पृ० १७४। ३—वही, पृ० १९२-१९३।

गसम्पन्न कहा है तथा उसे आत्मा, इन्द्रिय, शरीर आदि से परे बताया है।[1] बेनडिक्ट स्पिनोजा ने मन को द्रव्य (substance) का विकार कहा है[2] और जान लॉक ने मन को द्रव्य स्वीकार किया है।[3] जार्ज बर्कले ने मन को सबका ज्ञाता माना है तथा ससार को उसका विचारमात्र कहा है।[4] डेविड ह्यूम मन को अविच्छिन्न प्रवाह युक्त विभिन्न प्रत्ययों (ideas) की राशि मानते हैं[5] तथा लिबनीज ने मन को प्रत्यक्षों एव प्रवृत्तियों से निर्मित एक चिद्बिन्दु (monad) कहा है।[6] हेगेल ने मन को तर्कपूर्ण प्रत्यय (logical idea) का विकास कहा है[7] और हर्बर्ट स्पेंसर ने उसे निरपेक्ष या अज्ञेय (absolute or unknown) शक्ति का उन्मेष सिद्ध किया है।[8] स्टाउट ने मन (mind) तथा जड पदार्थ (matter) सम्बन्धी विवाद पर विचार करते हुए तीन सिद्धान्तों की ओर सकेत किया है—(१) परस्पर-क्रियावाद (interactionism), (२) समानान्तरवाद (parallelism), और (३) जडवाद (materialism)। अन्त में स्टाउट ने प्रथम सिद्धान्त को मानते हुए मन तथा जड-पदार्थों को परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करने वाला स्वीकार किया है।[9] इनके अतिरिक्त फ्राइड ने मन के चेतन और अचेतन दो रूप स्वीकार किए हैं और चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन को अधिक महत्वशाली सिद्ध किया है। साथ ही लिखा है कि अचेतन मन में काम या इच्छायें दमित रूप में विद्यमान रहती हैं और वे स्वप्नों, दिवा-स्वप्नों, भूलों, हास्य, कला, धर्म, अन्य मानसिक उपद्रवों आदि के रूप में प्रकट होती रहती हैं।[10] फ्राइड के अनुयायी युङ्ग ने भी मन के अचेतन रूप को अधिक महत्व दिया है, परन्तु वह इस अचेतन मन को दमित काम या इच्छाओं का ही स्थान नहीं मानता, अपितु उसे सम्पूर्ण भलाइयों का मूल एव चेतना का मूल-स्रोत भी सिद्ध करता है।[11] इसी तरह फ्राइड के एक दूसरे शिष्य एडलर ने भी फ्राइड की भाँति मन के अचेतन रूप को महत्व दिया है। किन्तु उसमें काम-प्रवृत्ति की अपेक्षा समाज की स्व-स्थापना या शक्ति-प्राप्ति की प्रवृत्ति को अधिक प्रबल माना है।[12]

1—History of Western Philosophy, p. 314.

2—A History of Philosophy, p 328.

३—वही, पृ० ३३५। ४—वही, पृ० ३६०-३६१।

५—वही, पृ० ३७६। ६—वही, पृ० ३६०।

७—वही, पृ० ४८५। ८—वही, ५४६।

9—Mind and Matter, pp 73-75.—*Stout.*

१०—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ५१७। ११—वही, पृ० १३-१७।

१२—वही, पृ० ४६७–४६८।

अतः पाश्चात्य विद्वान् पहले तो मन को एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में स्वीकार करते थे और उसे एक ऐसी स्वतन्त्र इकाई (unit) मानते थे, जो निर्माण, धारणा, अनुभव, विचार आदि कार्यों को करती थी। परन्तु आगे चलकर मनोवैज्ञानिकों ने मन का अधिकाधिक अन्वेषण एवं अनुशीलन किया और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मन एक स्वतन्त्र एवं पूर्ण इकाई नहीं है, अपितु वह विभिन्न इकाइयों का मिश्रित रूप है। उसके चेतन और अचेतन दो रूप होते हैं, जिनमें से अचेतन रूप अपेक्षाकृत अधिक सशक्त और समर्थ होता है, क्योंकि उसके द्वारा ही चेतन मन की समस्त क्रियायें होती हैं और वही समस्त मानसिक क्रियाओं का मूल है। इसके साथ ही मन तथा शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि मन ही चेतना है, जिसकी इच्छा (feeling), ज्ञान (cognition), और क्रिया (conation)—ये तीन प्रक्रियायें होती हैं। 'इच्छा' के अन्तर्गत वेदना, संवेग और भावना आती हैं। 'ज्ञान' के अन्तर्गत संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, कल्पना और विचारणा आती हैं तथा 'क्रिया' के अन्तर्गत सभी चेष्टायें आती हैं, जो संवेदनात्मक, स्वाभाविक, अभ्यास-जनित आदि होती हैं। यह चेतना का क्षेत्र दो भागों में बँटा हुआ है—ध्यान और अनवधान। 'ध्यान' का क्षेत्र तो स्पष्ट ही चेतना का प्रदेश है, परन्तु 'अनवधान' का क्षेत्र चेतना की सीमा है, जहाँ वह अस्पष्ट एवं धुँधले रूप में विद्यमान रहती है।[1] यही क्षेत्र मन का अचेतन प्रदेश है। मन के चेतन और अचेतन दोनों रूप ही शक्तिशाली हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही समस्त शारीरिक एवं मानसिक क्रियायें होती हैं। यह मन ही समस्त मूर्त-अमूर्त भावों एवं विचारों तथा ऐच्छिक-अनैच्छिक कर्मों का प्रेरक है। अनुभव इसका धर्म है और व्यवहार इसका कर्म। कुछ व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक मन का अस्तित्व न मानकर उसके स्थान पर मस्तिष्क को महत्व देते हैं। परन्तु सामान्य निरीक्षण यह बताता है कि समस्त चक्षु, नासिका आदि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मन पर प्रतिक्रिया होती है, मन में संवेदनायें उत्पन्न होती हैं और हम बाह्य वस्तुओं के गुणों का प्रत्यक्षीकरण करते हैं। इसके साथ ही यह मन ज्ञानेन्द्रियों तथा शरीर की पेशियों की सहायता से ही समस्त व्यापार किया करता है। इसीलिए मन और शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह मन शरीर का नियामक, संचालक एवं प्रेरक है।

प्रसादजी की मन-सम्बन्धी निजी धारणा—प्रसादजी ने अपनी 'मानस' कविता में मन की तुलना सरोवर से की है तथा मन को सरोवर के समान

१—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ५३४-५३८।

विशाल कहा है, क्योंकि जिस तरह सरोवर में अनेक तरंगें उठती रहती हैं, उसी तरह मन भी नित्य तरंगायित रहता है, किन्तु उनका कथन है कि सरोवर की तरंगों में माधुर्य नहीं होता, जबकि मन की तरंगें सुधा का भी तिरस्कार करती हुई अत्यन्त मधुरता से परिपूर्ण रहती हैं। इस मन-सरोवर के किनारे बैठकर मनुष्य उसकी अद्भुत तरंगों की मीठी तान सुना करता है। प्रसादजी ने चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद, लोभ, मोह, आनन्द आदि को इस मन-सरोवर के मकर-समुदाय एवं महान् मत्स्य कहा है तथा आशा को रत्न और मुक्ता की खानि बताया है। यहां कवि ने कल्पना को हंस कहा है, जो बड़े आनन्दपूर्वक आशा रूपी मोतियों को चुगता रहता है और 'शोक' को हमियों का समुदाय कहा है तथा लिखा है कि कभी-कभी कल्पना को उक्त महान् मत्स्य निगल जाते हैं, जिससे यह मन अनजाने ही दुःख से व्यथित हो हो उठता है। उन्होंने आगे लिखा है यद्यपि मन रूपी सरोवर में उत्पन्न कमल का तन्तु अत्यन्त सूक्ष्म है, फिर भी उसमें बड़े-बड़े भयानक जन्तु फँस जाते हैं। इस मन रूपी सरोवर की तरंगें असीम हैं, जिनमें चित्त रूपी हंस बड़े सुखपूर्वक क्रीडा करता रहता है।[1] इस तरह प्रसादजी ने इसी 'मानस' कविता में चिन्ता से लेकर आनन्द तक की स्थिति मन में बतलाई है[2] और सम्भवत इसी कारण कामायनी में 'चिन्ता' सर्ग से लेकर 'आनन्द' सर्ग तक मन का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त प्रसादजी की यह दृढ धारणा थी कि 'मन अत्यन्त चंचल है और हरिण के समान चौकड़ी भरा करता।'[3] वे मन को बड़ा ही अतृप्त मानते थे। उन्होंने लिखा भी है कि 'इस मन की कभी प्यास नहीं बुझती।'[4] क्योंकि मनुष्य बूढा हो जाता है, परन्तु मन कभी बूढा नहीं होता।[5] इतना ही नहीं, यह 'मन सदैव मछली के समान तैरता रहता है।'[6] वेदान्तियों की तरह प्रसादजी ने भी मन को संशयात्मक या सकल्प-विकल्प करने वाला माना है।[7] साथ ही वे मन को समस्त रस (आनन्द) का अधिष्ठान भी मानते थे।[8] क्योंकि उनका यह दृढ विचार था कि मन सदैव सुख की ओर दौड़ा करता है और उसका लक्ष्य एकमात्र आनन्द की प्राप्ति करना है।[9] इतना ही नहीं, वे

१—चित्राधार पृ० १४३।
२—चिन्ता, हर्ष, विवाद, क्रोध, निर्वेद।
लोभ, मोह, आनन्द आदि बहु भेद ।।—चित्राधार, पृ० १४३।
३—चित्राधार, पृ० १७६। ४—राज्यश्री, पृ० १८।
५—चन्द्रगुप्त, पृ० ६१। ६—कामना, पृ० ६६।
७—कंकाल, पृ० १६। ८—आँसू पृ० २८।
९—एक घूंट, पृ० १०।

यह भी मानते थे कि इस संसार मे सर्वत्र उस आनन्दघ का ही निवास है। इस कारण आनन्द के अतिरिक्त मन और जा ही कहाँ सकता है ?

अत: भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की ही भाँति प्रसादजी भी मन को समस्त मनोवृत्तियो, मनोविकारो एव संवेगो का अधिष्ठान मानते हैं। यह मन चेतन और अचेतन अवस्था मे नाना प्रकार के विकारो मे लीन रहता है तथा सौन्दर्य एवं सुख की प्राप्ति के लिए अनेकानेक अकाड-ताडव किया करता है। चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद, लोभ, मोह, आनन्द आदि सभी मनोविकारो का सम्बन्ध मन से है और इनके वशीभूत होकर वह अत्यन्त चंचल बना रहता है। तृष्णा और लालसा—ये दो मनोवृत्तियाँ अत्यन्त प्रबल हैं। इनके वश मे होकर मन अपना नियन्त्रण नही कर पाता और अधिकाधिक सुख या आनन्द की खोज मे पद-पद पर ठोकरें खाने लगता है। हाँ, यदि इनसे छुटकारा मिल जाय और सद्बुद्धि, सन्तोष, सरलता आदि का सत्संग हो जाय, तो इमे आनन्द-प्राप्ति मे कोई बाधा उपस्थित नही होती। प्रसादजी ने आनन्द के अंतरंग को सरलता और बहिरंग को सौन्दर्य कहा है।[२] अत. यदि मन सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होकर सरलता के साथ अपने पथ पर चले, तो सुगमता से आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह मन सौन्दर्य-लोभी होकर कभी सरल रहना अच्छा नही समझता और अधिकाधिक आडम्बरमय जीवन व्यतीत करता हुआ अनेकानेक विकारो मे लीन हो जाता है, जिससे इसे सुख की मृग-मरीचिका में कुरंगवत् चक्कर काटना पड़ता है। इसी कारण प्रसादजी भी मन के निग्रह को आवश्यक समझते हैं तथा इस कार्य को महापुरुषो का स्वभाव बताते हैं।[३] यह मन सद्बुद्धि और हृदय के साथ मिलकर ही आनन्द-मार्ग का अनुगामी हो सकता है। यदि मन सद्बुद्धि का साथ छोड देगा, तो विवेक-शून्य हो जायगा और यदि हृदय का साथ छोड देगा, तो श्रद्धा-विश्वास से रहित हो जायगा। अत. दोनों के योग से ही मन को गंतव्य मार्ग पर सफलता प्राप्त होती है।

कामायनी में मन का क्रमिक विकास तथा भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से उसका मूल्यांकन

प्रसादजी ने मन सम्बन्धी अपनी बद्धमूल धारणाओं के अनुसार ही 'कामायनी' मे मन के क्रमिक विकास का चित्रण किया है। 'कामायनी' के 'आमुख' मे उन्होंने यह बात तो स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार की है कि 'मनु अर्थात् मन के

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५६।
२—एक घूंट, पृ० १५।
३—चन्द्रगुप्त, पृ० २०९।

दोनों पक्ष—हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है।'[1] अत यहाँ पर मनु की कथा मे मन की भी कथा अनुस्यूत है तथा उसका सम्बन्ध हृदय और मस्तिष्क से किस-किस प्रकार रहता है और उसके द्वारा कौन कौन से परिणाम होते हैं, ये सभी बातें भी 'कामायनी' म अंकित की गई हैं।

'कामायनी' का प्रथम सर्ग 'चिन्ता' है। प्रसादजी ने अधिकांश सर्गों के नाम मनोवृत्तियो के आधार पर ही रखे हैं। अत सबसे पहले चिन्ता नामक मनोवृत्ति का चित्रण करके आपने भारतीय ग्रन्थो से सहमत होकर यह सूचित किया है कि चिन्तन या मनन मन का मूल व्यापार है। चिन्ता मे मानसिक हलचल अधिक रहती है और कर्म की प्रवृत्ति का अभाव रहता है। यही बात 'कामायनी' के 'चिन्ता' सर्ग मे भी मिलती है। यहाँ पर मन रूपी मनु केवल देवताओं के अतीत विलास-वैभव का चिन्तन करते हैं और चुपचाप हिमगिरि की उत्तुङ्ग शिखर पर बैठकर प्रलय-कारिणी लहरों का क्रमश अवसान देख रहे है।[2] यह मन की किंकर्त्तव्य-विमूढ वाली स्थिति है, क्योकि उसके सामने न तो कोई योजना है और न भविष्य के निर्माण का प्रश्न। वह तो केवल वर्तमान के कुछ भयकर दृश्यो को देखकर उनके सहारे अतीत के सुख या विलास-वैभव का चिन्तन ही कर सकता है।[3] भारतीय शास्त्रो मे लिखा भी है कि ऐश्वर्य भ्रष्ट हो जाने पर अथवा इष्ट द्रव्य की प्राप्ति न होने पर मन मे 'चिन्ता' नामक मनोभाव उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होते ही औत्सुक्य बढ जाता है, आहें निकलने लगती हैं और मन अत्यन्त सन्तप्त होता है।[4] 'चिन्ता' सर्ग मे चिन्ता उत्पन्न होते ही मनु का मन भी अपने ऐश्वर्य के भ्रष्ट हो जाने पर ऐसी ही दशा मे दिखलाया गया है। दूसरे पाश्चात्य मनोविज्ञानवेत्ता भी यही कहते हैं कि जब वास्तविक कर्म सम्भव नही होता, तब चिन्ता उस वास्तविक कर्म की स्थानापन्न हो जाती है, अर्थात् वास्तविक कर्म के अभाव म चिन्ता का उदय होता है।[5] यहाँ भी प्रलय के कारण सब कुछ नष्ट हो चुका है और मनु के सम्मुख जीवन का कोई उद्देश्य या कार्यक्रम नही है। अत ऐसी परिस्थिति मे 'चिन्ता' का उदय होना स्वाभाविक है। इसके साथ ही मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि प्राय प्रेरकों की पूर्ति म परिवेशगत बाधायें (environmental obstructions) उत्पन्न होने के कारण मानसिक हलचल उत्पन्न हो जाती है। परिवेशगत बाधाओं मे अकाल, तूफान, बाढ आदि भौतिक घटनाएँ आती हैं।[6]

१—कामायनी—आमुख, पृ० ७–८।
२—कामायनी, पृ० ३। ३—वही, पृ० ६। ४—नाट्यशास्त्र ७।५०
५—मनोविज्ञान—से० सिन्हा पृ० ७८। ६—वही, पृ० ४८८।

यहाँ 'कामायनी' में भी [illegible] इसके कारण [illegible] ि के परि- [illegible]

'चिन्ता' के उपरान्त दूसरा सर्ग 'आशा' है। जिसमे प्रलय-जन्य उत्पातों के बन्द होते ही प्राची मे उषा का स्वर्णिम प्रकाश दिखाई देता है, प्रकृति मे सर्वत्र नव चेतना फैल जाती हैं और सुप्त वनस्पतियाँ पुन जाग्रत हो उठती हैं। प्रकृति के ऐसे चेतनापूर्ण अतिरंजित वातावरण का प्रभाव मन पर भी पडता है और वह चिन्तन व्यापार को छोडकर प्रकृति के नव विकास को देखता हुआ जिज्ञासा एव कुतूहल से भर जाता है। उसमे विराट् सत्ता के प्रति आस्था उत्पन्न होती है तथा जीवन की आशा के उदय के साथ-साथ अहभाव भी जाग्रत होता है। इतना ही नही, उसमे नव चेतना एव स्फूर्ति का सचार होता है और वह जीवन के दैनिक कार्यों की ओर उन्मुख हो जाता है। किन्तु एक रात्रि को प्रकृति के चन्द्र-ज्योत्स्ना-पूर्ण वैभव का दर्शन करते ही उसमे अनादि वासना जाग्रत हो उठती है। एकाकी होने के कारण उसे अधिक व्यथा होती है तथा वह इस सम्वेदन से घबडा उठता है। 'आशा' सर्ग मे मन की इन्ही विकसित अवस्थाओ का चित्रण किया गया है। मैकडूगल का मत है कि अहभाव या आत्म-गौरव (self-assertion) एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति है, जो उल्लास या गर्व नामक सवेग के रूप मे प्रकट होती है। ऐसे ही जिज्ञासा या कुतूहल (curiosity) भी एक मूल-प्रवृत्ति है, जो अज्ञात या नवीन वस्तु के देखने पर जाग्रत होती है तथा जो विस्मय सवेग द्वारा प्रगट होती है। ये सभी सवेग अपनी-अपनी प्रवृत्तियो के कार्य हैं तथा परिस्थितियो के प्रत्यक्षीकरण या स्मृति के कारण उत्पन्न हुआ करते हैं।[1] अतः प्रकृति के चेतना-पूर्ण जागृति के वातावरण मे 'अहं' मूल-प्रवृत्ति का उठना तथा प्रकृति के अद्भुत एव अज्ञात रूपो एव कार्यों को देखकर मन मे जिज्ञासा या कुतूहल का जाग्रत होना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त द्वन्द्व की अभिलाषा (pairing) को मैकडूगल ने मूल-प्रवृत्ति बताया है।[2] भारतीय शास्त्रों मे इसे 'रति' भाव कहा गया है और शीतल पवन का स्पर्श, चन्द्र-ज्योत्स्ना, उद्यान, वर्षा आदि के कारण इसको उद्दीप्त होते हुए बताया गया है। इसके सयोग और वियोग दो भेद किये गये हैं। सयोग मे यह भाव सुख-कारी होता है तथा वियोग के अवसर पर या एकाकी जीवन मे यह मन मे पीड़ा

१—मनोविज्ञान—से० सिन्हा, पृ० ३७४-३८२।

२—वही, पृ० ३७४।

उत्पन्न करता हुआ अपने प्रिय सहचर को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न करता है।[1] अतः 'आशा' सर्ग में अहंभाव एवं रागात्मक वासना के उपरान्त प्रकृति के सुरम्य वातावरण में मन के अन्तर्गत द्वन्द्व की जो अभिलाषा उत्पन्न हुई है वह सर्वथा स्वाभाविक है तथा मन के क्रमिक विकास की द्योतक है।

तीसरे सर्ग का नाम 'श्रद्धा' है। इसमें मन तथा श्रद्धा का पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ा गया है। इससे पूर्व 'आशा' सर्ग में मन के अन्तर्गत रागात्मक भाव या अनादि वासना का जाग्रत होना बताया गया है। उधर रागात्मक भाव या वासना का सम्बन्ध हृदय से है। अतः रागी मन का हृदय के सम्पर्क में आना स्वाभाविक-सा ही है। इसके अतिरिक्त श्रद्धा को आस्तिक्य बुद्धि या विश्वास भी कहा गया है।[2] और वैदिक ग्रन्थों में इसी को संसार की प्रतिष्ठा बतलाया है।[3] पातंजलि योगशास्त्र में श्रद्धा द्वारा योग की प्राप्ति होना लिखा है।[4] गीता में श्रद्धावान् का ही ज्ञान प्राप्त करना बताया गया है।[5] पातंजलि योग-सूत्र के टीकाकार श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य ने 'चित्त की सम्प्रसाद या अभिरुचिमती निश्चय वृत्ति को श्रद्धा कहा है' और लिखा है कि शास्त्र और गुरु से लब्ध ज्ञान बहुत व्यक्तियों की औत्सुक्य निवृत्ति करता है। ऐसे औत्सुक्यवश होकर जो जाना जाता है, वह श्रद्धा नहीं होती। जिस जानने के साथ चित्त का सम्प्रसाद रहता है वही श्रद्धा होती है और श्रद्धा-भाव के रहने से लगातार श्रद्धेय विषयों के गुण-समूह के आविष्कार द्वारा प्रीति और आसक्ति बढ़ती रहती है।'[6] उक्त सभी उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि मन जब विश्वास, आस्तिक्य भाव, रागात्मिका वृत्ति, प्रीति एवं आसक्ति की ओर उन्मुख होता है, तब उसका सम्बन्ध श्रद्धा से जुड़ जाता है, क्योंकि उक्त सभी गुण श्रद्धा के हैं। इसी कारण आशा के उपरान्त मन में श्रद्धा-भाव का जाग्रत होना स्वाभाविक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में श्रद्धा को 'हृदय की संकल्प क्रिया' भी कहा है।[7] इस कथन द्वारा श्रद्धा का सम्बन्ध हृदय से जुड़ जाता है और सम्भवतः इसी कारण प्रसादजी ने भी 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार'[8] कहकर श्रद्धा को हृदय की उदार वृत्ति बतलाया है।

मनोवैज्ञानिकों ने श्रद्धा को धार्मिक संवेगों (religious emotions) में स्थान दिया है और इस संवेग की उत्पत्ति ईश्वर-चिन्तन के उपरान्त बतलाई

१—काव्यदर्पण, पृ० २३४-२३७।
२—देखिए, ऋग्वेद १०।१५१ की सायणकृत टीका।
३—तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।१ ४—पातंजलि योगदर्शन १।२०
५—श्रीमद्भगवद्गीता ४।३९ ६—पातंजलि योगदर्शन, पृ० ४४।
७—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।७ ८—कामायनी, पृ० ४६।

है।[1] यदि 'कामायनी' में देखें तो 'आशा' सर्ग के अन्तर्गत मन प्रकृति के अद्भुत परिवर्तन को देखकर 'हे विराट! विश्व देव! तुम कुछ हो, ऐसा होता भान'[2] कहता हुआ ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास प्रकट करता है। उसके अनन्तर ही 'श्रद्धा' सर्ग आया है, जो ईश्वर-चिंतन के उपरान्त जाग्रत होने वाले श्रद्धा नामक संवेग की यथार्थता का द्योतक है। इसी कारण यहाँ यह श्रद्धा मनोभाव मन को आगामी उन्नति के लिए प्रेरणा देता हुआ उत्तरोत्तर विकास की आशा बँधाता है तथा निराशा, अकर्मण्यता, जीवन के प्रति अविश्वास, पलायनवादिता आदि का विरोध करता हुआ मन को आशा और विश्वास से परिपूर्ण कर्मण्यता की ओर उन्मुख करता है।

कामायनी का चौथा सर्ग 'काम' है। श्रद्धा के उपरान्त मन में काम की प्रवृत्ति को जाग्रत होते हुए बताया गया है। न्याय-दर्शन में इच्छा को ही काम कहा गया है।[3] हृदय या श्रद्धा से सम्बन्ध होने ही मन में भविष्य-निर्माण करने की अभिलाषा जाग्रत हुई है, क्योंकि हृदय ने उसे प्रेरणा प्रदान की है और समझाया है कि निराश और निरुपाय रहने की अपेक्षा आशामय होकर भविष्य निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए। इस कारण मन प्रवृत्ति-मार्ग का अनुयायी बना है। भारतीय ग्रंथों के आधार पर प्रवृत्ति-मार्ग में काम का सबसे बड़ा हाथ है, क्योंकि यह काम मन की मूल-प्रवृत्ति है तथा सृष्टि के आदि में इसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है।[4] वात्स्यायन ने काम को समस्त इन्द्रियों का प्रेरक कहा है[5] और गीता में आसक्ति से काम का उत्पन्न होना बताया गया है।[6] अतः जब श्रद्धा द्वारा मन में आस्तिक्य भाव या आसक्ति उत्पन्न हो गई, तब कार्य की प्रेरणा देने के लिए मन के मूल भाव 'काम' का जाग्रत होना स्वाभाविक ही है।

पाश्चात्य विद्वानों में से मैकडूगल ने काम (sex) को मन की एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति कहा है,[7] परन्तु फ्राइड ने मन की केवल दो मूल-प्रवृत्तियाँ मानी हैं—(१) अहमिक प्रवृत्ति (ego-instinct), तथा (२) काम (libido)। फ्राइड इस 'काम' मनोवृत्ति को अत्यन्त व्यापक मानता है।[8] उसका मत है कि मानव-जीवन को अत्यधिक प्रेरणा देने वाला काम ही है। यह काम की प्रवृत्ति

१—मनोविज्ञान—से० सिन्हा, पृ० ३८८-३८६।
२—कामायनी, पृ० २१।
३—तर्कसंग्रह, पृ० ३४०।
४—ऋग्वेद १०।१२६।४
५—वात्स्यायन-कामसूत्र १, २।
६—श्रीमद्भगवद्गीता २।६२
७—मनोविज्ञान—से० सिन्हा, पृ० २०४
८—मनोविज्ञान—से० सिन्हा, पृ० २३२।

जब दबा दी जाती है, तब यह स्वप्नों, दिवा-स्वप्नों, भूलों, हास्य, कला, धर्म और मानसिक उपद्रवों के रूप में प्रकट होती है।[1] प्रसादजी ने भी मन की स्वप्नावस्था में ही काम का साक्षात्कार कराया है और इस काम मूल-प्रवृत्ति के दबाने के कारण ही यह स्वप्न के रूप में उस समय प्रकट हुआ है, जब हृदय (श्रद्धा) ने मन को बार-बार इस मूल-प्रवृत्ति के अपनाने का आग्रह किया है, प्रलोभन दिये हैं और प्रेरित भी किया है, परन्तु मन इस मूल-प्रवृत्ति (काम) को दबाने में ही लीन रहा है। क्योंकि 'कामायनी' में लिखा भी है कि श्रद्धा के बहुत कुछ समझाने एवं काम को अपनाने का आग्रह करने पर भी मनु "जो, कुछ हो मैं न सम्हालूँगा इस मधुर भार को जीवन के"[2] कहकर इस काम-प्रवृत्ति को दबाते हैं। अतः यह मूल-प्रवृत्ति दमित होने के कारण पुनः स्वप्न के रूप में जाग्रत होती है। इसके साथ ही स्वप्न की दशा में चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन में इस काम-प्रवृत्ति का उदय दिखलाया गया है, जो फ्राइड के उक्त 'स्वप्न-सिद्धान्त' से भी मिल जाता है। अतः श्रद्धा या रागात्मिका वृत्ति के उपरान्त काम मूल-प्रवृत्ति का उदय दिखाकर प्रसादजी ने मन के क्रमिक मनोवैज्ञानिक विकास की ओर संकेत किया है।

'काम' के उपरान्त 'वासना' सर्ग आता है। वासना काम का ही व्यक्त रूप है। काम के उपरान्त होने वाली इच्छा ही वासना है। इस वासना का सात्विक रूप 'आशा' सर्ग में दिखाया गया है। यहाँ पर मन में जो तीव्र रजोगुणमयी वासना उत्पन्न होती है, उसका मूल कारण यह है कि मन ने काम का धर्माविरुद्ध सृजनात्मक रूप न अपनाकर केवल वासनामय रूप ही अपनाया है। जिसके कारण मन में मूल प्रवृत्ति के सृजनात्मक रूप की अपेक्षा वासनात्मक रूप की प्रबलता हो गई है और वह पार्थिव सौंदर्य की ओर आकृष्ट होकर आसक्तिपूर्ण बन जाता है। आसक्ति एवं वासना की प्रबलता के कारण रजोगुण की भी वृद्धि हुई है और इसी के फलस्वरूप मन का सारा ज्ञान काम से आवृत्त हो गया है। गीता में लिखा भी है कि 'मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सभी काम के निवास स्थान हैं और यह काम इन मन, बुद्धि आदि के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित कर देता है।'[3] यह मोहित अवस्था ही यहाँ मन की वासनामयी अवस्था है, जिसका चित्रण 'कामायनी' के 'वासना सर्ग' में इस तरह मिलता है :—

छूटतीं चिनगारियाँ उत्तेजना उद्‍भ्रान्त,
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशान्त।[4]

१—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ५३६। २—कामायनी, पृ० ६६।
३—श्रीमद्‍भगवद्‍गीता ३।४० ४—कामायनी, पृ० ६२।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों में से मैकडूगल ने काम को मूल-प्रवृत्ति कहा है और 'वासना' (lust) को काम का एक संवेग कहा है, जो काम-प्रवृत्ति के उदय होते ही मन में अपना स्थान बना लेता है। उसका मत है कि प्रत्येक संवेग मूल-प्रवृत्ति का कार्य है।[1] अत काम-प्रवृत्ति रूपी कारण से वासना रूपी कार्य का उत्पन्न होना सहज संभाव्य है।

'वासना' के उपरान्त 'लज्जा' सर्ग में लज्जा मनोभाव का उदय दिखाया गया है। यदि देखा जाय तो वासना—काम का व्यक्त रूप है और लज्जा उस व्यक्त रूप के प्रसार को रोकने वाला मनोभाव है। साधारणतया सौंदर्य के विषय-प्रधान और विषयी-प्रधान—दो पक्ष होते हैं। वासना सौंदर्य के विषयी-प्रधान-पक्ष को पुष्ट करती है और लज्जा उसके विषय-प्रधान पक्ष को बल देती है। लज्जा वासना को अतिशयता के ऊपर एक आवश्यक 'ब्रेक' का काम करती है।[2] जैसा कि 'कामायनी' के 'लज्जा' सर्ग में लिखा भी है—

मैं उसी चपल की धात्री हूँ, गौरव महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है, उसको धीरे से समझाती।[3]

साहित्य-शास्त्र में लज्जा को व्रीड़ा के रूप में एक प्रकार का संचारी भाव माना गया है और स्त्रियों के मन में पुरुषों के देखने आदि से, प्रतिज्ञा-भंग, पराजय, अनुचित कार्य करने आदि से इसका उदय माना गया है।[4] इस तरह वासनाभिभूत मन का यह एक सहज व्यापार है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्रत्येक संवेग के दो पहलू बतलाए हैं—(१) मानसिक, तथा (२) शारीरिक। मानसिक रूप में प्रत्येक संवेग गुप्त ही रहता है, परन्तु शारीरिक तत्त्व के मिलते ही वह अभिव्यक्त हो जाता है।[5] इस तरह वासना नामक संवेग जब तक मन के अन्तर्गत विद्यमान रहता है, उसका कुछ पता नहीं चलता, परन्तु जब वह अभिव्यक्त होता है, तब लज्जा आदि के रूप में दिखाई देने लगता है। इस आधार पर यदि हम वासना को मानसिक रूप स्वीकार करें, तो लज्जा उसका शारीरिक रूप है, जो वासना की ही अभिव्यक्ति करता है और जिसका चित्रण 'वासना' के उपरान्त 'कामायनी' में इस प्रकार किया गया है :—

लाली बन सरल कपोलों में आँखों में अंजन सी लगती,
कुंचित अलकों में घुँघराली मन की मरोर बनकर जगती।

१—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ३७४।
२—प्रसादजी की कला, पृ० ८१।
३—कामायनी, पृ० १०२।
४—काव्यदर्पण, पृ० ६१।
५—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ३४७-४८।

चचल किशोर सुन्दरता की मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ जो बनती कानो की लाली ।[1]

'लज्जा' के उपरान्त कामायनी के सातवें सर्ग में 'कर्म' का उल्लेख किया गया है। यहाँ पर हमें रजोगुण से पूर्णतया अभिभूत मन का अब तमोगुण की ओर उन्मुख होना दिखाई देता है, क्योकि वासना के अतिरेक के कारण वह मन आसुरी प्रवृत्तियो का दास बन जाता है तथा उसे हिंसा, मादकता, विलास-प्रियता, प्रमाद, मोह आदि रुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। गीता में तमोगुणी पुरुष के लक्षण भी यही बतलाये हैं कि 'तमोगुण के बढ़ जाने पर अन्त करण और इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्त्तव्य-कर्मों में अप्रवृत्ति, प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रा आदि अन्त करण की मोहिनी वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।"[2] ऐसा पुरुष आसुरी प्रवृत्ति सम्पन्न हो जाता है, जिसके लिए गीता में लिखा है कि 'उसे प्रवृत्ति एव निवृत्ति का ज्ञान नहीं रहता, उसमे शौच, आचार एव सत्य नहीं रहते, मिथ्या ज्ञान का अवलम्बन करके वह नष्टात्मा एव अल्प-बुद्धि अहित, उग्र एव क्रूर कर्म तथा जगत के क्षय में ही लीन रहने लगता है। उसमें दम्भ और मद बढ जाता है तथा वह किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओ का सहारा लेकर अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को अपनाता हुआ भ्रष्टाचरण में प्रवृत्त हो जाता है।[3] कामायनी मे मनु भी आकुलि-किलात द्वारा भ्रमित होकर हिंसा, मादकता, विलासिता आदि भ्रष्ट कर्मों में लीन हो जाते हैं और एक मात्र अपने सुख को ही सर्वस्व समझते हुए कहने लगते हैं—

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी श्रद्धे ! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो वही चरम सब कुछ है।[4]

अत भारतीय दृष्टि से यह मन की पतनोन्मुख स्थिति का यथार्थ चित्रण है। पाश्चात्य दृष्टि से यहाँ पर हम मन की संग्रह-वृत्ति (acquisition) का रूप दिखाई देता है। मैक्डूगल के मतानुसार यह भी मन की एक मूल-प्रवृत्ति है और स्वामित्व (ownership) को इसका सवेग बतलाया है। इसमें लोभ अधिक बढ़ जाता है, स्वामी कहलाने की इच्छा तीव्र हो जाती है और सर्वत्र अधिकार स्थापित करने की लालसा जाग्रत हो जाती है।[5] इस मनोवृत्ति के अनुकूल ही फिर मन के आचरण भी होने लगते हैं। 'कर्म' सर्ग मे हमें मन की इसी प्रवृत्ति को पूर्ण करने वाली अभिलाषा के दर्शन होते हैं और मन इसी

१—कामायनी, पृ० १०३।   २—श्रीमद्भगवद्गीता १४।१३
३—श्रीमद्भगवद्गीता १६।७, ६, १०
४—कामायनी, पृ० १३०।   ५—मनोविज्ञान—सिन्हा पृ० ३७४।

भावना से प्रेरित होकर पशु-यज्ञ करता है, सोमपान करता है तथा स्वयं मदोन्मत्त बनने का प्रयत्न करता है।[1] इस तरह रजोगुण एवं तमोगुण की प्रबलता के कारण मन की जो अवस्था होती है, उसी का क्रमिक विकास इस 'कर्म' सर्ग में दिखाया गया है।

'कर्म' के उपरान्त आठवाँ सर्ग 'ईर्ष्या' है। आसुरी कर्मों में रत मन के अन्तर्गत यहाँ पर ईर्ष्या-भाव जाग्रत हुआ है। नाट्यशास्त्र में वर्णित असूया नामक संचारी भाव ईर्ष्या का ही पर्यायवाची है, क्योंकि दूसरे का सौभाग्य, ऐश्वर्य, विद्या, लीला आदि को देखकर उसे न सहने के कारण मन में जो जलन या डाह उत्पन्न होती है, वही 'असूया' कहलाती है।[2] 'कामायनी' में मन के अन्तर्गत भी यह ईर्ष्या श्रद्धा की उन्नति को देखने एवं अपने प्रेम के बँट जाने के कारण उत्पन्न होने वाली असहिष्णुता के कारण उदित हुई है। इसीलिए मनु कहते हैं —

> "तुम फूल उठोगी लतिका सी कम्पित कर सुख सौरभ तरंग,
> मैं सुरभि खोजता भटकूँगा वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।
> यह जलन नहीं सह सकता मैं चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
> इस पंचभूत की रचना में मैं रमण करूँ बन एक तत्व।[3]

यह मनोभाव जलन के कारण तो उत्पन्न हुआ ही है, परन्तु इसकी पृष्ठ-भूमि में अहंभाव भी कार्य कर रहा है। इससे पूर्व 'कर्म' सर्ग में मन के अंतर्गत आसुरी प्रवृत्ति की प्रबलता के कारण अहंभाव अत्यधिक उन्नत हो चुका है और इस अहंभाव के अतिरेक के कारण ही अब मन को एकमात्र अपने सुख, प्रेम, अधिकार, ऐश्वर्य, बल आदि की चिन्ता रहती है और दूसरों के सुख, अधिकार आदि की वह चिन्ता नहीं करता। जैसा कि गीता में कहा भी है कि "आसुरी प्रवृत्ति वाला व्यक्ति सदैव यही सोचा करता है कि मैं ईश्वर हूँ, मैं ऐश्वर्य का भोगने वाला हूँ, मैं समस्त सिद्धियों से युक्त हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं बड़ा धनवान हूँ, मैं बड़े कुटुम्ब वाला हूँ, मेरे समान और कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मैं हर्ष को प्राप्त होऊँगा आदि, इन विचारों में लीन होने के कारण वह अज्ञान से विमोहित हो जाता है।"[4] अतः अपने अधिकार पर कुठाराघात होता हुआ देखकर अथवा श्रद्धा के गर्भस्थ शिशु द्वारा अपने प्रेम को बँटा हुआ जानकर मन में ईर्ष्या भाव का उदय होना स्वाभाविक ही है।

पाश्चात्य मनोविश्लेषण-शास्त्रियों ने इस 'ईर्ष्या' मनोवृत्ति का कारण

१—कामायनी, पृ० १२७-१२८। २—नाट्यशास्त्र ७।२९
३—कामायनी, पृ० १५३। ४—श्रीमद्भगवद्गीता १६।१४-१५

दूसरी तरह खोज निकाला है। फ्राइड का मत है कि इस ईर्ष्या के अन्दर भी काम का हाथ है, क्योंकि एक लडके म और उसके पिता मे परस्पर द्वेष की भावना जन्म मे ही होती है और माता के प्रति उस लडके का आकर्षण रहता है। इसे फ्राइड ने 'मातृ-ग्रन्थि' (oedipus complex) कहा है और बतलाया है कि यह ग्रन्थि प्रौढावस्था या किशोरावस्था से बहुत पहले ही बन जाती है।[1] अत मनु का श्रद्धा के प्रति आकर्षण होते हुए भी जैसे ही श्रद्धा गर्भवती होती है और उसके उदर म एक पुरुष शिशु पलने लगता है, वैसे ही मनु मे ईर्ष्या, द्वेष आदि उत्पन्न होने लगते हैं जो मातृ-ग्रन्थि की ओर सकेत करते हैं। ये मनु ही यहाँ मन के प्रतीक है। अत मन म ईर्ष्या का उदय नितान्त मनोवैज्ञानिक है और वह मन के क्रमिक विकास का सूचक है।

'ईर्ष्या' के उपरान्त नवाँ सर्ग 'इडा' है। अब तक मन श्रद्धा या हृदय के क्षेत्र मे विचरण कर रहा था, परन्तु ईर्ष्या के कारण अब उसे हृदय मे कोई आकर्षण नही दिखाई देता और वह उस क्षेत्र को छोडकर बुद्धि के क्षेत्र मे प्रवेश करता है। 'कामायनी' के 'आमुख' मे प्रसादजी ने इडा को बुद्धि कहा है। साख्यशास्त्र मे महत्तत्व को बुद्धि बताया गया है और प्रकृति से उसकी उत्पत्ति मानी गई है।[2] इतना ही नही, प्रकृति को त्रिगुणमयी अथवा सत्व, रज, तम से युक्त माना है।[3] अत उससे उत्पन्न महत्तत्व या बुद्धि भी त्रिगुणात्मक स्वीकार की गई।[4] वेदान्त मे अन्तकरण के चार रूप माने गये हैं—मन, चित्त, बुद्धि और अहकार तथा बुद्धि का कार्य निश्चय करना बताया गया है।[5] न्यायशास्त्र मे बुद्धि को अर्थ का प्रकाश करने वाली एव ज्ञान प्राप्ति कराने वाली कहा गया है।[6] योगशास्त्र मे इसे प्रज्ञा कहा गया है और श्रद्धा के साथ-साथ प्रज्ञा भी योग-सिद्धि मे सहायक बताई गई है।[7] आगे चलकर इसे ऋतभरा कहा गया है अर्थात् बुद्धि म सदैव साक्षात् अनुभूत सत्य का निवास माना गया है।[8] प्रसाद जी ने 'कामायनी' में 'बिखरी अलकें ज्यो तर्कजाल,' 'वक्षस्थल पर एकत्र धरे समृति के सब विज्ञान ज्ञान', 'त्रिवली थी त्रिगुण तरगमयी'[9] आदि कहकर इडा का चित्रण उक्त विशेषताओ से युक्त किया है। अत इडा में बुद्धि के उक्त सभी गुण विद्यमान हैं।

१—मनोविज्ञान—सं० सिन्हा, पृ० ५३२-५३३।
२—सांख्यदर्शन १।६१ ३—साख्यदर्शन १।१३६
४—वही, १।१२६ ५—हिन्दी विश्वकोष (भाग १), पृ० ५१८
६—तर्कभाषा, पृ० ३०। ७—पातजलि योगदर्शन १।२०
८—पातजलि योगदर्शन २।४८ ९—कामायनी, पृ० १६८।

मनोवैज्ञानिकों मे से स्टर्न का मत है कि—"बुद्धि जीवन की नई समस्याओं और स्थितियो से समायोजन करने की सामान्य मानसिक योग्यता है।"[1] वेल्स का मत है कि—"बुद्धि वह शक्ति है, जो हमारे व्यवहार के अंशो को इस तरह पुनः संगठित करती है कि जिससे हम नई परिस्थितियों मे भी अधिक अच्छी तरह काम कर सके।"[2] वुडवर्थ के मत से "किसी परिस्थिति को सँभालने या किसी कार्य को पूरा करने मे मनोपात्मक योग्यताओं का उपयोग बुद्धि है।"[3] वुडवर्थ ने बुद्धि के चार लक्षण बतलाये हैं—वह अतीत अनुभव का उपयोग कराती है, नई परिस्थिति के उत्पन्न होने पर उसके अनुकूल बनने की शक्ति प्रदान करती है, परिस्थिति को समझाने का कार्य करती है और कार्यों को विशाल दृष्टिकोण मे देखने की योग्यता प्रदान करती है। इस प्रकार बुद्धि काम करने का एक ऐसा ढंग है, जिससे व्यक्ति सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।[4]

'कामायनी' मे मन भी जब अपनी वासना को तृप्त होता हुआ नही देखता और अपने प्रेम एव अधिकार को बँटा हुआ देखता है, तब सुख और आनन्द की प्राप्ति के लिए उसका बुद्धि की ओर बढ़ना स्वाभाविक है, क्योंकि मन के दो ही क्रीडा-क्षेत्र हैं—हृदय और बुद्धि। जब हृदय के प्रति उसका आकर्षण नही रहा है, तब बुद्धि ही उसे लक्ष्य प्राप्ति मे सहायक जान पड़ती है। बुद्धि का यह गुण भी है। इसी से मन उसकी ओर आकृष्ट होकर अपने सुख-प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति के लिए बुद्धि की शरण मे आ जाता है।[5] अत. 'इडा' या बुद्धि की ओर अग्रसर होने मे भी मन के क्रमिक मनोवैज्ञानिक विकास का उचित रूप दिखाई देता है।

'इड़ा' सर्ग के उपरान्त 'स्वप्न' और 'संघर्ष' सर्ग आते हैं। इन सर्गों मे प्रसादजी ने वैज्ञानिक उन्नति द्वारा मन की ऐश्वर्य एव वैभव-प्राप्ति का चित्रण किया है तथा इस भौतिक उन्नति के भयावह अन्तिम परिणाम की ओर भी संकेत किया है। मन प्रथम तो बुद्धि की प्रेरणा से वैज्ञानिक उपायों द्वारा प्रकृति पर भी अधिकार करता हुआ नगर की श्री, शोभा, सम्पन्नता आदि की वृद्धि करता है, परन्तु वह इतने से ही सन्तुष्ट नही होता, अपनी प्रेरक-शक्ति बुद्धि पर भी

१—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ४४८।

२—वही, पृ० ४४८–४४६।

३—मनोविज्ञान—ले० वुडवर्थ, पृ० १६।

४—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ४०८-४४६।

५—कामायनी, पृ० १७२।

अपना अधिकार जमाना चाहता है, जिससे भयानक मानसिक सघर्ष उठ खडा होना है और मन को नीचा देखना पडता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुमार 'भ्रान्तचित्त वाला मूढ व्यक्ति मोह एव विषयो मे आसक्त रहने के कारण निश्चय ही अघोगित को प्राप्त होता है क्योकि उमका आसुरी स्वभाव उसे सदैव पतन की ओर खीचता रहता है और बाह्य रूप मे उन्नति को प्राप्त होकर भी ऐसा व्यक्ति अन्त मे पतन के गर्त मे ही गिर पडता है।'[1]

गीता म इन आसुरी प्रवृत्ति को जन्म देने वाले मुख्यत तीन मनोभाव मान गय हैं, जा काम, क्रोध और लोभ कहलाते हैं और इन तीनो को ही 'नरक का द्वार' कहा गया है। क्योकि य तीनो ही मन या आत्मा का विनाश करते हैं तथा उसे अघोगित की ओर ले जाते हैं। अतः श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इन तीना का परित्याग करन की मलाह दी है।[2] यहाँ पर भी मन काम, क्रोध एव लाभ के वशीभूत होकर बुद्धि (इडा) पर अपना अधिकार जमाना चाहता है, जिमस भारी हलचल उत्पन होती है और वह अघोगति को प्राप्त होता है।

मनोवैज्ञानिको की दृष्टि से यदि विचार करें तो फ्राइड का मत है कि अधिकाश स्वप्न मत्य होत हैं, क्योकि व अतृप्त इच्छाओ के नग्न प्रकाशन होते हैं। प्रौढ जीवन म कुछ स्वप्न सीधे इच्छा की पूर्ति करते हैं, परन्तु प्रौढो के अधिकाश स्वप्न उनकी दबी हुई अचेतन काम-वासनाओ एव काम के विरोध से उत्पन्न होन वाली द्वेष-वासनाओ का वेष बदलते हुए साकेतिक रूप म प्रकाशन करते हैं। सामाजिक वन्धना के कारण जो काम-वासनाएँ जाग्रत अवस्था मे दबी रहती हैं, वे ही स्वप्नावस्था म वेष बदल-बदल कर अभिव्यक्त हुआ करती हैं।[3] यहाँ पर श्रद्धा को जो मनु और इडा के प्रेम एव काम-वासना म सम्वन्धित स्वप्न दिखाई दिया है, वह श्रद्धा की अपनी दमित वासनाओं के परिणामस्वरूप दिखाई देता है। अत श्रद्धा का यह स्वप्न मनोवैज्ञानिक दृष्टि मे सार्थक है। परन्तु सारस्वत प्रदश म जो सघर्ष उत्पन्न हुआ है, उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि मे क्या समाधान है? इसके लिए मनोवैज्ञानिका का विचार है कि प्राय मानसिक सघर्ष दो कारणो से हुआ करते हैं—प्रथम, प्रेरको की पूर्ति म 'परिवेशगत बाधाओं' (environmental obstructions) के होन के कारण तथा दूसरे, जो 'व्यक्तिगत कमियाँ' (personal deficiencies) प्रेरको और सघर्षशील प्रेरको की पूर्ति मे विघ्न उपस्थित किया करती हैं,

---

१—श्रीमद्भगवद्गीता १६।१६,२० २—श्रीमद्भगवद्गीता १६।२१
३—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० २७४-२७५।

उनके कारण सघर्ष उत्पन्न होते हैं। परिवेशगत बाधाओ मे अकाल, तूफान, बाढ आदि भौतिक घटनाएँ आती हैं, जिनसे हमारी शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही होती और मन मे संघर्ष उठ खडा होता है। दूसरे, नेतृत्व का *अभाव या अधिकार प्राप्त न होना, निम्नकोटि की बुद्धिहीन स्मरण-शक्ति* होना तथा अन्य वैयक्तिक दोषो के कारण भी हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है और मन मे संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।[1] इसी आधार पर यदि 'कामायनी' मे वर्णित सघर्ष पर विचार करें तो पता चलेगा कि यहाँ पर भी मन के सामने दोनो ही प्रकार की बाधायें उपस्थित है। उसने बडे प्रयत्न एव परिश्रम से नगर की श्री-वृद्धि की है और वह यह सोच रहा था *कि इस कार्य की पूर्ति होते ही इडा पर मेरा अधिकार हो जायगा तथा मैं* आनन्दमय जीवन व्यतीत करूँगा। परन्तु वहाँ एक ओर तो प्रकृति एव उसकी प्रजा उसके विरुद्ध बाधा बनकर खडी हो जाती हैं और दूसरी ओर इडा (बुद्धि) भी उसका अधिकार स्वीकार नही करती, जिससे उसे अपने नेतृत्व का अभाव खटकने लगता है और इस वैयक्तिक कमी के कारण उसमे संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इन दोनो सर्गों मे प्रसादजी ने वैयक्तिक मन के विकास के साथ-साथ सामूहिक मन (group mind) के विकास की ओर भी संकेत किया है और बतलाया है कि सामूहिक मन ही सारस्वत नगर की जनता को सङ्गठित करके उन्हे नाना प्रकार के भौतिक उन्नति-सम्बन्धी कार्यों मे लीन करता है और वही सामूहिक मन जनता को क्षुभित करके अत्याचारी शासक के विरुद्ध क्रान्ति मचाने को प्रोत्साहित करता है। इतना ही नहीं, जनता के इस क्षोभ, राज-द्वार पर हलचल मचाने, मनु के विरुद्ध आवाज उठाने एवं युद्ध करने मे 'जन-समूह के मनोविज्ञान' (mob-psychology) का भी आभास मिल जाता है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मन के सघर्ष का यह चित्रण पूर्णतया उचित एवं युक्ति-सङ्गत है।

'सघर्ष' के उपरान्त मन मे 'निर्वेद' जाग्रत होता है। भारतीय शास्त्रो मे निर्वेद नामक मनोभाव की उत्पत्ति उस समय बतलायी गई है, जिस समय किसी इष्ट जन का वियोग हो जाता है, दारिद्र, व्याधि या दुःख घेर लेते है, अपमान होता है,[2] ईर्ष्या उत्पन्न होती है अथवा तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[3] योगशास्त्र मे इसे 'वैराग्य' कहा है और इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है कि जब नित्य स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य आदि इष्ट विषयो तथा स्वर्ग,

---

१—मनोविज्ञान—सं० सिन्हा, पृ० ४८८-४८६।

२—नाट्यशास्त्र ७।२६ ३—काव्यदर्पण, पृ० ८५।

आदि आनुश्रविक विषयो मे तृष्णा-रहित हो जाता है उस समय उसे वैराग्य की प्राप्ति होती है।[1] 'कामायनी' मे भी हमे यही परिस्थिति दिखाई देती है, क्योकि यहां मन का समस्त ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है,[2] आघात सहने के कारण उसे व्याधि और दुःख घर लेते हैं,[3] प्रजा द्वारा उसका अपमान भी होता है,[4] उसमे ईर्ष्या भी उत्पन्न होती है[5] और वह तत्वज्ञान की ओर भी उन्मुख होता है।[6] अतः मन यहाँ पूर्णतया इष्ट एवं आनुश्रविक विषयो मे वितृष्ण हो जाता है और इसी से उसमे निर्वेद भाव जाग्रत होता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से निर्वेद भी एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति है, जिसका सम्बन्ध मैक्डूगल द्वारा प्रस्तावित विकर्षण (repulsion) से है, क्योकि विकर्षण मे अरुचि या घृणा संवेग उत्पन्न होता है[7] तथा इसके कारण व्यक्ति वस्तुओ या पदार्थों एवं मनुष्यो से दूर हटता है, उनसे घृणा करता है और उन्हे देखकर नाक-भौं सिकोड़ने लगता है। कामायनी का 'निर्वेद' सम्बन्धी वर्णन भी उक्त संवेगो से ओतप्रोत है, क्योकि यहां पर भी मनु समस्त सांसारिक पदार्थों से घृणा करने लगते हैं और इस छाया से बाहर भागने को उद्यत हो जाते हैं।[8] अतः यह निश्चित है कि जो वस्तुयें मन को रुचिकर नहीं होतीं अथवा जिन्हें देखकर मन को आनन्द या सुख न मिलकर उसके विपरीत कष्ट या क्लेश मिलता है, उनसे मन को घृणा होती है और यही घृणा निर्वेद का रूप धारण कर लेती है। इसी कारण 'संघर्ष' के उपरान्त 'निर्वेद' का वर्णन युक्ति-सङ्गत प्रतीत होता है।

'निर्वेद' के पश्चात् 'दर्शन' और 'रहस्य' सर्ग आते हैं। इन दोनो सर्गों मे मन की तत्वज्ञान के प्रति आस्था, श्रद्धा, आस्तिकता, भक्ति आदि का वर्णन मिलता है। साहित्य-शास्त्रो मे निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव माना गया है और संसार से अत्यन्त निर्वेद होने पर या तत्वज्ञान द्वारा वैराग्य का उत्कर्ष होने पर शान्त रस की प्रतीति होना बतलाया गया है।[9] अतः निर्वेद की प्राप्ति के उपरान्त मन का तत्वज्ञान की ओर अग्रसर होकर शान्त रस मे लीन होना स्वाभाविक है। गीता मे भी लिखा है कि 'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममता-रहित, अहंकार-रहित और स्पृहा-रहित व्यवहार

१—पातंजलि योगदर्शन १।१५ २—कामायनी, पृ० २०५।
३—कामायनी, पृ० २०७। ४—वही, पृ० २०६।
५—वही, पृ० २३०। ६—वही, पृ० २२६।
७—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ३७४।
८—कामायनी, पृ० २१६। ६—काव्यदर्पण पृ० २८०।

करता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है।'[1] 'दर्शन' सर्ग मे मनु के मन की भी यही स्थिति होगई है। वह संसार की समस्त कामनाओ, अहंकार, ममता, स्पृहा आदि से दूर हो जाता है और उसमे एकमात्र तत्वज्ञान के प्रति आस्था हो जाने के कारण भक्ति, नम्रता, विराट् शक्ति मे विश्वास आदि उत्पन्न हो जाते हैं और इसी विश्वास आदि के कारण उसे अखड-आनन्द-घन नटराज शिव का साक्षात्कार होता है।[2] शिव का साक्षात्कार होते ही मन को तत्व का आभास होने लगता है और वह ससार की इस विभीषिका एव विषमता से पूर्णतया परिचित हो जाता है, क्योकि वह जान जाता है कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया के पृथक्-पृथक् रहने से ही ये समस्त सकट उपस्थित होते हैं और इनका समन्वय होते ही आनन्द की स्थिति प्राप्त होती है परन्तु यह तत्वज्ञान श्रद्धा के बिना प्राप्त नही होता। जैसा कि गीता मे लिखा भी है कि 'श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है।'[3] योगशास्त्र मे भी श्रद्धा द्वारा योग की प्राप्ति बतलाई है।[4] त्रिपुरा-रहस्य मे भी यही लिखा है कि 'श्रद्धा को प्राप्त करके ही आत्यन्तिक सुख मिलता है।'[5] इसी कारण यहाँ पर मन को जब पुन श्रद्धा की प्राप्ति होती है तभी वह तत्वज्ञान, योग एवं सुख को प्राप्त करता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से 'दर्शन' और 'रहस्य' सर्ग मे वर्णित मन का ईश्वर सम्बन्धी विश्वास, आस्था, तत्वज्ञान, सासारिक विषमता की जानकारी आदि ये सभी बाते धार्मिक संवेगो (religious emotions) के अन्तर्गत आती हैं। इन सवेगो की उत्पत्ति ईश्वर-चिन्तन से होती है। ईश्वर सत्य, शिव, सुन्दर के आदर्शों की शाश्वत मूर्ति है। अत. धार्मिक सवेगों मे बौद्धिक, नैतिक तथा सौन्दर्यात्मक सवेगो का समावेश होता है। ये धार्मिक सवेग कई प्रकार के होते हैं, जैसे—अतिप्राकृत शक्ति का भय, ईश्वर के रूप को देखकर आश्चर्य, ईश्वर की प्रशंसा और उसमे श्रद्धा, ईश्वर के सम्मुख नत-मस्तक होना, आत्म-समर्पण करना, अपने साथियो के प्रति सहानुभूति तथा सदिच्छा प्रकट करना, ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति का होना आदि।[6] 'कामायनी' के इन दोनो सर्गों मे लगभग उक्त सभी धार्मिक सवेगो का वर्णन मिलता है, जो 'निर्वेद' सर्ग मे ईश्वर-चिन्तन के उपरान्त मन के अन्तर्गत उत्पन्न हुए हैं।

१—श्रीमद्भगवद्गीता २।७१ २—कामायनी, पृ० २५४।

३—श्रीमद्भगवद्गीता ४।३९ ४—पातञ्जलि योगदर्शन १।२०

५—त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखंड, अध्याय, ६।२३-२५

६—श्रीमद्भगवद्गीता ४।३९

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भी मन की तीन प्रवृत्तियाँ मानते हैं, जो क्रमशः ज्ञान, (cognition), इच्छा (feeling)[1] और क्रिया (conation) कहलाती हैं। इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में प्रो० मत्ती का विचार है कि ये तीनों प्रवृत्तियाँ अन्योन्याश्रित रहती हैं और तीनों की आंगिक एकता ही मन है। उक्त तीनों मनोवृत्तियों के परस्पर संलग्न रहने से ही मन का विकास होता है। यदि इन तीनों मनोवृत्तियों में परस्पर विषमता हो जाती है, तो मन में भी विषमता उठ खड़ी होती है।[2] कामायनी के 'रहस्य' सर्ग में भी यही दिखाया गया है कि इच्छा, क्रिया और ज्ञान के परस्पर दूर रहने से ही जीवन में विडम्बना एवं विषमता पैदा होती है।[3] यदि इन तीनों का समन्वय कर दिया जाय, तो समस्त मानसिक जगत में समता, सुख और आनन्द छा जाते हैं। यहाँ अन्तर इतना ही है कि शैवागमों में तो 'इच्छति, जानाति, करोति' के आधार पर पहले इच्छा, फिर ज्ञान और अन्त में क्रिया को रखा गया है और बताया गया है कि इच्छा के उपरान्त ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह इच्छा ही ज्ञान का उत्पत्ति-स्थान है और ज्ञान के उपरान्त वह इच्छा ही क्रिया के रूप में बाहर प्रस्फुटित होती है।[4] मनोविज्ञान में इन तीनों का क्रम इस प्रकार रखा गया है कि पहले ज्ञान (cognition), फिर इच्छा (feeling) और इसके उपरान्त क्रिया (conation) आती है। जैसे, यदि हम एक गुलाब का फूल देखते हैं, तो हमें उस फूल का ज्ञान होता है और उसे देखते ही हमें सुख मिलता है, यही 'फीलिंग' या इच्छा है। फिर सुख के कारण उस फूल को देखने के लिए हम उस पर ध्यान देते हैं, यही हमारी क्रिया या चेष्टा है।[5] परन्तु 'कामायनी' में दोनों से भिन्न इच्छा, क्रिया और ज्ञान—यह क्रम रखा गया है और पहले भावलोक में इच्छा का प्राधान्य, कर्मलोक में सतत क्रिया का प्राधान्य और फिर ज्ञानलोक में ज्ञान-प्राप्ति का प्राधान्य दिखलाया गया है और तीनों ही एक-दूसरे के कारण आनन्द से वंचित कहे गये हैं। सम्भवतः प्रसादजी यहाँ मन का क्रमिक विकास दिखाना चाहते हैं। इसी कारण उन्होंने पहले मन के सम्मुख शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों एवं रागमय माया-राज्य से परिपूर्ण भावलोक का दिग्दर्शन कराया है, जो मानव-

१—यहाँ feeling को क्रिया की प्रेरक होने तथा क्रिया से पूर्व आने के कारण 'इच्छा' का पर्यायवाची माना गया है।

२—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ७६-८१।

३—कामायनी, पृ० २६२-२७२। ४—तंत्रालोक (भाग २), पृ० ६१।

५—मनोविज्ञान—ले० सिन्हा, पृ० ७६।

जीवन की भूमिका है और जिसे संसार का अत्यन्त निम्न भाग कह सकते हैं। इसके उपरान्त कर्मलोक आता है, जिसमे कर्मों की प्रधानता है और सभी प्राणी नाना कर्मों मे निरन्तर लीन रहते हैं। निस्सन्देह केवल इच्छा करने की अपेक्षा कार्य करना श्रेष्ठ है और गीता मे भी इच्छा करने की अपेक्षा कर्म को श्रेष्ठ कहा है।[1] इसी कारण प्रसादजी ने भी भावलोक की अपेक्षा कर्मलोक को कुछ उन्नत बतलाया है। इसके अनन्तर ज्ञानलोक आता है, जो भाव और कर्म से अधिक ऊँचा है और जहाँ उक्त दोनों लोको से विरक्त होकर प्राणी जीवन का चरम उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इन्हें गुणों की दृष्टि से देखा जाय तो प्रथम भावलोक मे माया, मोह, राग आदि की प्रधानता होने के कारण उसे तमोगुण-युक्त संसार मान सकते हैं। कर्मलोक मे एषणाओ तथा उनके अनुकूल सतत कार्य करने की प्रधानता होने के कारण रजोगुणपूर्ण ससार कह सकते हैं और ज्ञानलोक मे तपश्चर्या, साधना आदि का प्राधान्य होने के कारण उसे सत्वगुणमय ससार मान सकते हैं। अत भले ही 'रहस्य' सर्ग मे शैवागमो एवं मनोविज्ञान के क्रमानुसार इच्छा आदि का उल्लेख न हुआ हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह सर्वथा उपयुक्त है तथा मन के क्रमिक विकास का द्योतक है।

'कामायनी' का अन्तिम सर्ग 'आनन्द' है। यहाँ पर श्रद्धायुक्त भक्ति, आस्तिक्य भाव, पवित्रता, ससार की वास्तविकता का ज्ञान आदि उत्पन्न हो जाने पर मन को अन्त मे आनन्द प्राप्त करते हुए दिखलाया है। यह मन के क्रमिक विकास की अन्तिम अवस्था है। मुंडकोपनिषद् मे लिखा है कि 'सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण और शरीर का नियमन करने वाले वे परमेश्वर मन मे व्याप्त रहने के कारण मनोमय कहलाते हैं और हृदय का आश्रय लेकर अन्नमय स्थूल शरीर में प्रतिष्ठित हैं। बुद्धिमान मनुष्य विज्ञान द्वारा उस परमब्रह्म को भली-भाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं, जो आनन्दमय होकर अविनाशी रूप से सर्वत्र प्रकाशित हैं। ऐसे आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को तत्वज्ञान द्वारा जान लेने पर हृदय की समस्त ग्रंथियाँ खुल जाती हैं, सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं और शुभाशुभ कर्म भी समाप्त हो जाते हैं अर्थात् समस्त सांसारिक बन्धनों से पूर्णतया उन्मुक्त होकर मन परमानन्द का अधिकारी हो जाता है।'[2] अत. यहाँ मन को हृदय मे व्याप्त आनन्द रूप ब्रह्म का विशेष ज्ञान द्वारा साक्षात्कार होना है। गीता मे भी लिखा है कि 'जो व्यक्ति जितेन्द्रिय, तत्पर एवं श्रद्धावान् होता है, वही ज्ञान

१—श्रीमद्भगवद्गीता ३।१६

२—मुंडकोपनिषद् २।२।७–८

को प्राप्त होकर तत्क्षण परम शान्ति अथवा परमानन्द को प्राप्त होता है।[1] *प्रत्यभिज्ञा हृदयम्* में भी लिखा है कि 'प्राणशक्ति या ब्रह्मनाडी के विकास से चिदानन्द लाभ होता है।[2] *शिवसूत्रविमर्शिनी* में बताया गया है कि 'समाधि-सुख ही लोकानन्द है'[3] अर्थात् समाधि द्वारा प्राप्त सुख को ही लोक में प्राप्त आनन्द कह सकते हैं। योगशास्त्र में पतंजलि भी कहते हैं कि 'वैराग्य उत्पन्न होने के उपरान्त जब समस्त दोषों के बीज नष्ट हो जाते हैं, तब कैवल्य की प्राप्ति होती है और योगियों का यह कैवल्य ही मोक्ष या अखण्ड आनन्द धाम है। यह बुद्धि या मन की सबसे उत्कृष्ट अवस्था है। इस अवस्था में पहुँच कर योगी स्वरूप प्रतिष्ठ चितिशक्ति रूप हो जाता है।[4] वेदान्त में भी आनन्द-स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति ऐसी ही है। उसमें भी आत्मा समस्त उपाधियों से रहित होकर सत्य ज्ञान को प्राप्त करता हुआ ब्रह्ममय हो जाता है और अखंड आनन्द-लाभ करता है।[5] 'कामायनी' में भी मन की आनन्दावस्था का ऐसा ही वर्णन मिलता है कि वह चेतन मन चिरमिलित प्रकृति से पुलकायमान होता हुआ निज शक्ति से तरंगायित शोभाशाली आनन्द-अम्बुनिधि का स्वरूप प्राप्त कर लेता है।[6] 'कामायनी' में मन को यह आनन्द की प्राप्ति उसी क्षण होती है, जब वह श्रद्धायुक्त होकर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है, काम-क्रोधादि से मुक्त हो जाता है, आत्मा रूप शिव का साक्षात्कार कर लेता है, समाधि-सुख में लीन हो जाता है और वैराग्य द्वारा अपने समस्त दोषों के बीजों को नष्ट कर लेता है। इन सभी बातों को अपनाने के कारण ही मन में समरसता का संचार होता है, अपने-पराये की भावना तिरोहित होकर पूर्ण अद्वैत भाव उत्पन्न होता है और वह जड़ चेतन में सर्वत्र एक चेतनता का विलास देखता हुआ अखंड आनन्द में लीन हो जाता है।[7]

१—श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। गीता ४।३९

२—मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः।—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १७।

३—लोकानन्दः समाधिसुखम्।—शिवसूत्रविमर्शिनी १।१८

४—पातंजलि योगदर्शन, पृ० २८६।

५—वेदान्तसार, पृ० १५।

६—चिर मिलित प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरङ्गायित था आनन्द अम्बुनिधि शोभन।
—आनन्द सर्ग, पृ० २८६।

७—कामायनी, पृ० २९५।

पाश्चात्य मनोविज्ञानिको की दृष्टि से 'आनन्द' एक प्रकार की सुख की अनुभूति है। प्राय सुख की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न मत मिलते हैं। जैसे, अरस्तू *का मत है कि शरीर के अन्दर शक्ति की एक स्थिर मात्रा होती है जो न बढती है* और न घटती। सुख की उत्पत्ति उस शक्ति के साधारण व्यापार या परिमित उपयोग से होती है और दुःख की उत्पत्ति इस शक्ति की न्यून क्रिया या अति क्रिया से होती है। स्पिनोजा, काट, बेन और हर्बर्ट स्पेसर का मत है कि सुख जीवन-शक्ति की वृद्धि का सूचक है और दुःख जीवन-शक्ति के क्षय का। बेन का मत है कि 'आनन्द' रक्त-सचार, पाचन और श्वसन आदि सभी जीवन व्यापारो को उत्तेजित करता है और शोक इसके विपरीत प्रभाव उत्पन्न करता है।[1] परन्तु मनोवैज्ञानिको की राय उक्त दार्शनिको से भिन्न है। हर्बर्ट का विचार है कि मन *मे विचार अथवा विचार-शक्तियाँ होती हैं, जो चेतना की अन्तिम तत्व कहलाती हैं।* सुख की उत्पत्ति विचारो की सगति मे और दुःख की उत्पत्ति विचारो के तनाव से होती है। इस तरह यह विचारो के कार्य को ही सुख-दुःख की अनुभूति मानता है। स्टाउट का विचार है कि सुख की उत्पत्ति मानसिक क्रिया की सफलता *मे होती है और दुःख की उत्पत्ति मानसिक क्रिया की विफलता मे होती है।* वार्ड का मत है कि ध्यान के कारण सुख या दुःख उत्पन्न होते हैं। प्रभावपूर्ण ढग से दिए हुए अधिक से अधिक ध्यान के द्वारा सुख की प्राप्ति होती है और विघ्नो, धक्कों या दूषित समायोजनो के कारण ध्यान मे बाधा होने से दुःख *की प्राप्ति होती है।*[2] इस तरह सुख की अनुभूति का सम्बन्ध मन और शरीर दोनो से जोड़ा गया है; परन्तु अनुभूति मन की एक ऐसी मौलिक एवं स्वतन्त्र प्रक्रिया है, जिसका एक ओर ज्ञान और क्रिया से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और दूसरी ओर जीवन-क्रिया से।[3] अत यहाँ आनन्द की जो प्राप्ति हुई है, वह मन की मौलिक एव स्वतन्त्र क्रिया द्वारा हुई है और उसका सम्बन्ध ज्ञान से भी रहा है।

इसके अतिरिक्त कामायनी के अन्तर्गत मन को जो अन्त मे अत्यन्त आनन्द प्राप्त करते हुए दिखलाया है, उसका समाधान गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिकों के अंतरालपूर्ति (closing the gap) वाले नियम से किया जा सकता है। इस नियम के अन्तर्गत वे यह मानते हैं कि जब कोई व्यक्ति किसी काम को करने का भार लेता है, तब उसके मन मे तनाव उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे

१—मनोविज्ञान—से० सिन्हा, पृ ३३७-३३८।

२—वही, पृ० ३३९-३४०। ३—वही, पृ० ५१६।

शान्ति काम के पूरा हो जाने होती है। जैसे आप एक पत्र अपनी जेब में इस उद्देश्य से रखते हैं कि आप उसे डाक मे छोड़ेंगे। यह कार्य आपके मन में तनाव उत्पन्न कर देता है। जब आपने पत्र को अपनी जेब में रखा था, उस समय आपके व्यवहार में एक अन्तराल या रिक्तता उत्पन्न हुई थी। परन्तु जैसे ही आप उस पत्र को डाक मे छोड़ देते हैं, आपके अन्तराल या रिक्तता की पूर्ति हो जाती है और आपके मन मे सन्तुलन स्थापित हो जाता है।[1] यही नियम 'कामायनी' मे भी कार्य कर रहा है। प्रारम्भ में सुख या आनन्द के अभाव मे मनु के मन मे अन्तराल या रिक्तता उत्पन्न होती है और उसमे हमें तनाव भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु अन्त में नौतिकता का आवरण छोड कर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होने पर अथवा शिव के के चरणों मे आजाने पर मन के अन्तराल की पूर्ति हो जाती है और वह आनन्द-विभोर हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने 'कामायनी' मे चित्रित एवं व्यथित मन की भावनाओं, प्रवृत्तियों, मनोवृत्तियां आदि के विभिन्न क्षेत्रों मे पर्यटन करते हुए अन्त में जो आनन्द-लोक तक पहुँचाया है और इस यात्रा मे मन के क्रमिक विकास का जो रूप अंकित किया है, वह भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से उपयुक्त एवं न्याय-संगत है। उसमें मानव मनोविज्ञान के आधार पर ही व्यावहारिक रूप मे मन के क्रमिक विकास का उल्लेख हुआ है। इतना अवश्य है कि प्रसाद जी ने मनोविज्ञान की सभी शाखाओं का अध्ययन करके यह महाकाव्य नहीं लिखा। इसलिए हम प्रत्येक पहलू से इसे मनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते। परन्तु फिर भी उनके अधिकांश वर्णन मनोवैज्ञानिक विकास के द्योतक हैं और उनमे हमें परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न मन की क्रमिक दशाओं का रूप मिल जाता है। इतना होने पर भी प्रसादजी का यह मन सम्बन्धी वर्णन अधिकतर मानव के व्यावहारिक जीवन एवं भारतीय शास्त्रों पर ही आधारित है। यह दूसरी बात है कि उनके विवेकशील होने के कारण ये वर्णन पाश्चात्य मनोविज्ञान की दृष्टि से भी असंगत नहीं हैं।

कामायनी और फ्राइड का मनोविज्ञान

मनोविज्ञान के क्षेत्र मे फ्राइड (Fraud) के अन्वेषणों का भी एक विशिष्ट स्थान है। फ्राइड मूलतः एक चिकित्सक थे और मृगी के रोगियों की चिकित्सा का अन्वेषण करते हुए आपने मनोविज्ञान की एक नवीन पद्धति का अन्वेषण

[1]—मनोविज्ञान—से० सिन्हा, पृ० ३४१।

किया था।[1] आपकी यह नवीन पद्धति 'मनोविश्लेषण-विज्ञान' (Psycho-analysis) के नाम से प्रसिद्ध है। इस पद्धति के आधार पर आपका मत है कि चेतना की एकता के भंग या खंडित होने के कारण प्रायः उन्माद, मृगी आदि मानसिक रोग उत्पन्न हुआ करते हैं। चेतना के खंडित होने से आपका अभिप्राय यह है कि मन अपनी क्रियाओं के दो या दो से अधिक प्रतिद्वन्द्वी और स्वतंत्र समूहों में विभक्त हो जाता है, जिससे चेतना की एकता भंग हो जाती है। इस भंग करने की क्रिया में सबसे बड़ा हाथ 'काम' (libido) का रहता है। इस काम-प्रवृत्ति का बचपन से ही अतृप्त रहने के कारण दमन होता रहता है और यह दमित वासना मन के अचेतन स्तर में एकत्रित होती रहती है। किन्तु यह वासना कभी नष्ट नहीं होती और अचेतन स्तर में स्थित रहते हुए समयानुसार मन के चेतन जीवन में भी दिवा-स्वप्न (day-dreams), हास्य-विनोद, कहने की भूल, लिखने की भूल आदि में प्रकट होती रहती है। स्वप्न भी इसी दमित काम-प्रवृत्ति का सांकेतिक प्रकाशन है।[2]

मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्राइड के पाँच सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं, जो स्वप्न सिद्धान्त (Theory of dreams), काम-सिद्धान्त (Libido theory), भूल-सिद्धान्त (Theory of slips), हास्य-विनोद-सिद्धान्त (Theory of wit), तथा अहं-सिद्धान्त (Ego theory) के नाम से पुकारे जाते हैं।

१. स्वप्न सिद्धान्त—स्वप्नों के बारे में फ्राइड का यह विचार है कि प्रायः सभी स्वप्न हमारी बचपन की दमित इच्छाओं के प्रकाशन होते हैं। प्रौढ़ जीवन में कुछ स्वप्न (जैसे—आराम के स्वप्न) सीधे इच्छा की पूर्ति किया करते हैं, परन्तु अधिकांश स्वप्न हमारी उन काम-वासनाओं के नग्न प्रकाशन होते हैं, जो सामाजिक प्रतिबंधों के कारण दबा दी जाती हैं तथा जो दमित होने के कारण नष्ट न होकर मन के अचेतन स्तर में एकत्रित रहती हैं। जाग्रत अवस्था में तो ये काम-वासनायें प्रतिरोधकों (censors) द्वारा रोक दी जाती हैं, परन्तु निद्रा आते ही ये प्रतिरोधक शिथिल हो जाते हैं। अतः अचेतन में स्थित ये दबी हुई काम-वासनाएँ वेष बदल-बदल कर स्वप्न में अभिव्यक्त होने लगती हैं और परोक्ष रूप से अपनी तृप्ति किया करती हैं। इसी कारण फ्राइड स्वप्न

1—Historical Introduction to Modern Psychology. p. 307. —*G. Murphy.*

२—मनोविज्ञान—सं० डा० यदुनाथ सिन्हा, पृ० ३०।

को अचेतन मे स्थित दमित काम-वासनाओ अथवा लिबिडो (libido) का सांकेतिक प्रकाशन मानता है।[1]

'कामायनी' मे हमे स्वप्न का वर्णन दो स्थलो पर मिलता है। प्रथम तो 'काम' सर्ग मे मनु का स्वप्न का वर्णन आया है। मनु को यह स्वपन उस समय दिखाई देता है, जिस समय वे श्रद्धा के आत्म-समर्पण के बाद अत्यधिक सोच-विचार म पडे हुए हैं और यह निश्चय नही कर पा रहे हैं कि श्रद्धा को अपनाकर पुन सासारिक जीवन व्यतीत करना चाहिए अथवा नही। अभी वे इतना ही सोच पाये हैं कि 'चाहे कुछ भी हो जाय, जीवन के इस मधुर भार मैं नही सम्हालूँगा, यदि बाधायें आती हैं तो आने दो, उनका भी सामना करूँगा।'[2] बस इसी क्षण उन्हें नीद आ जाती है और यह स्वप्न दिखाई देता है कि स्वय काम उनके पास आया है और वह रहा है कि 'मैं अभी तक प्यासा हूँ, मुझे देवो के वासना सम्बन्धी तीव्र प्रवाह से भी सतोष नही हुआ है। वह प्रवाह तो नष्ट हो गया, परन्तु मेरी तृष्णा अभी तक तृप्त नही हुई है। रात दिन मेरा ही अनुसरण करने के कारण देवो की सृष्टि का भी नाश हो चुका है। मैं उनको उन्मत्त होकर रात-दिन घेरे रहता था, परन्तु अभी तक मेरा अतिचार बन्द नही हुआ है। आज न तो वे देवता ही हैं और न मेरे मनोविनोद के साधन ही हैं। मैं अगहीन हो गया हूँ, परन्तु मुझ मे चेतनता अभी तक शेष है। मैं अपना अस्तित्व लिए हुए आज इधर-उधर भटक रहा हूँ और अपनी इच्छा-पूर्ति करना चाहता हूँ।'' '''मैं पहले तो वासना की आँधी के रूप मे देवताओं के मन मे विद्यमान रहता था, परन्तु अब सस्मृति के विकास का साधन बनना चाहता हूँ और मानवता का विकास करने में अपने ऋण का शोधन भी करना चाहता हूँ।''''''अब यदि तुम मेरे कार्य मे सहायक होना चाहते हो, तो मेरी पुत्री श्रद्धा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करो। मेरी पुत्री अत्यन्त सुन्दर और भोली-भाली है। वह फूलो की डाल के समान कोमल और कमनीय है। उसके द्वारा समस्त जड-चेतनता की गाँठें खुल जायेंगी और समस्त भूलों का सुधार हो जायेगा, क्योकि वह जीवन के उष्ण विचारो को शीतलता एव शान्ति प्रदान करने वाली है। अब यदि तुम उसे पाना चाहते हो उसके लिये योग्यता धारण करो।'[3] इतना कहकर काम चुप हो जाता है और मनु की आँखें खुल जाती हैं।

1—Historical Introduction to Modern Psychology, PP 311-314

२—कामायनी, पृ० ६६। ३—वही, पृ० ७१-७२।

दूसरा स्वप्न-वर्णन हमे 'स्वप्न' सर्ग के अन्तर्गत मिलता है। यहाँ पर श्रद्धा के स्वप्न का उल्लेख किया गया है। मनु श्रद्धा को अकेला छोड़कर चले गये हैं। जाते समय श्रद्धा आसन्न-गर्भा थी। अब श्रद्धा को पुत्र-रत्न प्राप्त हो चुका है। श्रद्धा का पुत्र कुछ बड़ा हो गया है और इधर-उधर खेलने भी जाने लगा है। परन्तु श्रद्धा को प्रियतम का वियोग अत्यन्त दुखदायी प्रतीत होता है और वह दुखिया रात को यह स्वप्न देखती है कि 'मनु इड़ा के पास पहुँच गये हैं। इड़ा उनके सामने अग्नि ज्वाला सी देदीप्यमान होकर बड़े उल्लास के साथ बैठी है तथा मनु को आगे बढ़ने के लिए उत्तेजित कर रही है।··· उसकी प्रेरणा से मनु ने नगर की श्री-वृद्धि की है, शासन-सूत्र सँभाला है, सुन्दर व्यवस्था की है, प्रकृति के साथ संघर्ष करना सीखा है और समस्त विभूति के स्वामी बन गये हैं।··· इतना ही नहीं, वह मनु को चषक पर चषक भरकर पिला रही है और मनु का तृषित कंठ पी-पीकर भी सन्तुष्ट नहीं हो रहा है। अन्त में मनु अतृप्त वासना के परिणामस्वरूप इड़ा के साथ भी असामाजिक आचरण करने के लिए उद्यत हो जाते हैं, जिससे कुपित होकर रुद्र हुंकार कर उठते हैं, आकाश में देव-शक्तियाँ क्षुब्ध हो जाती हैं, रुद्र का तीसरा नेत्र खुल जाता है, वे अपने 'अजगव' पर शिंजिनी चढ़ा लेते हैं, सारा नगर थरथर काँपने लगता है, सभी आश्रय पाने के लिये व्याकुल हो उठते हैं, स्वयं मनु भी सन्देह में डूब जाते हैं और यह आशंका करने लगते हैं कि कहीं फिर प्रलय जैसी घटना न हो जाय।'[1] स्वप्न में यह दृश्य देखते ही श्रद्धा काँप उठती है, उसकी आँखें खुल जाती हैं और वह पुकार उठती है :—

"यह क्या देखा मैंने ? कैसे वह इतना हो गया छली ?"[2]

यदि उक्त दोनों स्वप्नों का विश्लेषण करें तो यही ज्ञात होगा कि दोनों स्वप्नों के अन्तर्गत काम-वासना मन के अचेतन-स्तर में विद्यमान है। प्रथम स्वप्न में मनु की कामना प्रलय होने के कारण अतृप्त रह गई है, उसे तृप्ति का संयोग प्राप्त नहीं हुआ है और तप आदि के द्वारा मनु ने उसे दमन करने का प्रयत्न किया है। इसी कारण वे पहले भी जैसे ही रात्रि के माधुर्यपूर्ण, मादक एवं उद्दीपनकारक वातावरण को देखते हैं, वैसे ही उनके हृदय में वह अनादि-वासना जाग्रत हो जाती है।[3] इसके अनन्तर पुनः मनु जैसे ही अद्वितीय सौंदर्य से ओत-प्रोत युवती श्रद्धा को देखते हैं, वैसे ही मन में संघर्ष उठ खड़ा होता है, परन्तु श्रद्धा के सम्मुख जाग्रत अवस्था में उनकी काम-वासना प्रतिरोधकों

१—कामायनी, पृ० १८१-१८५। २—वही, पृ० १८६।
३—वही, पृ० ३५।

(censors) द्वारा रोक दी जाती है और वे सहसा श्रद्धा को स्वीकार करने के लिए उद्यत नही होते। परन्तु जब उन्हें निद्रा घेर लेती है, तब उनके प्रतिरोधक शिथिल पड जाते हैं और उनकी काम-वासना स्वप्न मे सौंदर्यशालिनी श्रद्धा को प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठती है। अत फ्राइड के आधार पर मनु की अतृप्त काम-वासना ही मन के अचेतन-स्तर मे विद्यमान रहने के कारण स्वय काम का रूप धारण करती हुई उन्हें श्रद्धा को प्राप्त करने की प्रेरणा देती है।

दूसरे, यदि हम श्रद्धा के स्वप्न का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा श्रद्धा के स्वप्न म भी अचेतन मन के अन्दर स्थित काम-वासना ही मनु और इडा के प्रेम का रूप धारण करके यहाँ उपस्थित हुई है, क्योंकि श्रद्धा मनु के प्रेम से वचित है, वह वियोगिनी है, पतिप्राणा है और वह यह जानती है कि मनु की वासना की तृप्ति न होने के कारण ही वे उसे छोडे गये हैं। इसी कारण उसे स्वप्न मे अपने स्थान पर किसी अन्य स्त्री का ध्यान आता है तथा वह मनु और इडा के प्रेम-व्यापार सम्बन्धी स्वप्न देखने लगती है। सच पूछा जाय तो यह स्वप्न श्रद्धा की अतृप्त वासना का ही नग्न-प्रदर्शन है, परन्तु प्रसादजी ने उसे सच्चा रूप दे दिया है और कथा से उसका सम्बन्ध जोडकर कथा को आगे बढाने का अवसर निकाल लिया है। क्योंकि प्रसादजी ने स्वय भी श्रद्धा के स्वप्न का विश्लेषण करते हुए यही कहा है —

"स्वजन स्नेह मे भय की कितनी आशकाएँ उठ आती।"[1]

अत इडा और मनु के असामाजिक आचरण मे श्रद्धा के मन मे स्थिर आशका ही कार्य कर रही है, जिसे फ्राइड अचेतन मन में स्थित दबी हुई काम-वासना कहता है। श्रद्धा की काम-वासना एक ओर तो मनु के चले जाने के कारण दमित हो गई है। दूसरे, पुत्र के सम्मुख वह अपनी वियोग भावना भी व्यक्त नही कर सकती। इस कारण उसकी काम-वासनाओ के दब जाने से तथा *जाग्रत अवस्था म प्रतिरोधकों द्वारा अवरुद्ध हो जाने से वे वासनाएँ ही* स्वप्न मे नया वेष बदल कर उपस्थित हुई हैं।

२ काम सिद्धान्त—फ्राइड का दूसरा सिद्धान्त 'काम-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार फ्राइड का मत है कि काम (libido) अत्यन्त व्यापक है। वह प्रेम का पर्यायवाची है और उसके अन्तर्गत माता-पिता का प्रेम, कामुक व्यक्तियों का प्रेम, मित्रो का प्रेम, पशुओं का प्रेम और जड वस्तुओं का प्रेम भी सम्मिलित है। उसमें अगूठा चूमने से लेकर मलमूत्रोत्सर्ग तक समस्त

१—कामायनी, पृ० १८६।

घुस आते हैं। फ्राइड का कथन है कि सर्वप्रथम बच्चे मे अपने शरीर से प्रेम होता है और वह अन्य किसी से प्रेम नही करता। उसकी यह दशा 'आत्म-रति (auto-eroticism) कहलाती है। धीरे-धीरे उसके प्रेम का विकास होता है। वह पहले तो अपने जैसे बच्चे से प्रेम करता है अर्थात् एक लडका लडके से प्यार करता है और एक लडकी लडकी से प्यार करती है, जिसे फ्राइड 'समलिंग-कामुक-स्थिति' (homo-sexual stage) कहता है। किन्तु जैसे ही बच्चा बड़ा होने लगता है, उसमे फिर 'समलिंग-कामुकता' (homo-sexuality) नही रहती। फिर एक लड़का एक लडकी से प्रेम करने लगता है और एक लडकी एक लडके से प्रेम करने लगती है, जिसे फ्राइड 'विषमलिंग-कामुक-स्थिति' (hetro-sexual stage) कहता है। इस तरह यह काम ही भिन्न-भिन्न स्थितियो मे एक बच्चे के अन्तर्गत प्रेम-भाव उत्पन्न किया करता है।[1]

उक्त स्थितियो के अतिरिक्त फ्राइड ने काम का विश्लेषण एक और ढग से किया है। थीबा (Thebes) के राजा ओडीपस (Oedipus) की कहानी के आधार पर उसने काम-सम्बन्धी एक और खोज की है। उस कहानी मे राजा ओडीपस अपने पिता का वध कर डालता है और अपनी माता से विवाह कर लेता है। अत इस कहानी के आधार पर फ्राइड ने यह सिद्धान्त बनाया है कि एक लडके मे अपनी माता के प्रति आकर्षण होता है और पिता के प्रति द्वेष-भावना रहती है, जिसे वह 'ओडीपस-कम्पलेक्स' (oedipus complex) कहता है। ऐसे ही एक लड़की मे अपने पिता के प्रति आकर्षण रहता है और माता के प्रति द्वेष-भावना रहती है, इसे वह 'इलैक्ट्रा-कम्पलैक्स' (electra complex) कहता है। उक्त 'कम्पलैक्स' की भावना एक शिशु में युवा होने से बहुत पहले ही उत्पन्न हो जाती है और समय आने पर वह प्रकट भी होती रहती है।[2]

फ्राइड के उक्त काम-सम्बन्धी सिद्धान्त के आधार पर जब 'कामायनी' का अनुशीलन किया जाता है तब पता चलता है कि यहाँ पर एक शिशु तथा प्रौढ़ दोनों के प्रेम का चित्रण किया गया है। श्रद्धा के पुत्र कुमार के प्रेम मे हमें प्रारम्भ से ही विषमलिंगीय कामुकता के दर्शन होते हैं, क्योंकि वह अपनी माँ को अधिक प्यार करता है। यहाँ तक कि जब माँ श्रद्धा मनु को पुनः प्राप्त करके फिर खो देती है और बड़ी अन्यमनस्क एव शोकाकुल-सी दिखाई देती है, तब 'कुमार' बडे प्रेम के साथ यही कहता है :—

1—Historical Introduction to Modern Psychology, p. 318.
२—वही, पृ० ३१८।

"माँ ! क्यों तू है इतनी उदास क्या मैं हूँ तेरे नहीं पास।"[1]

किन्तु इस प्रेम में फ्राइड के वासनात्मक काम की गंध नहीं आती। यहाँ शुद्ध मातृ-प्रेम की धारा बह रही है, परन्तु यह प्रेम विपर्मलिंगीय ही माना जायेगा।

फ्राइड द्वारा वर्णित 'ओडीपस-कम्प्लैक्स' का रूप भी हमें कामायनी के 'ईर्ष्या' सर्ग में दिखाई देता है, क्योंकि वहाँ पर श्रद्धा का आकर्षण अपने गर्भस्थ पुरुष-शिशु की ओर दिखाया गया है। इसी कारण तो वह सुन्दर कुटीर का निर्माण करती है, वस्त्र बनाती है और मनु से कहती है —

> झूले पर उसे झुलाऊँगी दुलरा कर लूँगी बदन चूम,
> मेरी छाती से लिपटा इस घाटी में लेगा सहज घूम।[2]

और मनु उस गर्भस्थ पुरुष-शिशु से ईर्ष्या करते हैं, क्योंकि वह उनके प्रेम को बाँटने वाला बन गया है तथा उसके प्रति श्रद्धा का हृदय अधिक आकर्षित रहता है, जिससे वह मनु को अब उतना प्यार नहीं करती। इसीलिए मनु कहते हैं —

> यह जलन नहीं सह सकता मैं चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
> इस पंचभूत की रचना में मैं रमण करूँ बन एक तत्व।[3]

अन्त में इसी विचार के कारण मनु श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं। अतः प्रसादजी का यह ईर्ष्या-सम्बन्धी वर्णन फ्राइड के 'ओडीपस-कम्पलैक्स' के सर्वथा समकक्ष दिखाई देता है।

३ भूल सिद्धान्त—फ्राइड का तीसरा सिद्धान्त 'भूल-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। उसका प्रतिपादन आपने "दैनिक जीवन का मनोविज्ञान" (The Psychology of every day life) नामक पुस्तक में किया है। इस सिद्धांत के आधार पर फ्राइड का मत है कि केवल स्नायविक रोगी के लक्षणों (neurotic symptoms) को ही नहीं, अपितु साधारण मनुष्यों के दैनिक कार्यों को देखकर यह पता चलता है कि जब कोई मनोवृत्ति चेतना में उठ खड़ी होती है, तब वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए बराबर प्रयत्न करने लगती है, किन्तु जब उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, तब वह विचार और कार्य को प्रभावित करने लगती है। इसी के परिणामस्वरूप कितने ही प्रकार की साधारण, असाधारण या आकस्मिक भूलें हुआ करती हैं, जैसे—जिह्वा या लेखनी की भूलें, परिचित नामों की विस्मृति तथा अन्य छोटी बड़ी त्रुटियाँ जो हमारे विचारे हुए उद्देश्य में बाधा डाला देती हैं।[4]

१—कामायनी, पृ० २२४। २—वही, पृ० १५२। ३—वही, पृ० २३८।
4—Historical Introduction to Modern Psychology, p 315

'कामायनी' में प्रसादजी ने भी 'भूल' को चेतना के कौशल का स्खलन कहा है और बतलाया है कि भूल के परिणामस्वरूप मनुष्य को अनेक विषाद एवं दुःख उठाने पड़ते है।[1] इसी कारण यहाँ मनु की कितनी ही भूलो का चित्रण किया गया है। उनके मन मे जो सुखी होने की प्रवृत्ति अभिव्यक्ति के लिए छटपटाती रहती है, वही मनु से नाना प्रकार की भूले कराती है। जैसे, पहले तो वे आकुलि-किलात नामक असुर पुरोहितो के बहकावे मे आकर श्रद्धा के पशु का वध कर डालते हैं। यहाँ श्रद्धा को सुखी बनाकर अपने सुखी होने की भावना मनु के हृदय मे काम कर रही है, क्योकि मनु सोचते भी यही हैं कि इस यज्ञ से 'एक विशेष प्रकार, कुतूहल होगा श्रद्धा को भी।'[2] दूसरे, श्रद्धा के बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी वे आखेट-कर्म से विरत नही होते और जैसे श्रद्धा को प्रसन्न करने के लिए वे पशु-यज्ञ करने लगे थे, वैसे ही श्रद्धा को सुखी देखने की अभिलाषा से आखेट मे भी अधिकाधिक व्यस्त रहते हैं। क्योकि कहते भी हैं:—

"तुम बीज बीनती क्यों? मेरा मृगया का शिथिल हुआ न कर्म।"[3]

तीसरी भूल आसन्न-गर्भा श्रद्धा का परित्याग करने मे दिखाई देती है। यहाँ भी वही प्रेरक भावना मनु के मन मे कार्य कर रही है और वे यह सोचते हैं कि श्रद्धा के पास मुझे सुख नही मिल सकता, कहीं और जाकर अपने सुख की खोज करनी चाहिए। चौथी, भूल इडा के साथ असामाजिक व्यवहार मे दिखाई देती है। यहाँ पर भी वही अचेतन मन मे स्थित सुख की लालसा है, जो यह भूल कराती है और जिसके परिणामस्वरूप सारा वैभव नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। साथ ही मनु को भी पर्याप्त आघात सहना पड़ता है। पाँचवीं भूल, फिर वे दुबारा श्रद्धा के निकट से भागकर करते हैं। यहाँ भी उन्हें सुख की लालसा घृणा तथा निर्वेद के भावों से ओतप्रोत कर देती है और वे श्रद्धा का साथ छोड़ देते हैं। परन्तु श्रद्धा तो स्वयं 'सुलभन है भूल सुधारने की।'[4] इसी कारण वह अन्त मे मनु की सारी भूले सुधार देती है और उनकी उस अतृप्त सुख की लालसा को तृप्त कर देती है। इस प्रकार 'कामायनी' के अन्तर्गत फ्राइड के मूल-सिद्धान्त के अनुकूल भी वर्णन मिल जाते हैं।

४. हास्य-विनोद-सिद्धान्त—फ्राइड का चौथा सिद्धान्त 'हास्य-विनोद-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के आधार पर भी फ्राइड का यही मत है कि अचेतन मन के स्तर मे दबी हुई वासनाएँ अकस्मात् हास्य या विनोद का

१—कामायनी, पृ० १२२। २—वही, पृ० ११६।
३—वही, पृ० १४६। ४—वही, पृ० ७२।

रूप धारण कर लेती है।[1] 'कामायनी' में फ्राइड के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि प्रसादजी की गंभीर प्रकृति 'कामायनी' में कहीं भी हास्य रस को स्थान नहीं दे सकी है। अत यहाँ हमें थोड़ा-सा भी हास्य का पुट दिखाई नहीं देता।

५ अहं-सिद्धान्त—फ्राइड का पाँचवाँ सिद्धान्त 'अहं-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके आधार पर फ्राइड का मत है कि मन का चेतन अंश जब परिवेश (environment) के सम्पर्क में रहता है, तब वह वास्तविकता के नियमों का पालन करता रहता है, किन्तु उसकी जो इच्छायें दबी रहती हैं और सामाजिक बंधनों के कारण जिनकी पूर्ति नहीं होती, वे मन के अचेतन अंश में स्थित रहती हैं। पहले फ्राइड मन के इस चेतन अंश को ही 'अहं' (ego) कहता था और उसके अचेतन अंश को इड (id) नाम देता था। परन्तु पीछे अनुसन्धान करने पर उसे यह ज्ञात हुआ कि यह अहं' (ego) चेतन ही नहीं है, अचेतन भी है। क्योंकि अहं चेतन होता है और जो इच्छायें (काम) उसे स्वीकृत नहीं होती, उनका वह दमन करता है तथा प्रतिरोधपूर्वक उन्हें अचेतन में स्थित रखता है। किन्तु कई रोगियों में प्रतिरोध-अचेतन पाया गया। अतएव आरम्भ के दमन को भी अचेतन होना चाहिए। इस प्रकार 'अहं' को दमन और प्रतिरोध करने में अचेतन रूप से भी कार्य करता हुआ माना गया। इसी से फ्राइड उसे प्रकट चेतन और अज्ञात अचेतन मानने लगा। इसका चेतन अंश समाज के नियमानुसार कार्य करता रहता है, किन्तु अचेतन अंश मन के आन्तरिक प्रदेश अथवा 'इड' (id) में डूबा रहता है और सुख के नियम का पालन करता है। यह 'अहं' समाज और 'इड' की मध्यस्थता करने की कोशिश करता है, क्योंकि एक ओर तो यह चेतनतापूर्वक 'इड' की इच्छाओं का पालन करता है और दूसरी ओर 'इड' की उन असंस्कृत इच्छाओं का दमन करता है, जो सामाजिक परिवेश के नियमों से मेल नहीं खाती। यदि 'अहं' सफलता के साथ 'इड' के परिवेश की माँगों के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेता है, तो वह समृद्धिपूर्ण, सुव्यवस्थापित और परिवेश में समायोजित रहता है। यदि ऐसा नहीं करता, तो उसमें अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि 'इड' तो सदैव अचेतन और अव्यवस्थित रहता है। इसमें व्यक्ति के जीवन की सभी मूल-प्रेरक-शक्तियाँ एवं जीवन और मृत्यु की प्रवृत्तियाँ निवास करती हैं।[2]

फ्राइड ने इन 'अहं' और 'इड' के अतिरिक्त एक 'उच्च अहं' (super-ego)

1—Historical Introduction to Modern Psychology p. 316

२—मनोविज्ञान—ले० डा० यदुनाथ सिन्हा, पृ० ५३४।

और माना है। यह 'अह' का आदर्श है और यह चेतना (conscience) के समान है। इस 'उच्च अहं' में विधि और निषेध रहते हैं, जिनका वह 'अह' से पालन कराने का प्रयत्न किया करता है। यह 'उच्च अह' केवल व्यक्तियो मे ही पाया जाता है और इसका भी मूल 'ओडिपस-कम्पलैक्स' में ही माना जाता है। यह 'उच्च अहं' 'अह' का एक विकसित रूप है और नैतिक दृष्टि से 'अह' से महान् होने के कारण तथा 'अह' पर बलपूर्वक शासन करने के कारण इसे 'उच्च अह' कहा जाता है।[1] कभी-कभी यह 'इड तथा 'अह'—दोनो की सम्मिलित शक्ति पर नियन्त्रण करने मे भी सफल होता है।[2]

इस तरह फ्राइड ने 'अह सिद्धान्त' के अन्तर्गत मनु की तीन शक्तियो का प्रतिपादन किया है, जो क्रमश 'अह,' 'इड' और 'उच्च अह' कहलाती हैं। 'अह' सामाजिक नियमो का पालन करता हुआ अचेतन 'इड' की इच्छापूर्ति मे लगा रहता है। 'इड' पूर्णतया दमित वासनाओ का भण्डार है और 'उच्च अह' दोनों पर नियन्त्रण करके मन की अव्यवस्था को दूर करता है। 'कामायनी' के पात्रों द्वारा यदि इन तीनो की व्याख्या की जाय, तो ये तीनो क्रमश. मनु, इड़ा और श्रद्धा के स्वरूप से बहुत कुछ मिल जाते हैं। जैसे, मनु मन का चेतन और अचेतन अंश जो 'ईगो' कहलाता है। जहाँ तक मनु सामाजिक नियमो का पालन करते हैं, वहाँ तक उनमे चेतन अश विद्यमान रहता है और जैसे ही वे सामाजिक नियमो का उल्लंघन करके इड़ा पर भी अपना अधिकार जमाना चाहते हैं, वैसे ही वे मन के अचेतन प्रदेश मे डूब जाते हैं। फ्राइड ने मन के इसी अचेतन प्रदेश को 'इड' कहा है और वह इस 'इड' को जीवन की सभी मूल-प्रेरक शक्तियो एवं दमित वासनाओ का स्थान मानता है। 'कामायनी' की इड़ा को यद्यपि बुद्धि का प्रतीक माना गया है और इस दृष्टि से तो फ्राइड के 'इड' से इड़ा का तादात्म्य नही होता, फिर भी जहाँ तक इड़ा का सम्बन्ध सारस्वत नगर के राज्य की प्रारम्भिक अवस्था से है अथवा जहाँ वह मनु को चषक पर चषक पिलाकर अपने रूप-सौन्दर्य से मुग्ध करती है और अपनी इच्छानुसार सारी कार्य-व्यवस्था कराती है, वहाँ उसे हम बहुत कुछ फ्राइड के 'इड' के समकक्ष रख सकते हैं। क्योंकि कामायनी की इड़ा सारस्वत नगर की रानी है, उसका राज्य भौतिक हलचलो से छिन्न-भिन्न हो चुका है और वह स्वय उस राज्य की व्यवस्था नही कर सकती। अत: अह (ego) रूप मनु से अपने राज्य की शासन-

1—Historical Introduction to Modern Psychology. p. 321.
२—वही, पृ० ३२६।

व्यवस्था कराती है। किन्तु यह 'अह' वहाँ सुव्यवस्थित नहीं रहता, क्योंकि यह 'इडा' या इडा के संकेतों पर चलता है और योग-क्षेम की नई-नई रीतियों द्वारा प्रकृति के साथ संघर्ष करने के नये-नये ढंग निकालता है तथा निर्बाधित अधिकार भोगने की चेष्टा करता है, जिससे वहाँ पर राज्य में अव्यवस्था फैल जाती है। परन्तु श्रद्धा यहाँ फ्राइड के 'उच्च अह(super ego)के समकक्ष दिखाई देती है, क्योंकि वह अपनी शक्ति द्वारा मनु तथा इडा अथवा ईगो और इड दोनों का नियमन करती है। वह अपने पुत्र मानव को इडा के समीप छोड़कर इडा के अव्यवस्थित राज्य को पुनः व्यवस्थित कराती है, जिससे वहाँ एक कुटुम्ब-सा स्थापित हो जाता है और उधर 'अह' रूप मनु, जो अव्यवस्थित हो गया था, उसे भी उचित मार्ग पर ले आती है। इसके अतिरिक्त फ्राइड ने 'उच्च अह' में कुछ नैतिक गुण भी अधिक बतलाए हैं। यहाँ श्रद्धा में भी हमें उक्त दोनों पात्रों की अपेक्षा दया, ममता, सेवा, त्याग आदि नैतिक गुण भी अधिक दिखाई देते हैं। अतः फ्राइड के 'अहवादी सिद्धान्त' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनु 'ईगो' (ego) है, इडा 'इड' (id) है और श्रद्धा 'सुपर-ईगो' (super-ego) है तथा इन तीनों पात्रों के द्वारा मन की तीनों शक्तियों का विवेचन 'कामायनी' में हुआ है, जो बहुत कुछ फ्राइड के विचारों से मिलता-जुलता है।

सराश यह है कि 'कामायनी' के अन्तर्गत फ्राइड के मनोविज्ञान सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन तो नहीं मिलता, किन्तु फ्राइड के अधिकांश सिद्धान्तों के अनुकूल हमें 'कामायनी' के मनोवैज्ञानिक वर्णन दिखाई देते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रसादजी ने फ्राइड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त को पूर्णतया हृदयगम करके फिर 'कामायनी' की रचना की है। यहाँ जो कुछ सम्बन्ध दिखाई देता है, वह आकस्मिक ही है। उस पर फ्राइड का प्रभाव मानना असंगत है। हाँ, इतना अवश्य है कि 'कामायनी' के अधिकांश मनोविज्ञान सम्बन्धी वर्णन फ्राइड के मनोविज्ञान में जो मिल जाते हैं, वे मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ साथ प्रसादजी के निजी मनोविश्लेषण सम्बन्धी ज्ञान के भी परिचायक हैं।

काम के विभिन्न रूप और उसकी श्रेणियाँ

भारतीय वाङ्मय में 'काम' के विभिन्न रूपों में दर्शन होते हैं। सर्व प्रथम ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में काम को सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाला तथा मन या बुद्धि का रेतम् अथवा मूलतत्व बताया गया है।[1] यजुर्वेद में काम

१—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
—ऋग्वेद १०।१२९।४

का उल्लेख देवताओं की श्रेणी में हुआ है।[1] अथर्ववेद में काम का विस्तृत वर्णन मिलता है। वहाँ पर काम को सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला, देवता, पितर एवं मर्त्यों में ज्येष्ठ, महान्, पृथ्वी, आकाश और जल में सर्वत्र व्याप्त, श्रेष्ठ नेता, वीर्यशाली, उग्र ईशान अथवा सभी जगह शासन करने वाला, बलिष्ठ, ओजस्वी, धनप्रदाता, शत्रु-विनाशक, सुन्दर, कल्याणकारी आदि बताया गया है।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी काम का अत्यन्त विस्तृत वर्णन मिलता है। ऋग्वेद के ऐतरेयब्राह्मण में लिखा है कि सृष्टि-रचना से पूर्व प्रजापति के हृदय में सर्वप्रथम काम ही इच्छा के रूप में उत्पन्न हुआ और उसी की प्रेरणा से प्रजापति को अपनी प्रजा या सृष्टि-रचना करने के लिए उद्यत होना पड़ा।[3] कृष्ण-यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में काम का अधिक विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है। वहाँ पर काम को सभी का प्रेरक, दाता एवं प्रतिगृहीता बताया गया है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य काम से प्रेरणा पाकर ही कुछ देता एवं ग्रहण करता है। साथ ही इस काम को अनन्त समुद्र, भूत और भविष्य का सम्राट् तथा संसार का उत्पादक माना गया है। इसके अतिरिक्त काम को वहाँ समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला, घृतस्वरूप एवं यज्ञ करने से यजमान को पूर्ण काम बनाकर सर्वस्व प्रदान करने वाला भी कहा गया है।[4] शतपथ-ब्राह्मण में भी प्रजापति के हृदय में सर्वप्रथम काम का निवास बताया गया है, क्योंकि प्रजा की सृष्टि करने से पूर्व प्रजापति के हृदय में काम ने ही इस सृष्टि-रचना के लिए इच्छा उत्पन्न की थी।[5]

१—शुक्ल यजुर्वेद संहिता २४।३६

२—कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥
—अथर्ववेद ९।२।१९

दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्ताम स्वगतामवर्तिम्।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥
—अथर्ववेद ९।१।३।३

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते।
त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः सह ओजो यजमानाय धेहि ॥
—अथर्ववेद १९-६।५२।२

३—प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्त्स्यामीति।—ऐतरेयब्राह्मण ५।८।२३

४—कामः कामायेत्याह। कामेन हि ददाति। कामेन प्रतिगृह्णाति।
कामो दाता कामः प्रतिगृहीतेत्याह। समुद्र इव हि कामः। नेव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य।......कामो भूतस्य भव्यस्य सम्राडेको विराजति। स इदं प्रतिपप्रथे। ऋतूनुत्सृजते वशी।
—तैत्तिरीय ब्राह्मण, २।२।५।५—६, २।४।१।९—१०

५—शतपथ ब्राह्मण २।४।४।१

उपनिषदो मे भी काम का एक आध्यात्मिक शक्ति एव इच्छा या कामना इन दोनो रूपो में उल्लेख मिलता है। ऐतरेय उपनिषद् मे काम को ब्रह्म के के जानने की एक शक्ति कहा गया है। वहाँ प्रज्ञान ब्रह्म की सत्ता का ज्ञान प्राप्त कराने वाली सज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेघा, आदि १६ शक्तियाँ मानी गई हैं। इन शक्तियो मे 'काम' को भी एक शक्ति माना है।[1] साथ ही मुण्डकोपनिषद् मे काम को केवल इच्छाशक्ति या कामना के रूप मे ही स्वीकार किया गया है और लिखा है कि जो कामो अथवा भोगो को आदर देता है, जो उनकी कामना करता है, वह उन कामनाओ के कारण कर्मानुसार इस जगत म जन्म लेता है, परन्तु जो पूर्णकाम हो जाता है, उस विशुद्ध अन्त करण वाले पुरुष की सम्पूर्ण कामनाएँ यहीं सर्वथा विलीन हो जाती हैं।[2] इसके अतिरिक्त तैत्तिरीयोपनिषद् से भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मा के हृदय मे प्रजा उत्पन्न करने की प्रेरणा देने वाला यह काम सर्वप्रथम कामना के रूप मे विद्यमान था, इसी कारण प्रजापति के हृदय मे सृष्टि निर्माण की इच्छा उत्पन्न हुई।[3]

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्रो मे काम को एक ऐसी प्रवृत्ति कहा है, जिसके बिना जीवन का कोई भी कार्य नहीं होता। पाँचो इन्द्रियाँ—कान, जिह्वा, आँख, नासिका त्वचा—अपने-अपने कार्य मन की प्रेरणा के अनुसार काम की प्रवृत्ति से ही करती हैं। अत यहाँ काम को दैनिक कार्यों मे भी प्रमुखता दी गई है।[4]

महाभारत मे काम का अत्यन्त उदात्त रूप मिलता है। वहाँ पर काम का जो उल्लेख आया है वह 'काम-गीता' के नाम से प्रसिद्ध है। काम स्वय कहता है कि "कोई भी प्राणी वास्तविक उपाय (निर्ममता और योगाभ्यास) का आश्रय लिए बिना मेरा नाश नहीं कर सकता है। जो मनुष्य अपने अस्त्र-बल की अधिकता का अनुभव करके मुझे नष्ट करने का प्रयत्न करता है, उसके उस अस्त्र-बल मे अभिमान रूप से पुन प्रकट हो जाता हूँ। जो नाना प्रकार की दक्षिणा वाले यज्ञो द्वारा मुझे मारने का यत्न करता है, उ के चित्त मे मैं उसी प्रकार उत्पन्न होता हूँ, जिस प्रकार उत्तम जङ्गम योनिय मे धर्मात्मा। जो वेद और वेदान्त के स्वाध्याय रूप साधनो के द्वारा मुझे मिटा देने का सदा प्रयास करता है, उसके मन मे मैं स्थावर प्राणियो मे जीवात्मा की भाँति प्रकट होता हूँ। जो सत्य पराक्रमी पुरुष धैर्य के बल से मुझे नष्ट करने की चेष्टा करता है, उसके मानसिक भावो के साथ मैं इतना घुलमिल जाता हूँ कि वह मुझे

१—ऐतरेय उपनिषद् ३।२ २—मुण्डक ३।२।२
३—तैत्तिरीय २।१।६ ४—कामसूत्र १।१-२

पहचान नही पाता। जो कठोर व्रत का पालन करने वाला तपस्या के द्वारा मेरे अस्तित्व को मिटा डालने का प्रयास करता है, उसकी तपस्या मे ही मैं प्रकट हो जाता हूँ। जो विद्वान् पुरुष मोक्ष का सहारा लेकर मेरे विनाश का प्रयत्न करता है, उसकी जो मोक्ष-विषयक आसक्ति है उसी से वह बँधा हुआ है। यह विचार कर मुझे उस पर हँसी आती है और मैं हर्ष के मारे नाचने लगता हूँ। एकमात्र मैं ही समस्त प्राणियो के लिए अवध्य एव सदा रहने वाला हूँ।"[1]

इस प्रकार महाभारत मे काम के अजर-अमर रूप का वर्णन किया गया है। किन्तु 'शान्ति पर्व' मे काम के वासनात्मक रूप का वर्णन भी मिलता है और एक वृक्ष के रूप मे काम की कल्पना करते हुए लिखा है कि—"मनुष्य की हृदय-भूमि मे मोह रूपी बीज से उत्पन्न एक विचित्र वृक्ष है, जिसका नाम काम है। उसके क्रोध और अभिमान महान् स्कन्ध हैं। कुछ करने की इच्छा उसमे जल सीचने का पात्र है। अज्ञान उसकी जड़ है। प्रमाद उसे सीचने वाला जल है। दूसरो के दोष देखना उस काम-वृक्ष के पत्ते हैं तथा पूर्व जन्म मे किए हुए पाप उसके सार-भाग हैं। शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ता उसकी डालियाँ तथा भय उसके अकुर हैं और सर्दव तृष्णा रूपी लतायें उससे लिपटी रहती हैं।"[2] इसके साथ ही श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् कृष्ण ने काम के धर्माविरुद्ध रूप को अपनी ही विभूति कहा है[3] तथा उसके धर्मविरुद्ध वासनात्मक रूप की अत्यत निन्दा करते हुए उसे मानव का शत्रु बताया है।[4]

मनुस्मृति में काम के उदात्त रूप मे दर्शन होते हैं, क्योंकि वहाँ बताया गया है कि जो भी कर्म किया जाता है, वह सब काम की ही चेष्टा है। इतना ही नही, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) मे गणना करके काम को श्रेयस्कर भी माना गया है।[5] वाल्मीकि रामायण मे भी काम के सेवन को बुरा नहीं कहा गया है। वहाँ भगवान् राम चित्रकूट मे आए हुए भरत जी को धर्म, अर्थ तथा काम का उचित महत्व बतला कर तीनों का सम्यक् सेवन करने का उपदेश देते हैं।[6]

शिवपुराण में काम को ब्रह्मा, विष्णु एव महेश—इन त्रिदेवों का स्वरूप माना गया है। वहाँ पर लिखा है कि 'सबकी उत्पत्ति काम से होती है और काम मे ही सबका अध्यवसान होता है। त्रिदेव भी वस्तुत काम के ही स्वरूप हैं। यह काम सुषुप्ति एवं जागृति दोनों अवस्थाओ में वर्तमान रहता है। दिव्य

१—महाभारत (अश्वमेधपर्व), १३।१२-१८
२—वही (शान्ति पर्व), २५४।१-३
३—श्रीमद्भगवद्गीता ७।११
४—वही, ३।४३
५—मनुस्मृति २।४,२।२३४
६—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड १००।६१-६२

या स्वर्गीय आनन्द, जिसे हम ब्रह्म अथवा परमात्मा के नाम से पुकारते हैं, काम का ही विकार है। यही इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप शक्ति-त्रय है। यह काम ही संकल्प, इच्छा और कल्पना है, जिससे यह सृष्टि उत्पन्न होती है और जिसके बिना कोई भी स्पन्दन सम्भव नहीं है।'[1] इस प्रकार शिवपुराण में काम के उदात्त रूप का वर्णन मिलता है, किन्तु अन्य पुराणों में काम का इतना उदात्त रूप नहीं मिलता, अपितु उसे देवता कहते हुए भी वासना का ही प्रतीक अधिक माना है। अन्य पुराणों के अनुसार काम की पत्नी का नाम रति माना गया है, जो इच्छा या कामना की देवी कहलाती है। इस काम ने समाधिस्थ शिव के हृदय में प्रवेश करके पार्वती के लिए शिव को आसक्त करने का प्रयत्न किया था। इस अपराध के कारण शिव ने कुपित हो काम को अपने तीसरे नेत्र द्वारा भस्म कर दिया। परन्तु जब काम-पत्नी रति ने शिवजी की बहुत करुणा के साथ प्रार्थना की, तब शिवजी को दया आगई और काम के पुनः प्रद्युम्न के रूप में जन्म लेने का वरदान दिया। इस प्रकार दूसरे जन्म में काम श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में उत्पन्न हुआ। इस काम को अप्सराओं का स्वामी भी कहा गया है। यह सदैव धनुष-बाण धारण करके सुशोभित होता है। इसका धनुष इक्षुदण्ड का तथा प्रत्यंचा भ्रमरों की मानी गई है। कहीं कहीं पुष्प का ही धनुष एवं पुष्प के ही बाण बतलाये गये हैं। इसी कारण इसे 'पुष्पधन्वा' कहते हैं। यह सदैव सुन्दर युवक के रूप में कबूतर पर चढ़कर अप्सराओं से घिरा हुआ भ्रमण करता है। इसकी ध्वजा पर मीन का चिह्न रहता है तथा वह ध्वजा एक अप्सरा लेकर सदैव इसके साथ चलती है। यह इच्छायें जाग्रत करने वाला माना गया है। इसी कारण इसे इस्म, काम, कंजन, किंकर, मद, राम, रमण, स्मर आदि नामों से पुकारते हैं। मस्तिष्क या हृदय से उत्पन्न होने के कारण यह भाव-ज या मनोज भी कहलाता है। कृष्ण का वंशज होने से यह कार्ष्णि, लक्ष्मीपुत्र होने से मायी, मायासुत, तथा श्रीनन्दन भी कहलाता है। शिव के द्वारा भस्म हो जाने के कारण इसे 'अनंग' भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसके अभिरूप, दर्पक, दृपु, इष्म, कंदर्प, कलाकेलि, मार, मधुदीप, ममार-गुरु, कुसुमायुध, मकरकेतु, मीन-केतन, पुष्पकेतन आदि अनेक नाम मिलते हैं।[2]

१—शिवपुराण, धर्म संहिता, अध्याय ८।

2—Classical Dictionary of Hindu Mythoolgy and Religion, Geography, History and Literature, pp 146–147.

—Donson.

बौद्ध ग्रन्थों में काम का बहुधा गर्हित रूप ही मिलता है, क्योंकि मज्झिम-निकाय में तीन भव माने गये हैं, जो कामभव, रूपभव तथा अरूपभव कहलाते हैं। इनमें से कामभव वह है जिसमें समस्त मानवादि से लेकर छै दिव्यलोक तक स्त्री-सभोग रहता है। इसी तरह बौद्धों ने चार उपादान माने हैं, जो काम, दृष्टि, शीलव्रत, और आत्मवाद कहलाते हैं। इनमें से कामोपभोग में आसक्ति ही काम-उपादन है। ऐसे ही बौद्धों ने तीन आस्रव माने हैं, जो कामास्रव, भवास्रव तथा अविद्यास्रव कहलाते हैं। इनमें से कामास्रव वह है, जिसमें भोगेच्छा की प्रबलता रहती है।[1] किन्तु जैन-ग्रन्थों में काम के उदात्त रूप का भी वर्णन मिलता है। जिनसेनाचार्य ने महापुराण में लिखा है कि 'धर्म रूपी वृक्ष का फल अर्थ है और उस फल का रस 'काम' है। धर्म का इच्छुक ही काम-सम्पन्न होता है तथा धर्म में ही काम एवं अर्थ की स्थिति है।'[2] अतः धर्म के साथ काम का भी मानव-जीवन में महत्व स्वीकार किया गया है।

शैवागमों में सर्वत्र काम का उदात्त रूप ही अपनाया गया है। वहाँ पर काम को अक्षर, अव्यक्त, स्वयंभू, सुसूक्ष्म, व्यापक, शुद्ध, प्राणतत्व का वाचक, चित्त में स्थित होकर देव, किन्नर, गंधर्वादि सभी को वश में करने वाला, नित्यानन्द-रसास्वाद कराने वाला, नाद या ध्वनि के रूप में सम्पूर्ण संसार का बीज, शिव रूप आदि कहा है।[3] इसके साथ ही कामकला के रूप में काम को शुद्ध प्रेम एवं सौन्दर्य का प्रतीक मानते हुए उसकी पूजा का विधान किया गया है। शैवदर्शनों में 'कामकला' को ही संसार की उत्पादिका शक्ति माना है और उसे 'त्रिपुरसुन्दरी' भी कहा गया है। जैसा कि 'कामकला-विलास' में लिखा भी है :—

इति कामकला विद्या देवी चक्र क्रमात्मिका सेयम्।
विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरी रूप ॥८॥

इस तरह शैवागमों में काम के रूप में आनन्द, सौन्दर्य एवं प्रेम की उपासना का प्रचार मिलता है और काम के हेय एवं गर्हित रूप की अपेक्षा उसका श्रेष्ठ एवं सृजनात्मक रूप स्वीकार किया गया है।

भारतीय ग्रन्थों के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य में काम को 'क्यूपिड' (Cupid) कहते हैं, जो वहाँ केवल काम-वासना का प्रतीक है। किन्तु ग्रीक पौराणिक

१—जैन-बौद्ध तत्व-ज्ञान पृ० ८४।
२—मज्झिमनिकाय, पृ० ३१—३३।
३—महापुराण २।३३   ४—तन्त्रालोक (भाग २), पृ० १४७-१५१।

गाथाओं मे एक 'Eros' नामक देवता का उल्लेख मिलता है, जिसे ग्रीस मे सृष्टि का उत्पादक माना जाता है और जो प्रेम का देवता है। इस Eros देवता को काम का उदात्त रूप माना जा सकता है।[1] इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान-शास्त्री फ्राइड ने काम को 'लिबिडो' (Libido) कहा है। फ्राइड का यह 'लिबिडो' केवल काम-वासना का ही प्रतीक नही है, अपितु वह इसे अत्यन्त व्यापक प्रेम का प्रतीक मानता है।[2]

अत उक्त विवेचन के आधार पर काम की विभिन्न श्रेणियाँ एव विभिन्न रूप ज्ञात होते हैं। क्योंकि यदि वह एक उत्कृष्ट देवता है, तो निकृष्ट देवता भी है। यदि वह सृजनात्मक शक्ति है, तो विसर्जनात्मक शक्ति भी है। यदि वह इच्छा, भोग, तृष्णा, आस्रव, कामना आदि है, तो प्रेरणाशक्ति, ज्ञानशक्ति, बोधशक्ति आदि भी है। साथ ही वह अनादि, अनन्त, सूक्ष्म, व्यापक प्रेम आदि भी माना गया है। अत सुगमता की दृष्टि से उसे पहले दो भागों में बाँटा जा सकता है—काम का आध्यात्मिक रूप और भौतिक रूप। पुन काम के भौतिक रूप को हम दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं—सृजनात्मक रूप और वासनात्मक रूप। इस तरह काम की तीन प्रमुख श्रेणियाँ बताई जा सकती हैं—(१) आध्यात्मिक काम, (२) सृजनात्मक काम, तथा (३) वासनात्मक काम।

कामायनी मे काम का स्वरूप

१. आध्यात्मिक काम—प्रथम श्रेणी के आध्यात्मिक काम को ही आध्यात्मिक प्रेम कह सकते हैं, क्योंकि भक्ति, ज्ञान एव उन्नत कर्मों के अनुष्ठान मे जिस कामना, लगन या भावना की आवश्यकता पडती है उसमें यही आध्यात्मिक काम विद्यमान रहता है। यही गीता का 'धर्माविरुद्ध' काम है। धर्मानुष्ठान में इसी काम द्वारा सफलता प्राप्त होती है। यही ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रेरक-शक्ति के रूप में विद्यमान है। यही उपनिषदों मे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का साधन बना हुआ है। शैवागमों का यही अज, अक्षर, स्वयभू एव शिवरूप है और यही जगत का कल्याण-कर्त्ता माना गया है। इसी आध्यात्मिक काम द्वारा भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि की सिद्धि होती है। यही सूफियों के प्रेम का प्रतीक है। इसी

1—Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion, Geography, History and Literature, pp. 146-147. —*Dowson*

२—मनोविज्ञान—सें० सिन्हा, पृ० ४३२।

के बारे मे कबीर ने लिखा है कि 'काम मिलावै राम को"[1] और इसी के द्वारा संसार में मान, प्रतिष्ठा, ख्याति पारलौकिक सुख, स्वर्ग, मोक्ष आदि की प्राप्ति होती है। इसी आध्यात्मिक काम को अपना लेने पर मानसिक संघर्ष समाप्त हो जाते हैं और जीवन मे समरसता आती है।

'कामायनी' मे आध्यात्मिक काम ही देवता के रूप मे अवतीर्ण होकर मनु का मार्ग-दर्शन करता है, अपने सभी रूपो की व्याख्या करता हुआ अपने धर्म-विरुद्ध रूप को अपनाने की सलाह देता है और ऐसा न करने पर मनु को शाप देता हुआ उनके अन्धकारपूर्ण भविष्य की रूप-रेखा समझाता है।[2] वही अन्त में मनु के हृदय मे आस्तिक्य भाव, सात्विकता, उदारता आदि जगाता हुआ अखण्ड आनन्द-प्राप्ति की भी प्रेरणा प्रदान करता है।

२. सृजनात्मक काम—दूसरी श्रेणी में सृजनात्मक काम आता है। यह काम का भौतिक रूप है और भौतिक दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्व है, क्योंकि सृष्टि के विकास का कार्य इसी काम द्वारा होता है। ऋग्वेद मे इसी काम को मन का रेतम् कहा है। ब्राह्मण-ग्रन्थो एवं उपनिषदो मे यही प्रजापति की इच्छा का रूप है, जिसके परिणामस्वरूप वह एक से अनेक होता है।[3] शैवागमों मे इसी को 'कामकला' कहकर ससार का उत्पादक बताया है। स्मृति-ग्रन्थों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अन्तर्गत जिस काम को मानव का पुरुषार्थ कहा गया है, वह भी यही सृजनात्मक काम है, क्योकि उचित अवस्था के आने पर इसी के सेवन का उपदेश धर्मग्रन्थो मे दिया गया है।[4] महाकवि कालिदास ने 'रघुवश' मे रघुवंशियो के जीवन-क्रम का जो उल्लेख किया है कि 'वे बचपन मे विद्योपार्जन करते थे, यौवनावस्था में केवल संतानोत्पत्ति के लिए काम का सेवन करते थे और वृद्धावस्था के आते ही वन मे जाकर तपश्चर्या मे लीन हो जाते थे'[5] इसमे भी काम के इसी सृजनात्मक रूप की चर्चा की गई है। अत: काम के सृजनात्मक रूप मे केवल काम का वही रूप आता है, जिसके द्वारा कल्याणकारी सृष्टि का विकास होता है, जो केवल सृजन के लिए ही आकर्षण उत्पन्न करता है और जिसके परिणाम-स्वरूप केवल संयमित जीवन व्यतीत करके युवावस्था मे ही 'काम' नामक पुरुषार्थ का सेवन किया जाता है। प्रसादजी ने इस सृजनात्मक काम का वर्णन करते हुए 'कामायनी' मे लिखा है :—

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ५१। २—कामायनी, पृ० ७१ और १६३।
३—ऐतरेय ब्राह्मण ४।४।२३ ४—मनुस्मृति २।२३४ ५—रघुवंश १।८

काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।[1]

इसके अनन्तर इस सृजनात्मक काम के आरम्भिक स्वरूप का विवेचन करते हुए प्रसादजी ने उसे मूलशक्ति बतलाया है और उसके अन्तर्गत रहने वाले आकर्षण मिलन, अनुराग, मादकता, प्रेम, आकांक्षा, तृप्ति आदि का सजीव चित्रण किया है।[2] इन चित्रणों द्वारा यह स्पष्ट पता चलता है कि आध्यात्मिक काम में तो एकमात्र सात्विकता ही रहती है, परन्तु सृजनात्मक काम में सतोगुण एवं रजोगुण—दोनों समन्वित रूप में रहते हैं।

३ वासनात्मक काम—तीसरी श्रेणी में वासनात्मक रूप आता है। काम का यही गर्हित एवं घृणास्पद रूप है। इसी के अन्तर्गत आसक्ति, विषयोपभोग की वासना, तृष्णा, अहंकार, दम्भ, दर्प क्रोध, परनिन्दा आदि आते हैं, जो आसुरी वृत्ति के परिचायक हैं। यही काम क्रोध-मद-मात्सर्य आदि षट् रिपुओं का जन्मदाता है और इसी को गीता में स्मृति-विभ्रम, बुद्धिनाश एवं सर्वस्वनाश करने वाला कहा है।[3] यही धर्म का विरोधी है और इसी के कारण न भक्ति होती है और न ज्ञान की प्राप्ति ही हो सकती है। इसी को जैन एवं बौद्ध धर्मानुयायियों ने 'आस्रव' कहा है। कबीरदास ने इसी काम को भक्ति का बिगाड़ने वाला, हीरा जैसे जन्म को नष्ट करने वाला, जीवात्मा के सार को खा जाने वाला आदि कहा है।[4] यही फ्राइड के 'ओडीपस कम्पलैक्स' का मूल है। वात्स्यायन ने भी इसी वासनात्मक काम के दो भेद किए हैं—सामान्य और विशेष। पाँच इन्द्रियों के पाँचों विषयों—स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और शब्द में प्रकृति-अनुकूल सुखद पदार्थों के अनुभव की इच्छा को सामान्य काम बतलाया है और जिसमें स्पर्श सुखानुभूति का प्राधान्य होता है, उसे विशेष काम कहा है।[5]

'कामायनी' में हमें इस वासनात्मक काम के सामान्य एवं विशेष दोनों रूप मिल जाते हैं। सामान्य काम की प्रवृत्तियों में जिन पाँच विषयों के प्रति आसक्ति देखी जाती है, कामायनी में इसी सामान्य काम को अपनाने के कारण ही मनु 'पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ, यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा"[6] आदि कहते हैं। उक्त पाँचों विषयों में प्रवृत्त कराने के कारण ही यह वासनात्मक काम

१—कामायनी, पृ० ५३। २—कामायनी, पृ० ७२-७४।
३—श्रीमद्भगवद्गीता १६।१६-२०, २।६२-६३
४—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ४०।
५—वात्स्यायन कामसूत्र १।२।११-१२ ६—कामायनी, पृ० ६६।

'पंचशर' कहलाता है और इसी का विनाश करने के लिए भगवान् शंकर का तीसरा नेत्र खुला था। 'कामायनी' में भी यह वासनात्मक काम मनु के हृदय में प्रविष्ट होकर जब उन्हें इड़ा के साथ अनैतिक आचरण करने की प्रेरणा देता हुआ अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है, तब यहाँ पर भी शंकर या रुद्र का तीसरा नेत्र खुल जाता है और वे मनु के हृदय में स्थित इस वासनात्मक काम को अपने नाराच या बाण द्वारा नष्ट कर देते हैं।[1]

वात्स्यायन ने वासनात्मक काम का जो दूसरा विशेष रूप बतलाया है और जिसमें स्पर्शसुखानुभूति की प्रतीति को महत्व दिया है, उसका वर्णन कामायनी के 'वासना' सर्ग में मिलता है। जहाँ मनु श्रद्धा का कर-स्पर्श करके उन्मत्त से होकर यह कहने लगते हैं :—

> आह ! वैसा ही हृदय का बन रहा परिणाम,
> पा रहा हूँ, आज देकर तुम्ही से निज काम।
> आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान,
> विश्वरानी ! सुन्दरी नारी ! जगत की मान।[2]

'कामायनी' में काम के इस वासनात्मक रूप का चित्रण बड़ी विशदता के साथ किया गया है। उसके स्वरूप एवं उसके परिणाम को दिखाकर प्रसादजी ने काम के इस वासनात्मक रूप अथवा विलासिता की निन्दा की है। देवों की सृष्टि का विनाश तो इसी वासनात्मक काम को अपनाने के कारण ही हुआ था, परन्तु मनु के पतन का कारण भी यही वासनात्मक काम बनता है। 'इड़ा' सर्ग में काम स्वयं आकर मनु को समझाता भी है कि 'तुम परिणय से प्राप्त होने वाले मेरे सुन्दर सृजनात्मक रूप को न अपनाकर जड़ देहमात्र के सौंदर्य में लीन रखने वाले मेरे वासनात्मक रूप को अपनाते रहे, जिससे तुम्हारे हृदय में स्वार्थ, लोभ, मोह, दम्भ, अबोधता आदि ने अपना घर बना लिया और तुम 'पूर्णकाम' न हो सके। अब तुम्हारा सारा प्रजातन्त्र शाप से भरा चलेगा, जिसमें निरन्तर पारस्परिक भेद, कोलाहल, कलह, असन्तोष, अविश्वास, अनिच्छिन्न दुसह खेद, एकता का विनाश, अभिलषित वस्तु से दूर रहना, एक-दूसरे को न पहचानना, सब कुछ पास भी हो परन्तु तुष्टि का सदैव दूर रहना आदि बने रहेंगे और तुम्हारी यही संकुचित दृष्टि तुम्हें अत्यन्त दुःख देगी।'[3]

सारांश यह है कि प्रसादजी ने 'कामायनी' में वासनात्मक काम की अत्यन्त निन्दा की है और सृजनात्मक काम को अपनाने का आग्रह किया है। इसका

१—कामायनी, पृ० १८५, २०२, २१६।
२—वही, पृ० ६२-६३। ३—वही, पृ० १६२-१६४।

कारण यह है कि सृजनात्मक काम में काम के उक्त तीनों रूप अत्यन्त सन्तुलित अवस्था में समन्वित रहते हैं, क्योंकि दाम्पत्य प्रेम के रूप में उसके अन्तर्गत काम का भौतिक रूप विद्यमान रहता है, जिसमें सृजन करने की इच्छा एवं वासना दोनों अत्यन्त सन्तुलित रूप में रहते हैं और समाज-सेवा, परोपकार, देश प्रेम, ईश्वर-भक्ति, ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा तथा अन्य सामाजिक कार्यों की अभिलाषा आदि के रूप में काम का आध्यात्मिक रूप उपस्थित रहता है। इस तरह सृजनात्मक काम में उक्त तीनों रूपों का सुन्दर समन्वय रहता है। इसी कारण प्रसादजी ने इसे 'पूर्ण काम' कहा है, और काम-पुत्री कामायनी या श्रद्धा को "पूर्णकाम की प्रतिमा"[1] बतलाया है, जिसमें हमें काम के आध्यात्मिक, सृजनात्मक एवं वासनात्मक—तीनों रूपों का सुन्दर एवं संतुलित साकार समन्वय मिलता है, क्योंकि वही श्रद्धा मानव-सृष्टि का विकास करने वाली है, वही मनु की अतृप्त आकांक्षा को तृप्त करती है और वही अन्त में मनु को सात्विकता सरलता, सेवा-भाव आदि से परिपूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने में पूर्ण सहायक सिद्ध होती है। यदि काम के उक्त तीनों रूपों में से सृजनात्मक काम का 'इच्छा' से, आध्यात्मिक काम का 'ज्ञान' से और वासनात्मक काम का 'क्रिया' से सम्बन्ध स्थापित करें, तो 'कामायनी' में जिस तरह इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय श्रद्धा के रूप में किया गया है, उसी तरह काम के उक्त तीनों रूपों का समन्वय करते हुए ही प्रसादजी ने इच्छा-ज्ञान-क्रिया-स्वरूपा त्रिपुरसुन्दरी श्रद्धा को पूर्ण काम की प्रतिमा कहा है। अत प्रसादजी ने जहाँ काव्य, संस्कृति और दर्शन सम्बन्धी विचारों में भौतिकता और आध्यात्मिकता अथवा प्रवृत्ति-निवृत्ति के समन्वय की स्थापना की है, वहाँ पर वे मनोविज्ञान के अन्तर्गत भी भौतिकता एवं आध्यात्मिकता अथवा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का समन्वय करते हुए काम का निरूपण करते हैं। इसी कारण उनका यह 'काम' शैवागमों की भाँति मंगलमय, श्रेयस्कर, अक्षर, व्यापक, विशुद्ध एवं विश्व का मूल है, इसी कारण उन्होंने काम की निन्दा न करके सर्वत्र वासना की निन्दा की है और इसी कारण वे काम को गर्हित, तुच्छ एवं हेय न मानकर सभी तरह से सृष्टि की प्रगति करने वाला मानते हैं।

बुद्धि और श्रद्धा का ज्ञान में सापेक्ष महत्व

ज्ञान का साधारण अर्थ है जानना, बोध, पदार्थ का ग्रहण करने वाली मन की वृत्ति, आत्म-साक्षात्कार आदि।[2] आगम शास्त्रों में यह वस्तु यही है, कुछ और नहीं है, इस तरह का सुनिश्चित बोध कराने वाली शक्ति को ज्ञान-शक्ति

१—कामायनी, पृ० २६०। २—वृहद् हिन्दीकोश, पृ० ४६६।

कहा गया है।[1] आगमों में ज्ञान के दो भेद किए गए हैं—प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान।[2] साधारण भाषा में हम उन्हें भौतिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान भी कह सकते हैं। न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमा कहा है और यथार्थ अनुभव को उसका लक्षण बताया है। वहाँ पर इस यथार्थ अनुभव के अतिरिक्त संशय, विपर्यय, तर्कज्ञान आदि को अयथार्थ ज्ञान या अज्ञान बतलाया है। साथ ही अनुभव को तो प्रमा के अन्तर्गत लिया है, परन्तु स्मृति को प्रमा के अन्तर्गत नहीं माना है।[3] अत. प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत यथार्थ अनुभव या भौतिक ज्ञान आता है तथा परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत स्मृति-ज्ञान को ले सकते हैं। उपनिषदों में ज्ञान को विद्या कहा है और विद्या दो प्रकार की बताई गई है—अपराविद्या तथा परा-विद्या। इसमें से अपराविद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि का ज्ञान आता है और अक्षर एवं अविनाशी ब्रह्म के ज्ञान को पराविद्या कहा है।[4] इनमें से प्रथम का सम्बन्ध स्पष्ट ही प्रत्यक्ष या भौतिक ज्ञान से है तथा दूसरे का सम्बन्ध परोक्ष या आध्यात्मिक ज्ञान से स्थापित किया गया है।

न्याय-शास्त्र में प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद किए गए हैं—निर्विकल्पक ज्ञान तथा सविकल्पक ज्ञान। नाम, जाति आदि की योजना से हीन ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान और नाम, जाति आदि की योजना-सहित ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान बताया गया है। वहाँ दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए यह क्रम बताया गया है कि जब आत्मा का मन से तथा मन का कान, चक्षु, जिह्वा, नासिका और त्वचा—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों से तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने अर्थ से सम्बन्ध होता है, तब पहले नाम, जात्यादि योजनाहीन निर्विकल्पक ज्ञान होता है और इसके अनन्तर किसी पदार्थ का नाम, जात्यादि योजना-सहित सविकल्पक ज्ञान होता है।[5] परन्तु इस पचेन्द्रिय ज्ञान से परे भी कोई ऐसा ज्ञेय तत्त्व है, जो पंचेन्द्रियों एवं मन आदि के द्वारा नहीं जाना जाता, उसी को उपनिषदों में परोक्ष ज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान कहा है, जो निश्चय, विश्वास, आस्तिक्य भाव आदि के द्वारा हृदय में प्रकट होता है,[6] जिसके प्रकट होते ही हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ भली-भाँति खुल जाती हैं, सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं और सभी शुभाशुभ कर्म भी क्षीण हो जाते हैं।[7]

१—तन्त्रालोक (भाग १), पृ० १६। २—अहिर्बुध्न्य संहिता १३।१३-१४
३—तर्कभाषा, पृ० ३। ४—मुण्डकोपनिषद् १।१।४-५
५—तर्कभाषा, पृ० ५-६। ६—कठोपनिषद् २।३।१३-१५
७—मुण्डकोपनिषद् २।२।८

अब देखना यह है कि इस परोक्ष या आध्यात्मिक ज्ञान मे बुद्धि और श्रद्धा का क्या महत्व है ? तैत्तिरीयोपनिषद् मे ब्रह्म को सत्य, ज्ञान एव अनन्त कहा है।[1] इसी सत्य का एक पर्यायवाची शब्द 'ऋत' और मिलता है, जिसके आधार पर 'अनृत' का अर्थ असत्य और 'ऋत' का अर्थ सत्य लगाया जाता है। यजुर्वेद मे इस ऋत या सत्य के अन्तर्गत श्रद्धा का निवास कहा गया है।[2] इतना ही नहीं, तैत्तिरीय ब्राह्मण मे श्रद्धा को इस ऋत मे ही सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाली बताया गया है।[3] अत. ऋत या सत्य से श्रद्धा का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है और जब ऋत या सत्य ही ज्ञान अथवा ब्रह्म है, तब ब्रह्मज्ञान या आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति मे भी श्रद्धा का सर्वाधिक योग दिखाई देता है। सम्भवत इसी कारण गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरित-मानस के प्रारम्भ मे ही लिखा है कि श्रद्धा-विश्वास के बिना सिद्धो को भी अपने हृदयस्थ ब्रह्म का साक्षात्कार नही होता।[4] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे इडा (बुद्धि) को ज्ञान एव चेतना प्रदायिनी माना है।[5] शिव-सूत्रो म स्पष्ट ही 'धीवशान् सत्व सिद्धि'[6] कहकर बुद्धि द्वारा ही सत्व या आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि होना बताया गया है। अत बुद्धि या इडा का भी आध्यात्मिक ज्ञान से सम्बन्ध जुड जाता है।

इस आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के विषय मे उपनिषदो मे अत्यन्त विस्तृत विवेचन मिलता है। छादोग्य उपनिषद् मे लिखा है कि "जिस समय मनुष्य मनन करता है, तभी वह विशेष रूप से जानता है, बिना मनन किये कोई नहीं जानता, अपितु मनन करने पर ही जानता है। अत मति या बुद्धि की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए। और जिस समय मनुष्य श्रद्धा करता है तभी वह मनन करता है, बिना श्रद्धा के कोई मनन नहीं करता, अपितु श्रद्धा करने वाला ही मनन करता है। अत श्रद्धा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।"[7] इस कथन से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति मनन पर निर्भर है, मनन मति या बुद्धि द्वारा होता है तथा यह मनन करने की प्रेरणा देने वाली श्रद्धा है, क्योंकि बिना श्रद्धा के कोई मनन नही करता। अत उपनिषदो के आधार पर हमे आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति मे श्रद्धा एव बुद्धि दोनो का सापेक्ष महत्व दिखाई देता है।

१—तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१ २—शुक्ल यजुर्वेद १९।७७
३—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।३।२
४—रामचरितमानस, बालकाड श्लोक २।
५—ऋग्वेद १०।११०।८ ६—शिवसूत्रविमर्शिनी ३।१२
७—छांदोग्य उपनिषद् ७।१८-१९

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता मे सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के आधार पर ज्ञान, बुद्धि, तथा श्रद्धा तीनो के तीन-तीन भेद किए गये हैं और उनमे से सात्विक ज्ञान सात्विकी बुद्धि एव सात्विकी श्रद्धा को श्रेष्ठ कहा गया है।[1] इसके साथ ही बताया गया है कि मनुष्य मे जैसी श्रद्धा होती है, वह उसी के अनुकूल सभी कार्य करता है, उसी के अनुसार उसकी बुद्धि बनती है, उसी के अनुकूल उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है, साथ ही ससार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी नही है। यह ज्ञान उसी को प्राप्त होता है, जो जितेन्द्रिय, तत्पर, एव श्रद्धावान होता है।[2] इसके अतिरिक्त श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में बुद्धि को व्यवसायात्मिका कहा गया है, जिसका अर्थ श्री शकराचार्य ने 'निश्चय स्वभावा' किया है।[3] अत गीता मे आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति मे जहाँ सात्विकी श्रद्धा का महत्व स्वीकार किया गया है, वहाँ सात्विकी बुद्धि द्वारा भी ज्ञान प्राप्ति होना सम्भव कहा गया है, क्योकि यह बुद्धि ही अपने निश्चय-स्वभाव के कारण *एक साधक को जितेन्द्रिय एव ज्ञान-प्राप्ति के लिए तत्पर होने की प्रेरणा* प्रदान करती है और इसी निश्चय-स्वभावा बुद्धि के द्वारा साधक अपनी साधना मे उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ श्रद्धा एव विश्वास के कारण उस अनन्त ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस कारण श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के अनुसार भी ज्ञान-प्राप्ति मे श्रद्धा और बुद्धि दोनो का सापेक्ष महत्व दिखाई देता है।

योगसूत्रकार पतजलि ने अपने योगदर्शन मे लिखा है कि 'श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा-इन सब उपायों द्वारा असप्रज्ञात योग सिद्ध होता है।'[4] इसका अभिप्राय यह है कि 'श्रद्धा चित्त का सप्रसाद है, वह योगी को कल्याणी माँ के समान पालती है। इस तरह श्रद्धायुक्त विवेकार्थी के वीर्य होता है। वीर्यवान् को स्मृति उपस्थित होती है। स्मृति की उपस्थिति से चित्त अनाकुल होकर समाहित होता है। समाहित चित्त ही समाधि है, समाहित चित्त मे ही प्रज्ञा, विवेक या विशिष्टता उत्पन्न होती है और विवेक से ही योगी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं।'[5] इस तरह श्रद्धा को हम ज्ञान का मूलाधार कह सकते हैं और उसके द्वारा ही पुष्ट होकर प्रज्ञा या विवेक-बुद्धि ज्ञान को प्राप्त करती है। अतः योगदर्शन के मतानुसार भी ज्ञान मे बुद्धि और श्रद्धा का सापेक्ष महत्व सिद्ध होता है।

१—श्रीमद्‌भगवद्‌गीता १८।२०-२२, ३०-३२, १७।२

२—वही, १।७३, ४।३८, ४।३९

३—वही, शंकराचार्यकृत टीका, पृ० ४५।

४—पातंजलि योगदर्शन १।२०   ५—पातजलि योगदर्शन, पृ० ४४।

शैवग्रन्थो मे ज्ञान तीन प्रकार का बताया गया है, जो क्रमश आणवज्ञान, शाक्तज्ञान एव शाम्भवज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है। इनमे से आणवज्ञान को भेदज्ञान, शाक्तज्ञान को भेदाभेदज्ञान और शाम्भवज्ञान को अभेदज्ञान कहा गया है।[1] आणव या भेदज्ञान वह है जिसमे सासारिक मल एव बाह्याचारों का अवलम्बन करके बुद्धि विकल्पपूर्ण रहती है और शाक्त अथवा भेदाभेदज्ञान वह है जिसम बुद्धि से सामारिक मल तो दूर हो जाते हैं, इस कारण अभेदता आ जाती है, किन्तु बुद्धि विकल्पात्मक बनी रहती है। इसी से उसमें भेदता भी रहती है,[2] परन्तु शाम्भव या अभेद ज्ञान वह है जहां बुद्धि मे किसी प्रकार के भी विकल्प नही रहते और पूर्णतया निर्विकल्प होकर उसका आनन्द-शक्ति मे पर्यवसान हो जाता है।[3] इसी ज्ञान को श्रेष्ठ एव परमज्ञान कहा गया है और यही शैवागमो की 'अनुत्तरावस्था' है।[4] इतना ही नहीं, इन तीनो का सम्बन्ध इच्छा, ज्ञान और क्रिया से भी है क्योकि ये तीनो शिव की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं। इनम से आणव ज्ञान म क्रिया की प्रधानता रहती है, जिससे भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है। शाक्त मे क्रिया एव ज्ञान की प्रधानता रहती है, जिससे भेद और अभेद दोनो प्रकार की बुद्धि रहती है और शाम्भव में केवल इच्छा की प्रधानता रहती है,[5] इसी कारण भेद का नाश होकर अभेद बुद्धि ही शेष रह जाती है और हृदय में 'शिवोऽहम्' की अनुभूति होने लगती है। उस समय इच्छा, ज्ञान एव क्रिया तीनो का समन्वय हो जाता है, बुद्धि के समस्त विकल्प समाप्त हो जाते हैं और हृदय में आनन्दानुभूति होने लगती है। यही शैवदर्शन का परमज्ञान है, जिसमें बुद्धि एव हृदय दोनो का समन्वय हो जाता है, क्योंकि यहाँ आकर बुद्धि के समस्त विकल्पो का हृदय में ही पर्यवसान हो जाता है। इसके अतिरिक्त तन्त्रो में जहाँ-जहाँ ध्यान, धारणा, समाधि आदि का वर्णन मिलता है, वहाँ-वहाँ यह भी बतलाया गया है कि योगी को अनन्य बुद्धि से हृदय में ही शिव, सूर्य, कमल या चन्द्र आदि के बिम्ब का ध्यान करना चाहिए। इस तरह ध्यान करते-करते धारणा स्थिर हो जाती है, उसकी समाधि लग जाती है और समाधि के उपरान्त वह शिवत्व या परमज्ञान को प्राप्त कर लेता है।[6] यहाँ पर ध्यान का सम्बन्ध बुद्धि से है और उस ध्यान का स्थान हृदय बताया गया है। अत बुद्धि और हृदय या श्रद्धा—दोनो ज्ञान-प्राप्ति में।

१—तन्त्रालोक (भाग १), पृ० २४८। २—तन्त्रालोक (भाग १), पृ० १४२
३—वही, पृ० २३६। ४—वही, पृ० २४६।
५—वही, पृ० २५५।
६—मालिनीविजयोत्तरतन्त्र १६।२, ५, १२, ३०

सहायक होती हैं। 'त्रिपुरा रहस्य' में भी "सतर्कजनिता श्रद्धा प्राप्येह फलभाङ् नरः"[1] अर्थात् सतर्कजन्य श्रद्धा को प्राप्त करके ही कोई व्यक्ति सफल होता है, यह कहकर सतर्क का सम्बन्ध सद्बुद्धि से जोड़ा गया है। अतः बुद्धियुक्त श्रद्धा से ही कोई व्यक्ति सफलता या ज्ञान प्राप्त करता है, अन्ध-श्रद्धा से नहीं। इसी कारण शैवागमों के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि ज्ञान-प्राप्ति में बुद्धि एवं श्रद्धा—दोनों का सापेक्ष महत्व है।

अब यदि 'कामायनी' की ओर दृष्टि डालें, तो उसके अनुशीलन से एक साधारण पाठक को यही ज्ञात होता है कि प्रसादजी ने केवल श्रद्धा द्वारा ही मन या मनु को ज्ञान की प्राप्ति करायी है, क्योंकि बुद्धि या इड़ा के समीप रहने पर तो मनु और भी अज्ञानांधकार में डूब जाते हैं। परन्तु विमल ज्योति-स्वरूपा श्रद्धा आकर जब उन्हें पुनः सँभालती है और अपने साथ कैलाश-गिरि की उन्नत चोटी पर ले जाती है, तभी मनु को आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि बुद्धि या इड़ा द्वारा मनु को ज्ञान प्राप्त नहीं होता, अपितु श्रद्धा द्वारा ही उन्हें सच्चे ज्ञान एवं अखंड आनन्द की प्राप्ति होती है। परन्तु तनिक गंभीरतापूर्वक विचार करें, तो यही ज्ञात होगा कि मन या मनु की ज्ञान-प्राप्ति में श्रद्धा और बुद्धि या इड़ा दोनों का हाथ है। क्योंकि मनु को सर्वप्रथम प्रत्यक्ष ज्ञान या भौतिक ज्ञान की जानकारी प्राप्त कराने का श्रेय बुद्धि या इड़ा को ही है। वह प्रथम भेंट के अवसर पर तुम 'जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय'[2] कहकर मनु को वैज्ञानिक उन्नति की ओर अग्रसर करती है। आगे चलकर उसकी प्रेरणा के अनुसार मनु कार्य करते हैं और वे सारस्वत नगर की श्री-वृद्धि करते हुए भौतिक ज्ञान-विज्ञान में पर्याप्त उन्नति करते हैं। परन्तु उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। वे विज्ञानमयी बुद्धि के द्वारा भौतिक ज्ञान की चरम सीमा पर तो पहुँच जाते हैं, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में उन्हें सुख, संतोष, तृप्ति, शान्ति आदि का अनुभव नहीं होता और जब भौतिक विज्ञान की प्रेरक बुद्धि द्वारा मनु इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि इससे न तो मुझे तृप्ति हुई है और न आनन्द या सुख ही मिला है, तभी वे श्रद्धा की ओर उन्मुख होकर आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आतुर होते हैं। अतः श्रद्धा की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा बुद्धि या इड़ा में ही मिलती है, क्योंकि भौतिक उन्नति के दुष्परिणाम को दिखलाने का कार्य यदि बुद्धि या इड़ा न करती, तो कभी मनु वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए लालायित न होते। अतः मनु की ज्ञान-

---

१—त्रिपुरा-रहस्य, ज्ञान-खंड ७।३ २—कामायनी, पृ० १७१।

प्राप्ति म श्रद्धा के साथ-साथ बुद्धि या इडा का भी महत्व हमें मानना पडेगा।

इसके अतिरिक्त कामायनी म प्रसादजी न सारस्वत नगर की पुन श्री वृद्धि दिखलाई है और उस श्री-वृद्धि मे श्रद्धा-पुत्र कुमार तथा इडा या बुद्धि दोनो का सतुलित सहयोग दिखलाया है। दोना के प्रयत्नो स ही 'समरसता' का प्रचार होता है और फिर सारस्वत नगर म एक कुटुम्ब-सा स्थापित हो जाता है, जिसमे न कही कोई कलह है और न कोई सघर्ष। इसके विषय मे श्रद्धा ने पहले ही अपन पुत्र को यह शिक्षा दी थी —

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय
इसका तू सब सताप निचय, हर ले, हो मानव भाग्य उदय
सबकी समरसता कर प्रचार, मरे सुत ! सुन माँ की पुकार।[1]

प्रसादजी के उक्त कथन म स्पष्ट ही श्रद्धा और इडा अथवा श्रद्धा एव बुद्धि दोनो के महत्व की स्वीकृति दिखलाई द रही है, क्योंकि वे 'समरसता' के लिए दोनों की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। यह 'समरसता' ही शैवागमो की अखड आनन्दावस्था है।[2] और इसी को प्रसादजी ज्ञान की चरमावस्था अथवा वास्तविक ज्ञान का स्वरूप मानते हैं। इसके लिए प्रसादजी ने तर्कशीला बुद्धि एव श्रद्धा दोनो का सम्मिलन एक बार तो सारस्वत नगर की व्यवस्था के लिए कराया है और दूसरी बार इडा जब अपने समस्त कुटुम्ब के साथ कैलाश पर मनु के समीप पहुँचती है और श्रद्धा एव मनु जब इडा तथा अपन कुमार से पुन मिलते हैं, तब प्रसादजी मनु से इस 'समरसता' की ओर सकेत कराते हैं।[3]

अत मनु को इस आध्यात्मिक ज्ञान या अखड आनन्द की उपलब्धि उसी समय होती है जबकि इडा या बुद्धि अपने कुटुम्ब को लेकर मनु एव श्रद्धा के समीप पहुँचती है। इससे पहले वे श्रद्धा के साथ केवल तपस्या म लीन रह आते हैं और तन्मय होकर जीवन व्यतीत करते हैं। इस कारण जहाँ श्रद्धा उन्हें ज्ञान-प्राप्ति के लिए तन्मय होने एव समाधि मे सलग्न रहने की प्रेरणा देती है, वहाँ बुद्धि या इडा के आगमन द्वारा मनु को 'समरसता' या आनन्दानुभूति की प्राप्ति होती है। यहाँ पर इडा पूर्णतया प्रज्ञा के समान है और इस प्रज्ञा के प्राप्त होने हीं मनु को यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ है। जैसा कि योग-दर्शन के टीकाकार श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य ने भी लिखा है कि 'श्रद्धा से

१—कामायनी, पृ० २४४। २—तत्रालोक (भाग २), पृ० २८-२९।
३—कामायनी, पृ० १८८।

वीरत्व होता है । जिनकी जिस विषय मे अच्छी श्रद्धा नही रहती, वे उस विषय में वीरत्व नही कर सकते । वीरत्व अथवा बार-बार कष्ट सहन पूर्वक चित्त को एकाग्र करते-करते चित्त मे स्मृति होती है । स्मृति ध्रुवा या अचला होने से समाधि होती है । समाधि में प्रज्ञा-लाभ और प्रज्ञा के द्वारा हेय पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होकर निर्विकार द्रष्ट पुरुष मे स्थित या कैवल्य-सिद्धि होती है ।'[1] इस कथन के आधार पर जब हम कामायनी' पर विचार करते हैं, तब पता चलता है कि सारस्वत नगर मे जिस समय श्रद्धा पुन मनु के समीप आती है, उसी समय श्रद्धा को देखकर मनु के हृदय मे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति के लिए वीरत्व की भावना उदय होती है और वे श्रद्धा के साथ-साथ कैलाश की ऊँचाई पर चढने के कष्टो को भी साहस के साथ सहन करते हैं । जब कुछ कष्ट सहन करके वे कैलाश की उच्च शिखर पर पहुँच जाते हैं और वहाँ से इच्छा, कर्म तथा ज्ञान के तीनो लोको का पृथक्-पृथक् व्यवहार देख लेते हैं, तब उनके चित्त मे स्मृति होती है और अपने जीवन की विडम्बना का भी पूरा चित्र उनके सामने अंकित हो जाता है । किन्तु स्मृति के अचल हो जाने पर वे समाधि मे लीन हो जाते हैं । उधर इच्छा, क्रिया और ज्ञान का भी समन्वय हो जाता है । अतः उनका चित्त समाधि मे तन्मय दिखाई देने लगता है । इस समाधि के उपरान्त ही 'आनन्द' सर्ग मे इडा बुद्धि अपने परिवार के साथ मनु के समीप आती है । यहीं मन रूपी मनु को समाधि के उपरान्त प्रज्ञा-लाभ होता है । जब वुद्धि या प्रज्ञा की भी प्राप्ति हो जाती है, तब उन्हें वास्तविक या यथार्थ ज्ञान की भी प्राप्ति होती है और वे कैवल्य-सिद्धि-स्वरूप समरसता के अखण्ड आनन्द का अनुभव करने लगते हैं । जैसा कि 'कामायनी' के 'आनन्द' सर्ग के अन्त मे लिखा भी है :—

> समरस थे जड या चेतन सुन्दर साकार बना था,
> चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था ।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने 'कामायनी' मे केवल श्रद्धा द्वारा ही मनु को ज्ञान प्राप्त होते हुए नही दिखाया है, अपितु इडा या बुद्धि भी मनु की ज्ञान-प्राप्ति मे अपना उचित योग प्रदान करती है । इडा या बुद्धि के द्वारा ही वे भौतिक संघर्ष के वास्तविक रूप से परिचित होते हैं, इसी के द्वारा उनके मस्तिष्क का विकास होता है, इसी के सहारे वे नियामक, शासनकर्ता एवं प्रकृति पर भी अपना अधिकार स्थापित करने वाले बनते हैं और इस बुद्धि की प्रेरणा से ही वे निर्वेद को प्राप्त होकर पुन श्रद्धा के निकट पहुँचते हैं । यदि इडा

१—पातंजलि योगदर्शन, पृ० ८६–८७ ।

या बुद्धि उन्हे विज्ञानमय न बनाती, यदि इडा की प्रेरणा से वे भौतिक विज्ञान की उच्च शिखर पर न पहुंचते और वहां पहुँचकर अतृप्ति, असन्तोष आदि का अनुभव न करते, तो यह कदापि सम्भव न था कि मनु यथार्थ ज्ञान-प्राप्ति की ओर उन्मुख हो पाते। इसी कारण आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति मे श्रद्धा का योग-दान अधिक है, तो उसकी पृष्ठभूमि के निर्माण करने मे इडा या बुद्धि का भी योगदान कम नही है। इसीलिए ये दोनो ज्ञान की पूरक हैं और इससे यही सिद्ध होता है कि प्रसादजी ने 'कामायनी' के अन्तर्गत ज्ञान-प्राप्ति के लिए बुद्धि एव श्रद्धा—दोनो का सापेक्ष महत्व स्वीकार किया है।

प्रकरण ७

कामायनी की दार्शनिकता

निगमों और आगमों का स्वरूप—निगम शब्द 'नि' उपसर्गपूर्वक गम् धातु से अण् प्रत्यय करने पर बना है। विश्व-कोष मे इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—'निगम्यते ज्ञायतेऽनेनेति निगम' अर्थात् जिससे कुछ जाना जाता है, वह निगम है और इसका शब्दार्थ वेदशास्त्र किया है। यास्क ने भी ऋग्वेद की अनुक्रमणिका मे "आद्य नैघंटुकं काण्डं द्वितीय नैगम तथा" कहकर निगम का अर्थ वेद किया है।[1] इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र ने तत्ववैशारदी मे आगम शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनि:श्रेयसोपाया. स आगम'।' अर्थात् आगम वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि मे आते हैं। इस व्युत्पत्ति से भी आगम और निगम का भेद स्पष्ट हो जाता है अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप को 'निगम' (वेद) बताता है तथा इनके साधन-भूत उपायों को आगम सिखाता है।[2] 'आगमो' को तन्त्र भी कहा जाता है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी निगम और आगम का भेद करते हुए लिखा है कि 'हिन्दुओं मे धार्मिक विचारों, दर्शन,

---

१—हिन्दी विश्व-कोष (भाग ११), पृ० ७३२—सं० नगेन्द्रनाथ वसु।

२—आर्य-संस्कृति के मूलाधार, पृ० ३०५

उपासना-पद्धतियो तथा अन्य क्रियाओ के आधार पर दो भेद मिलते हैं—निगम और आगम। निगम से तात्पर्य वैदिक विचारो से है, जिसमे वैदिक यज्ञ, कर्मकाण्ड, होम आदि आते हैं। आगम से तात्पर्य तान्त्रिक एव पौराणिक रहस्यमय धर्म से है। निगम-धर्म ही शुद्ध वैदिक है, जबकि आगम-धर्म पर केवल वैदिक प्रभाव ही दिखाई देता है।[1]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से निगम और आगम दोनो पर्यायवाची शब्द हैं और तान्त्रिक ग्रन्थो मे दोनो समान अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। वहाँ केवल इतना ही भेद है कि जिन ग्रन्थो मे एक शिष्या की भाँति पार्वती प्रश्न करती हैं और एक गुरु की भाँति शिव उन प्रश्नो का उत्तर देते हैं, उन्हे तो 'आगम' कहते हैं तथा जहाँ पर शिव प्रश्न करते हैं और एक गुरु की भाँति पार्वती उत्तर देती हैं उनको 'निगम' कहते हैं।[2] किन्तु यह बात तन्त्रो तक ही सीमित है। सर्वसाधारण म 'आगमो' से तन्त्रशास्त्र का ही अर्थ लिया जाता है और 'निगम' वेदशास्त्रो को कहते हैं। इसके अतिरिक्त मेरुतन्त्र मे स्पष्ट ही तन्त्रो आगमो को वेद का एक अग कहा है। इसके साथ ही कौलार्णव तन्त्र मे भी लिखा है कि वेद-विद्या से महान् और कोई विद्या नही है तथा कौलदर्शन से महान् कोई दर्शन नहीं है।[3] मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने भी यही लिखा है कि श्रुति दो प्रकार की है—वैदिकी और तान्त्रिकी।[4] इस आधार पर आगम या तन्त्र भी वेदों के ही अग प्रतीत होते हैं।

उक्त विवेचन के आधार पर 'निगम' शब्द वेद का तथा 'आगम' शब्द तन्त्र का पर्यायवाची सिद्ध होता है। अत वेदो के आधार पर विकसित ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि ग्रन्थो को 'निगम' कहा जाता है और तन्त्रों के आधार पर विकसित कामिक, योगज, चिन्त्य, स्वच्छन्द, नेत्र, मृगेन्द्र, मातग, विज्ञान-भैरव आदि ग्रन्थो को 'आगम' कहा जाता है। भारतवर्ष मे निगमों एव आगमो पर आधारित विचारधारायें अत्यत प्राचीन काल से प्रवाहित होती हुई लक्षित होती हैं। कुछ विद्वानो का विचार है कि उक्त दोनो धारायें दर्शन के इतिहास मे आदिकाल के अन्तर्गत ही मिल जाती हैं और दोनों ही पूर्णतया

1—The Vedic Age, pp. 159–160

2—A History of Indian Literature., Vol. I, p 592.

3—Dr C Kunhan Raja Presentation Volume, p. 75.

४—वही, पृ० ७५।

स्वतन्त्र एवं परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध प्रवाहित हुई हैं।[1] इसके विरुद्ध कुछ विद्वानों की राय यह है कि निगमों की विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है और आगमों का विकास निगमो के अन्तर्गत आने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों से उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार कि उपनिषद्-ग्रन्थों का माना जाता है। परन्तु ये आगम-ग्रन्थ उपनिषदो के कुछ बाद मे ही विकसित हुए हैं।[2] इसके अतिरिक्त विद्वानो का एक तीसरा विचार और मिलता है। उसके आधार पर यह ज्ञात होता है कि आगमों का निर्माण उपनिषदो की व्याख्या करने तथा उनके विचारों को विकसित करने के लिए हुआ है। इन दोनों का सम्बन्ध उसी प्रकार है जैसे ईसाईयों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल के प्राचीन एवं नवीन (Old Testament and New Testament) दोनों रूपों का है, क्योंकि नवीन रूप प्राचीन रूप पर ही आधारित है। इस प्रकार उपनिषदों में केवल जिज्ञासा उत्पन्न की गई है और आगमों में उसकी पूर्ति की गई है। उपनिषदो में केवल चर्या, क्रिया और योग का ही वर्णन है, जबकि आगमों में इनके अतिरिक्त ज्ञान का भी वर्णन मिलता है। उपनिषदों मे केवल जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्यावस्था का ही उल्लेख मिलता है, जबकि आगमों में उनके आगे 'तुर्यातीत' नामक पाँचवीं अवस्था का और उल्लेख किया गया है।[3] इस तरह आगम ग्रन्थ उपनिषदों के ही विकसित रूप हैं।

निगमों अथवा वैदिक ग्रन्थों से आगमों को पृथक् मानने वालों मे वे विद्वान् आते हैं, जो आगमों को सर्वप्रथम तामिल भाषा मे लिखा हुआ मानते हैं। उनका मत है कि सर्वप्रथम आगम-ग्रन्थ तामिल भाषा में ही थे, किन्तु जब उनका संस्कृत रूपान्तर हुआ, तब संस्कृत जानने वाले विद्वानों ने उनमें वैदिक विचारों का समावेश कर दिया, यह कुछ तो स्वाभाविक रूप से हुआ और कुछ जान-बूझकर राजनीतिक कारणों से किया गया। कालान्तर मे तामिल भाषा के मूल ग्रन्थ तो लुप्त हो गये और आज केवल संस्कृत भाषा के ग्रन्थ ही प्राप्त हैं, जिन्हें देखकर उनका विकास आज निगमों से ही जान पड़ता है।[4] अतः इन विद्वानों का विचार है कि शैवमत के ये आगम वेदों

1—The Sivadvaita of Srikantha, p. 1.
— *S S Suryanarayana Sastri.*

२—वही, पृ० २।
३—वही, पृ० ६।
४—वही, पृ० ४।

से पूर्णत भिन्न थे। वे 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति ही यह करते हैं कि 'आगम' का अर्थ आना है। अत जो वस्तु परम्परा से अथवा स्वय सर्वोच्च सत्ता या शिव से आई है या प्राप्त हुई है, उसे 'आगम' कहा जाता है। इस कारण आगमो को वेदो की भाँति ही प्रामाणिक एव प्राचीन मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त आगमो मे वैदिक क्रियाओ के विरुद्ध शिक्षा दी है और वेदों को पढने का अधिकार केवल द्विजातियो को ही है, जबकि आगम ग्रन्थो को सभी व्यक्ति और सभी जातियाँ पढ सकती हैं।[१] इससे सिद्ध है कि वेदों या निगमों से आगम सर्वथा पृथक् हैं।

दूसरे तथा तीसरे मत वाले विद्वानो मे केवल इतना ही अन्तर है कि प्रथम तो आगमो को उपनिषदो के साथ ही विकसित होता हुआ मानते हैं और दूसरे उपनिषदो के उपरान्त आगमो का विकास सिद्ध करते हैं, परन्तु दोनों मत वाले विद्वान् अधिकाश आगमो का विकास वैदिक ग्रन्थो या निगमो के आधार पर ही मानते हैं। दक्षिण के विद्वानो मे तिरुमुलर, श्रीकठ, हरदत्त शिवाचार्य आदि विद्वान् आगमो तथा निगमो मे कोई विशेष अन्तर नही मानते। तिरुमुलर का कथन है कि "आगमों एव वेदो में सत्य भरा हुआ है और दोनो ही ईश्वर के शब्द हैं। वेदो मे साधारण और आगमो मे विशेष सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है। देखने मे दोनो भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु वैसे दोनो ही अभिन्न हैं।"[२] श्रीकण्ठ भी यही कहते हैं कि "वेदों तथा आगमो में कोई विशेष अन्तर नहीं है, दोनों में ही ईश्वर की वाणी का सग्रह है। केवल अन्तर इतना ही है कि आगमों को सभी लोग पढ सकते हैं, जबकि वेद केवल द्विजातियों के लिए ही बने हैं।"[३] श्री हरिदत्त शिवाचार्य ने अपने तात्पर्यसग्रह ग्रन्थ में पूर्णरूप से यह प्रतिपादन किया है कि आगमो तथा वेदो के विचारों में कोई अन्तर नहीं और आगमो के विचारो का स्रोत वेद ही हैं। कुछ आगम ग्रन्थों में भी यही बात मिलती है कि आगमो का विकास वेदो के आधार पर ही हुआ है। जैसे सुप्रभेदागम मे 'सिद्धान्तो वेदशास्त्रवत्' तथा मुकुटागम मे 'वेदान्तार्थमिद शास्त्र सिद्धात परम मतम्' कहकर आगमों को वेदों का ही विकसित रूप बताया गया है।[४] इनके अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने भी अपने तत्रालोक में यह स्पष्ट लिखा है "सभी मनुष्य वेद-मार्ग के अनुयायी हैं, परन्तु जो आगम वेद-

---

१—शैव परिभाषा—भूमिका, पृ० ४-५।

2—The Sivadvaita of Srikantha, p 9

३—वही, पृ० ६।

४—लिंगधारण-चन्द्रिका—भूमिका, पृ० ०६७।

बाह्य कहलाता है वह वंचक है।"[1] अतः आगमों का विकास वेद-बाह्य नहीं अपितु वेदों के आधार पर ही हुआ है।

तीसरे मत के मानने वालों में डा० वी० वी० रामनन शास्त्री का नाम प्रसिद्ध है। उनका विचार है कि आगमों में केवल उपनिषदों के विचारों का ही विकास है और उनके अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र विचारधारा नहीं है।[2]

उपर्युक्त तीनों विचारधाराओं के आधार पर आज यही ज्ञात होता है कि जो आगम-ग्रन्थ भारतवर्ष में प्रचलित हैं, उनका विकास पहले भले ही स्वतन्त्र रूप से हुआ हो परन्तु आज वे निगमों से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। उनमें भी वैदिक क्रियाओं का ही वर्णन है। वे भी वेदों या निगमों से ही अनुप्राणित हैं। प्रसादजी ने भी इसी मत को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "श्रुतियों का और निगम का काल समाप्त होने पर ऋषियों के उत्तराधिकारियों ने आगमों की अवतारणा की "आगम के अनुयायियों ने निगम के आनन्दवाद का अनुसरण किया, विचारों में भी और क्रियाओं में भी।"[3]

मुख्यतः आगम-ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त किए जाते हैं, जो शैव, वैष्णव तथा शाक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। शैवागमों में शिव को, वैष्णवागमों में विष्णु को तथा शाक्तागमों में शक्ति को सर्वोपरि सिद्ध किया गया है। शैव और शाक्तागमों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का वर्णन करने वाले शिव ही माने जाते हैं, जिन्होंने पार्वती या अपने पुत्र षण्मुख से ये आगम सम्बन्धी विचार कहे हैं।[4]

शैवागमों का प्रचार भारत के उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों भागों में पाया जाता है। दक्षिणी भारत में मुख्यतः २८ आगमों को अधिक प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक माना जाता है, जो दो भागों में विभक्त हैं। उनमें से १० आगमों को शिव द्वारा कहा हुआ माना जाता है और शेष १८ आगमों को रुद्र द्वारा कहा हुआ बतलाया जाता है। जो इस प्रकार हैं:—

शिव द्वारा कथित आगम—(१) कामिक, (२) योगज, (३) चिन्त्य, (४) कारण, (५) अजित, (६) दीप्त (७) सूक्ष्म, (८) साहस्रक, (९) अंशुमान, (१०) सुप्रभ।

रुद्र द्वारा कथित आगम—(११) विजय, (१२) निश्वास, (१३) स्वायं-

१—तन्त्रालोक (भाग ४), पृ० २४२।

२—सिंगधारण-चंद्रिका—भूमिका, पृ० २६७।

३—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४५।

४—सिंगधारण-चंद्रिका—मोदक, पृ० २३०।

मुख, (१४) आग्नेयक, (१५) भद्र, (१६) रौरव, (१७) माकुट, (१८) विमल (१९) चन्द्रहास, (२०) मुख्युगबिम्ब, (२१) उद्गीत, (२२) ललित, (२३) सिद्ध, (२४) सन्तान, (२५) नारसिंह, (२६) परमेश्वर, (२७) किरण, (२८) पर या पारहिता ।[1]

इनके अतिरिक्त उत्तरी भारत में जिन शैवागमों की प्रामाणिकता मानी जाती है, उनकी सख्या भी पर्याप्त है। जिनमें से कुछ प्रमुख आगम ये हैं :—

(१) मालिनीविजयोत्तर, (२) स्वच्छद, (३) विज्ञान भैरव, (४) उच्छुष्म भैरव, (५) आनन्द भैरव, (६) मृगेन्द्र, (७) मतग, (८) नेत्र, (९) नैश्वास, (१०) स्वायभव (११) रुद्रयामल ।[2]

इस तरह शैवागमों के अनेक ग्रथ प्रसिद्ध है। शैवागमों की ही भांति वैष्णवागमों की सख्या पर्याप्त मात्रा में बताई जाती है। प० राजबली पांडेय का मत है कि वैष्णवागमो की सख्या १८ है, जो पाचरात्र आगम के नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णवागमों को पांचरात्र इसलिए कहा जाता है कि यहाँ पर प्रमुख पाँच तत्वों का निरूपण किया गया है, जो वासुदेव, सकर्षण प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और ब्रह्मा कहलाते हैं। इनमे से वासुदेव को ही परब्रह्म कहा जाता है और उनसे ही शेष तत्वों का विकास हुआ है।[3] श्री बलदेव उपाध्याय का मत है कि वैष्णवागमो की सख्या २१५ है।[4] परन्तु अभी तक १३ ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) अहिर्बुध्न्य सहिता, (२) ईश्वर सहिता, (३) कपिजल सहिता, (४) जयाख्य सहिता, (५) पराशर सहिता, (६) पाद्मतन्त्र, (७) बृहद् ब्रह्म सहिता, (८) भारद्वाज सहिता, (९) लक्ष्मीतन्त्र, (१०) विष्णुतिलक, (११) श्री प्रश्न सहिता, (१२) विष्णु सहिता, (१३) सात्वत सहिता ।[5]

वैष्णवागमों के अतिरिक्त शाक्तागमों की सख्या भी हजार से ऊपर बतलाई जाती है। परन्तु शाक्तपूजा-पद्धति अत्यन्त गोपनीय एव गुरुमुखैकगम्य होने के कारण शाक्तों की यह धारणा है कि शाक्त-तन्त्रों के प्रकाशित हो जाने पर अनर्थ होने की अधिक सभावना है। इसी कारण शाक्तागम अधिक प्रकाशित नहीं हुए

1—The Sivadvaita of Srikantha, pp 9–10

2—Kashmir Shaivaism, Part I, p 8.

३—कल्याण—वेदान्त ग्रक, पृ० ३३४–३३६ ।

४—भारतीय दर्शन, पृ० ४५६ ।   ५—वही, पृ० ४५९–४६० ।

है। इतना अवश्य है कि शाक्तों का साहित्य भी अत्यंत विस्तृत जान पड़ता है। अभी तक जो शाक्तागम प्रकाशित हुए हैं, उनमे से ये प्रसिद्ध हैं :—

(१) *कुलचूडामणि*, (२) *कुलार्णवतन्त्र*, (३) *तन्त्रराज*, (४) *काशीविलास*, (५) ज्ञानार्णव, (६) वामकेश्वर, (७) महानिर्वाणतन्त्र, (८) रुद्रयामल, (८) *त्रिपुरा रहस्य*, (१०) *दक्षिणामूर्ति संहिता*।[1]

इस तरह आगम-ग्रन्थो की संख्या पर्याप्त है। इन आगम ग्रन्थों मे अपने विषय का प्रतिपादन चार भागों मे विभक्त करके किया गया है, जो ज्ञान, क्रिया, योग और चर्या कहलाते हैं।[2] भगवान् का जानना ही ज्ञान है और इसी ज्ञान से मुक्ति मिलती है। अतः प्रथम ज्ञानपाद में भगवान् या परब्रह्म अथवा परम-शक्ति को जानने के लिए दार्शनिक विचारो का संग्रह किया गया है। दूसरे क्रियापाद में मन्दिर निर्माण के लिए भूमि जोतने से लेकर मूर्ति-स्थापना तक की विधियाँ आती हैं। योगपाद मे चित्त को असुब्ध करके किसी एक विषय में स्थिर करने की विधि का वर्णन मिलता है और चतुर्थ चर्यापाद में पूजाविधि का विधान बतलाया गया है।[3] लगभग सभी आगम-ग्रन्थों में इसी प्रकार के चार पादों मे अपने विषय का विवेचन मिलता है।

इसके अतिरिक्त सभी आगमों में जीव या पशु, बंधन या पाश और ईश्वर या पशुपति का विवेचन मिलता है। क्योकि सभी ने जीव या पशु की स्थिति *का विवेचन करके, उसके ऊपर पड़े हुए बंधनो या पाशो को समझाया है तथा* उनसे मुक्त होने के लिए ईश्वर या पशुपति के स्वरूप को समझाया है। मृगेन्द्रतंत्र मे लिखा भी है कि "समस्त महातन्त्रो मे तीन पदार्थों अर्थात् पशु, पाश और पशुपति का विवेचन चार पादो मे अर्थात् ज्ञान, क्रिया, योग, चर्या नामक पादों में पहले संक्षेप मे करके पुनः विस्तार के साथ किया गया है।"[4] इसके साथ ही वैष्णव और शैव या शाक्त—सभी आगमो की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ पर परब्रह्म के साथ ही उसकी शक्ति का भी महत्व स्वीकार किया गया है और परब्रह्म को सर्वत्र शक्ति-संयुक्त ही बतलाया है। दूसरे, जीवात्माओं की श्रेणियाँ मानी गई हैं तथा समस्त आगमो में संसार को सत्य बताया गया है।[5] इसके साथ ही सर्वत्र परब्रह्म के पाँच कार्यों की ओर संकेत मिलता है अर्थात् वे सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह का कार्य किया

१—भारतीय दर्शन, पृ० ५५६। २—मृगेन्द्र-तन्त्र, पृ० ८।
३—*कल्याण*—वेदान्त अंक, पृ० ३३६।
४—मृगेन्द्रतन्त्र, विद्यापाद १।२
५—लिंगधारण-चन्द्रिका—भूमिका, पृ० २११।

करते हैं।[1] इतना अवश्य है कि शाक्तागमों में शक्ति को ही परब्रह्म कहा गया है।

इस तरह निगमों के अन्तर्गत जहां वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् स्मृति, पुराणादि अनेकानेक ग्रन्थ आते हैं, वहां आगमों में भी अनेक ग्रन्थ रत्न भरे पड़े हैं। दोनों में भक्ति ज्ञान, मोक्ष आदि का विवेचन विस्तृत रूप में मिलता है और दोनों में ही जीव को नाना प्रकार के कष्टों से मुक्त होने के विधान बताए गए हैं। अतः निगमों एवं आगमों के स्वरूप-भेद का निरूपण करना तो अत्यन्त कठिन है। हां, इतना अवश्य है कि जहां निगमों में भिन्न-भिन्न वैदिक देवी-देवताओं की पूजा का विधान मिलता है, वहां पर आगमों में केवल शिव, विष्णु, गणपति एवं शक्ति की ही उपासना को महत्व दिया गया है। निगमों में पूजा-अर्चना आदि की प्रणाली अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल है, किन्तु आगमों में रहस्यमयी एवं गोपनीय पूजा विधि का भी वर्णन मिलता है। निगमों में शुद्ध आचार-विचार एवं सात्विक क्रियाओं की ही प्रधानता है, जबकि आगमों में पंच मकारों—मांस, मदिरा, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा के सेवन का विधान होने से वामाचार की ओर भी संकेत मिलते हैं, परन्तु वहां इनको भी आध्यात्मिक रूप दिया गया है। निगमों के पठन-पाठन एवं उनके सिद्धांतों के अनुकूल आचरण करने का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को ही है, जबकि आगम ग्रन्थों की रचना प्रत्येक वर्ण के लिए तथा शूद्र एवं स्त्रीजनों के लिए विशेष रूप से हुई है। निगमों में गुरु एवं दीक्षा का महत्व तो है, किन्तु वहां इन दोनों पर इतना बल नहीं दिया गया है, जितना कि आगमों में मिलता है। आगमों में तो गुरु से दीक्षा लिए बिना न तो उनका ज्ञान प्राप्त होता है और न कोई साधक मोक्ष का ही अधिकारी होता है।[2] निगमों में केवल जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्यावस्था का ही उल्लेख मिलता है, जबकि आगमों में पंचमावस्था 'तुर्यातीत' और मानी गई है, जिसमें पूर्णता की प्राप्ति होती है और जीव आनंद-निर्भर होकर परमपद को प्राप्त कर लेता है।[3] निगमों में अधिक से अधिक २५ तत्वों का ही वर्णन मिलता है, जैसा कि साम्य-दर्शन में प्रतिपादन हुआ है, किन्तु आगमों में ३६ तत्वों का विवेचन मिलता है, जिनमें से कुछ तत्व तो सांख्य के ही हैं, शेष कुछ आगमों में स्वतन्त्र रूप से मान लिए गये हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायेगा। इसके साथ ही निगमों में दार्शनिक दृष्टि

१—कल्याण—वेदान्त अंक, पृ० ३३६।
२—तन्त्रालोक (भाग ८), पृ० १२४।
३—वही (भाग ७), पृ० १८८।

से वेदान्त-दर्शन को अन्तिम विकास माना जाता है, जहाँ पर अत्यन्त शुद्ध, निरुपाधि, अद्वैतब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है, वहाँ आगमों में भी ब्रह्म को द्वैत और अद्वैत—दोनों प्रकार का माना गया है, परन्तु जहां अद्वैत माना है, वहाँ सर्वत्र उसे शक्ति से समन्वित करके उसकी अद्वैतता सिद्ध की गई है।

अतः निगमों और आगमों में कोई मौलिक भेद नहीं दिखाई देता। यह भेद केवल बाह्य है। इसी कारण ये परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं और ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक दर्शन तथा वैदिक प्रक्रियाओं को ही व्यावहारिक रूप देने के लिए तथा उन्हें सर्व-जन-सुलभ बनाने के लिए आगमों का निर्माण हुआ है।

शैवों का दार्शनिक चिन्तन—शैव मतावलम्बियों की दार्शनिक विचारधारा का विकास शिव को परात्पर ब्रह्म मानते हुए आगम-ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। वैसे शिव की अनन्त शक्ति का उल्लेख वैदिक काल से ही मिलता है। ऋग्वेद में शिव के रुद्र रूप का विस्तृत विवेचन करते हुए शिव को अनन्त शक्ति-सम्पन्न एवं सबका शासक बताया गया है।[1] यजुर्वेद में शतरुद्रीय अध्याय के अन्तर्गत शिव की और भी अधिक प्रशंसा की गई है। शतपथ तथा कौषीतकि ब्राह्मण में शिव के आठ नामों की चर्चा मिलती है; जिनमें से रुद्र, शर्व, उग्र और अशनि—ये चार नाम संहार-सूचक तथा भव, पशुपति, महादेव और ईशान—ये चार नाम मंगल-सूचक बताये गये हैं। तैत्तिरीयारण्यक में समस्त जगत को रुद्र रूप कहा गया है।[2] और श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव की एकमात्र सत्ता बताते हुए उसे संसार का उत्पादक, पालक एवं संहारक बताया गया है।[3] इससे यही ज्ञात होता है कि शैव-दर्शन सम्बन्धी विचार वैदिक काल में ही विद्यमान थे।

शैवों के मुख्यतया पाँच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, जो शैव, पाशुपत, कालामुख, कापालिक और वीरशैव कहलाते हैं। इनमें से शैव सम्प्रदाय का मुख्य गढ़ तामिल प्रदेश है। वहाँ पर इस मत के तामिल भाषा में लिखे हुए २८ तंत्र तथा २०८ आगम-संहिताएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें इस मत के सिद्धान्त एवं शिवाराधना

१—ऋग्वेद २।३३

२—भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० ४८२।

३—एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥
—श्वेताश्वतर उपनिषद् ३।२

की विभिन्न विधियों का उल्लेख मिलता है।[1] दूसरे, पाशुपत सम्प्रदाय के संस्थापक नकुलीश या लकुलीश कहलाते हैं। इस मत का मुख्य केन्द्र गुजरात है। इस मत में भगवान् शंकर के १८ अवतार माने गये हैं, जिनमें से 'नकुलीश' को आद्य अवतार कहा गया है।[2] इनके अतिरिक्त कालामुख तथा कापालिक मतों का अधिक विवरण नहीं मिलता। इनके सभी सिद्धान्त एवं क्रियायें आरम्भ से ही अत्यन्त गुप्त रखी गई हैं, जिससे इनकी परम्परा नष्ट हो गई है।[3] पांचवें, वीरशैव मत का प्रचार कर्नाटक प्रदेश में है। इस मत के अनुयायी शिव-लिंग को गले में डालते हैं और इनमें शिव-लिंग की पूजा का ही अधिक प्रचार है। इसी कारण इसके अनुयायी 'लिंगायत' कहलाते हैं। इस मत के आदि प्रचारक 'वसव' हैं, जो कलचुरी के राजा विज्जल के मंत्री माने जाते हैं। इस मत का मुख्य ग्रन्थ 'वसव पुराण' है।[4]

श्रीमाधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में चार शैवदर्शनों का उल्लेख किया है, जो क्रमश: नकुलीश पाशुपतदर्शन, शैवदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन और रसेश्वरदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं।[5] इनमें से चतुर्थ 'रसेश्वरदर्शन' का सम्बन्ध शैवदर्शन से अधिक नहीं दिखाई देता, क्योंकि वहाँ पर इसको परमानन्ददाता, परमज्योतिस्वरूप, अविकल्प, समस्त क्लेशादि से रहित, ज्ञेय, शान्त एवं स्वसंवेद्य बताया गया है, जिसके मन में स्फुरित होते ही अखिल चिन्मयजगत का दर्शन हो जाता है और समस्त कर्म बंधनों से रहित होकर जीवात्मा ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है।[6] यहाँ केवल रस को ही प्रधानता दी गई है किन्तु इसके मानने वाले कुछ शैव या माहेश्वर हैं इसी से इसे शैव दर्शनों में सम्मिलित कर लिया है। इसके अतिरिक्त दक्षिण में वीर-शैवमतावलम्बियों के आधार पर एक लिंगायत-दर्शन का और विकास हुआ है, जो सम्भवत: माधवाचार्य के समय में विकसित नहीं हुआ था। इसी कारण इसका उल्लेख सर्वदर्शनसंग्रह में नहीं हुआ है। इस प्रकार मुख्यतया चार शैव दर्शनों का विकास भारत में हुआ है:—

(१) नकुलीश पाशुपत दर्शन (२) शैव-दर्शन
(३) लिंगायत दर्शन, और (४) प्रत्यभिज्ञा-दर्शन।

इनमें से प्रथम नकुलीश पाशुपतदर्शन का विकास शैवों के पाशुपत सम्प्रदाय में हुआ है। इसमें शंकर के १८ अवतार माने गये हैं, जिनमें से नकुलीश

१—आर्य-संस्कृति के मूलाधार, पृ० ३२६। २—वही, पृ० ३२८।
३—वही, पृ० ४६१। ४—वही, पृ० ३३२।
५—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ६०–७८। ६—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ८३।

पी नकुलीश सर्वप्रथम हैं। इन अवतारों को तीर्थेश भी कहा जाता है। इस दर्शन में पांच पदार्थ माने गये हैं—कारण, कार्य, विधि, योग और दुःखान्त। इनमें से 'कारण' ही परमेश्वर शिव हैं। संसार में जो कुछ परतन्त्र है वह सब कार्य है। धर्मार्थ के साधक व्यापार को 'विधि' कहा है। चित्त द्वारा आत्मा एवं ईश्वर के सम्बन्ध-हेतु को 'योग' कहा है और समस्त दुःखों के पूर्णतया उच्छेद एवं ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति की प्राप्ति को 'दुःखान्त' कहा है। *यह दुःखान्त ही मोक्ष बताया गया है।*[1]

दूसरे शैवदर्शन का विकास तमिल प्रदेश के शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत हुआ है। *यह दर्शन 'शैव सिद्धान्त' भी कहलाता है।* इस दर्शन में पति, पशु और पाश—ये तीन पदार्थ माने गये हैं, जिनका विवेचन आगमों के विद्या, क्रिया, योग एवं चर्या नामक चार पादों में किया गया है। इनमें से शिव ही 'पति' हैं, जो शक्ति समन्वित होकर निरन्तर उदय, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह नामक पंच कार्यों में लीन रहते हैं। जीव को 'पशु' कहा गया है, जो मलों एवं पाशों से आवृत रहता है और मलों तथा पाशों से मुक्त होने पर ही शिवत्व को प्राप्त कर लेता है। तीसरे पदार्थ 'पाश' को ही मल कहा गया है जो आणव, *कार्म और मायीय—तीन प्रकार का होता है।* इस दर्शन में ३६ तत्व माने गये हैं, परन्तु उनका विकास शिव की माया-शक्ति से माना है, जो शुद्ध और अशुद्ध दो रूपों में समस्त तत्वों को उत्पन्न करती है।[2]

तीसरे लिंगायतदर्शन का विकास वीर-शैव सम्प्रदाय में हुआ है। सिद्धान्त दृष्टि से यह दर्शन 'शक्ति-विशिष्टाद्वैतवाद' भी कहलाता है। इसमें शक्ति-विशिष्ट शिव को परम सत्य माना गया है। इस दर्शन की पारिभाषिक संज्ञा 'स्थल' है। 'स्थ' शब्द इस बात का द्योतक है कि शिव जगत की स्थिति का आधार है और 'ल' शब्द लय का बोधक है अर्थात् शिव से उत्पन्न होकर प्रकृति, महत्तत्व आदि पुनः शिव में ही लीन हो जाते हैं।[3]

चौथे प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास काश्मीर में हुआ है। इसी कारण देश-विशेष के नाम पर इसे काश्मीर-शैवदर्शन भी कहते हैं। प्रसादजी पर काश्मीर के इसी शैवदर्शन का प्रभाव अत्यधिक पड़ा है। इसी कारण आपने अपने लेखों में काश्मीर के शैव दार्शनिकों में से उत्पलाचार्य, क्षेमराज, माहेश्वराचार्य

१—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ६२–६४।

2—The Idea of God in Shaiva Siddhanta, pp. 1–8.

३—भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास, पृ० ४६८–५०१।

अभिनवगुप्त आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है[1] और प्रत्यभिज्ञादर्शन के कुछ प्रमुख ग्रन्थों; जैसे—शिव-सूत्र-विमर्शिनी, स्पन्दशास्त्र आदि की भी चर्चा की है।[2] इसके अतिरिक्त प्रसादजी के परम मित्र श्री रायकृष्णदासजी ने भी लिखा है कि 'प्रसादजी के परिवार की मुख्य दार्शनिक विचारधारा प्रत्यभिज्ञादर्शन की परम्परा में ही थी, क्योंकि ये लोग शैवदर्शनों में से काश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन को ही अत्यन्त पुष्ट और प्रबल मानते थे।'[3] प्रसादजी की 'कामायनी' पर भी प्रत्यभिज्ञादर्शन का ही गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इसलिए अब प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का ही तनिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायगा।

प्रत्यभिज्ञादर्शन—इस दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य वसुगुप्त माने जाते हैं और कहा जाता है कि जिन ७७ शिव-सूत्रों के आधार पर यह दर्शन विकसित हुआ है, वे सूत्र काश्मीर में महादेव गिरि पर अंकित थे। शिवजी ने वसुगुप्त को स्वप्न में उन सूत्रों के बारे में बतलाया और वहाँ से वसुगुप्त ने इनका उद्धार करके अपनी स्पन्द-कारिका में इनका संग्रह किया।[4] वसुगुप्त के दो प्रधान शिष्य हुए—कल्लट और सोमानन्द। कल्लट ने स्पन्द-शास्त्र का प्रवर्त्तन किया और और वसुगुप्त की स्पन्द-कारिका पर 'स्पन्द-सर्वस्व' नामक वृत्ति लिखी। यही पुस्तक इस मत का सर्वस्व है। दूसरे सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का प्रवर्त्तन किया। इस शास्त्र का मूल ग्रंथ 'शिवदृष्टि' है। इनके शिष्य उदयाकर ने इस पर सूत्र बनाये और अभिनवगुप्ताचार्य ने उन 'प्रत्यभिज्ञा सूत्रों' पर ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी नामक टीका तथा तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परमार्थसार आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इन दोनों शास्त्रों या मतों में कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है। केवल इतना ही भेद है कि स्पन्दशास्त्र वाले ध्यान के द्वारा मन से समस्त मलों के दूर हो जाने पर भैरव स्थिति या शिव-साक्षात्कार की स्थिति का उत्पन्न होना मानते हैं, परन्तु प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र वाले यह मानते हैं कि जब जीव को यह प्रत्यभिज्ञान हो जाता है कि 'मैं शिव हूँ', उसी समय उक्त स्थिति उत्पन्न होती है।[5]

काश्मीर प्रदेश में विकसित इस दार्शनिक विचारधारा को प्रत्यभिज्ञा-दर्शन

१—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४३, ३६, ७६।

२—वही, पृ० ४३, ५६, ५८।

३—हिमालय, दीपावली अंक, सं० २००३, पृ० ६।

४—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० २, ३।

5—Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar., Vol. IV, pp. 184–186.

स्पन्द-दर्शन, त्रिक्-दर्शन एवं षडर्ध-दर्शन नाम से भी अभिहित किया जाता है। कहीं-कहीं पर इसे 'ईश्वराद्वयवाद' तथा अभेदवाद' भी कहा गया है। इनमें से प्रत्यभिज्ञा-दर्शन तथा स्पन्द-दर्शन नाम पड़ने का कारण तो यह है कि इस दर्शन का विकास ही उक्त प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र तथा स्पन्दशास्त्र के आधार पर हुआ है। इसके अतिरिक्त त्रिक् या षडर्ध नाम पड़ने का पहला कारण तो यह है कि इस दर्शन में भी तामिल प्रदेश के शैवदर्शन की भाँति पति, पशु और पाश इन तीन पदार्थों का विवेचन हुआ है। दूसरे, अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा लिखित तन्त्रालोक के टीकाकार श्री जयरथ के मत से "सिद्धा-नामक-मालिन्याख्य तन्त्रत्रयात्मकत्वात् त्रिविषम्" के आधार पर सिद्धातन्त्र, नामक तन्त्र तथा मालिनीतन्त्र - इन तीन तन्त्रों को ही इस दर्शन में प्रधानता दी गई है और उनके सार को लेकर ही इसका विकास हुआ है। अतः तीन तन्त्रों के आधार पर विकसित होने के कारण इसे त्रिक् या षडर्ध दर्शन कहते हैं।[1] इसके अतिरिक्त इस दर्शन में ईश्वर और जीव तथा ईश्वर और जगत की अद्वैतता तथा अभेदता का निरूपण भी विस्तारपूर्वक किया गया है। इसी कारण इसे 'ईश्वराद्वयवाद' तथा 'अभेदवाद' भी कहते हैं। इस दर्शन की प्रमुख विचारधारा संक्षेप में इस प्रकार है :—

१. आत्मा-शिवसूत्रों में 'चैतन्यात्मा'[2] कहकर आत्मा को चैतन्यस्वरूप माना गया है। इसके अतिरिक्त अन्य शैव-ग्रन्थों में आत्मा को विमर्शरूपा, पराशक्ति, चिति, स्वतन्त्ररूपा, विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय, प्रकाशैकघन, परमेश्वर, परासंवित्, परमशिव, सर्वज्ञ, शान्त, सर्वज्ञ, प्रभु, अनन्तशक्ति सम्पन्न आदि कहा गया है।[3] नेत्रतन्त्र में इसे परमधाम, परमपद, परमवीर्य, परमामृत, परमतेज, परमज्योति आदि नामों से अभिहित किया गया है।[4] यह आत्मा अपनी इच्छा से ही शिव से लेकर धरणि पर्यन्त छत्तीस तत्वों में अभेदता के साथ स्फुरित होती है। जैसा कि 'शिव-दृष्टि' में लिखा भी है :—

> आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृत चिद् विभुः।
> अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक्-क्रिया शिवः॥"

और इसी कारण प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' कहकर इस चिदात्मा को सर्वथा स्वतन्त्र एवं विश्व की निष्पत्ति अथवा विश्व के प्रकाशन का कारण माना गया है तथा 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'

१—तन्त्रालोक (भाग १), पृ० ४६। २—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० ४।
३—देखिए, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० २, ८ तथा मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, पृ० २
४—नेत्रतन्त्र (भाग १), पृ० ५४-५५। ५—शिवदृष्टि १।२

कहकर इस चिति को अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी भित्ति पर ही अर्थात् अपने अन्तर्गत ही विश्व का उन्मीलन करते हुए कहा गया है।[1] साथ ही इस विमर्शरूपिणी आत्मा के पांच कृत्य माने गये हैं अर्थात् वह निरन्तर सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय (तिरोधन) और अनुग्रह नामक पांच कार्य करती रहती है।[2] अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि जिस तरह दर्पण में नगर, वृक्ष आदि का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी भाँति इस चिदात्मा में संसार का प्रकटीकरण होता है और जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर, वृक्ष आदि दर्पण से पूर्णतया अभिन्न रहते हैं, उसी प्रकार यह संसार भी उस चिद्शक्ति से पूर्णतया अभिन्न रूप में विद्यमान रहता है।[3]

विश्व के उन्मीलन या विकास के बारे में शैवदर्शन में इस आत्मा का एक और रूप माना गया है, जो 'शक्ति' के नाम से पुकारा जाता है और जो उस परमात्मा या परमशिव से पूर्णतया अभिन्न है। यद्यपि इस चिद् शक्ति के अनन्त रूप माने गये हैं, परन्तु उसमें से पांच रूप प्रमुख हैं जो चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहलाते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य ने इन पाँचों शक्तियों के बारे में 'तन्त्रसार' के अंतर्गत लिखा है कि 'प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः' अर्थात् आत्मा की प्रकाशरूपता को चित्-शक्ति कहते हैं, क्योंकि इसी शक्ति के कारण वह आत्मा सर्वत्र प्रकाशित होती है। दूसरी 'स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्ति' अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा वह आत्मा स्वतन्त्रता पूर्वक निरपेक्ष आनन्द का अनुभव करती है, उसे आनन्दशक्ति कहते हैं। तीसरी 'तच्चमत्कारः इच्छाशक्ति' अर्थात् आत्मा के चमत्कार को इच्छाशक्ति कहते हैं। वह इसी इच्छाशक्ति के कारण विश्व के निर्माण आदि के बारे में संकल्प करती है कि अब क्या करना है या क्या बनाना है। चौथी 'आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति' अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा वह आत्मा पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती है अथवा जिस शक्ति के द्वारा सभी पदार्थ उस चिति के सम्पर्क में आते हैं या परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं वह ज्ञानशक्ति है और पांचवी 'सर्वाकारयोगित्व क्रियाशक्ति' अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा वह आत्मा नाना रूप धारण करती है उसे क्रियाशक्ति कहते हैं।[4]

२. जीव—जब यह आत्मा आणव, काम तथा मायीय नामक तीन प्रकार के मलों एवं तीन प्रकार के कंचुकों अर्थात् आणवमल वाले प्रथम कंचुक से,

---

१—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ३, ५। २—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० २२।
३—तन्त्रालोक (भाग २), पृ० ५३–५४। ४—तन्त्रसार, पृ० ६।

मलाधिष्ठायक, निरोधशक्ति नामक द्वितीय कञ्चुक से तथा तीनों प्रकार के मलो[1] से युक्त माया नामक तृतीय कंचुक से आवृत रहता है,[2] तब इसे 'जीव' संज्ञा प्राप्त होती है। इन मलों को 'पाश' भी कहा जाता। अतएव इन पाशो से आबद्ध जीव को प्रत्यभिज्ञादर्शन मे 'पशु' भी कहा गया है।[3] यह जीव इस भूत जगत तक सीमित रहकर अपने को समस्त सासारिक क्रियाओं का कर्त्ता मानता है तथा षट् कंचुकों से संकुचित रहता है। इसी कारण इसे प्रमाता, अणु, पुमान् आदि भी कहते हैं।[4] प्रत्यभिज्ञादर्शन मे इस जीव की विमुक्ति के लिए तीन उपाय बताये गये हैं जो शाम्भव, शाक्त एवं आणव कहलाते हैं। शाम्भव उपाय मे जिस समय गुरु दीक्षा देकर शिष्य को 'शिवोऽहम्' कहकर सुनाता है, तो इसके सुनते ही जीवात्मा मे शिवोऽहम् का आवेश हो जाता है और वह स्वयं को शिवरूप या आत्मा का स्वरूप जानता हुआ यह समझने लगता है कि यह सम्पूर्ण विश्व मुझसे ही उदित हुआ है, मुझ में ही प्रतिबिम्बित है और मुझसे सर्वथा अभिन्न है।[5] दूसरे शाक्तोपाय मे निरन्तर ध्यान, पूजा, अर्चना द्वारा जीवात्मा अपने विकल्प रूपी दर्पण मे बार-बार अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता है तथा उसमे तन्मयीभाव को प्राप्त हो जाता है। यही शाक्तोपाय द्वारा प्राप्त मोक्ष का स्वरूप है।[6] तीसरा आणवोपाय वह है, जिसमे जीवात्मा पहले तो विकल्प-पूर्ण रहता है तथा जड़ और चेतन मे भेद मानता रहता है, परन्तु दीक्षा, मन्त्रों के उच्चारण, जप, पूजा आदि के द्वारा धीरे-धीरे फिर वह यह समझने लगता है कि शिव की शक्ति ही सर्वत्र जड़-चेतन मे स्थित है। तदुपरान्त ज्ञान के उदय होते ही उसके जड़-रूप का तिरोधान हो जाता है, उसे सर्वत्र चैतन्यभाव दिखाई देने लगता है और वह उसी में लीन हो जाता है। यही आणवोपाय द्वारा प्राप्त मुक्ति का स्वरूप है।[7] किन्तु 'तन्त्रालोक' मे आगे चल कर यह बताया गया है कि यह ठीक है कि तीनो उपायो द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, फिर भी आणव एवं शाक्त की अपेक्षा शाम्भवोपाय ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उसी उपाय द्वारा स्वरूपज्ञान होता है।[8]

१—तन्त्रालोक (भाग ५), पृ० २०० ।
२—वही (भाग ६), पृ० १६६–१६७ ।
३—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २), पृ० २२० ।
४—तन्त्रालोक (भाग ६), पृ० १६५ ।
५—वही (भाग २), पृ० २२१–२५३ ।
६—वही (भाग ३), पृ० २३६–२३६ ।
७—वही (भाग ३), पृ० ३१२–३२१ ।
८—वही (भाग १२), पृ० ३५२–३५३ ।

त्रिक दर्शन मे जीव की पांच अवस्थायें मानी गई हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा तुर्यातीत।[1] जाग्रत अवस्था वह है जिसमें जीव प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण एव प्रमा से युक्त होकर इस स्थावर-जगमात्मक विश्व की स्थिति मानता है।[2] शिवसूत्रो मे भी 'ज्ञान जाग्रत्' कहकर सर्वसाधारण विषयों के बाह्येन्द्रियो से उत्पन्न ज्ञान को जाग्रतावस्था कहा है।[3] दूसरी स्वप्नावस्था वह है जिसमे जीव की विकल्पात्मक स्थिति रहती है और इसमे प्रमाण की प्रधानता रहती है।[4] शिवसूत्रो मे 'स्वप्नो विकल्पा' कहकर इसमे विकल्पों की प्रधानता स्वीकार की है।[5] तीसरी सुषुप्ति अवस्था वह है, जिसमे जीवात्मा प्रमेय एव प्रमाणादि के क्षोभ से परे अपनी आत्मा-मात्र में विश्रान्ति का अनुभव करता है।[6] शिवसूत्रो मे 'अविवेको मायासौषुप्तम्' कहकर इसमें अविवेक, माया या मोह का होना बतलाया है।[7] चौथी तुरीयावस्था वह है, जिसमे प्रमाता शुद्ध और उन्नत होकर केवल प्रमात्मक रूप को प्राप्त कर लेता है और जिसमे परामर्श रूप शक्ति समावेश की प्रधानता रहती है। यह सविदप्रकाश की अवस्था है। अत इसमे प्रमाता, प्रमेय एव प्रमाण—तीनो से भिन्न केवल प्रमा ही शेष रहती है।[8] इसके अनन्तर पांचवीं तुर्यातीत अवस्था आती है। यह पूर्णता की अवस्था है। इसमे जीव 'पूर्णानवच्छन्नवपुरानन्दनिर्भर' अर्थात् पूर्ण एव अनवच्छन्न आनन्द को प्राप्त होता है। इसी को परमपद भी कहा गया है।[9] साथ ही यही अवस्था 'अनुत्तरावस्था' भी कहलाती है अर्थात् इसके आगे और कोई अवस्था नहीं होती और इसी अवस्था मे पहुँचकर जीवात्मा पूर्णानन्द-निर्भर हो जाता है। इसे 'महाप्रचयावस्था' भी कहा गया है। इस अवस्था मे पहुँचकर जीव निष्प्रपच, निराभास, शुद्ध, सर्वातीत होकर अपनी आत्मा में स्थित शिव का साक्षात्कार करता हुआ शिवत्व को प्राप्त होकर ससार से मुक्त हो जाता है।[10]

वैसे तो जीव भी आत्मा ही है। इसीलिए यह आत्मा की भांति स्वतन्त्र, व्यापक, सूक्ष्म, निर्गुण आदि है। परन्तु आणव, कार्म तथा मायीय तीनों मलो

१—तन्त्रालोक (भाग ७), पृ० १२७। २—वही (भाग ७), पृ० १२६।

३—शिवसूत्रविमर्शिनी १।८

४—तन्त्रालोक (भाग ७), पृ० १६७–१६८। ५—शिवसूत्रविमर्शिनी १।६

६—तन्त्रालोक (भाग ७), पृ० १७५-१७६। ७—शिवसूत्रविमर्शिनी १।१०

८—तन्त्रालोक (भाग ७), पृ० १७६–१८१।

६—वही (भाग ७), पृ० १८८। १०—वही (भाग ७), पृ० १८६–१६२।

से आवृत होने के कारण यह मलिन, अस्वतन्त्र अशक्तिमान, अशुद्ध आदि हो जाता है।[1] प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व आदि शक्तियों के संकुचित होजाने से अथवा मलों के कारण उक्त शक्तियों से दरिद्र हो जाने कारण जीव को 'ससारी' कहा है।[2] प्रत्यभिज्ञादर्शन में इस जीव की चार संज्ञायें बतलाई गई हैं—सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल और शुद्ध।[3] सकल जीव वह है जिसमें उक्त तीनो मल रहते हैं। प्रलयाकल जीव वह है, जिसमें केवल आणव और कार्म—दो मल शेष रहते हैं, माया का मल नही रहता और जो ससार के विलीन हो जाने पर भी विद्यमान रहता है। तीसरा विज्ञानाकल जीव वह है जिसमें केवल आणवमल ही शेष रहता है। जीव को यह स्थिति योग सन्यासादि के कारण प्राप्त होती है, क्योंकि यहाँ यह कर्म तथा माया के क्षेत्र से ऊँचा उठ जाता है तथा शुद्ध-माया के क्षेत्र में अथवा सद्विद्या के क्षेत्र मे आ जाता है। यहाँ आ जाने के उपरान्त वह पुनः अपनी सकलावस्था में नही जाता। इस स्थिति में आने पर वह शिव के अनुग्रह के योग्य बन जाता है।[4] इसके उपरान्त जीव का चतुर्थ शुद्ध, बुद्ध चैतन्य-स्वरूप वह है, जिसमें वह समस्त ज्ञान, क्रिया आदि से स्वतन्त्र होकर परम-शिवत्व को प्राप्त कर लेता है।[5]

३. सृष्टि—प्रत्यभिज्ञादर्शन मे सृष्टि या विश्व को चिति का स्वरूप माना गया है, जो अपनी इच्छा से इसका उदय या उन्मेष करती है।[6] दार्शनिक भाषा में विश्व के उन्मेष को *'आभासन या आभास'* कहा गया है, जो वेदान्त के विवर्त्त से सर्वथा भिन्न है। वेदान्त में विश्व को विवर्त्त बतलाते हुए केवल नामरूप-मात्र कहा है और माया के कारण प्रतीत होने से असत्य या मिथ्या ठहराया है, जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन मे इसे चिति का आभास मानते हुए भी सत्य कहा है।[7] अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि जिस तरह निर्मल दर्पण में भूमि-जलादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही पूर्ण संविद् रूप परमेश्वर में यह विश्व भी अभिन्न रूप से अवभासित होता है, जैसा कि ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी मे लिखा भी है :—

"चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवद् आभासयति, इति सिद्धान्तः।"

१—नेत्रतंत्र (भाग २), पृ० १८१। २—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० २१-२२।
३—तंत्रालोक(भाग१), पृ० २१६। ४—तंत्रालोक(भाग६), पृ० ६१, १०६।
५—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० ४। ६—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ४-६।
7—Kashmir Shaivaism, p. 54.
८—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २), पृ० १४३।

इसके अतिरिक्त शिवसूत्रों में 'शक्ति सधाने शरीरोत्पत्ति' कहकर इस बात की ओर संकेत किया गया है कि जब वे परमशिव सृष्टि की इच्छा से इच्छा ज्ञान-क्रिया-रूपा शक्ति में दृढतापूर्वक तन्मयीभाव को प्राप्त होते हैं, तब उसी शक्ति के सहारे यथाभिमत शरीरों की सृष्टि करते हैं।[1] प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में भी स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' कहकर यह स्पष्ट संकेत किया गया है कि विश्व का उन्मीलन चिति-शक्ति की इच्छा पर निर्भर है। जब उसकी इच्छा होती है, तभी वह अपनी भित्ति पर या अपने अन्तगत ही इस समस्त विश्व का प्रकाशन करती है।[2] तन्त्रालोक मे स्पष्ट लिखा है कि यह सारी सृष्टि उस अनन्त शक्ति-सम्पन्न शिव मे ही विराजमान है, शिव सागर के तुल्य हैं और उस सागर की अनन्त ऊर्मियो के तुल्य यह सारा विश्व है। अत यहाँ कार्य-कारण-भाव नहीं है, अपितु ब्रह्म या आत्मा और सृष्टि मे पूर्णतया अभेद है।[3] इस तरह जो कुछ भी जडाजडात्मक विश्ववैचित्र्य तथा सृष्टि की जाग्रत आदि अवस्थायें हैं वे सभी परमेश्वर की शक्ति के प्रसार हैं। वे सर्वत्र व्यापक हैं और उनसे रहित कुछ भी नही है।[4] इसके साथ ही अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि वे शिव स्वय प्रकाश रूप हैं और जिन पदार्थों को वे प्रकाशित करते हैं वे पदार्थ भी अप्रकाश रूप नही हैं। क्योंकि अप्रकाशित पदार्थ कैसे प्रकाशित हो सकते हैं। जैसे—जो श्वेत प्रासाद नहीं हैं, उन्हें कोई कैसे श्वेत प्रासाद के रूप म प्रकाशित कर सकता है।[5] अत यहाँ पर सृष्टि को शिव से अभिन्न कहकर उसे भी प्रकाश रूप माना गया है।

वेदान्त की भाँति प्रत्यभिज्ञादर्शन म भी सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण माया द्वारा ही माना गया है। परन्तु वेदान्त मे माया को 'सदसद्भ्यामनिर्वचनीय' कहकर उसके किसी निश्चित रूप का उल्लेख नही किया गया है, जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन मे श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने उसे 'तदवभासकारिणी च परमेश्वरस्य माया नाम शक्ति' कहकर स्पष्ट ही परमेश्वर की एक शक्ति बताया है और 'मायातत्वात् विश्वप्रसव' कहकर इस माया तत्व म ही सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति सिद्ध की है।[6] यह माया शक्ति ही जीव एव परमेश्वर मे भेद डालने का कार्य करती है।[7] परन्तु यह स्वतन्त्र नहीं है, परमेश्वर पर आश्रित है और चित् शक्ति का अधिष्ठान हुए बिना यह किंचित् मात्र भी कोई कार्य नहीं

१—शिवसूत्रविमर्शिनी १।१६ २—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ५-६।
३—तन्त्रालोक (भाग २), पृ० १४७।
४—वही (भाग १), पृ० १३१-१३४। ५—वही, पृ० ८६।
६—तन्त्रसार, पृ० ७१-७६। ७—तन्त्रालोक (भाग ६), पृ० १३६।

करती ।[1] अतः माया परमेश्वर की सृजन-शक्ति है, जो वेदान्त की भाँति सत् और असत् से अनिवर्चनीय न होकर शिव में अभिन्न रूप से स्थित होने के कारण सद् स्वरूपा है । इसके अतिरिक्त जिस तरह स्त्रीतत्व एवं पुरुषतत्व के योग से साधारण सन्तति की उत्पत्ति होती है, उसी तरह प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी आनन्दरूपा शक्ति एवं चित्-रूप शिव को सोमतत्व तथा अग्नितत्व एवं नाद तथा बिन्दु कहकर दोनों के पारस्परिक संघट्टानात्मक सामरस्य से सम्पूर्ण विश्व का विकास सिद्ध किया गया है ।[2] किन्तु जिस आनन्दरूपा शक्ति से यह विश्व उत्पन्न होता है, उसे शैवदर्शन में 'कामकला' कहा गया है । यही मूल शक्ति है और इसे 'महात्रिपुरसुन्दरी' भी कहा गया है । श्री पुण्यानद ने 'कामकला-विलास' में 'सित शोण बिन्दु युगलं विविक्त शिवशक्ति सकुचत्प्रसरम्' कहकर नादरूपा शक्ति एवं बिन्दुरूपा शिव अथवा सितबिन्दुरूपा रजोमयी शक्ति एवं शोणबिन्दुरूपा वीर्यमय शिव दोनों के पारस्परिक संयोग से सृष्टि का विकास सिद्ध किया है और बताया है कि शिव ही काम हैं और शक्ति कला हैं । अतः 'काम-कला' के रूप में शिव-शक्ति के सामरस्य से ही सृष्टि का विकास होता है ।[3] इतना ही नहीं, इस काम-कला रूपा मूलशक्ति को ही 'सैव त्रिकोण रूपं' कहकर त्रिकोण अर्थात् इच्छा-ज्ञान-क्रिया-रूपा भी कहा गया है और 'आसीना बिन्दुमये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरी देवी' कहकर इसे बिन्दुमय चक्र में सदैव आसीन बताया गया है ।[4]

४. तीन पदार्थ—अन्य शैवदर्शनों की भाँति प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी पशु, पाश तथा पशुपति—इन तीन पदार्थों को स्वीकार किया गया है । परन्तु जैसे 'शैव-सिद्धान्त' में इन तीनों तत्वों को शाश्वत माना गया है,[5] वैसा प्रत्यभिज्ञादर्शन नहीं मानता । यहाँ यद्यपि मलों को पाश कहा गया है और ये पशु अर्थात् जीव को आबद्ध करते हैं, फिर भी जब पशु या जीवात्मा तीनों के रहस्य को जानकर मुक्त हो जाता है तथा उसे यह प्रत्यभिज्ञान हो जाता है कि 'मैं ही शिव हूँ', तब न पाश रहते हैं और न उसकी पशु सत्ता ही रहती है, अपितु वह पशुपति या शिवरूप हो जाता है । अतः प्रत्यभिज्ञादर्शन में पशुपति या शिव को ही शाश्वत पदार्थ माना गया है और वे ही बंधन में डालते एवं मुक्त करते हैं, ऐसा

१—तंत्रालोक (भाग ८), पृ० २६ ।
२—वही (भाग २), पृ० ६८, १२८, १६२, १६३ ।
३—कामकला-विलास, श्लोक ६ । ४—वही, श्लोक ३७ ।
५—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६५ ।

बताया गया है। वे स्वय ही भुक्ति एव मुक्ति हैं। वे अकेले ही सर्वत्र व्याप्त हैं और सर्वथा स्वतन्त्र होकर अपने ही प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं।[1] इस तरह पाशों से आबद्ध पशु को अपनी पूर्णता या शिवता अथवा पशुपति भाव का प्रत्यभिज्ञान कराने के कारण ही इस दर्शन का नाम प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पड़ा है।

५. छत्तीस तत्व—प्रत्यभिज्ञादर्शन में ३६ तत्व माने गये हैं। यहाँ परम शिव को देश-कालादि से परे विश्वात्तीर्ण, परम स्वतन्त्र, सत्य, आनन्द एव ज्ञानस्वरूप बतलाया है, परन्तु जब वे सृष्टि की कामना करते हैं, तब विश्वोत्तीर्ण से विश्व रूप बन जाते हैं। जब उनमें सृष्टि के निर्माण की अनुभूति जाग्रत होती है, तब उन्हें शिवतत्व कहा गया है और उनसे ही क्रमश अन्य तत्वों का विकास होता है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के वे ३६ तत्व इस प्रकार हैं—

(१) शिव, (२) शक्ति, (३) सदाशिव, (४) ईश्वर, (५) शुद्ध-विद्या या सद्विद्या, (६) माया, (७) काल, (८) नियति, (९) कला, (१०) विद्या, (११) राग, (१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहकार, (१६) मन, (१७–२१) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रवण, (२२–२६) पाँच कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, (२७–३१) पाँच तन्मात्रायें अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध और, (३२–३६) पाँच स्थूल भूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी।

(१) शिव—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में भी उपनिषदों की भाँति जब वे परम शिव या ब्रह्म इस विश्व के उन्मेष की कामना करते हैं, तब उन्हें शिवतत्व कहा जाता है। यह शिव-तत्व ही सृष्टि का मूलतत्व है। यही समस्त विश्व का निर्माता एव चित् रूप है और अपनी इच्छा से ही यह अपने अन्तर्गत व्याप्त विश्व को प्रकाशित करता है।[2] यही ससार का कारण है, इसके समान अन्य कौन बलवान हो सकता है, यही समस्त मन्त्रों का आलय है और सर्वसिद्धिदायक है।[3] इस शिवतत्व का अनुभव केवल 'अहम्' द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि यह अनन्योन्मुख, स्वात्मप्रकाशपूर्ण एव शुद्ध आद्य-विमर्श है। इसके साथ 'अस्मि' लगाने में किसी प्रकार के सम्बन्ध की सम्भावना हो सकती है। अत इसका अनुभव एकमात्र 'अहम्' द्वारा किया जाता है।[4] विश्व के उन्मेष में यह शिवतत्व प्रथम स्थिति का द्योतक है। इसी तत्व के सहारे चित्शक्ति विश्व में प्रस्फुटित

१—तन्त्रालोक (भाग ८), पृ० ८२–८३।
२—वही (भाग ६), पृ० ८–११।
३—नेत्रतन्त्र (भाग १), पृ० ५४–५५।
४—ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (भाग २), पृ० १९९।

होती है। इसे 'इच्छाशक्तिमयः शिव' कहकर इसमें एकमात्र इच्छा-शक्ति का होना ही माना गया है।[1]

(२) शक्ति—यह दूसरा तत्व है, जो शिव का अभिन्न अङ्ग माना जाता है। यह तत्व शिव के साथ ही विकसित होता है तथा इसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में परमेश्वर की पाँच शक्तियां मानी गई हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। उनके बारे मे श्री अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि परमेश्वर मे चित्शक्ति की प्रधानता होने से वह शिव-तत्व कहलाता है, आनन्द-शक्ति की प्रधानता होने पर शक्ति-तत्व कहलाता है, इच्छाशक्ति की प्रधानता होने पर सदाशिव-तत्व कहलाता है, ज्ञानशक्ति की प्रधानता होने पर ईश्वर-तत्व कहलाता है और क्रिया-शक्ति की प्रधानता होने पर वही परमेश्वर विद्या-तत्व के नाम से अभिहित किया जाता है। जैसा कि उन्होंने 'तन्त्रसार' में लिखा भी है :—

'चित् प्राधान्ये शिवतत्वम्, आनन्द प्राधान्ये शक्ति-तत्वम्, इच्छा प्राधान्ये सदा-शिवतत्वम्, ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वरतत्वम्, क्रियाशक्ति प्राधान्ये विद्यातत्वम् इति।'[2]

अतः उक्त पाँचो तत्व परमेश्वर की शक्ति के ही विकसित रूप हैं। यह शक्ति-तत्व ही समस्त भुवनों का आधार है। यह अत्यन्त सूक्ष्म एवं अमूर्त रूप माना गया है।[3] इस तत्व के द्वारा ही कोई व्यक्ति इन्द्रियों का संयमन करके अतीत एवं अनागत का ज्ञान प्राप्त करता है। यह तत्व इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया मे सम्पन्न है और चित् रूप शिव के साथ सर्वत्र व्याप्त है। इतना ही नहीं, इसी तत्व द्वारा अद्‌भुत आनंद का प्रसार होता है।[4] इस शक्ति-तत्व का अनुभव 'अहं' के साथ 'अस्मि' लगाकर होता है अर्थात् 'अहमस्मि' या 'मैं हूं' का अनुभव इस शक्तितत्व का द्योतक है।[5] शिव तथा शक्ति दोनों तत्व शाश्वत हैं और सदैव एकरूप होकर साथ रहते हैं, न शिव शक्ति रहित हैं और न शक्ति शिव से पृथक् है। केवल व्यवहार के लिए पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है।[6] इसके साथ ही शिवतत्व को 'प्राण' कह सकते हैं, इसी कारण यह 'प्रथम स्पंद'

1—Kashmir Shaivaism, p 63. २—तंत्रसार, पृ० ७३-७४।

३—स्वच्छंदतंत्र, भाग ५ (ब), पृ० ५३५।

४—नेत्रतंत्र, भाग १, पृ० १६४-१६५। 5—Abhinavagupta, p.241.

६—शिवदृष्टि, पृ० ६६।

भी कहलाता है और शक्तितत्व उस स्पद या प्राण को रोकने वाला, नियत्रण करने वाला तथा व्यवस्थित रखने वाला माना जाता है।[1]

(३) सदाशिव—तीसरा तत्व सदाशिव कहलाता है, जिसका विकास शिव-शक्ति से ही हुआ है। यह नाद रूप है, क्योकि अदृष्ट शिव की मूर्ति से जो स्फोट ध्वनि ससार म व्याप्त होकर फैल रही हैं उसे नाद कहते हैं और वह नाद ही सदाशिव है।[2] ससार के निमेष या प्रलय को भी सदाशिव-तत्व कहा गया है।[3] इस तत्व का अनुभव 'अहमिदम्' द्वारा होता हैं। इसमे 'अह' शिव का द्योतक हैं और 'इद्' विश्व का परिचायक हैं। इस तत्व को इच्छा प्रधान माना गया हैं। इसकी तुलना हम उन अस्पष्ट रेखाओ से कर सकते हैं, जिन्हें एक कलाकार चित्र अकित करने से पूर्व चित्रफलक पर खीच लेता हैं।[4]

(४) ईश्वर—चौथा तत्व ईश्वर माना गया है। इसका विकास भी शिव शक्ति से ही हुआ है। इसमे ज्ञान शक्ति की प्रधानता रहती है। इस तत्व का अनुभव 'इद' द्वारा होता है, क्योकि सदाशिव-तत्व म 'इद' का अनुभव अत्यत अस्फुट दशा मे होता है, जबकि ईश्वर-तत्व मे 'इद' अर्थात् विश्व का स्फुट रूप से ज्ञान होने लगता है।[5] इस तत्व को विकास की दृष्टि से विश्व के उन्मेष का द्योतक कह सकते हैं।[6] इस प्रकार ईश्वर तत्व मे 'इदमह' अर्थात् 'यह मैं हूँ का अनुभव स्पष्ट रूप से होने लगता है।[7] सदाशिव तथा ईश्वर-तत्व के अनुभव मे क्रमश. 'अहमिदम्' तथा 'इदमहम्' शब्दो का प्रयोग किया जाता है। इनमें अन्तर यह है कि प्रथम मे 'अह' की महत्ता है और 'इद' गौण रूप म आया है और दूसरे मे 'इद' या विश्व की प्रधानता होगई है और 'अह गौण हो गया है।[8]

(५) सद्विद्या—इस विद्यातत्व को पाँचवा तत्व माना गया है। मृगेन्द्रतत्र मे इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है, 'सम्पूर्ण पदार्थों की ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त जिस शक्ति द्वारा अणु जीव को परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त होता है उसे विद्या कहते हैं।'[9] इसमे क्रियाशक्ति का प्राधान्य रहता है और जीवात्मा को इस भेद से परे अभेदतत्व का भी स्फुरण होने लगता है। यहाँ उसे यह ज्ञान

1—Kashmir Shaivaism p 65 २—नेत्रतत्र (भाग २) पृ०२८७-२८८
३—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २), पृ० १६४–१६५।
४—तत्रालोक (भाग ६), पृ० ५०। ५—तत्रालोक (भाग ६), पृ० ५०।
६—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २), पृ० १६४।
७—तत्रालोक (भाग ६), पृ० ५०।
8—Kashmir Shaivaism, p. 71 ९—मृगेन्द्रतत्र १।१६८–१६६।

प्राप्त होता है कि 'अहमिदमस्मि' अर्थात् 'मैं यह (विश्व) हूँ।' इस तत्व के अन्तर्गत समधृततुलापुट न्याय से विश्व और अहं—दोनों की सत्ता रहती है, पूर्ण अभेदत्व यहाँ नहीं होता[1] और जिस तरह सदाशिव-तत्व प्रलय का द्योतक है, ईश्वरतत्व केवल उदय का द्योतक है, वैसे ही सद्विद्यातत्व में प्रलय तथा उदय या निमेष तथा उन्मेष दोनों रहते हैं।[2]

उक्त पाँचों तत्वों को तन्त्रालोक में क्रमशः शाम्भव, शक्तिज, मन्त्रमहेश, मंत्रनायक तथा मन्त्र भी कहा गया है और ये विशुद्ध तत्व बताये गये हैं।[3] इनका नाम 'शुद्धाध्वन्' अर्थात् शुद्ध-मार्ग भी दिया गया है और इनके अतिरिक्त शेष ३१ तत्वों को अशुद्धाध्वन्' अर्थात् अशुद्ध-मार्ग माना गया है।[4] इसका कारण यह है कि उक्त पाँच तत्वों का सीधा सम्बन्ध शिव से है और शेष माया से लेकर पृथ्वी तक ३१ तत्वों का सम्बन्ध माया से माना गया है, जो अपने त्रिविधि मलों द्वारा शेष तत्वों को आवृत किये रहती है।[5]

(६) माया—यह छठा तत्व भेद-सृष्टि का द्योतक है। इसे शिव की एक ऐसी शक्ति माना है, जो शिव से अभिन्न होकर भेदपूर्ण सृष्टि उत्पन्न करती है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की है "मीनास्ति हिनस्ति इति मायाशक्तिरुच्यते"[6] अथवा 'स्वात्माभिन्नमपि भावमण्डल शिवो यया मिमीते भिदा व्यवस्थापयति इति च माया'[7] अर्थात् जो भेद उत्पन्न करती है, उसे माया कहते हैं। भेदावभास करने के कारण इसे 'परानिशा' भी कहा गया है। यह जड़ बताई गई है, क्योंकि स्वय यह भेदरूप जड़ कार्य करती है। वैसे यह सूक्ष्म एव व्यापक है और शिव-शक्ति से अभिन्न होकर विश्व का मूल कारण मानी गई है।[8] इससे ही आगामी तत्वों का विकास होता है और यही समस्त विश्व को उत्पन्न करती है।[9] यह माया अध, ऊर्ध्व सर्वत्र स्थित रहती है और तीनों पाशों का जन्म भी इसी माया से होता है।[10] इसे विमोहिनी शक्ति भी बतलाया गया है, जिससे पूर्ण प्रकाशित चित्-शक्ति का प्रकाश आच्छादित हो जाता है और जीवात्मा उसे हृदयंगम नहीं कर पाता।[11]

१—तंत्रालोक (भाग ६), पृ० ५०।
२—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २), पृ० १९६–१९७।
३—तंत्रालोक (भाग ६), पृ० ५२। ४—तंत्रालोक (भाग ६), पृ० ५५।
५—वही, पृ० ५६–५७। ६—वही, पृ० ११६।
७—वही, पृ० ११६। ८—वही, पृ० ११६–११७।
९—वही, पृ० १२८। १०—स्वच्छन्दतंत्र (भाग २), पृ० ४१४–१५।
११—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग १), पृ० ३७।

दक्षिण के शैव सिद्धान्त की भांति यहां पर माया के शुद्ध और अशुद्ध दो भेद नहीं किये गये हैं।[1] प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में इसका केवल एक शुद्ध रूप ही स्वीकार किया गया है और उससे उत्पन्न पांचों तत्व—कला, राग, विद्या, काल और नियति भी यहां शुद्ध मान गये हैं।[2] इसके अतिरिक्त वेदान्त की भांति यहां माया का अस्ति और नास्ति वाला रूप भी स्वीकार नहीं किया गया है। माया को ईश्वर की विश्वसृजनशक्ति कहकर यहां स्पष्ट ही उसका आस्तिक रूप माना गया है।

(७) कला—यह सातवां तत्व है। इसकी उत्पत्ति माया से होती है और यह माया की प्रथम सृष्टि है। इसे 'किंचित्कर्तृत्वलक्षणा' कहा गया है अर्थात् जिस समय माया के कारण जीवात्मा अपने स्वरूप को नहीं जान पाता, उस समय उसके पूर्ण ज्ञान एवं क्रिया तिरोहित हो जाते हैं और वह किंचित्कर्तृत्व वाला हो जाता है। यह तत्व जीवात्मा को ऊर्ध्व स्थिति में ले जाने वाला माना गया है।[3] यह तत्व जीवात्मा को इस स्थिति में पहुंचा देता है, जिससे वह यह अनुभव करने लगता है कि 'मैं किंचित् जानता हूँ,' 'मैं किंचित् कर्म करता हूँ' इत्यादि।[4] मृगेन्द्रतन्त्र में कला को दीपक के तुल्य माना गया है। जैसे घने अन्धकार में दीपक से कुछ प्रकाश मिलता है, वैसे ही माया द्वारा प्रसारित घने अन्धकार में कला द्वारा क्रिया एवं ज्ञान के लिए किंचित् प्रकाश की प्राप्ति होती है।[5]

(८) विद्या—यह आठवां तत्व है। इसकी उत्पत्ति कला से होती है।[6] यह तत्व पाशों में आबद्ध परतन्त्र जीवात्मा के अन्तर्गत ऐश्वर्य स्वभाव को प्रकाशित करता है।[7] यह बुद्धि रूपी दर्पण में नाना पदार्थों, दुःख, सुख, मोह आदि के प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करके जीवात्मा को सुखादि प्रत्ययों में परिवृत करता है।[8] अतः बुद्धि में जितने भाव गोचरीभूत होते हैं, उन सभी को उत्पन्न करने वाली शक्ति को विद्या कहते हैं, क्योंकि इसी के कारण बुद्धि में भावों के प्रतिबिम्ब उपस्थित होते हैं और यही बुद्धि को उनका ज्ञान कराती है।[9]

1—The Idea of God in Saiva-Sidhanta, p 5

२—तन्त्रलोक (भाग ६), पृ० १३४।

३—वही (भाग ६), पृ० १३५-१३७।

४—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २), पृ० २०८-२०६।

५—मृगेन्द्रतन्त्र १।१०।४-५। ६—तन्त्रालोक (भाग ६), पृ० १६१।

७—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २), पृ० २०२-२०३।

८—तन्त्रालोक (भाग ६), पृ० १५०।

९—वही (भाग ६), पृ० १५६।

(९) राग—यह नवाँ तत्व है। इसकी उत्पत्ति भी माया-जन्य कला से मानी गई है।[1] इसका कार्य यह है कि यह तत्व प्रमाता, देह आदि एवं प्रमेयों में गुणों का आरोपण करता है।[2] इस तत्व को 'अवराग्य' या वैराग्य का अभाव नहीं कह सकते; क्योंकि यह तो वैराग्य के अन्तर्गत भी सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है और धर्मादि में जो वासना रहती है, उसके अन्तर्गत भी इस रागत्व की विद्यमानता मानी जाती है।[3] इसी कारण मृगेन्द्रतन्त्र में इसे सभी प्रकार के भोग्य पदार्थों एवं चित्शक्ति आदि के लिए अभिलाषा उत्पन्न करने वाला तत्व कहा गया है।[4]

(१०) काल—यह दसवाँ तत्व है। यह जीवात्मा या प्रमाता को परिमित बनाने वाला है। इसे कार्यावच्छेदक तत्व भी कहते हैं अर्थात् इसी के कारण यह 'घट क्रिया है, यह 'पट क्रिया है' आदि का विभाजन होता है।[5] यही क्रम का सूचक है क्योंकि इसी के द्वारा 'मैं कृश हो गया था, मैं स्थूल हो गया हूँ, मैं स्थूलतर हो जाऊँगा' आदि क्रमों का विभाजन होता है।[6] इसकी उत्पत्ति माया-जन्य कला से होती है[7] और निमेष, मुहूर्त, घड़ी आदि प्रत्ययों का ज्ञान भी इसी तत्व द्वारा माना गया है।[8]

(११) नियति—यह ग्यारहवाँ तत्व है। इसकी उत्पत्ति भी कला से ही होती है। तन्त्रालोक में "नियतिर्योजनं धत्ते विशिष्टे कार्यमंडले" कहकर इसे विशिष्ट-विशिष्ट कार्य-कारणों की योजना करने वाली माना गया है अर्थात् 'इस कारण यह कार्य होगा' इसकी योजना करने का कार्य नियति-तत्व करता है।[9] इसे शिव की नियमन करने वाली शक्ति भी बताया गया है।[10] मालिनी-विजयोत्तर-तन्त्र में 'नियति र्योजयत्येन स्वके कर्मणि पुद्गलम्' कहकर इसे प्रत्येक जीव को अपने-अपने कर्मों में संलग्न करने वाला बताया है।[11] मृगेन्द्र तन्त्र में भी इसे नियामक या कार्य-निष्पादक माना गया है।[12]

१—तंत्रालोक (भाग ६), पृ० १९१।
२—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २), पृ० २०६।
३—तंत्रालोक (भाग ६), पृ० १५७–१५८।
४—मृगेन्द्रतन्त्र १।१०।११ ५—तंत्रालोक (भाग ६), पृ० १५६।
६—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २), पृ० २०८।
७—तंत्रालोक (भाग ६), पृ १९१। ८—मृगेन्द्रतंत्र १।१०।१४
९—तंत्रालोक (भाग ६), पृ० १६०–१६१।
१०—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २), पृ० २०६।
११—मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, पृ० ४। १२—मृगेन्द्रतंत्र १।१०।१७

यहाँ तक माया, कला, विद्या, राग, काल तथा नियति नामक जिन छँ तत्वो का विवेचन किया गया है, उन्हे प्रत्यभिज्ञा-दर्शन मे षट् कचुक नाम दिया गया है और लिखा है कि इनके द्वारा ही आवृत होकर आत्मा परिमित हो जाता है। इस परिमित आत्मा को ही 'अणु' सज्ञा दी गई है और उक्त छँ कचुको को आणव-मल कहा गया है।[1]

(१२) पुरुष—यह अणु सज्ञा वाली आत्मा ही बारहवाँ तत्व 'पुरुष' कहलाती है। इसी को जीव, प्रमाता, पुमान्, पुद्गल आदि नामो से भी पुकारा गया है।[2] इसे जब यह प्रत्यभिज्ञान हो जाता है कि 'मैं शिव हूँ' उस समय यह समस्त पाशो से मुक्त होकर स्वरूप-स्थिति को प्राप्त हो जाता है। परन्तु इस प्रत्यभिज्ञान की प्राप्ति मे यहाँ "शक्तिपात" का बडा महत्व स्वीकार किया गया है। वैसे तो यह शक्तिपात वैष्णवो के अनुग्रह से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, क्योंकि चित्शक्ति का अनुग्रह होना ही 'शक्तिपात' है और अनुग्रह को आत्मा के अन्य नित्य पचकृत्यों मे से एक कार्य माना गया है, परन्तु 'शक्तिपात' मे आत्मा या शिव उद्धारकर्त्ता या त्राणकर्त्ता की भाँति अपनी शक्ति द्वारा जीव को व्यामोहित कर देते हैं, जिससे जीव अपनी निजी शक्ति से मोक्ष प्राप्त नहीं करता, अपितु उसकी मोक्ष प्राप्ति चिति पर ही निर्भर हो जाती है।[3] प्रत्यभिज्ञादर्शन का यह पुरुषतत्व सम्बन्धी विवेचन बहुत कुछ साख्यदर्शन के समान है, क्योंकि जैसे साख्य मे आत्माओ को असख्य माना गया है, वैसे ही यहाँ पर भी पुरुष को असख्य बताया गया है। परन्तु दोनों मे कुछ अन्तर भी है, जैसे साख्य मे आत्माओ की स्वतन्त्र सत्ता मानी गई है, जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन मे इन्हें एकमात्र चिति का ही प्रस्फुरण बताया गया है। दूसरे वहाँ पर तो पुरुष अप्रभावित रहता है और पूर्णतया चेतन है, किन्तु यहाँ पर पुरुष चेतन होकर भी सर्वथा अप्रभावित नही रहता। इसके अतिरिक्त साख्य की अपेक्षा यहाँ छँ कचुको तथा तीन मलो का वर्णन अपनी विशेषता रखता है। इस तरह यह पुरुषतत्व एकमात्र सीमित व्यक्तिगत आत्मा का द्योतक है।

(१३) प्रकृति—साख्य दर्शन मे जिस तरह सत्व, रज और तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन मे भी प्रकृति तत्व मे सत्व रज और तम के साम्यात्मक या अक्षुब्ध रूप को प्रधानता स्वीकार की गई है। परन्तु साख्यदर्शन मे प्रकृति को जिस तरह स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने कर्म मे लीन होते हुए माना गया है, वैसा प्रत्यभिज्ञादर्शन नहीं मानता।

१—तन्त्रालोक (भाग ६), पृ० १६४–१६५। २—वही, पृ० १६५।
३—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (अड्यार लाइब्रेरी) भूमिका, पृ० १६।

यहाँ पर तो प्रकृति को ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही पुरुष के प्रति लौकिक भाव रखते हुए बताया गया है तथा स्वतन्त्रेश या शिव की इच्छा से ही प्रकृति मे क्षोभ का उत्पन्न होना स्वीकार किया गया है अर्थात् प्रकृति से जिन बुद्धि या महत्तत्वादि की उत्पत्ति होती है, उनमे भी यहाँ चिति की इच्छा का होना अनिवार्य माना गया है।

(१४–३६) बुद्धि से पृथ्वी तक—इसके अतिरिक्त महत्तत्व या बुद्धितत्व से लेकर पृथ्वी तक जिन २३ तत्वो का वर्णन प्रत्यभिज्ञादर्शन मे मिलता है, वह पूर्णतया सांख्यदर्शन के ही समान है अर्थात् सांख्य की भाँति यहाँ पर भी प्रकृति से बुद्धितत्व ; बुद्धि से अहकार , अहकार से मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्रायें और पाँच तन्मात्राओ से पचभूतों अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति मानी गई है।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन मे चिति को सर्वोपरि माना गया है। शिव और शक्ति के सामरस्य के रूप मे चिति का ही वर्णन मिलता है। इन दोनो को सूर्य एव उसकी किरणें, अग्नि एवं उसकी अर्चियाँ तथा सागर और उसकी लहरो के तुल्य सदैव अभिन्न रूप से विद्यमान रहते हुए माना गया है। ये शिव ही अन्तिम एवं परमतत्व हैं, परमब्रह्म हैं और चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप हैं। यह जीवात्मा उनका ही परिमित रूप है, जो कचुको एव मलों से आवृत रहने के कारण अपने वास्तविक रूप को नहीं जानता। जिस समय इसे अपने वास्तविक रूप का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है, उस समय यह भी शिव रूप को प्राप्त होकर चैतन्य-गुण-युक्त अनन्त-शक्ति-सम्पन्न हो जाता है। यह सारा विश्व उसी चैतन्यात्मा या चिति का ही आभास या प्रतिबिम्ब है, उसी शिव का रूप है और जिस तरह शिव सत्य और चिरन्तन हैं, उसी प्रकार संसार भी सत्य और शाश्वत है। उस चिति या शिव की इच्छा से ही संसार का उन्मेष या निमेष, उदय या प्रलय अथवा उन्मीलन या निमीलन होता रहता है। इस संसार की उत्पत्ति और संहार—दोनो चिति या शिव की इच्छा पर निर्भर हैं, क्योंकि वे नित्यप्रति सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह नामक पाँच कार्य करते रहते हैं। जिस तरह समुद्र में लहरें, फेन एवं बुद्बुद उत्पन्न होते और विलीन होते रहते हैं, उसी भाँति यह विश्व भी उस अनन्त चेतनाशील चिति या शिव के अन्तर्गत उत्पन्न और विलीन होता रहता है। अतः यह विश्व उस विमर्शरूपिणी चिति की इच्छा का ही परिणाम है, जो उसकी इच्छा या क्षोभ से उत्पन्न और विलीन होता रहता है। इस प्रत्यभिज्ञादर्शन में जीव और ब्रह्म तथा ब्रह्म और जगत की अभेदता पर अधिक बल दिया गया है

१—तन्त्रालोक (भाग ६), पृ० १७७–१८१।

और अभिनवगुप्ताचार्य ने अपने तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों मे सर्वत्र भेद में अभेदता की स्थापना की है।

शांकर वेदान्त तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन का अन्तर—शाकर वेदान्त तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रतिपाद्य विषय लगभग एक ही है। दोनो दर्शनों मे परमात्म-तत्त्व को श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए जीवात्मा को परमात्म-भाव प्राप्त करने की युक्तियाँ बताई गई हैं और दोनो दर्शनो ने अद्वैत-सिद्धि को चरम लक्ष्य बताया है। वेदान्त मे 'अहब्रह्मास्मि' की स्थिति को जीव की अन्तिम स्थिति सिद्ध किया गया है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञादर्शन मे 'शिवोऽहम्' की स्थिति को जीव का अन्तिम लक्ष्य माना गया है और दोनो मे जीव, ब्रह्म और जगत की अद्वैतता को तर्कपूर्ण युक्तियो द्वारा सिद्ध किया गया है। परन्तु दोनो मे कुछ सैद्धान्तिक भेद भी दिखाई देता है। जैसे, शाकर वेदान्त में आत्मा विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानन्द, एक, सत्य, निर्मल, निरहकार, अनादि, अनन्त, शान्त, सृष्टि-स्थिति-सहार का हेतु, भावाभावविहीन, स्वय-प्रकाश, नित्यमुक्त है, किन्तु उसमें कर्तृत्व नही है। परन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन मे विमर्श ही आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान और क्रिया उसके लिए समान हैं। उसकी क्रिया ही ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञाता का धर्म है तथा उसके कर्तृस्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही क्रिया है। इस ज्ञान और क्रिया की उन्मुखता का नाम इच्छा है। इसी कारण वह आत्मा इच्छामय है अथवा इच्छा-ज्ञान-क्रिया, तीनो शक्तियो से युक्त स्वातंत्र्यमय है। ऐश्वर्य, विमर्श, पूर्णाहन्ता प्रभृति इसी स्वातंत्र्य के नामान्तर हैं। इसके साथ ही यहाँ आत्मा पंचकृत्यकारी मानी गई है, जबकि शाकर वेदान्त मे आत्मा इस प्रकार के स्वभाव वाली नहीं है।[1] दूसरे, शाकर वेदान्त मे माया को ब्रह्म की शक्ति तो माना गया है, परन्तु सत्-असत् से विलक्षण एवं अनिवर्चनीय कहकर यह बताने की चेष्टा नही की गई है कि उसका विकास कैसे हुआ तथा उसका स्थान कहाँ है ? जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन मे माया को शिव की एक शक्ति माना गया है, जिससे संसार का विकास होता है। इसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है, वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक एवं स्वेच्छा परिगृहीत रूप है और इससे कभी अद्वैत भंग नही होता।[2] तीसरे, शाकर वेदान्त में 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म सत्य है और संसार मिथ्या है, जबकि प्रत्यभिज्ञादर्शन मे ब्रह्म के साथ-साथ संसार को भी सत्य बताया गया है, क्योंकि वह शिव का ही रूप है।[3] इन आधारो पर यही ज्ञात होता है कि इस प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास शाकर वेदान्तदर्शन के कुछ विचारो का तत्त्वतः निरूपण करने के लिए एवं उनके

१—कल्याण—शिवाङ्क, पृ० ८३।　　२—वही, पृ० ८३।
३—तन्त्रालोक (भाग १), पृ० ४६।

विक्षुब्ध दिखाई देता है,[1] तो कभी इस विश्व के अन्दर "दुख की आंधी" एव "पीडा की लहरें" उठती हुई दिखाई देती हैं।[2] ऐसे ही कभी उन्हे जीवन एक "विकट पहेली" जान पड़ता है तो कभी संसार इन्द्रजाल प्रतीत होता है और इसमे व्यथायें भरी हुई दिखाई देती हैं।[3]

साराश यह है कि 'कामायनी' मे बौद्ध-दर्शन के दु:खवाद का संकेत मात्र ही है। वैसे प्रसादजी बौद्धो की भांति ससार मे केवल दु:ख ही दु:ख नही मानते। वे संसार को सुख-दु:खमय कहते हैं। इतना अवश्य है कि उनकी दृष्टि मे ससार के अन्तर्गत सुख की अपेक्षा दु:ख का आधिक्य है और इसी दु:ख से मुक्ति पाने के लिए अथवा जीवन को सुखमय या आनन्दमय बनाने के लिए अन्त मे उन्होने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की आनन्दवादी विचारधारा को महत्व दिया है।

२. क्षणिकवाद—क्षणिकवाद का प्रबल प्रचारक भी बौद्धदर्शन है, क्योंकि वहाँ संसार के साथ ही आत्मा को भी क्षणिक एव परिवर्तनशील बताया गया है और इसकी तुलना 'दीप-शिखा' से की है। 'मिलिन्द-प्रश्न' मे लिखा है कि जिस समय राजा मिलिंद ने नागसेन से प्रश्न किया "जो उत्पन्न होता है, क्या यह वही व्यक्ति है या दूसरा ?" इस पर नागसेन उत्तर देते हैं, "न वही है और न दूसरा।" इस बात को वे 'दीप-शिखा' के उदाहरण से समझाते हैं। "जो दीपक रात के प्रथम प्रहर में जलता है, क्या रात भर वही दीपक जलता रहता है ? साधारण दृष्टि से यही दिखाई देता है कि रात भर दीपक की एक ही लौ विद्यमान रहती है, परन्तु वस्तुस्थिति यह बतलाती है कि रात के पहले क्षण की दीप-शिखा दूसरी थी, दूसरे और तीसरे क्षण की दीप-शिखा क्रमश: उससे भिन्न थी। फिर भी दीपक जलता रहा। अत: दीपक एक है, परन्तु उसकी शिखा या लौ क्षण-क्षण मे परिवर्तनशील है। यही दशा आत्मा की भी है। साधारणतया किसी भी पदार्थ की एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक विलीन होती है। यह उत्पत्ति-विनाश का क्रम बराबर चलता रहता है और इस प्रवाह की दोनो अवस्थाओ मे एक क्षण का भी अन्तर नही रहता। अत: संसार की प्रत्येक वस्तु क्षण-भंगुर एव क्षणिक है। विज्ञान की सही प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है और एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरा जन्म उठ खड़ा होता है।"[4]

बौद्धदर्शन की इस विचारधारा के भी सकेत प्रसाद-साहित्य में यत्र-तत्र मिलते हैं। जैसे, 'अजातशत्रु' नाटक मे वे लिखते हैं कि—"अणु-परमाणु, दु:ख-

---

१—कामायनी, पृ० २२१। २—वही, पृ० २२३।
३—वही, पृ० २२६। ४—बौद्धदर्शन, पृ० १०४-१०५।

सुख चचल, क्षणिक—सभी सुख साधन हैं।"[1] यही विचारधारा 'स्कदगुप्त' मे भी विद्यमान है। क्योकि वहाँ उन्होंने लिखा है कि 'मनुष्य की अदृष्ट लिपि वैसी ही है, जैसी अग्नि-रेखाओ से कृष्णमघ मे बिजली की वर्णमाला—एक क्षण मे प्रज्वलित, दूसरे क्षण मे विलीन होने वाली।'[2] आँसू मे भी वे इस क्षणिकता की ओर सकेत करते हुए मानव-जीवन को दो घडियो का बतलाते हैं।[3]

'कामायनी' मे भी इस क्षणिकवाद के सकेत मिलते हैं। 'चिन्ता' सर्ग में वे मनु की विषण्ण एव अवसन्न हृदय की स्थिति का चित्र अकित करते हुए यह बतलाते हैं कि इस ससार मे जीवन की अमरता के कही दर्शन नही होते। यह अमरता की कल्पना सर्वथा मिथ्या है। इस ससार में अमरता सत्य नहीं है, अपितु मौनता, विध्वस, विनाश, अन्धकार, अभाव-शून्यता आदि ही सत्य हैं। और सबसे बडा सत्य है मृत्यु। यह मृत्यु चिरनिद्रा है। इसकी गोद हिमानी के तुल्य शीतल होती है। यह सृष्टि के कण-कण मे छिपी हुई है और यह 'मुखरित सतत चिरन्तन सत्य है।'[4] इसके अनन्तर प्रसादजी ने जीवन की क्षण-भगुरता का चित्रण करते हुए 'स्कन्दगुप्त' नाटक की भाँति 'कामायनी' में भी जीवन की तुलना मेघमाला मे क्षणिक आभा के साथ चमकने वाली सौदामिनी से की है और बतलाया है कि 'यह जीवन मृत्यु का एक क्षुद्र अश है, जो बिजली की भाँति क्षण भर इस ससार मे चमक कर फिर उसी मृत्यु की शीतल गोद मे विलीन हो जाता है।'[5]

इसके साथ ही प्रसादजी ने ससार मे क्षण-क्षण पर होने वाले परिवर्तन की ओर भी सकेत किया है और लिखा है कि 'यह विश्व निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। यहाँ रवि, शशि, तारे भी रूप बदलते हैं। वसुधा कभी जल-निधि बन जाती है, तो कभी जलनिधि मरुभूमि मे परिणत हो जाता है और जलधि मे ज्वाला जलने लगती है। यहाँ सभी के अन्दर एक तरल अग्नि की सी दौड लगी हुई है, जिससे पर्वत भी गल-गल कर सरिता का रूप धारण करके बहते हुए दिखाई देते हैं। यह स्फुलिंग का नृत्य पल-पल पर होता रहता है, जिससे कोई भी यहाँ टिक नही पाता। सभी सदैव गतिमय होकर परिवर्तित होते रहते हैं।'[6]

१—अजातशत्रु, पृ० ४८। २—स्कदगुप्त, पृ० १२६।
३—आँसू, पृ० ४५। ४—कामायनी, पृ० १८-१९।
५—जीवन तेरा क्षुद्र अश है व्यक्त नील घनमाला में,
सौदामिनी सन्धि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।
—चिन्ता सर्ग, पृ० १६।
६—कामायनी, पृ० १९०।

इस प्रकार प्रसादजी ने संसार की परिवर्तनशीलता का उल्लेख करते हुए जीवन की क्षण-भंगुरता की ओर संकेत किया है। परन्तु यह उनका सिद्धान्त पक्ष नहीं है। वे बौद्धों के क्षणिकवाद को तो अवश्य मानते हैं, परन्तु उस क्षणिक जीवन को भी वे सुखमय एवं आनन्दमय बनाने के पक्षपाती हैं। जैसा कि उन्होंने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में लिखा है कि "मैं इस क्षणिक जीवन की घड़ियों को सुखी बनाने का पक्षपाती हूँ।"[1] इसी कारण उन्होंने 'कामायनी' में भी लिखा है कि यह नित्य जगत चिति का रूप है जो निरन्तर शत-शत रूप बदलता रहता है और इसके इस परिवर्तन में विरह-मिलन या दुःख-सुख मिले रहते हैं, किन्तु यह उल्लासपूर्ण आनन्द सदैव बना रहता है।[2]

अतः प्रसादजी बौद्धों की भाँति विश्व के जीवन को तो क्षणिक बतलाते हैं, किन्तु विश्व को क्षणिक नहीं मानते, उसे नित्य एवं सत्य बतलाते हैं, जिसमें मिलन-विरह, सुख-दुःख आदि सदैव बने रहते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि यह विश्व चिति की इच्छानुसार निरन्तर रूप बदलता रहता है और इसी कारण क्षणिक दिखाई देता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि यह विश्व उस विराट् सत्ता का ही रूप होने के कारण सत्य एवं अविनाशी है। अतः 'कामायनी' में बौद्धों के क्षणिकवाद की ओर संकेत अवश्य मिलता है, परन्तु सिद्धान्ततः प्रसादजी ने यहाँ प्रत्यभिज्ञा-दर्शन को ही प्रमुखता दी है।

३. करुणा—प्रसादजी की दार्शनिक विचारधारा में करुणा का भी एक विशिष्ट स्थान है। करुणा की इस विचारधारा का प्रभाव प्रसादजी पर बौद्ध एवं वैष्णव दोनों दर्शनों से पड़ा है। बौद्धदर्शन में बोधिसत्व का चरम लक्ष्य "महाकरुणा" की प्राप्ति बताया गया है। महायान-सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध वही प्राणी बन सकता है, जिसमें प्रज्ञा के साथ 'महाकरुणा' का भाव विद्यमान रहता है। 'बोधिचर्यावतार-पंजिका' में लिखा है कि बोधिसत्व या जीवात्मा का एक ही धर्म है कि वह 'महाकरुणा' को प्राप्त करे। महाकरुणा की प्राप्ति से ही उसे बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाती है। इस महाकरुणा का स्वरूप यह है कि इसके प्राप्त होते ही बोधिसत्व या जीवात्मा के जीवन का उद्देश्य—जगत का परम मंगल साधन हो जाता है। उसका स्वार्थ इतना विस्तृत हो जाता है कि उसके 'स्व' की परिधि में संसार के सभी प्राणी आजाते हैं। यह चींटी से लेकर हाथी तक

१—चन्द्रगुप्त, पृ० ७१।

२—चिति का स्वरूप यह नित्य जगत, वह रूप बदलता है शत शत,
कण विरह मिलनमय नृत्य निरत, उल्लासपूर्ण आनंद सतत।
—दर्शन सर्ग, पृ० २४२।

सभी प्राणियो के दुख का अनुभव करने लगता है और तब तक मोक्ष नही चाहता जब तक कि एक भी प्राणी उसे दुखी दिखाई देता है। उसका हृदय करुणा से इतना आर्द्र हो जाता है कि वह दुखी प्राणियो के दुख की आँच से तुरन्त पिघल उठता है।[1] इसके अतिरिक्त बौद्धतन्त्रो मे आदिबुद्ध की चार भावनायें बताई गई है—(१) करुणा, (२) मैत्री, (३) मुदिता, और (४) उपेक्षा। इनमे से करुणा को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है, क्योकि इसी भावना के साथ विशुद्ध योग की प्राप्ति होती है।[2] बौद्धदर्शन की उक्त चारो बातो का उल्लेख पातजलि-योगदर्शन मे भी मिलता है। वहाँ मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चारो को चित्त का परिष्कार करने वाली बताया गया है। अर्थात् सुखी व्यक्ति मे मैत्री की भावना से, दुखी व्यक्ति मे करुणा की भावना से, पुण्यवान् व्यक्ति मे मुदिता (प्रसन्नता) की भावना से तथा अपुण्यवान् व्यक्ति मे उपेक्षा की भावना रखने से चित्त का प्रसादन अथवा परिष्कार होता है।[3] इस तरह योगदर्शन मे करुणा का कार्य चित्त का प्रसादन अथवा परिष्कार करना बताया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता मे करुणा को शान्ति प्राप्त योगी का एक लक्षण माना गया है और कहा है कि जो व्यक्ति परमशान्ति को प्राप्त कर लेता है वह समस्त प्राणियो से द्वेष रहित हो जाता है, सबका मित्र बन जाता है और सभी के प्रति करुणा का भाव रखने लगता है।[4]

वैष्णवो मे इस करुणा का अत्यधिक महत्व है। वैष्णवों की इसी करुणा का उल्लेख करते हुए नरसी मेहता ने लिखा है कि 'वैष्णव जन तो तेणे कहिए जे पीड पराई जाए रे।' महात्मा गाधी को भी यह गीत बहुत प्रिय था। इसमें वैष्णवो की कोमल एव उदार प्रवृत्ति से भरी हुई करुणा का सजीव चित्र अकित किया गया है।[5]

अत बौद्ध एव वैष्णव सभी भारतीय विचारकों ने करुणा को एक ऐसा उदार भाव बताया है, जिसके उदय होते ही व्यक्ति के हृदय मे सर्वभूतहित की भावना जाग्रत होती है, इससे चित्त इतना परिष्कृत हो जाता है कि किसी भी प्राणी की पीडा देखकर वह तुरन्त द्रवीभूत हो जाता है। दूसरे, करुणा की भावना आत्मीयता का सचार करती है और प्रत्येक जीव के दुखों को अपना दुख बनाकर उनको दूर करने का प्रयत्न करती है।

करुणा की इसी उदार भावना को प्रसादजी ने अपने ग्रन्थों मे स्थान दिया

१—बौद्धदर्शन, पृ० १४४-१४५। २—वही, पृ० ४५७-४५८।
३—पातजलि योगदर्शन १।३३ ४—श्रीमद्भगवद्गीता १२-१३
५—भारतीय सस्कृति की रूपरेखा, पृ० २२।

है। उनका मत है कि 'मानव सृष्टि का विकास करुणा के लिए ही हुआ है, क्योंकि क्रूरता या हिंसा आदि कार्य मानव के लिए नही, अपितु हिंस्र पशुओ के लिए बने हैं।'[1] यह करुणा प्राणिमात्र मे समदृष्टि का प्रसार करती है, इसी के कारण उषा एवं संध्या राग-रंजित प्रतीत होती हैं, यही शिशु के मुख पर चन्द्रकान्ति की वर्षा करती है, यही तारो से ओस की बूँद गिराया करती है, यही निष्ठुर जीवो को पराजित करती है और इसी करुणा के कारण मानव का महत्व संसार मे फैला हुआ है।[2] इस करुणा के कारण ही मानव अपने कर्त्तव्य-पथ से कभी विचलित नहीं होता[3] और इसी के कारण मानव सदैव अपने जीवन का बलिदान तक करने के लिए तैयार रहता है।[4] यह करुणा ही मानव के हृदय को द्रवीभूत करके अन्य दुःखी हृदयो की पुकार सुनने के लिए वाध्य करती है। कारण यह है कि दुःखी हृदय के नीरव क्रन्दन का सुनना ही वास्तव मे करुणा है।[5]

'कामायनी' मे भी करुणा की यही भावना विद्यमान है। जिस समय मनु श्रद्धा द्वारा पालित पशु का वध करके श्रद्धा के समीप आते हैं, उस समय करुणा के उदार भाव से ओत-प्रोत श्रद्धा मनु को यह समझाती है कि मानव करुणा से रहित होकर ही एकान्त स्वार्थ मे लीन हो जाता है। यह एकान्त स्वार्थ अत्यन्त भीषण है और मानव का शत्रु है। भला ऐसे स्वार्थमय जीवन द्वारा कभी किसी का विकास होना है ? इस करुणा की उपेक्षा करने के कारण ही मानव अन्य प्राणियों की पीड़ा को देखकर भी उनकी ओर से मुख मोड लेता है, इससे वह अपने सुख को सीमित कर लेता है और अन्य प्राणियो को भी दुःखी बनाया करता है। अतः सदैव दूसरो को सुखी एव प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना ही मानव का परम कर्त्तव्य है।[6]

इन उक्त विचारों मे श्रद्धा स्पष्ट ही करुणा की उदार-मूर्ति दिखाई देती है, जो पशु की कातर वाणी सुनकर करुणा से द्रवीभूत हो गई है। इसके साथ ही करुणा-पूर्ण प्राणी मे समदृष्टि आजाती है और वह अपने शत्रु को भी शत्रु न जानकर हितैषी मानता है एवं उस पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हो जाता है। कामायनी मे जिस समय श्रद्धा इड़ा के समीप पहुँच कर यह देखती है कि इस इड़ा ने ही अपने रूप-सौंदर्य से मुग्ध करके मेरे सुहाग को छीना था। परन्तु जब वह अपने विपरीत आचरण करने वाली इड़ा की भी दीन-हीन दशा

१—प्रजातशत्रु, पृ० २४। २—प्रजातशत्रु, पृ० १०।
३—वही, पृ० ६१। ४—वही, पृ० ६१।
५—प्रतिध्वनि, पृ० ३६। ६—कामायनी, पृ० १३२।

देखती है, तब उसका हृदय करुणा से भर आता है, वह विचलित हो उठती है और उसके व्यथा-भार को दूर करने के लिए अपनी सम्पूर्ण निधि—अपना प्रिय पुत्र तक उसे सौंप देती है।[1]

इस तरह प्रसादजी ने श्रद्धा के रूप में करुणा का चित्रण करते हुए उसे अत्यन्त उदार एवं विस्तृत व्यापार वाली सिद्ध किया है। उनकी कामायनी या श्रद्धा सचमुच विश्व की करुण-कामना-मूर्ति है, जो अत्यन्त आकर्षणपूर्ण होने के कारण अपने स्पर्श से जड़ में भी स्फूर्ति पैदा करने की क्षमता रखती है।[2] वह अत्यन्त उदार हृदया है, इसी कारण मनु को पशुत्व के जाल से मुक्त करके एक सच्चा मानव बनाती है अव्यवस्थित जगत की सुन्दर व्यवस्था करती है और अपने त्याग, तपस्या एवं बलिदान भावना द्वारा जगत का कल्याण करती है।[3] अतः 'कामायनी' में हमें श्रद्धा के रूप में करुणा की समग्र विशेषताएँ एक स्थान पर ही संगृहीत मिलती हैं। इसी कारण हम कह सकते हैं कि प्रसादजी ने कामायनी या श्रद्धा के रूप में पूर्णतया करुणा का चित्रण किया है।

४ परमाणुवाद— प्रसादजी ने 'कामायनी' में न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद की ओर भी संकेत किया है। न्याय-वैशेषिक-दर्शन में सृष्टि के विकास का वर्णन करते हुए बताया गया है कि 'पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का निर्माण इनके परमाणुओं द्वारा हुआ है। सर्वप्रथम दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति हुई। जिसके दो परमाणु समवायि कारण थे, उनका संयोग असमवायि-कारण था और अदृष्ट आदि निमित्त कारण थे। तदुपरान्त तीन द्व्यणुकों की क्रिया के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति हुई। जिसके तीन द्व्यणुक समवायि-कारण थे, शेष असमवायि तथा निमित्त कारण पूर्ववत् ही थे। इसी प्रकार चार त्र्यणुकों द्वारा चतुरणुक की उत्पत्ति हुई और चतुरणुक के उपरान्त क्रमशः स्थूलतर एवं स्थूलतम् पदार्थ उत्पन्न होते गये। इसी क्रम से अन्त में महान् पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु भी उत्पन्न हुए।'[4] अतः परमाणुओं से ही समस्त कार्यद्रव्य उत्पन्न हुए हैं।

'कामायनी' में इसी परमाणुवाद की ओर संकेत करते हुए प्रसादजी ने लिखा है कि जैसे ही वह मूलशक्ति अपने आलस्य का परित्याग करके सृष्टि का सृजन करने को उद्यत हुई, वैसे ही अणु-परमाणु भी दौड़ने लगे, सभी विद्युत् कण पारस्परिक आकर्षण के कारण मिलते हुए द्व्यणुक या त्र्यणुक की भाँति

१—कामायनी, पृ० २४२। २—वही, पृ० ४७। ३—वही, पृ० २६०।
४—तर्कभाषा, पृ० २४।

पदार्थ-रचना में लीन हो गये, समस्त ध्वसित एवं विश्लेषित पदार्थ पुनः सश्लिष्ट होने लगे और सृष्टि रचना आरम्भ होगई।[1]

यहाँ पर अणु-परमाणु के मिलने एव उनके सश्लिष्ट स्वरूप द्वारा सृष्टि के बनने का जो उल्लेख किया गया है, उनमे न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद की ओर संकेत अवश्य मिलता है, परन्तु मूलशक्ति के जाग्रत होने पर ही अणुओ के मिलने का वर्णन किया गया है। न्याय-वैशेषिक मे अणुओ के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति की कल्पना नही की गई है और अणुओं का स्वत. मिलना बताया गया है। परन्तु 'कामायनी' मे मूलशक्ति का उल्लेख करके स्पष्ट ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की ओर सकेत किया गया है। वहाँ मूलशक्ति को ही 'चिति' कहा गया है, जो अपनी इच्छा से जाग्रत होकर सृजन-कार्य करती है। इसी शक्ति को शैवदर्शन मे 'कामकला' भी माना गया है और प्रसादजी काम को 'इश्क' (love) का प्रतीक न मानकर प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप मानते है।[2] इसी कारण उन्होंने 'कामकला' के स्थान पर उस मूलशक्ति को 'प्रेमकला' कहा है[3] और उसी की इच्छा से सृष्टि का विकास होना लिखा है। अत यहाँ पर न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद की ओर सकेत भले ही हो, किन्तु मूल विचारधारा प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से अनुप्राणित है।

५. भौतिकवाद–'कामायनी' मे भौतिकवादी विचारधारा की ओर भी कुछ सकेत मिलते हैं। इस विचारधारा का मूल आधार यह है कि ससार मे जो कुछ हमे दिखाई देता है एव हमे अनुभव होता है वह सब भौतिक पदार्थ (matter) और गति (motion) द्वारा ही उत्पन्न हुआ है। विश्व के निर्माण मे द्रव्य (substance) का हाथ है; और इसी से समस्त भौतिक पदार्थ, मानव शरीर, जीवन, मन आदि का निर्माण हुआ है। यह विचारधारा अध्यात्मवाद के पूर्णतः विरोध मे विकसित हुई है। अध्यात्मवादी जहाँ मन, आत्मा या चेतन शक्ति से समस्त विश्व का विकास सिद्ध करते हैं, वहाँ भौतिकवादी भौतिक पदार्थ से ही विश्व

१—वह मूलशक्ति उठ खड़ी हुई अपने आलस का त्याग किये,
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े जिसका सुन्दर अनुराग लिए।
× × ×
प्रत्येक नाश विश्लेषण भी सश्लिष्ट हुए बन सृष्टि रही।
—काम सर्ग, पृ० ७२-७३।

२—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४७।

३—यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला।
—काम सर्ग, पृ० ७६

का विकसित होना बतलाते हैं। और वे भौतिक पदार्थ के अतिरिक्त किसी भी आध्यात्मिक सत्ता का होना स्वीकार नहीं करते।[1]

पहले इस भौतिकवादी विचारधारा के दर्शन हमे यूनानी दार्शनिक एपीकुरु मे होते हैं। उसका मत था कि विश्व का निर्माण असख्य भौतिक परमाणुओं से हुआ है। उसके पीछे कोई ज्ञान-शक्ति या विराट सत्ता ऐसी नही है, जो इनका मिश्रण करके विश्व का निर्माण करे। ये स्वय ही जब मिलते हैं, तो निर्माण-कार्य होता है और जब विच्छिन्न हो जाते हैं, तो विनाश होता है। जीवन के अन्त मे ये परमाणु बिखर जाते हैं। अत मानव को इस जीवन के उपरान्त सुख या आनन्द प्राप्त करने का अवसर नही मिलेगा, इससे यहाँ अधिकाधिक सुखी जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करनी चाहिए।[2] यह विचारधारा भारतीय चार्वाक मत से बहुत मिलती है। भारतवर्ष मे चार्वाकों का मत भी भौतिकवादी माना जाता है और उस मत मे भी ससार के अतिरिक्त किसी अन्य आध्यात्मिक सत्ता को स्वीकार नही किया गया है और इस जीवन को ही महत्व देकर इसे हर एक ढग से सुखी बनाने की ओर सकेत किया गया है।

आधुनिक भौतिकवाद के प्रबल प्रवर्त्तक कार्ल मार्क्स (Carl Marx) हैं। कार्ल मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहलाता है। इसका कारण यह है कि मार्क्स के इस दर्शन का विकास हेगेल के द्वन्द्वात्मक तथा फ्वेरबाख के भौतिकवाद के आधार पर हुआ है।[3] यद्यपि मार्क्स के दर्शन का विकास हेगेल के आधार पर ही हुआ है, फिर भी हेगेल तथा मार्क्स मे आकाश पाताल का अन्तर है। जहाँ हेगेल आत्मवाद को मूलतत्व मानता है, वहाँ मार्क्स प्रकृतितत्व को मूलतत्व कहता है। हेगेल वस्तु-जगत को विचारतत्व का ही बाह्य रूप मानता है, जबकि मार्क्स विचार-जगत को वस्तु-जगत का प्रतिबिम्बमात्र कहता है। मार्क्स का मत है कि सारे चिन्तन की रूप-रेखा बाह्य परिस्थितियो पर आधारित होती है। भौगोलिक स्थितियों का सामाजिक जीवन पर प्रभाव पडता है और सामाजिक भित्ति पर नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त बनते हैं। इसी कारण आध्यात्मिक विचारो के मूल-स्रोत भौतिक व्यापार हैं। वैसे भी मार्क्स का दर्शन भौतिकवादी ही है, क्योंकि वह इस जगत को भौतिक तत्वों का विकास मानता है। मार्क्स के अनुसार सृष्टि का कोई कर्त्ता या नियन्ता नहीं है। ईश्वर हमारे मस्तिष्क की उपज है।

1—The Principles of Philosophy, pp. 219, 224
—*H. M. Bhattacharya*

२—दर्शन-दिग्दर्शन—ले० राहुल सांकृत्यायन, पृ० ३०–३१।

3—The Chief Currents of Contemporary Philosophy, p 502.

धार्मिक सिद्धान्त सदैव सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर बनते हैं और सभ्यता तथा संस्कृति का रूप आर्थिक अवस्था पर निर्भर रहता है। इस तरह मार्क्सवाद भी बहुत कुछ अंशों में चार्वाक-दर्शन का ही अभिनव संस्करण प्रतीत होता है।[1]

मार्क्स का मत है कि पशु एवं मानव—सभी प्राकृतिक नियमों के आधार पर जीवन व्यतीत करते हैं। पशु तो उन नियमों का पालन अनजाने ही किया करते हैं, किन्तु मानव उन नियमों को जानता है तथा उस ज्ञान का प्रयोग स्वयं प्रकृति पर भी नियंत्रण करने के लिए करता है। मुक्ति या स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि हम अपने ऊपर तथा बाह्य प्रकृति के ऊपर अपना पूर्ण नियंत्रण करें। मार्क्स की दृष्टि में समाज के अन्तर्गत केवल दो ही वर्ग हैं—एक शोषित (exploited), तथा दूसरा शोषक (exploiters) वर्ग। दोनों वर्गों का संघर्ष चिरन्तन है। इस संघर्ष का अन्त समाजवादी व्यवस्था से ही हो सकता है। मार्क्स का आदर्श है वर्ग-हीन समाज, जिसमें न कोई शोषक हो और न कोई शोषित। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह क्रान्ति को आवश्यक समझता है। जब कोई आर्थिक व्यवस्था जीर्ण होकर प्रगति के पथ में बाधक होती है, तब उसके विरुद्ध समाज में क्रान्ति पैदा होती है। इस प्रकार क्रान्ति भी प्रगति की सीढ़ी है। मार्क्स का कहना है कि धर्म में भी समाज की आर्थिक स्थिति प्रतिबिम्बित होती है। धार्मिक अन्धविश्वास ऐसे ही व्यक्तियों में मिलता है, जो अज्ञानी एवं असहाय होते हैं तथा अपनी आर्थिक स्थिति को नहीं जानते। अतः धर्म का मिथ्या आवरण केवल अज्ञान एवं असहाय स्थिति के दूर कर देने पर हटाया जा सकता है और ऐसा उसी समय सम्भव है जबकि विश्व-भर में समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो जाय।[2]

इस भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर जब हम 'कामायनी' का अनुशीलन करते हैं, तब ज्ञात होता है कि प्रसादजी ने यहाँ 'चिन्ता' सर्ग में सर्वप्रथम देवताओं का चित्रण भौतिकवाद के अनुयायियों के रूप में किया है। क्योंकि देवगण यहाँ अपने से महान् किसी भी अन्य आध्यात्मिक सत्ता को नहीं मानते और केवल अपने सुखों के संग्रह में ही अहर्निशि निरत रहते हैं। इन देवताओं ने समस्त विश्व पर अपना अधिकार कर लिया था, उनकी कीर्ति चारों ओर छाई हुई थी और वे अपार बल, वैभव एवं आनन्दयुक्त जीवन व्यतीत करने के कारण यह भूल गए थे कि हमसे भी परे कोई विराट् शक्ति

१—यूरोपीय दर्शन—भूमिका, पृ० १२।

2—The Chief Currents of Contemporary Philosophy, p. 503.

है ।[1] इस प्रकार घोर भौतिकवादी जीवन की झलक सर्वप्रथम हमे देवताओ के जीवन मे मिलती है ।

इसके अनन्तर प्रसादजी ने 'कामायनी' मे दूसरा चित्र इडा के सारस्वत नगर का अंकित किया है, जिसमे प्रसादजी ने पुनः भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर उस नगर का विकास एवं ह्रास दिखलाया है। यहाँ इडा प्रथम भेंट के अवसर पर ही मनु को भौतिकवाद के अनुसार उस विराट् सत्ता के अस्तित्व मे अविश्वास करने के लिए आग्रह करती है। वह कहती है कि ऐसा सुना जाता है कि इस आकाश से परे कोई प्रकाश का लोक है, जहाँ इस माया-मयी सृष्टि का कोई अधिपति रहता है जो अपनी किरणो से सबको प्रकाश प्रदान करता है, परन्तु क्या कभी वह किसी दुखी प्राणी की पुकार सुनता है ? क्या वह किसी की सहायता करता है ? यह सब मानव का केवल भ्रम है, उसकी दुर्बलता है । मानव को तो अपने पैरो पर खडे होकर आगे बढना चाहिए और अपनी बुद्धि के आधार पर अपनी उन्नति करनी चाहिए ।[2] यह प्रकृति अत्यन्त रमणीय एव अमित सौंदर्य से भरी हुई है। अत इसका अन्वेषण करके इस पर अपना अधिकार करते हुए अपनी शक्ति को बढाने का प्रयत्न करो, इसके तुम नियामक एव निर्णायक बनो और विज्ञान के सहज साधनो से जडता को भी चैतन्य बनाओ, जिससे तुम्हारा यश सारे विश्व मे फैले ।[3]

मनु इसी भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर सारस्वत नगर की व्यवस्था करते हैं, और श्रम-विभाजन करके नगर की पर्याप्त उन्नति करते हैं। परन्तु वह व्यवस्था मार्क्स के भौतिकवादी दृष्टिकोण पर विकसित होकर भी समाजवाद के आधार पर सगठित नहीं होती, अपितु पूँजीवाद के अनुकूल सगठित होती है । जिससे उसमे वर्ग-सघर्ष, क्रान्ति एव विप्लव उत्पन्न हो जाते हैं। मार्क्स ने जिस चिरन्तन वर्ग-सघर्ष का उल्लेख किया है, वह सारस्वत नगर मे भी उत्पन्न हो जाता है, इसका कारण भी यही है कि सार-स्वत नगर मे विज्ञानमयी अभिलाषा पख लगाकर उडने लगी है, जिससे सभी वर्ग

१—कामायनी, पृ० ८८-८९ ।   २—कामायनी, पृ० १७० ।

३—यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने मे परिकर कसकर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जडता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय ।
—इडा सर्ग पृ० १७१ ।

जीवन की असीम आशाओं मे उलझने लगे है। साथ ही अधिकारों की सृष्टि होने के कारण वर्गों में ऐसी खाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं, जो कभी जुड नहीं सकतीं।[1] इस वर्ग-भेद की खाई को दूर करने के लिए तथा पूंजीपति शोषक को सही रास्ते पर लाने के लिए प्रसादजी ने मार्क्सवाद की क्रान्ति को ही आवश्यक बतलाया है। यहाँ पर वे गाधीवाद की भाँति निष्क्रिय सघर्ष को महत्व नही देते, अपितु मार्क्सवाद की भाँति सक्रिय प्रतिरोध के मार्ग को अपनाते हुए राजा और प्रजा के रक्तमय सघर्ष को आवश्यक बतलाते हैं।[2] यहाँ प्रजा अपने आततायी एवं दुराचारी राजा के विरुद्ध युद्ध करती है और अन्त मे उसे धराशायी करके विजय प्राप्त करती है।

अतः 'कामायनी' मे प्रसादजी ने भौतिकवाद के आधार पर सारस्वत नगर-निवासियो की क्रान्ति एवं उनकी विजय का तो उल्लेख किया है, परन्तु अन्त में समाजवादी व्यवस्था का चित्र अकित नही किया है। इसका कारण यह है कि वे भौतिकवाद को मानव उत्कर्ष के लिए सर्वथा अपेक्षित नहीं समझते। इसी कारण उन्होंने देवों की सृष्टि का विनाश एवं सारस्वत नगर मे मनु एवं उनकी शासन-व्यवस्था का विनाश दिखलाया है। प्रसादजी की धारणा के अनुसार भौतिकवाद के साथ-साथ अध्यात्मवाद का समन्वय होने पर भी मानव का उत्कर्ष सभव है। इसीलिए उन्होंने अन्त में भौतिकवादी विचारधारा पर आधारित वर्गहीन समाजवाद का चित्र अकित न करके सारस्वत नगर-निवासियों को भी कैलाश शिखर पर पहुँचा कर भौतिक एव आध्यात्मिक जीवन के समन्वय द्वारा उन्हें अखण्ड आनन्द का अनुभव करते हुए दिखलाया है। इस तरह 'कामायनी' में भौतिकवाद का संकेत तो अवश्य है, परन्तु वह अध्यात्मवाद के पोषक के रूप मे आया है, क्योंकि यहाँ उस विचारधारा के आधार पर मानव-सृष्टि का पतन दिखाकर उसे उन्नति प्राप्त करने के लिए अन्त में अध्यात्मवाद की ओर उन्मुख किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने यद्यपि अन्य दर्शनों के विचारो से प्रभावित होकर 'कामायनी' में उनकी ओर सकेत अवश्य किये हैं, फिर भी उनकी मूल

१—वह विज्ञानमयी अभिलाषा, पंख लगाकर उड़ने की,
जीवन की असीम आशायें कभी न नीचे मुड़ने की।
अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।
—स्वप्न सर्ग, पृ० १८६।

२—लोकजीवन और साहित्य, पृ० ४५।

दार्शनिक विचारधारा पर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का ही अत्यधिक प्रभाव है और इसी कारण उन्होंने दार्शनिक दृष्टि से श्रद्धा को सद्विद्या के रूप में अंकित करते हुए मनु और इड़ा को ऐसे साधारण जीवात्माओं के रूप में चित्रित किया है, जो अपने निजी रूप को भूले हुए हैं और तीनों मलों अथवा षट् कंचुकों से आवृत होकर इस माया-राज्य में भटकते रहते हैं, परन्तु जब वे सद्विद्या की शरण में जाते हैं, तो उन्हें अपने वास्तविक रूप का प्रत्यभिज्ञान होता है, तभी उन्हें चिति का साक्षात्कार होता है, उनके समस्त मल एवं कंचुक दूर होते हैं और वे स्वयं अखंड आनन्दघन शिव रूप होकर सर्वत्र एक चिति के विलास का दर्शन करते हैं। इस तरह कामायनी के अन्त में इड़ा, मनु आदि सभी पात्रों को अपने निजी रूप का साक्षात्कार कराकर शैवदर्शन की अनुत्तरावस्था में पहुँचे हुए जीवों की भाँति अंकित किया गया है। इसी कारण दार्शनिक विचारों की दृष्टि से 'कामायनी की कथा का विकास प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आधार पर ही हुआ है।

आधुनिक विज्ञान और कामायनी

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। सर्वत्र वैज्ञानिक आविष्कारों एवं अनुसंधानों की धूम मच रही है। नित्य नये आविष्कार हो रहे हैं तथा नित्य उनके प्रयोगों द्वारा मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की तैयारी कर रहा है। पहले जिन बातों की हम केवल कल्पना ही किया करते थे, वे सभी बातें आज हमें अपनी दृष्टि के सम्मुख सत्य दिखाई देती हैं। विज्ञान ने अपने अद्भुत कार्यों द्वारा मानव को नई सभ्यता, नई संस्कृति, नये विचार, जीवन-यापन के नये-नये साधन, नये-नये अनुभव आदि प्रदान किये हैं, जिनके द्वारा वह उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ द्रुतगति से प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करता चला जा रहा है। परन्तु प्रकृति इतनी रहस्यमयी है कि उसके सभी रहस्यों का ज्ञान मानव प्राप्त नहीं कर सका है, फिर भी विज्ञान की इस द्रुतगामी प्रगति से संसार का कोई भी कोना अछूता नहीं बचा है और क्या धर्म, क्या समाज, क्या व्यक्ति और क्या उसके विचार—सभी पर कुछ न कुछ प्रभाव इस विज्ञान का पड़ा है।

जब सर्वत्र विज्ञान की दुन्दुभी बज रही है, तब भारतीय मानव और उसके विचारों पर भी विज्ञान का प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यही कारण है कि आधुनिक युग के महाकाव्य 'कामायनी' में भी यत्र-तत्र हमें आधुनिक विज्ञान के कतिपय सिद्धान्तों की झलक मिल जाती है। यद्यपि साहित्य और विज्ञान दो पृथक् धारायें हैं, फिर भी विज्ञान का प्रवेश साहित्य के अन्तर्गत भी है, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण है और समाज वैज्ञानिक प्रभाव से

प्रभावित है। अतः साहित्य में वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं आविष्कारों की चर्चा होनी आश्चर्य की बात नहीं। इसीलिए 'कामायनी' में भी कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त मिल जाते हैं, जो इस प्रकार हैं —

१. गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त–प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलिलियो ने यह सिद्ध किया था कि ग्रह, नक्षत्र आदि किसी समय अतीत में किसी प्रकार गतिशील हो गये थे, तब से वे बिना किसी बाहरी शक्ति की सहायता के ही निरन्तर चलायमान रहते हैं। अधिक से अधिक उन्हें केवल एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है, जो उन्हें सीधे एक ही दिशा में न जाने देकर सूर्य की परिक्रमा करने के लिए विवश करदे।[1] परन्तु यह शक्ति कहाँ से आती है ? इस बात का ज्ञान गैलिलियो को नहीं हुआ था। न्यूटन ने एक बार उलस्थ्राप के एक उद्यान में एक सेब को पृथ्वी पर गिरते हुए देखा और वह इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सेब के गिरने का कारण पृथ्वी का आकर्षण है। फिर तो उसने गणित द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि आकर्षण-शक्ति-सम्पन्न पदार्थ का एक गोलाकार पिंड अपने बाहर की वस्तुओं को इस प्रकार आकर्षित करता है, मानो उसकी सारी पदार्थ-मात्रा केन्द्र में ही स्थित हो। इस आविष्कार द्वारा उसने पता लगाया कि संसार का प्रत्येक पदार्थ आकर्षण-सम्पन्न है और आकाश में प्रत्येक ग्रह आकर्षण के कारण ही सूर्य की परिक्रमा किया करता है। यहाँ तक कि पुच्छल तारे भी आकर्षण के सिद्धान्त के अनुसार ही भ्रमण किया करते हैं।[2]

'कामायनी' में भी ग्रह-नक्षत्रों की गतिशीलता का मुख्य कारण आकर्षण बतलाया गया है और "छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए" कहकर सम्पूर्ण ग्रह, नक्षत्र विद्युत्कण आदि को पारस्परिक आकर्षण के कारण अंतरिक्ष में चक्कर लगाते हुए कहा गया है।[3] अतः 'कामायनी' में हमें न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी सिद्धान्त की ओर संकेत मिल जाता है।

२. अणु-परमाणु एवं विद्युत्कण सम्बन्धी सिद्धान्त—वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म अनुसंधान द्वारा यह पता लगाया है कि सृष्टि का विकास अणु-परमाणुओं द्वारा हुआ है। प्रत्येक अणु में कितने ही परमाणु होते हैं। जैसे मद्र के एक अणु में लगभग २५,००० परमाणुओं की संख्या बताई गई है। ये परमाणु बड़े भयानक वेग से चक्कर लगाया करते हैं। एक छोटी-सी कंकड़ी भी कितने ही अणुओं से बनी होती है और उन अणुओं में कितने ही परमाणु वेग-पूर्वक चक्कर लगाते रहते हैं। इन छोटे से परमाणुओं में अपार शक्ति होती है। वैज्ञानिकों की राय

१—विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १०३।
२—वही, पृ० ११३–११५।
३—कामायनी, पृ० २६।

है कि ओषजन वायु के अणुओ को इकट्ठा करके उन्हें काम मे लाएँ तो उसके एक ग्राम मे नौ मन से कुछ अधिक भार को चालीस इंच की ऊँचाई तक उठा सकने की शक्ति मिल सकती है। इन अणुओ मे कितने ही छोटे-छोटे परमाणु रहते हैं, जो अत्यत वेगशील एव शक्ति-सम्पन्न होते हैं।[1] 'कामायनी' मे भी कवि ने इन अणुओ को सदैव चक्कर काटने वाला बताया है तथा इन अणुओं के वेग एव शक्ति-सम्पन्नता की चर्चा करते हुए लिखा है —

अणुओ को है विश्राम कहाँ यह कृतिमय वेग भरा कितना,
अभिराम नाचता कपन है, उल्लास सजीव हुआ इतना।[2]

पहले वैज्ञानिक अणु के सूक्ष्मतम परमाणु को अखड एव अविभाज्य मानते थे, इसी कारण उसे 'एटम' (atom) नाम दिया था। परन्तु अब प्रयोगो द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि परमाणु या एटम भी खड-खड हो जाते हैं और उनके जो टुकडे निकलते हैं, वे ही विद्युत्कण या एलेक्ट्रॉन (electron), प्रोटॉन (proton) एव न्यूट्रॉन (neutron) कहलाते हैं। ये विद्युत्कण अत्यत चमकीले एव वेगयुक्त होते हैं, जो सबके सब एक ही प्रकार के होते हैं, भले ही वे कितने ही भिन्न पदार्थों के परमाणुओ से टूटकर क्यो न निकले हो। इनमे अद्भुत शक्ति एव अपार तेज होता है। जैसे सूर्य के चारों ओर अनेक ग्रह चक्कर लगाया करते हैं, वैसे ही एक अणु के चारो ओर अनेक विद्युत्कण भी चक्कर लगाया करते हैं। ससार के सभी वैज्ञानिकों की यह राय है कि ससार के छोटे-बडे सभी पिंड अणुओ मे बने हैं। ये अणु परमाणुओ से बने हैं और प्रत्येक परमाणु प्रकण या प्रोटॉन और विद्युत्कण या एलेक्ट्रॉन से बना है। प्रोटॉन का आवेशधन विद्युत (positive electricity) की इकाई और एलेक्ट्रॉन का आवेश ऋण विद्युत् (negative electricity की इकाई माना जाता है। ये दोनों अणु विद्युत् के धन और ऋण अथवा पुरुष और प्रकृति हैं। प्रत्येक प्रोटॉन के चारो ओर अनेक एलेक्ट्रॉन बडे वेग से चक्कर लगाते हैं और इनके मिलने से ही सारा ससार बना है।[3]

'कामायनी' मे प्रसादजी ने भी अणुओ, परमाणुओं एव विद्युत्कणो द्वारा ही सृष्टि का विकास सिद्ध किया है और 'परमाणु बाल सब दौड पडे जिसका सुन्दर अनुराग लिए' अथवा 'अतरिक्ष के मधु उत्सव के विद्युत्कण मिले मनकते से' आदि कहकर इनका पारस्परिक आकर्षण एव मिलन से ही सृष्टि का विकास सिद्ध किया है।[4]

१—विज्ञान-हस्तामलक, पृ० २७८–२७६। २—कामायनी, पृ० ६५।
३—विज्ञान-हस्तामलक, पृ० २८३, २८६-२६०।
४—कामायनी, पृ० ७२-७३।

प्रायः सभी वैज्ञानिकों का अब तो यह विचार है कि परमाणु कुछ समान मूल-कणों से बने हैं, जिनके नाम एलैक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि दिये जाते हैं। किन्तु एक तत्व की दूसरे तत्व से भिन्नता का कारण यह बताया जाता है कि उनके परमाणुओं में इन मूल-कणों की संख्या भिन्न होती है। लार्ड रदरफोर्ड तथा उनके साथियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक रेडियमधर्मी वस्तु अपने अन्दर से शक्ति (energy) के निकालने के उपरान्त नीचे के तत्वों में बदल जाती है और अन्त में वह एक स्थायी तत्व के रूप में आ जाती है। समस्त रेडियमधर्मी तत्वों के अध्ययन से यह पता चलता है कि प्रत्येक परमाणु में इतनी अधिक शक्ति भरी हुई है कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। इस शक्ति को परमाणु-शक्ति (atomic energy) कहते हैं। इस शक्ति पर यदि नियंत्रण कर लिया जाय और उसे जीवन के उपयोगी कार्यों में लगाया जाय, तो उससे एक नये युग का आरम्भ हो सकता है।[1] परन्तु अभी तक इस परमाणु-शक्ति के दुरुपयोग की ही कथा सुनने में आई है। अमेरिका में इस परमाणु-शक्ति को वश में करने के लिए १६० लाख डालर खर्च करके परमाणु-बम्ब बनाया गया, जिसकी परीक्षा १६ जुलाई, १९४५ ई० को न्यूमैक्सिको के रेगिस्तान में की गई। इस बम्ब का विस्फोट अत्यंत भयानक था। उससे ६ मील के दायरे में खड़े दो व्यक्ति मर गये, उसके धुएँ के बादल ८ मील की ऊँचाई तक चढ़ गये और जिस इस्पात के स्तम्भ पर उसका प्रयोग किया गया था वह पूर्ण रूप में भाप बनकर उड़ गया। अमरीका ने जापान पर ऐसे ही दो परमाणु-बम्ब गिराये थे, जिनसे दो लाख जापानी मारे गये और एक ही बम्ब ने ६ मील के घेरे में तमाम घरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।[2] इतनी शक्ति इन विद्युत्कणों से युक्त परमाणुओं में होती है। 'कामायनी' में भी इसी परमाणु-शक्ति की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि '—

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।[3]

और यह बताया गया है कि परमाणु-शक्ति का प्रयोग मानवता के विनाश के लिए नहीं, अपितु मानवता को विजयिनी बनाने के लिए होना चाहिए।

३. परिवर्तन-शीलता का सिद्धान्त—आधुनिक वैज्ञानिकों ने दो प्रमुख सिद्धान्त स्थिर किए हैं। उनमें से प्रथम यह है कि कोई भी पदार्थ न तो कभी उत्पन्न होता है और न उसका कभी विनाश होता है, वह केवल रासायनिक क्रियाओं द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में परिवर्तित होता रहता है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि

१—माध्यमिक भौतिक विज्ञान, पृ० ४६४।
२—विज्ञान के चमत्कार, पृ० ६९–७२। ३—कामायनी, पृ० ६६।

कोई भी शक्ति एवं ऊर्जा (energy) न तो कभी उत्पन्न होती है, और न कभी नष्ट होती है, अपितु वह भी नाना रूपों में परिवर्तित होती रहती है।[1] इससे स्पष्ट है कि संसार का कोई भी पदार्थ एवं कोई भी शक्ति कभी नष्ट नहीं होती अपितु उनके रूप बदलते रहते हैं। 'कामायनी' में भी इस परिवर्तनशीलता की ओर संकेत करते हुए लिखा है —

> विश्व एक बन्धन विहीन परिवर्तन तो है,
> इसकी गति में रवि-शशि तारे ये सब जो हैं।
> रूप बदलते रहते वसुधा जलनिधि बनती,
> उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती।[2]

और भी,

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत, वह रूप बदलता है शत-शत।[3]

४ गतिशीलता का सिद्धांत—आधुनिक विज्ञान ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि का कोई भी पदार्थ अगतिमय नहीं है। क्योंकि इस सृष्टि में अनन्त विश्व हैं, जिनमे से प्रत्येक में अनन्त ब्रह्मांड हैं। कोई भी ब्रह्मांड स्थिर नहीं है। प्रत्येक ब्रह्मांड मे असंख्य पिंड हैं और कोई भी पिंड स्थिर नहीं है। प्रत्येक पिंड में चराचर प्राणी और जड पदार्थ है, जो सबके सब अणुओं से बने हुए हैं, परन्तु एक भी अणु स्थिर नहीं है। प्रत्येक अणु परमाणुओं से बने हैं और परमाणु इलैक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन, न्यूटॉन से बने हैं किन्तु मे विद्युत्कण स्थिर नहीं हैं। अत संसार मे कहीं भी स्थिरता नहीं है, सभी निरन्तर गतिशील रहते हैं। जो पिंड जितना ही सूक्ष्म है वह उतना ही अधिक तेजी से गतिशील रहता है और जो पिंड जितना ही स्थूल है वह उतना ही कम गतिशील रहता है। इसी कारण ऋषियों ने भी इस ब्रह्मांड को 'संसार' अर्थात् संसरणशील या गतिमान् कहा है।[4] 'कामायनी' मे भी विश्व की इस गतिशीलता का वर्णन करते हुए लिखा है :—

> यह नर्त्तन उन्मुक्त विश्व का स्पन्दन द्रुततर,
> गतिमय होता चला जा रहा अपने लय पर।[5]

५ डारविन के तीन सिद्धान्त—आधुनिक वैज्ञानिक डारविन ने तीन प्रमुख सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है। प्रथम तो यह है कि परिवर्तन जीवन

1—A Treasury of Science, p 188.

२—कामायनी, पृ० ११०। ३—कामायनी, पृ० २४२।

४—विज्ञान हस्तामलक, पृ० २६१–२६२।

५—कामायनी, पृ० १६१।

की विशेषता है। जिनमे प्रतिकूल परिवर्तन होते हैं या जिनमे बिल्कुल परिवर्तन नही होते उनकी अपेक्षा सदैव वे लोग अधिक सफलता प्राप्त करते हैं जिनमे अनुकूल परिवर्तन होते हैं। दूसरा सिद्धान्त यह है कि जिनमे अनुकूल परिवर्तन होते हैं, वे अपने गुणो एवं सामर्थ्य के द्वारा सदैव बने रहते हैं और उनकी परम्परा मे वे गुण स्थायी हो जाते हैं। परन्तु प्रतिकूल परिवर्तन वाले व्यक्ति सामयिक गुणो एवं सामर्थ्य के अभाव मे धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। तीसरा सिद्धान्त यह है कि अपने-अपने जीवन को सुस्थिर बनाने के लिए सदैव सघर्ष चलता रहता है, उस संघर्ष मे वे ही जीवित रहते हैं, जो दृढता के साथ इस जीवन के द्वन्द्व में डटे रहते हैं। क्योकि एक प्राणी दूसरे प्राणी को खा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति भी अनेक बाधायें डालती है। अत अन्त मे वही अपनी रक्षा कर सकता है, जो शक्तिपूर्वक इन सबका दृढता के साथ सामना करे।[1]

डारविन के उक्त तीनो सिद्धान्तो के सकेत 'कामायनी' मे मिल जाते हैं। प्रथम अनुकूल परिवर्तन वाले सिद्धान्त की झलक 'कामायनी' की निम्नलिखित पक्तियो मे मिलती है, जिनमे इडा मनु को प्रकृति एव प्रजा के साथ अनुकूल परिवर्तन स्वीकार करने के लिए आग्रह करती हुई कहती है —

ताल ताल पर चलो नही लय छूटे जिसमें
तुम न विवादी स्वर छेडो अनजाने इसमे।[2]

डारविन के दूसरे तथा तीसरे सिद्धान्त मे जीवन के सतत सघर्ष के अन्तर्गत अनुकूल परिवर्तन वाले गुणी, दृढ एव समर्थ व्यक्तियो के ही जीवित रहने एवं अन्य गुणहीन एव दुर्बलो के नष्ट होने की बात बताई गई है। 'कामायनी' मे भी इन्ही दोनो सिद्धान्त की ओर सकेत करते हुए लिखा है :—

स्पर्धा मे जो उत्तम ठहरे वे रह जावें,
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।[3]

६. प्रकाश का सिद्धांत—पहले संसार को यह ज्ञात न था कि ध्वनि एव तरंगो की भाँति प्रकाश मे भी कम्पनशीलता एव तरंग के से गुण होते हैं। सर्वप्रथम न्यूटन ने यह सिद्ध किया कि प्रकाश कितने ही कणो से बनता है और ये प्रकाश के कण जिन वस्तुओ के सम्पर्क मे आते हैं उनमे भी कम्पन पैदा कर देते हैं।[4] इसके उपरान्त यंग, मेक्सवेल, लोरेन्ट्ज आदि वैज्ञानिको ने यह सिद्ध कर दिया कि प्रकाश ईथर मे उत्पन्न एक तरंग समूह है, ये तरंगें विद्युत् कणों के कम्पन

१—विज्ञान-हस्तामलक, पृ० १६५–१६६।
२—कामायनी, पृ० १६३। ३—वही, पृ० १६२।
४—विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १२२।

से उत्पन्न होती हैं। इसी कारण प्रकाश तरंगों की तरह चंचल एवं कम्पनशील दिखाई देता है।[1] कामायनी में भी प्रकाश को चंचल एवं कम्पनशील बतलाते हुए लिखा है —

(१) व्यक्त नील में चल प्रकाश का कम्पन, सुख बन बजता था।[2]
(२) रश्मियाँ बनीं अप्सरियाँ अन्तरिक्ष में नचती थीं।[3]

७ वायुमंडल का सिद्धान्त—वैज्ञानिकों ने गुब्बारों की सहायता से भूमण्डल के ऊपर की गतिविधि का भी पता लगा लिया है। उनका मत है कि ज्यों-ज्यों गुब्बारा ऊँचाई पर चढ़ता है, त्यों-त्यों ठंडक बढ़ती जाती है। परन्तु यह बाढ़ छः मील से अधिक ऊँचे नहीं जाती। सबसे अधिक दूरी जो अभी तक गुब्बारों द्वारा ज्ञात हो सकी है वह २२.३ मील है। यह ज्ञात हुआ है कि ६ मील से लेकर २२ मील की दूरी तक ठंडक स्थायी रूप में रहती है, न घटती है और न बढ़ती है। हवा, तूफान, आँधी, बादल सभी की सीमा केवल धरातल से ६ मील तक ही है। इसके ऊपर शान्त और क्षीण वायुमंडल है। वहाँ केवल ठंडक है और वायु न होने के कारण वहाँ जीवन के चिह्न नहीं मिलते।[4]

'कामायनी' में भी धरातल की लगभग छः मील की ऊँचाई पर व्याप्त वायु-मण्डल का वर्णन मिलता है और बताया गया है कि वहाँ वायु, मेघ आदि सभी समाप्त हो जाते हैं, और श्वांस रुद्ध करने वाला केवल शीत पवन रह जाता है। इस ऊँचाई पर पहुँचकर ही मनु श्रद्धा से कहते हैं:—

लौट चलो, इस वात-चक्र से मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा।
श्वास रुद्ध करने वाले इस शीत पवन से अड़ न उकूँगा।[5]

८ पैतृक योग्यता का सिद्धान्त—मानव विज्ञान के विशेषज्ञ गाल्टन ने अपने निरीक्षण-परीक्षणों द्वारा सिद्ध किया है कि 'एक साधारण व्यक्ति के लड़के की अपेक्षा एक जज के लड़के के बुद्धिमानी होने की सम्भावना पाँच-सौ गुना अधिक है। यही नहीं, एक जज के पिता के बुद्धिमान होने की सम्भावना एक साधारण व्यक्ति के पिता की अपेक्षा पाँच-सौ गुना अधिक है।'[6] इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि संतान में माता पिता के गुण, योग्यता आदि सहज प्राप्त होते हैं और संस्कार-रूप में उन्हें मिल जाते हैं।

१—विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १६५। २—कामायनी, पृ० ३६।
३—कामायनी, पृ० २६४। ४—विज्ञान-हस्तामलक, पृ० ३६१-३६२।
५—कामायनी, पृ० २५६। ६—विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २०८।

कामायनी मे प्रसादजी ने भी मनु एव श्रद्धा के पुत्र मानव को श्रद्धामय एवं मननशील कहकर उसमे माता-पिता के गुणों का सहज समावेश सिद्ध किया है। इसीलिए माता श्रद्धा अपने पुत्र मानव से कहती है :—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय।[1]

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने 'कामायनी' मे सुप्रसिद्ध एव प्रमुख वैज्ञानिक सिद्धान्तों मे से कुछ सिद्धान्तो की ओर ही सकेत किए हैं। इन सकेतो का प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि वे वैज्ञानिक चमत्कारो से प्रभावित थे और अपने विचारों के अनुकूल जिन तथ्यो को आवश्यक समझते थे, उनको यहाँ स्थान दिया है। दूसरे, वे मानवता के विकास के लिए आधुनिक विज्ञान की भी सर्वथा उपेक्षा करना अच्छा नही समझते थे। इसी कारण 'विद्युत्कण' आदि के सिद्धान्त का उन्होंने बार-बार समर्थन किया है। किन्तु प्रसादजी की यह दृढ धारणा थी कि भौतिक-विज्ञान एव आध्यात्मिकता दोनो के समन्वय से जन-कल्याण हो सकता है, दोनो के एकाकी रूप द्वारा न तो मानव की उन्नति हो सकती है और न मानवता का विकास ही सम्भव है। इसी कारण उन्होंने 'कामायनी' मे एक ओर तो श्रद्धा के मुख से शक्ति के विद्युत्कणो का समन्वय करने का आग्रह करके आधुनिक विज्ञान का समर्थन किया है और दूसरी ओर सारस्वत नगर का विध्वस दिखाकर और मनु, इड़ा, मानव आदि को कैलाश शिखर पर पहुँचा कर आध्यात्मिकता-युक्त जीवन व्यतीत करने की सलाह दी है। अतः प्रसादजी 'कामायनी' मे वैज्ञानिक विकास के विरुद्ध नहीं हैं, अपितु वैज्ञानिक आविष्कारो का समर्थन करते हुए मानवता के उत्कर्ष मे सहायक आधुनिक विज्ञान का अपनाना श्रेयस्कर समझते हैं।

कामायनी की दार्शनिकता और आधुनिक मानव-जीवन—आधुनिक युग विज्ञान का युग है और वैज्ञानिक आविष्कारो एव वैज्ञानिक चमत्कारों ने मानव-बुद्धि को इतना आकर्षित किया है कि यह अपनी समस्त प्राचीन मान्यताओं का परित्याग करके अधिकाधिक आधुनिक मान्यताओं का अनुसरण करने लगा है। आज विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि आत्मा या ईश्वर नाम की कोई ऐसी सत्ता या शक्ति नहीं है, जो समस्त विश्व का नियंत्रण करती हो तथा जिसकी अनुकम्पा पर विश्व का विकास और भ्रू-भग होने पर विश्व का विनाश निर्भर हो। आज सभी वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए विशेष विशेष कारण दिए जाते हैं और विशेष-विशेष पदार्थों एवं वातावरण आदि के संयोग से ही सभी की सृष्टि मानी जाती है। इतना ही नहीं, आज लगभग सभी बातों की व्याख्या विज्ञान

१—कामायनी, पृ० २४४।

के सहारे की जाती है और जिन बातो की व्याख्या मे कुछ आपत्ति दिखाई देती है उसके बारे मे यह कहा जाता है कि अभी हम उसकी खोज कर रहे हैं और खोज के पूर्ण होने पर हम उसकी भी व्याख्या कर सकेंगे। किन्तु नहीं कहा जा सकता कि वह खोज कब पूर्ण होगी और कब मानव समस्त सृष्टि के रहस्य को अपनी बुद्धि द्वारा प्रकट करने मे समर्थ होगा ?

इस आधुनिक विज्ञान ने मानव जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। आज विश्व भर मे वैज्ञानिक प्रणाली पर शिक्षा दी जाती है, वैज्ञानिक ढगों से समाज का निर्माण किया जाता है और वैज्ञानिक रीति से ही शासन व्यवस्था एव राज्यों का सचालन किया जाता है। विज्ञान ने व्यक्ति और समाज दोनों को इतना अभिभूत किया है कि उनके खान-पान, रहन सहन, आमोद-प्रमोद, गमनागमन, हास विलास आदि म वैज्ञानिक साधनो का ही प्राधान्य है और तुच्छ से तुच्छ तथा महान् से महान् कार्यों के लिए विज्ञान का ही सहारा लिया जाता है। आज केवल समाज एव राष्ट्रों की उन्नति के लिए ही वैज्ञानिक साधनो का प्रयोग नही होता, अपितु एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पने के लिए भी नये-नये वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रो का आविष्कार कर रहा है और नित्य नित्य नई-नई वैज्ञानिक प्रणालियों द्वारा जन-सहार करने की बात सोच रहा है। अणु-शक्ति तथा परमाणु-बम्ब इसी विज्ञान के चरम आविष्कार हैं, जिनके द्वारा क्षण भर मे सारे विश्व को नष्ट किया जा सकता है।

इस आधुनिक विज्ञान के आधार पर जीवन व्यतीत करने वाले समाज एव राष्ट्रों के लिए ही 'कामायनी' का निर्माण हुआ है। प्रसादजी ने एक क्रान्तदर्शी कवि होने के नाते बहुत पहले ही यह देख लिया था कि आधुनिक विज्ञान मानवता का विकास नही, अपितु ह्रास करने मे अधिक सफल होगा और इसी कारण उन्होंने सारस्वत नगर की भौतिक उन्नति एव उसके ह्रास का चित्र 'कामायनी' मे अकित किया है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि विज्ञान का उत्कर्ष इसी मे है कि वह 'मानवता को विजयिनी बनाने में समर्थ हो, उसके द्वारा समुद्रो पर सेतु बनाए जाएँ, विश्वभर की दुर्बलता को दूर करने के लिए अनन्त शक्ति का सचय किया जाय और मानवता को इतना सशक्त बना दिया जाय कि वह झझा-सी ज्वालामुखियों आदि को कुचलती हुई अपनी कीर्ति का विस्तार अनिल, भू, जल आदि मे भी अबाध गति से करती रहे।'[1] इसी कारण उन्होने 'कामायनी' द्वारा समरसता की विचारधारा को प्रस्तुत करते हुए सर्वत्र मानवता को सशक्त एव समृद्धिशाली बनाने की प्रेरणा दी है।

१—कामायनी, पृ० ५८-५६।

इस वैज्ञानिक युग में अधिकांश मानव किसी भी शक्ति के अस्तित्व में विश्वास न रखने के कारण अधिकाधिक भौतिकता से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे हैं। उनके हृदय से धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, नैतिकता-अनैतिकता आदि के विचार उठ गये हैं और वे मानवता के उच्चादर्शों की अवहेलना करके उन्हें शासकों, पूँजीपतियों, सामन्तों शोषकों आदि के स्वार्थपूर्ति के सिद्धान्त बताते हैं। उनकी दृष्टि मे धर्म अज्ञान एवं असहाय व्यक्तियो के मस्तिष्क की उपज है, जो उन्हे केवल क्षणिक आनन्द एवं आश्रय प्रदान करता है[1] और वे विश्व मे सर्वत्र दो वर्गों की कल्पना करने लगे हैं—एक शोषित तथा दूसरा शोषक, एक शासित एव दूसरा शासक और एक मजदूर एव दूसरा पूँजीपति। इन विचारो से सर्वत्र भेद-बुद्धि को प्रश्रय मिला है और वर्ग-संघर्ष की वृद्धि हुई है। प्रसादजी ने इसका परिणाम सोचकर और 'कामायनी' में इसके सघर्ष का चित्रण करते हुए अपनी अभेदता सम्बन्धी दार्शनिक विचारधारा द्वारा यह बताया है कि मानवता का विकास वर्ग-सघर्ष द्वारा नही हो सकता, क्योकि मानवमात्र मे एक ही चेतना व्याप्त है, पूँजीपति और मजदूर दोनो एक ही हैं, शोषक और शोषित में कोई अन्तर नही, यह तो चैतनता का भौतिक विभाजन है, जिससे मानव-मानव में प्रेम एवं अनुराग के स्थान पर परस्पर भेद-भाव, विराग आदि की ही वृद्धि होती है। यदि मानव के हृदय मे अभेदता की विचारधारा घर कर जाय, तो वह फिर न तो किसी को व्यर्थ सतायेगा और न किसी के ऊपर हठात् अत्याचार करेगा। इसीलिए उन्होने सर्वत्र एक चेतनता को व्याप्त बतलाकर मानव मात्र से अनुराग करने की प्रेरणा प्रदान की है।

आधुनिक मानव अपने जीवन मे अधिकाधिक आनन्द प्राप्त करने के लिए बड़ा बेचैन है। आज जितने भी अनुसधान, आविष्कार आदि हो रहे हैं, उनके पीछे यही एक धारणा कार्य कर रही है कि मानव अपने जीवन मे अधिकाधिक आनन्द या सुख का संग्रह करना चाहता है। इस सुख या आनन्द की खोज मे ही वह सतत परिश्रम करता है, इच्छाओं एव एषणाओं मे लिप्त रहता है, एक क्षण भी विश्राम करना नहीं चाहता और उसके प्राण क्रिया रूपी तत्व के दास बन गये हैं। परन्तु इतना परिश्रम करने पर भी उसे यहाँ सतत सघर्ष, विकलता, कोलाहल आदि के ही दर्शन होते हैं, वह असन्तुष्ट ही बना रहता है और उसकी इस अन्धकार की दौड़ का कुछ भी अच्छा परिणाम नहीं निकलता।[2]

1—The Chief Currents of Contemporary Philosophy. p. 508.
२—कामायनी, पृ० २६६-२६७।

वह अपने एकाकी सुख या आनन्द की खोज मे निरन्तर अनजान समस्यायें गढता चला जा रहा है, उसकी एकता नष्ट हो गई है, कोलाहल एव कलह बढता जा रहा है, उसके लिए अभिलषित वस्तु की प्राप्ति तो दूर रही, हाँ, उसे अनिच्छित एव दुखद खेद की प्राप्ति हो रही है, सब कुछ पास होते हुए भी वह असन्तुष्ट बना हुआ है, उसकी सकुचित दृष्टि उसे अत्यन्त पीडा पहुँचा रही है[1] इत्यादि। प्रसादजी ने आधुनिक मानव की इस परिस्थिति का बडी सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया था। इसीलिए उन्होने अपने दार्शनिक विचारों द्वारा एक ओर तो ससार की सत्यता का प्रतिपादन किया, जिससे मानव दुखी होकर कही इस ससार को छोडकर वैराग्य धारण न करे और यहीं अधिकाधिक कर्मशील बनकर आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न करे तथा दूसरी ओर ससार को ही चिति का विराट् वपु बतलाते हुए और उस चिति रूप शिव को ही अखण्ड आनन्दघन कहकर यह भी सिद्ध किया कि ससार और ईश्वर मे कोई भेद नहीं है। जैसा वह ईश्वर अखण्ड आनन्दमय है, वैसा ही यह ससार भी है और इस ससार मे रहकर ही यह सतप्त एव दुखी मानव अभेदवादी विचारो तथा सत्कर्मों द्वारा आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

अत 'कामायनी' के दार्शनिक विचारो मे व्यावहारिकता की प्रधानता है। प्रसादजी ने उन्हे आधुनिक मानव का मार्ग-दर्शन करने के लिए ही 'कामायनी' मे श्रद्धा एव मनु की कथा के आश्रय से प्रस्तुत किया है तथा अपने दर्शन की मानव-जीवन मे अपरिहार्य सार्थकता सिद्ध की है। इतना ही नही, प्रसादजी न अपने दार्शनिक विचारो को इस प्रकार सगुम्फित करके अपने दर्शन की श्रेयमयी धारा को प्रेममयी बना दिया है, जिससे सर्वसाधारण भी लाभ उठा सकते हैं और आधुनिक विषमतापूर्ण सघर्ष से बचकर अपने जीवन मे अभीष्ट आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं।

कामायनी की दार्शनिक देन—'कामायनी' की दार्शनिक विचारधारा का सम्यक अनुशीलन करने के उपरान्त यह प्रतीत होता है कि प्रसादजी ने 'कामायनी द्वारा आधुनिक मानव का बडा कल्याण किया है। उन्होंने शैवागमों एव अन्य भारतीय दर्शनों से प्रमुख प्रमुख सिद्धान्तो का सार लेकर उन्हें आधुनिक मानव-जीवन के अनुकूल ढालते हुए कामायनी की दार्शनिकता का निरूपण किया है। उन्होंने दर्शन के नीरस विचारो मे भाव एव कल्पना का योग देकर उन्ह सरस एव सर्वजन-सुलभ बनाया है। इसी कारण 'कामायनी' मे उन्होंने जिन दार्शनिक विचारो को विश्व के सम्मुख रखा है, वे अत्यन्त

१—कामायनी, पृ० १६४।

व्यावहारिक हैं तथा उनको अपनाकर प्रत्येक मानव इसी जीवन मे भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के सुख को प्राप्त कर सकता है। सक्षेप मे उनकी दार्शनिक देन इस प्रकार है :—

(१) **अभेदवाद**—'कामायनी' मे सर्वत्र जीव और ब्रह्म तथा ब्रह्म और जगत की अभेदता का समर्थन किया गया है। प्रसादजी का मत है सर्वत्र एक चिति या चेतना का ही प्राधान्य है। जड और चेतन का भेद व्यर्थ है। वह एक चिति ही कही जड और कही चेतन रूप मे दिखाई देती है।[1] वैसे चिति ही संसार रूपी शरीर को धारण कर नित्य आनन्दमयी क्रीडा करती है, उसी से विश्व का उन्मीलन होता है और उसी मे यह विश्व निमीलित हो जाता है।[2] इस चिति से परे ससार का अस्तित्व नही है। यह ससार इसकी अपनी इच्छा-शक्ति का परिणाम है। यह अनेक रूपात्मक जगत इसका ही शरीर है, जो अपने सुख-दुःख से पुलकित रहता है और इस चिति से सर्वथा अभिन्न है।[3] ऐसे ही यह जीव भी चिति का स्वरूप है, इसी कारण यह चेतन पुरुष है, जो आत्म-साक्षात्कार कर लेने पर अपनी शक्ति रूपी लहरों मे आनन्द-सागर की भाँति सतत तरंगायित रहता है।[4]

(२) **समन्वयवाद**—समन्वयवाद भारतीय मनीषियों की अत्यन्त प्राचीन दार्शनिक विचारधारा है। यहाँ प्रारम्भ मे ही समन्वय के प्रयत्न हुए हैं और उसी के आधार पर समदृष्टि के सिद्धान्त की भी स्थापना हुई है। परन्तु प्रसादजी का समन्वयवाद कुछ विशेष महत्व रखता है। 'कामायनी' मे उन्होंने एक तो ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय किया है, जिसमे क्रमशः सत्व, रज और तम—तीनों गुणों का समन्वय हो गया है और जो मानव-जीवन के लिए अत्यन्त हितकर है, क्योंकि इसके बिना जीवन मे सदैव विडम्बना ही बनी रहती है।[5] दूसरे, उन्होंने मस्तिष्क या तर्कज्ञान तथा हृदय या श्रद्धा का जो समन्वय किया है, वह मानवता के विकास के लिए अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि न तो कोरी बौद्धिक उन्नति से ही मानवता का कल्याण होता है और न कोरी भावुकता से ही काम चलता है, अपितु दोनों का सन्तुलित समन्वय ही मानव-कल्याण की वृद्धि में सहायक होता है। तीसरे, उन्होंने चेतना या मन (mind) तथा संसार या भौतिक जड़-पदार्थ (matter) दोनों का समन्वय किया है, जिससे उन्होंने वैज्ञानिकों की गुत्थी भी सुलझा दी है और बतलाया है कि संसार मे दोनों का महत्व है, कोई भी उपेक्षित नही तथा दोनों एक ही हैं।[6]

१—कामायनी, पृ० ३। २—वही, पृ० ५३। ३—वही, पृ० २८८।
४—वही, पृ० २८६। ५—वही, पृ० ७२। ६—वही, पृ० २६४।

(३) समरसता—यद्यपि यह सिद्धान्त शैवदर्शन से लिया गया है, फिर भी प्रसादजी ने इस दार्शनिक विचारधारा को व्यावहारिक रूप देकर व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति और समाज एव व्यक्ति और विश्व—सभी की समरसता की ओर सकेत किया है। प्रसादजी की यह समरसता एकागी अथवा एकदेशीय नही है और न इसका सम्बन्ध केवल दर्शन से ही है। वे ज्ञान, विज्ञान, साहित्य[1] आदि सभी क्षेत्रो मे समरसता का होना अपेक्षित मानते हैं और नारी एव पुरुष, अधिकारी एव अधिकृत, शासक एव शासित प्रकृति एव पुरुष—सभी मे सरसता का होना आवश्यक बतलाते हैं। इस समरसता के बिना ही विषमता उत्पन्न होती है, जिससे मानव सुख-दु ख के झमेले मे व्यस्त रहता है और मैं-मेरा, तू-तेरा, पाप पुण्य, ऊँच-नीच, शापित-तापित, अच्छा-बुरा आदि का विचार करता रहता है। किन्तु जब वह जीवन मे समरसता के सिद्धान्त को अपना लेता है, तब फिर उसे कहीं भी विषमता के दर्शन नही होते, कोई भी पराया प्रतीत नही होता, सर्वत्र उसे एक कुटुम्ब के दर्शन होते हैं, जिससे सभी प्राणी उसे अपने ही अवयव ज्ञात होने लगते हैं, कहीं भी कोई कमी दृष्टि नहीं आती, फिर न कोई शापित दिखाई देता है और न कोई तापित पापी, सर्वत्र जीवन वसुधा समतल प्रतीत होने लगती है, सभी पदार्थ एव प्राणी समरस दिखाई देने लगते हैं तथा सभी आत्मीय बन जाते हैं।[2]

(४) आनन्दवाद—'आनन्दवाद' की यह विचारधारा उपनिषदो एवं शैव-दर्शनों के आधार पर पल्लवित हुई है। किन्तु उपनिषदो मे आनन्द के अतिरिक्त सत्य, ज्ञान और ब्रह्म की प्राप्ति को भी जीवन का चरम लक्ष्य बताया गया है और शैवदर्शनो मे आनन्दघन शिव की प्राप्ति को प्रमुखता दी गयी है। परन्तु 'कामायनी' मे सत्य, ज्ञान, ब्रह्म या शिव की प्राप्ति का वर्णन नहीं मिलता। यहाँ तो 'आनन्द' पर ही विशेष बल दिया गया है और इस आनन्द को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य सिद्ध किया है। प्रसादजी ने अपने 'रहस्यवाद' नामक लेख मे भी यह सिद्ध किया है कि भारतीय जीवन मे यह आनन्दवादी धारा वैदिक-काल से लेकर आज तक अविरल गति से बह रही है।[3] अत उसी धारा के अन्तर्गत उन्होंने अपने कामायनी-काव्य की सृष्टि की है और उसी विचारधारा को यहाँ पर भी प्रमुखता प्रदान की है। अत आनन्दवाद 'कामा-यनी' की अपनी विशिष्ट देन है।

१—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ७६।

२—कामायनी, पृ० २८७-२८८।

३—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४६-६६।

(५) संसार की सत्यता—आधुनिक युग के नव जागरण-काल में 'कामायनी' का निर्माण हुआ है। इस समय ऐसे ही दार्शनिक विचारों की आवश्यकता थी, जिनसे प्रेरणा पाकर भारत के नवयुवक स्वाधीनता-संग्राम में कूद सकें और जीवन को महत्व देते हुए उसे सुखमय बनाने के लिए परतन्त्रता की बेड़ियों को काटने का प्रयत्न करें। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'कामायनी' में ऐसा ही प्रयत्न किया गया है, क्योंकि यहाँ पर संसार को उस चित्-शक्ति का शरीर कहकर संसार की सत्यता सिद्ध करते हुए[1] मानव को कर्मशील बनाने का जो प्रयास किया गया है,[2] वह युग-चेतना के सर्वथा अनुकूल है और उससे भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में भी प्रेरणा मिली है। अतः संसार की सत्यता का विचार भी 'कामायनी' की प्रमुख एवं विशिष्ट देन के अन्तर्गत आता है।

(६) निवृत्ति सहित प्रवृत्ति-मार्ग की प्रेरणा—काम तथा काम-पुत्री श्रद्धा के द्वारा 'कामायनी' में प्रवृत्ति-मार्ग को अपनाने का संदेश दिया गया है। यहाँ श्रद्धा यही कहती है कि यह काम मंगल से मंडित है, श्रेयस्कर है तथा संसार भी काम या इच्छा का परिणाम है। अतः मानव काम को भूलकर अथवा निवृत्ति-मार्ग का अनुयायी बनकर भव-धाम को असफल बनाया करता है।[3] दूसरी ओर काम भी मनु से यही कहता है कि 'तुम अत्यन्त अबोध हो, तुम अपनी अपूर्णता को नहीं समझ पाये हो। परिणय के द्वारा मानव-जीवन पूर्ण होता है, किन्तु तुम उससे भी अपने आप रुक गये और 'कुछ मेरा हो' की स्वार्थ-भावना में लिप्त होकर अब तक भटते रहे।'[4] इन विचारों के मूल में भी आधुनिक युग की क्रान्तिमयी भावना विद्यमान है, जिसमें प्रवृत्ति-मार्ग की प्रेरणा भरी हुई है, क्योंकि स्त्री और पुरुष—दोनों ही समाज के अभिन्न अंग हैं और दोनों के द्वारा समाज का कार्य सुचारु रूप से चलता है। अतः किसी एक की उपेक्षा करना समाज को पंगु बनाना है। साथ ही सांसारिक कृत्यों से विमुख होकर सामाजिक संतुलन स्थिर नहीं रह सकता। अतः सांसारिक कृत्यों से पराङ्मुख होना भी समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करना है। इसी कारण प्रसादजी ने मानव को अकर्मण्यता एवं पापाचार से बचने के लिए परिणय-पूर्वक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की सलाह दी है और निवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति-मार्ग को श्रेष्ठ ठहराया है। हाँ, इतना अवश्य है कि उस प्रवृत्ति में भी संयम, त्याग, आध्यात्मिकता, सात्विकता आदि की प्रधानता रहनी चाहिए। नहीं तो मानव की दशा भी मनु की तरह ही डाँवाडोल हो जावेगी और फिर

१—कामायनी, पृ० २८८।
२—वही, पृ० ५७-५८।
३—वही, पृ० ५३।
४—वही, पृ० १६१।

उसे इस प्रवृत्ति-मार्ग में भी सुख और शान्ति के दर्शन नहीं होंगे। इसी कारण प्रसादजी ने 'कामायनी' में निवृत्ति-मार्ग की प्रेरणा दी है, जो इस काव्य की एक विशिष्ट देन है।

(७) नियतिवाद—प्रसादजी के दर्शन में नियतिवाद का भी अत्यन्त महत्व है। प्रसादजी नियति को अत्यन्त प्रबल शक्ति मानते हैं, जो समस्त संसार का नियमन करती है और जिसके अखंड शासन में ही विश्व का समस्त कार्य-व्यापार चलता है। यह एक ऐसी अदृष्ट शक्ति है, जो भाग्य की तरह केवल कर्मानुसार मानव-जीवन की व्यवस्था नहीं करती, अपितु यह सदैव मानव के कल्याण की ही योजना किया करती है और इसके एकान्त शासन में भूले-भटके मानवों को सदैव आश्रय प्राप्त होता है।[1] इतना ही नहीं, जब यह देखती है कि कोई व्यक्ति इसके शासन में मनमाना कार्य करता हुआ अनाचार एवं अत्याचारों से जगत को पीड़ित कर रहा है तब यह उग्र रूप धारण करके अपनी प्राकृतिक शक्तियों द्वारा उसे उचित दंड देकर उसका नियमन करती है, समाज में सुव्यवस्था स्थापित करती है और मानवों को ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती है।[2] इस तरह नियति एक ऐसी शक्ति है, जो 'सर्वजनहिताय' विश्व का नियंत्रण करती है और जिसकी छत्रछाया में समाज के सभी कार्य चलते हैं। 'कामायनी' में नियति का यही रूप सर्वत्र अंकित है। अतः यह नियतिवाद भाग्यवाद से सर्वथा भिन्न है और 'कामायनी' की एक विशिष्ट दार्शनिक देन के अंतर्गत आता है।

निष्कर्ष यह है कि 'कामायनी' में प्रसादजी ने दर्शन की शुष्कता को इतना सरस और आकर्षक बना दिया है कि उनके ये दार्शनिक विचार तनिक भी नीरस प्रतीत नहीं होते। साथ ही उन्होंने उन विचारों को व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध करके दर्शन की व्यावहारिकता भी सिद्ध की है। इतना अवश्य है कि इन दार्शनिक विचारों पर काश्मीर शैव-दर्शन का अधिक प्रभाव है और उसी के आधार पर प्रसादजी ने यत्र तत्र 'कामायनी' में दार्शनिक पदावलियों का भी प्रयोग किया है, परन्तु ऐसा नहीं है कि उन्होंने अन्य भारतीय दर्शनों की सर्वथा उपेक्षा की हो। उन्हें जो भी विचार जिस दर्शन में अपनी धारणा के अनुकूल ज्ञात हुआ है, उसी को सार रूप में ग्रहण करके 'कामायनी' की ऐतिहासिक कथा में उसे ऐसा सुसज्जित किया है कि कहीं भी जोड़-तोड़ प्रतीत नहीं होता। दूसरे, दार्शनिक विचारों के कारण कहीं भी कथा बोझिल तथा अरुचिकर नहीं हुई है, वरन् भावमय वर्णनों द्वारा ये दार्शनिक विचार भी ऐसे सरस हो गए

१—कामायनी, पृ० ३४। २—वही, पृ० २००।

है कि वे किसी दर्शन की वस्तु नही जान पडते, अपितु यही प्रतीत होता है कि वे प्रसादजी की मौलिक उद्भावनायें हैं। इसके अतिरिक्त प्रसादजी का मुख्य लक्ष्य 'मानवता' का प्रचार करना है। अत. मानवता के अनुकूल जिन दार्शनिक विचारों को उन्होंने समीचीन समझा है, केवल उनको ही 'कामायनी' मे स्थान दिया है, अन्य विचारों को व्यर्थ भरकर काव्य-कलेवर को बोझिल बनाने की चेष्टा नही की है। अतः 'कामायनी' की दार्शनिक विचारधारा पूर्णतया व्यावहारिक जीवन पर आधारित है और मानवता के चरम उत्कर्ष की विधायक है।

उपसंहार

कामायनी मे प्रसादजी के विचारो का चरम विकास

'कामायनी' का महाकाव्य प्रसादजी के युग प्रवर्त्तक विचारो का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। प्रसादजी ने इसमे भारतीय काव्य, भारतीय संस्कृति एव भारतीय दर्शन के जिन उदात्त रूपो का दिग्दर्शन कराया है तथा मनोविज्ञान के सहारे मानवता के विकास का जो क्रमिक इतिहास अंकित किया है, उनके आधार पर यही सिद्ध होना है कि प्रसादजी आधुनिक मानव के कल्याणार्थ जिन विचारों का प्रतिपादन करना चाहते थे, उनका सकलित स्वरूप इस महाकाव्य मे विद्यमान है। यह महाकाव्य युग की परिवर्तित विचारधारा एव प्रगतिशील भावनाओ को लेकर लिखा गया है और इसमे प्रसादजी ने अपने प्रौढ अनुभवो एव कला के प्रौढ उपादानो का प्रयोग किया है। इसी कारण यह केवल छायावादी युग की ही एक श्रेष्ठ कृति नही है, अपितु आधुनिक युग की भी सर्वश्रेष्ठ महान् कृति है। इसमे मानव-जीवन के गहनतम विचारो का चरम विकास दिखाते हुए जीवन के निरन्तर सघर्ष को अंकित किया गया है और यह महाकाव्य जीवन के शाश्वत सत्या का उद्घाटन करता हुआ खडी बोली की कविता के प्रौढतम स्वरूप को उपस्थित करता है। निस्सदेह यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है और इसमे प्रसादजी ने युग की प्रवृत्ति और प्रेरणाओं का सम्यक् निरूपण करते हुए अपने बद्धमूल विचारो का चरम विकास प्रस्तुत किया

है। 'कामायनी' में प्रसादजी के बद्धमूल विचारों का चरम विकास इस प्रकार अंकित है :—

१. नियतिवाद—प्रसादजी जिस नियति को संसार का नियमन करने वाली एक कल्याणमयी शक्ति मानते हैं, 'कामायनी' में उसका चरम विकसित रूप प्रगट किया गया है। इसी कारण वह कभी तो अपने शासन में भूले-भटकों को सुख और सुविधा प्रदान करके नियमित जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है,[1] कभी बन्धन-मुक्त खेल किया करती है,[2] कभी अत्यन्त भीषण अभिनय करती हुई संसार के नियमन में संलग्न दिखाई देती है और कभी विकर्षणमयी होकर अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था करती है।[3] अतः नियति यहाँ पर कम-चक्र का प्रवर्तन करती हुई संसार में उथल-पुथल मचाती रहती है और सारा संसार उसी की प्रेरणा से गतिशील होता है।[4] इस तरह प्रसादजी ने कामायनी में अपने नियति सम्बन्धी विचारों का पूर्ण विकास दिखाते हुए देवसृष्टि एवं मनु को पूर्णतया नियति के हाथों के खिलौने सिद्ध किया है और पद-पद पर मनु के अतिचार को रोकते हुए उन्हें नियति के द्वारा ही कल्याण-मार्ग की ओर प्रवृत्त होने की व्यवस्था की है।

२. कर्मण्यतावाद—'कामायनी' में आकर प्रसादजी के कर्मण्यतावाद का स्वर भी अधिक उन्नत एवं सशक्त हो गया है। यहाँ वे श्रद्धा के द्वारा निराश एवं अकर्मण्य मनु को जो कर्मण्यता का उपदेश देते हैं, वह उनकी अपनी मान्यताओं का उज्ज्वल प्रमाण है। श्रद्धा के 'शक्तिशाली हो विजयी बनो,' या 'डरो मत अरे अमृत सन्तान अग्रसर है मंगलमय वृद्धि' आदि वाक्य निस्सन्देह जड़ में भी स्फूर्ति का संचार करने वाले हैं।[5] श्रद्धा यहाँ केवल उपदेश देकर ही चुप नहीं रह जाती, अपितु अपना जीवन उत्सर्ग करती हुई मनु को कर्मण्यता का सक्रिय पाठ भी पढ़ाती है और कृषि-कार्य, पशु-पालन, धान्य आदि की व्यवस्था करती हुई उस नग्न एवं पशुवत् जीवन व्यतीत करने वाले आदि मानव के लिए वस्त्र बनाती है, कुटीर-निर्माण करती है तथा गुफा से निकाल कर उसे सभ्य पुरुष की भाँति सुन्दर गृह में रहना सिखाती है।[6] इतना ही नहीं, यहाँ मनु श्रद्धा की प्रेरणा एवं उसके सक्रिय सहयोग से ही जीवन की विडम्बनाओं से क्रमशः दूर होते हुए मानव-जीवन के चारों अभीष्ट फलों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को भी प्राप्त करते हैं।

१—कामायनी, पृ० ३४। २—वही, पृ० ८१।
३—कामायनी, पृ० १५८, २००। ४—वही, पृ० २६६-२६७।
५—वही, पृ० ५६-५६। ६—वही, पृ० ८२, १८१, १८८, १२०।

३ आनन्दवाद–कुछ आलोचकों के मतानुसार तो 'कामायनी' की सृष्टि ही एक मात्र 'आनन्दवाद' की प्रतिष्ठा के लिए हुई है।[1] इसमें कोई सन्देह भी नहीं है कि प्रसादजी जीवन का चरम लक्ष्य 'आनन्द' मानते हैं और 'कामायनी' में उन्होंने यही दिखाने की चेष्टा की है कि किसी प्रकार एक व्यक्ति सांसारिक उलझनों, आपदाओं एवं जीवन की विडम्बनाओं में फँसकर अन्त में अखण्ड आनन्द को प्राप्त कर सकता है। यह भी निश्चित है कि अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए प्रसादजी का ऐतिहासिक आधारों की अपेक्षा कल्पना पर अधिक निर्भर रहना पड़ा है। परन्तु सिद्धान्त के प्रतिपादन में कोई कमी नहीं दिखाई देती। उनकी आनन्द सम्बन्धी जो धारणा पहले 'एक घूँट'[2] में संकेत रूप में व्यक्त हुई थी, वह कामायनी में आकर पूर्ण विकसित हुई है और सारा कामायनी-काव्य आनन्द-मार्ग के विघ्नों, संकटों एवं उलझनों के स्वरूप को समझाता हुआ अन्त में इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय एवं समरसता-पूर्ण जीवन द्वारा आनन्द को प्राप्त करने की योजना प्रस्तुत करता है।

४ मानवतावाद—'कामायनी' के 'श्रद्धा' सर्ग में प्रसादजी ने समन्वय द्वारा 'विजयिनी मानवता हो जाय'[3] की जो घोषणा की है, उनका वह स्वर सम्पूर्ण काव्य में सबसे ऊँचा सुनाई देता है। उसके साथ ही सम्पूर्ण काव्य मानवता के विकास की कथा को लेकर ही लिखा गया है। इसी कारण मानवता के विकास के लिए जो जो साधन अपेक्षित हैं, यहाँ उन सभी को चित्रित करने का प्रयत्न हुआ है। मानवता के लिए सबसे अधिक आवश्यकता समन्वय की है। गीता में जिस प्रकार विश्व के नाना पदार्थों से भगवान् की विभूति का समन्वय किया गया है[4] और गोस्वामी तुलसीदास जी ने जिस तरह लोक और शास्त्र, गार्हस्थ्य और वैराग्य, भक्ति और ज्ञान आदि का समन्वय करके अपने 'रामचरितमानस' का निर्माण किया था, उसी तरह प्रसादजी ने भी भौतिकता और अध्यात्मिकता, प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग बुद्धि और हृदय आदि का समन्वय करके मानवता के लिए अपेक्षित एकता, समता, भ्रातृत्व-भाव, मानव-प्रेम आदि उदात्त भावनाओं का प्रसार करने के लिए 'कामायनी' महाकाव्य का निर्माण किया है। अतः 'कामायनी' में प्रसादजी की मानवतावादी विचारधारा का भी चरम विकास विद्यमान है।

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६८५।

२—एक घूँट, पृ० २०, ३०।

३—कामायनी, पृ० ५६।

४—श्रीमद्भगवद्गीता १०।२०-४२

५. सौन्दर्यवाद—प्रसादजी स्थूल सौन्दर्य की अपेक्षा सूक्ष्म एवं आध्यात्मिक सौन्दर्य के उपासक हैं। उनकी यह सौन्दर्य-भावना 'कामायनी' में स्थान-स्थान पर विद्यमान है, क्योंकि इसी सौन्दर्य-प्रेम के कारण उन्हें प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में एक अतीन्द्रिय सौन्दर्य की ऐसी झलक दिखाई देती है, जिसके मधुर रहस्य में उनका मन अनायास ही उलझ जाता है तथा प्रत्येक पदार्थ चिर परिचित-सा जान पड़ता है।[1] इसी सौन्दर्य-प्रेम के कारण वे मानव-शरीर के स्थूल अवयवों की अपेक्षा उसके सूक्ष्म एवं मानसिक रूप की ऐसी व्याख्या करते हैं कि वह प्राणी एक अलौकिक सौन्दर्य से युक्त प्रतीत होता है तथा वह अशरीरी एवं अतीन्द्रिय बनकर भी हमारे हृदय को आकृष्ट किए बिना नहीं रहता। श्रद्धा के सौन्दर्य-चित्रण में उक्त सभी बातें स्पष्ट रूप से मिल जाती हैं। इतना ही नहीं, कामायनी में इस सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय सौन्दर्य के अतिरिक्त भाव-सौन्दर्य एवं कर्म-सौन्दर्य की भी मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है, जिसका विस्तृत उल्लेख तीसरे प्रकरण के अन्तर्गत किया जा चुका है।[2] अतः 'कामायनी' में प्रसादजी की सौन्दर्य-भावना का भी चरम विकास दिखाई देता है।

६. संस्कृति-प्रेम—प्रसादजी भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रेमी हैं। उनका यह प्रेम 'कामायनी' के अन्तर्गत आए हुए अहिंसा, सत्य, सदाचार, लोकसेवा, परोपकार आदि के वर्णनों में भली प्रकार देखा जा सकता है। इसके साथ ही भारत में अनेकता में एकता एवं विभिन्नता में अभिन्नता देखने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। प्रसादजी ने इस प्रवृत्ति को अपनाते हुए अन्त में अपने समन्वयवाद एवं समरसता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति की अन्य विशेषताएँ भी 'कामायनी' में विद्यमान हैं, जिनमें प्रसादजी की भारतीय संस्कृति सम्बन्धी भावना का चरम विकास दिखाई देता है। इसका विस्तृत विवेचन पाँचवें प्रकरण के अन्तर्गत किया जा चुका है।[3]

७. स्वदेश-प्रेम—प्रसादजी का स्वदेश-प्रेम उनके सभी काव्यों में विद्यमान है, किन्तु 'कामायनी' में यह और भी विकसित रूप में दिखाई देता है, क्योंकि यहाँ उषा, सन्ध्या, रजनी, वसंत, समुद्र, हिमालय, मानसरोवर, कैलाश, नदी, निर्झर, कानन आदि की जो झाँकी अंकित की गई है,[4] वह उनके सुदृढ़ स्वदेशानुराग की परिचायक है। साथ ही 'संघर्ष' सर्ग में विलासी पथभ्रष्ट शासक के प्रति क्षोभ एवं उसके विरुद्ध जनक्रान्ति का वर्णन करके स्पष्ट ही उन्होंने तत्कालीन

१—कामायनी, पृ० ३५। २—देखिए, पृ० २०२-२२०।

३—देखिए, पृ० ३०७-३६०।

४—देखिए, कामायनी, पृ० ७३, ८७, ३८-४०, ६३, १४, २६-३०, २८२, २८७, २५७-२५८ आदि।

पराधीन जीवन से स्वाधीनता की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी है, जो उनके स्वदेश-प्रेम एवं स्वाधीनता सम्बन्धी प्रगतिशील विचारों की सूचक है।

८ अध्यात्मवाद—प्रसादजी अध्यात्मवादी हैं और इसी कारण 'कामायनी' में व भौतिकवाद के आधार पर विकसित यांत्रिक सभ्यता एवं उसके आडम्बर-पूर्ण जीवन, कपट-व्यवहार, विलासिता, सुरा-स्वर्ण-सुन्दरी में आसक्ति आदि की कटु आलोचना करते हैं। साथ ही इस यांत्रिक सभ्यता का पतन दिखाकर आध्यात्मिक आधार पर विकसित एक नई सभ्यता की ओर सकेत करते हैं। जहाँ सभी एक कुटुम्ब के रूप म रहते हैं। प्रत्येक अपने को समाज का एक अङ्ग मानता है। जहाँ न कोई शापित है और न कोई तापित। सभी जीवन-वसुधा के समतल पर निवास करते है और समरस होकर निर्विकार रूप से समस्त विश्व को एक नीड मानते हुए अखड आनन्द का अनुभव करते हैं।[1] अत 'कामायनी' म वे अपनी आध्यात्मिक भावना का चरम विकास दिखलाते हुए मानव मात्र को शुद्ध, पवित्र, सरल सात्विक एव सन्तोषपूर्ण जीवन व्यतीत करने की सलाह देते हैं।

९ इतिहास-प्रेम—प्रसादजी को भारतीय इतिहास से बड़ा ही प्रेम था और उसी का यह परिणाम है कि उन्होंने कितने ही उच्च कोटि के ऐतिहासिक नाटक, काव्य आदि लिखे। यह 'कामायनी' महाकाव्य भी उनके इतिहास-प्रेम का एक ज्वलत प्रमाण है, जिसमें इतिहास के धुँधले पृष्ठों पर अंकित मानवता की कथा को एक महाकाव्य के रूप में अकित करके उन्होंने मानव-मात्र को उसके अपरिचित इतिहास से परिचित कराने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, उसके भूले हुए पूर्वजो का स्मरण कराया है और सुदूर अतीत से लेकर आधुनिक मानव-जीवन तक मानवता के सम्पूर्ण रहस्यो का उद्घाटन करके मानव को कल्याण-मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की है। निस्सदेह 'कामायनी' महाकाव्य प्रसादजी के इतिहास प्रेम का सच्चा प्रतीक है।

१० अन्त.प्रकृति का चित्रण—प्रसादजी मूलत अन्त प्रकृति के कवि हैं। उनके काव्यों में अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्मंथन का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक सजीवता के साथ मिलता है। 'कामायनी' में भी प्रसादजी की इस मनोवृत्ति का चरम विकास दिखाई देता है, क्योंकि यहाँ पर सभी प्रमुख पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का विस्तारपूर्वक चित्रण किया गया है। 'कामायनी' के चरित्र-नायक मनु में तो सर्वत्र अन्तर्द्वन्द्व की ही प्रधानता दिखाई देती है। 'चिन्ता', 'आशा', 'काम', 'वासना', 'कर्म', 'ईर्ष्या', 'इडा', 'सघर्ष', 'निर्वेद' आदि सर्गों में मनु के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण

१—कामायनी, पृ० २८८-२८६, २६४।

अत्यंत विस्तार के साथ किया गया है, जिनमे कही वे अपने विगत अतीत पर व्यथित होते हुए दिखाई देते हैं,[1] कही ज्योत्स्नापूर्ण रजनी के वैभव से उत्पन्न संवेदन के द्वारा हृदय मे चोट खाकर अधीर और बेचैन प्रतीत होते हैं,[2] कही श्रद्धा के कर्मवादी उपदेश और उसके आत्मसमर्पण को देखकर उनके हृदय में उथल-पुथल मचती है[3] और कही संघर्षमय जीवन और उसके भयानक परिणाम को देखकर उनका हृदय व्यथा से भर जाता है।[4] इतना ही नही, मनु के अतिरिक्त श्रद्धा तथा इड़ा के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण भी प्रसादजी ने बड़ी सफलता के साथ किया है और नारी के हृदय मे उठने वाले संघर्ष की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है, जिसमें कभी वह विवाह से पूर्व संकल्प-विकल्प करती हुई दिखाई देती है,[5] कभी वह प्रेमी से ठुकराये जाने पर विसम्बल होकर वियोग की तीव्र ज्वाला मे जलती हुई अपने अतीत जीवन पर आठ-आठ आँसू रोती है,[6] कभी अपने किए हुए अनर्थकारी कुकृत्यों के दुष्परिणाम को देखकर ग्लानिपूर्ण हृदय मे बीती हुई बातो का विचार करती है और सोचते-सोचते बेचैन हो जाती है।[7] इस तरह 'कामायनी' मे सर्वत्र अन्त प्रकृति के चित्रो का प्राधान्य दिखाई देता है।

११. आदर्शवाद—प्रसादजी की आदर्शवादिता का भी चरम विकास 'कामायनी' मे दिखाई देता है। यहाँ पर प्रसादजी ने पहले अपने सभी पात्रो का चित्रण यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर किया है। उनके मनु पहले एक चंचल, विलासी, उच्छृङ्खल एवं कपट-व्यवहारी हैं, किन्तु अन्त मे एक महापुरुष बन जाते हैं। ऐसे ही इड़ा भी पहले दूसरो को भ्रम मे डालने वाली एक यथार्थ जगत की नारी है, जो अन्त मे श्रेष्ठ राष्ट्र-स्वामिनी हो जाती है। साथ ही श्रद्धा भी पहले एक साधारण परिवार की कुलवधू है, परन्तु अन्त मे वह सर्व कल्याण-कारिणी, जगत की एकमात्र मगल कामना आदि बन जाती है। इस तरह प्रसादजी ने यथार्थवाद की पृष्ठ-भूमि पर ही अपने आदर्शवाद की स्थापना की है। इसीलिए इनका आदर्शवाद यथार्थोन्मुख है और उसकी सुन्दर झाँकी 'कामायनी' मे विद्यमान है।

१२. दर्शन-प्रेम—प्रसादजी को दर्शन से अधिक प्रेम है। परन्तु वे दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को ही अपनाकर चले हैं। 'कामायनी' मे जिस शैवदर्शन का

१—कामायनी, पृ० ४-१६। २—वही, पृ० ३५-४१।
३—वही, पृ० ६५-६६। ४—वही, पृ० २२०-२३०।
५—वही, पृ० १०४-१०५। ६—वही, पृ० १७५-१७६।
७—वही, पृ० २०७-२१२।

स्थान-स्थान पर अधिक सर्वत्र मिलता है, उसका प्रारम्भिक स्वरूप सर्वप्रथम 'चित्राधार' में संगृहीत 'प्रेमराज्य' काव्य के अंतर्गत विद्यमान है।[1] उसी भावना का चरम विकास कामायनी में हुआ है। इसी कारण यहाँ प्रसादजी ने एक चिति की ही सर्वत्र व्यापकता, संसार की सत्यता, जीव-ब्रह्म तथा जड़-चेतन की एकता आदि का निरूपण करते हुए सर्वत्र वैराग्य, अकर्मण्यता, कर्त्तव्य-पराङ्-मुखता इत्यादि का निषेध किया है[2] और आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करके 'कामायनी' के दर्शन को व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध कर दिया है।

१३ स्वच्छन्दतावाद—प्रसादजी पूर्णतः स्वच्छन्दतावादी हैं। इसी कारण वे 'कामायनी' में प्राचीन परम्परा का अन्धानुसरण करते हुए दिखाई नहीं देते। यहाँ वे स्पष्ट घोषित करते हैं कि 'जब पुरातनता के निर्मोक को प्रकृति ही एक पल सहन नहीं करती, तब मानव क्यों उसमें लीन रहे ? उसे भी नित्य नूतनता की ओर अग्रसर होना चाहिए।[3] इसी कारण वे साहित्य में भी नये-नये प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं और उनकी यह स्वच्छंद मनोवृत्ति कहानी, नाटक, काव्य आदि सभी विधाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। उन्होंने 'कामायनी' महाकाव्य का निर्माण भी इसी कारण एक स्वच्छंद प्रणाली पर किया है जिसमें परम्परागत पद्धतियों एवं रूढ़िगत प्रणालियों का पूर्णतः उल्लंघन करके नये प्रकार के वर्ण्य विषय, पात्र, सर्ग, वृत्त आदि का प्रयोग हुआ है। इतना ही नहीं, प्राचीन कथानक को युग की स्वतंत्र एवं प्रगतिशील भावनाओं से सम्बद्ध करके इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि उसमें प्राचीनता के साथ-साथ मानव-जीवन की समस्त नवीन गति-विधियों का पूर्ण आभास भी मिल जाता है। अपनी इसी मनोवृत्ति के कारण वे प्राचीन पृष्ठ-भूमि पर एक ऐसे नव-निर्माण का कार्य करते हैं, जो पूर्णतया स्वतंत्र एवं मौलिक प्रतीत होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'कामायनी' काव्य में उनकी यही मनोवृत्ति अधिक विकसित रूप में दिखाई देती है।

१४ नव अभिव्यंजना-पद्धति—स्वच्छंद मनोवृत्ति के कारण जहाँ प्रसादजी का ध्यान नये-नये वर्ण्य विषयों को लेकर साहित्य की नई-नई विधाओं के निर्माण की ओर गया है, वहाँ वे अभिव्यंजना की नूतन प्रणाली को अपनाने में भी सबसे पहले अग्रसर हुए हैं। उनका 'कामायनी' काव्य आधुनिक युग की अभि-व्यंजना सम्बन्धी नूतन प्रणालियों का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है, जिसमें कहीं लाक्षणिक प्रयोगों की भरमार है,[4] तो कहीं प्रतीकात्मक शब्दों के द्वारा बिम्बग्राही चित्र

१—चित्राधार, पृ० ७२-७३।
२—कामायनी, पृ० ४३, २८८, २६४, ५५, ५६, २८६।
३—वही, पृ० ५४।
४—वही, पृ० १५८, १६३, १७६।

अङ्कित किये गये हैं।[1] कहीं व्यंजना का आधिक्य है,[2] तो कहीं उपचार-वक्रता के द्वारा अद्भुत उक्ति-वैचित्र्य के दर्शन होते हैं।[3] सारांश यह है कि 'कामायनी' में प्रसादजी की नूतन अभिव्यंजना-पद्धति का भी पूर्ण विकास दिखाई देता है।

अतः अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि 'कामायनी' में प्रसादजी के समस्त विचारों, प्रेरणाओं एवं प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास हुआ है। यह उनकी वह प्रौढ़ कृति है, जिसमें उन्हें बड़े मनोयोग के साथ अपनी धारणाओं, विचार-परम्पराओं एवं हार्दिक मनोभावों के चित्रण का सुअवसर प्राप्त हुआ है और इसी कारण अपनी बौद्धिक एवं हृदयगत विशेषताओं को पूर्णरूपेण अंकित करके उन्होंने 'कामायनी' की समाप्ति पर सन्तोष की साँस ली थी। निस्सदेह 'कामायनी' महाकाव्य प्रसादजी के प्रौढ़ विचारों के संकलित स्वरूप को प्रस्तुत करता हुआ प्रसादजी की सर्वश्रेष्ठ रचना होने के साथ-साथ खड़ी बोली के गौरव-ग्रंथों में भी विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

कामायनी में जीवन-सन्देश

विश्व के सभी महाकाव्य युग-युग की संचित सम्पत्ति के भंडार होते हैं। उनका निर्माण मानव-जीवन के आधार पर होता है और वे दुर्बल, पतित एवं आपत्तिग्रस्त मानवता को सशक्त, उन्नत एवं आनन्दमय बनाने के लिए लिखे जाते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक महाकाव्य में मानव-मात्र के लिए जीवन-सन्देश अन्तर्निहित होता है और उस संदेश द्वारा वे सम्पूर्ण विश्व का पथ-प्रदर्शन करते हुए मानव-जीवन को कल्याणमय बनाने का प्रयत्न करते हैं।

जिस तरह अन्य महाकाव्यों के द्वारा विश्व के महाकवियों ने मानव-मात्र के लिए जीवन-सन्देश दिये हैं, उसी तरह 'कामायनी' के द्वारा प्रसादजी ने भी निरन्तर द्वयता में लगी रहने वाली, अनजान समस्याओं में व्यस्त तथा एकता के नष्ट हो जाने के कारण अनन्त कोलाहल एवं कलह में फँसी हुई संकुचित दृष्टि वाली आधुनिक युग की इस 'अभिनव मानव प्रजा सृष्टि' को भी सन्देश दिया है और बतलाया है कि दुःखों से घबड़ाकर संसार से भागने की आवश्यकता नहीं। यह दुःख तो ईश्वर का रहस्यमय वरदान है, और फिर दुःख और सुख तो रात और दिन की भाँति निरन्तर आते-जाते रहते हैं। अतः दुःखों की चिन्ता न करते हुए 'भूमा' की ओर बढ़ने का प्रयत्न करो, जो अनन्त सुखों का भंडार है।[4] परन्तु उस भूमा की ओर कैसे बढ़ा जाय ? इसके लिए वे

१—कामायनी, पृ० ६३, १७५। २—वही, पृ० ८८-८६।
३—वही, पृ० ४८–४६। ४—वही, पृ० ५३-५४।

'शक्तिशाली हो विजयी बनो' कहकर विश्व-मानव को कर्मण्यता का सन्देश देते हैं और बतलाते हैं कि निरन्तर कर्मशील रहकर ही मानव मंगलमय वृद्धि करता हुआ सम्पूर्ण समृद्धि का स्वामी बन सकता है, विधाता की कल्याणमयी सृष्टि को इस भूतल पर सफलता प्रदान कर सकता है, सर्वत्र मानवता की कीर्ति-पताका फहरा सकता है, उसकी दुर्बलता को दूर कर सकता है तथा शक्ति के समस्त बिखरे हुए विद्युत्कणों को संकलित करके मानवता को विजयिनी बना सकता है।[1]

इसके अतिरिक्त वे जानते थे कि कर्मों की ओर उन्मुख होने वाला मानव प्रवृत्ति-मार्ग को अपनाता हुआ सत्कर्मों की अपेक्षा दुष्कर्मों में भी प्रवृत्त हो सकता है और भूमा की ओर न बढ़कर अल्पता या क्षुद्रता की ओर जा सकता है। इसके लिए प्रसादजी ने मनु के जीवन की पतनावस्था की ओर संकेत करते हुए 'कामायनी' में पुनः जीवन की इन क्षुद्रताओं से ऊँचे उठने का संदेश दिया है और बतलाया है कि भौतिक सुखों की लालसा से यांत्रिक सम्यता की भूल-भुलैयों में पड़े रहना श्रेयस्कर नहीं, क्योंकि इससे तो वर्ग-भेद का जन्म होता है, अपनत्व खो जाता है, आलोक नहीं रहता, सब अपने-अपने पथ पर भ्रान्त होकर चलते हैं और प्रत्येक विभाजन भ्रान्त धारणा के आधार पर होने लगता है।[2] अतः भौतिक सुखों की इस संकुचित भावना को छोड़कर आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने के लिए सबको सुखी देखकर सुखी होना, सबके साथ उदारता का व्यवहार करना, अपने गृह का द्वार सबके लिए उन्मुक्त रखना तथा सम्पूर्ण समाज की सेवा को अपनी ही सेवा समझते हुए निरन्तर प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग, आध्यात्मिकता और भौतिकता—दोनों के सन्तुलित समन्वय द्वारा जीवन-यापन करना श्रेयस्कर है। इसी के द्वारा मानव का जीवन उन्नत हो सकता है और इसी में उसका कल्याण भी अन्तर्निहित है।

मानव-जीवन को कल्याणमय बनाने के लिए प्रसादजी ने आगे चलकर 'सम रसता' का संदेश दिया है और बतलाया है कि जीवन में विषमता ही दुःख की जननी है। इसी के चंगुल में फँसकर मनुष्य कभी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध में आकृष्ट होकर इच्छा के माया-राज्य में चक्कर काटता रहता है,[3] कभी एषणाओं का शिकार बनकर निरन्तर अन्धकार में दौड़ लगाता रहता है[4] और कभी बुद्धि के निर्मम एवं निरंकुश राज्य में प्यासा होकर ओस चाटता रहता है।[5] जीवन

१—कामायनी, पृ० ५७-५६। २—कामायनी, पृ० २४१।
३—वही, पृ० २६२-२६४। ४—वही, पृ० २६६-२६८।
५—वही, पृ० २७०।

की इस विषमता-जन्य विडम्बना को देखकर ही उन्होंने मानव-मात्र के लिए इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय पर बल दिया है और तीनो के समरस हो जाने पर ही जीवन के विषमता जन्य सघर्ष का समाप्त होना सिद्ध किया है। इतना ही नही, प्रसादजी ने केवल वैयक्तिक जीवन की समरसता का ही सन्देश नही दिया है, अपितु सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र एव विश्व के अन्तर्गत अधिकारी और अधिकृत, शासक और शासित आदि सभी को समरसता के अपनाने का सन्देश दिया है।

अंत मे नाना प्रकार के संकटो, भौतिक बाधाओ एव दु खो से पीडित विश्व को प्रसादजी ने आनन्द-प्राप्ति का आशामय संदेश दिया है और बतलाया है कि बुद्धि के दुरुपयोग द्वारा नही, अपितु उसके सदुयोग द्वारा ही इस जगत मे अभीष्ट आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु बुद्धि का सदुपयोग उसी समय होता है, जबकि बुद्धि का नियंत्रण श्रद्धा करती है। श्रद्धा के बिना मन और बुद्धि दोनो अव्यवस्थित रहते हैं और मानव अभीष्ट फल को प्राप्त नही कर पाता। अत प्रसादजी ने बुद्धि की अपेक्षा श्रद्धा को महत्व प्रदान किया है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उन्होने बुद्धि को तुच्छ ठहराया है। वे तो श्रीमद्भगवद्गीता के 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'[1] के आधार पर जहां श्रद्धा द्वारा ज्ञान या सात्विक आनन्द की प्राप्ति होना बतलाते है, वहां शिवसूत्रो के 'धीवशात् सत्वसिद्धि'[2] के अनुसार बुद्धि द्वारा भी सत्व-सिद्धि या सात्विक आनन्द की प्राप्ति सिद्ध करते हैं। इसी कारण ज्ञान-प्राप्ति मे प्रसादजी ने श्रद्धा और बुद्धि (इडा) दोनो का सापेक्ष महत्व स्वीकार किया है तथा 'कामायनी' के अन्त मे दोनो के समन्वय द्वारा ही मनु को अखड आनन्द प्राप्त करते हुए दिखाया है। इसी कारण 'कामायनी' का सदेश ही यह है कि मानव न तो केवल बुद्धि द्वारा ही आनन्द प्राप्त कर सकता है और न केवल श्रद्धा द्वारा ही, अपितु दोनो के सतुलित सामरस्य या समन्वय द्वारा ही उसे इस सघर्षपूर्ण कोलाहल की जगती मे आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी ने जिस तरह कामायनी-पात्र को 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार,'[3] 'हृदय की बात',[4] एव 'इस मुस्कराते विश्व दिन की कुसुम-ऋतु-रात'[5] कहा है, उसी तरह सम्पूर्ण 'कामायनी' को हम भी प्रसादजी

१—श्रीमद्भगवद्गीता ४।३६
२—शिवसूत्रविमर्शिनी ३।१२
३—कामायनी, पृ० ४६।
४—कामायनी, पृ० २१६।
५—वही, पृ० २१७।

के हृदय की अनुकृति वाह्य उदार, उनके हृदय की बात तथा विषमता की ज्वाला से झुलसते हुए इस विश्व को 'कुसुम-ऋतु-रात' का सा सुख प्रदान करने वाला महाकाव्य कह सकते हैं, जो अपने समन्वयवाद, समरसता, आनन्दवाद आदि के द्वारा समस्त विश्व को यह महान् संदेश दे रहा है कि यदि मानव मन, बुद्धि और हृदय मे उचित संतुलन स्थापित करके पारस्परिक भेद-भाव को भुलाता हुआ प्रवृत्ति और निवृत्ति एवं भौतिकता और आध्यात्मिकता से समन्वित जीवन व्यतीत करेगा और बुद्धि के सदुपयोग द्वारा निरन्तर सत्कर्मों मे संलग्न रहेगा, तो उसे सारा विश्व एक नीड के तुल्य प्रतीत होगा और वह स्वयं अखंड आनन्द का अनुभव करता हुआ जगती के अन्य प्राणियों को भी सुखी एवं आनन्दमय बनाने मे सफल सिद्ध होगा। अत 'कामायनी' महाकाव्य इस निराश, भय ग्रस्त, भ्रमित एवं 'चिर-दग्ध दु खी वसुधा' को शान्ति और सुख की आशा बँधाता हुआ अखण्ड आनन्द-प्राप्ति का मंगलमय संदेश दे रहा है।

परिशिष्ट

सहायक ग्रंथ-सूची

१—संस्कृत-ग्रन्थ

वैदिक-साहित्य—

१. ऋग्वेद संहिता, १८४९ ई०, मैक्समूलर संस्करण, लंदन ।

२. ऋग्वेद संहिता–हिन्दी टीका, प्रथम संस्करण, १९३३ ई०, अनुवादक–पं० देवानन्द झा तथा पं० अयोध्या प्रसाद, सम्पादक—सतीशचन्द्र पाल, इण्डियन रिसर्च इंस्टीट्यूट, कलकत्ता ।

३. शुक्ल यजुर्वेद संहिता, द्वितीय संस्करण, १९६९ वि०, सम्पादक—पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, प्रकाशक—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

४. अथर्ववेद संहिता, प्रथम संस्करण, १७९५ ई०, सम्पादक—शंकर पांडुरंग, प्रकाशक—गवर्नमेंट सेंट्रल बुक डिपो, बम्बई ।

५. ऐतरेय ब्राह्मण, द्वितीय संस्करण, १९३१ ई०, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना ।

६. तैत्तिरीय ब्राह्मण, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना ।

७. शतपथ ब्राह्मण, अच्युत ग्रन्थमाला, कार्यालय काशी ।

८. शतपथ ब्राह्मण, सम्पादक—डा० ए० वेबर, लिपज़िग में प्रकाशित, १९२४ ई० ।

९. ताण्ड्य महाब्राह्मण, द्वितीय संस्करण, १९३४ ई०, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस ।

१०. जैमिनीय ब्राह्मण, प्रथम संस्करण, १९५४ ई०, सम्पादक—डा० रघुवीर तथा डा० लोकेशचन्द्र, नागपुर, प्रकाशक—सरस्वती विहार, नागपुर ।

११. ऐतरेय आरण्यक, द्वितीय संस्करण, १९४३ ई०, आनन्दाश्रम संस्कृत संस्कृत सीरीज, पूना ।

उपनिषद्-साहित्य—

१२. ईशावास्योपनिषद्, १९४९ ई०, कल्याण-उपनिषद् अङ्क में प्रकाशित ।

१३. केनोपनिषद् " " "

१४. कठोपनिषद् " " "

१५. प्रश्नोपनिषद् " " "

१६. मुण्डकोपनिषद् " " "

१७. ऐतरेयोपनिषद् " " "

१८. तैत्तिरीयोपनिषद् " " "

१९. छान्दोग्य उपनिषद्, १९३२ ई०, ईशादि अष्टोत्तरशतोपनिषद्, प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

२०. बृहदारण्यक उपनिषद् " " "

२१. गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद् " " "

२२. महोपनिषद् " " "

पुराण-साहित्य—

२३. अग्निपुराण, १९०० ई०, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज, पूना ।

२४. कूर्म्मपुराण, १८९० ई०, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता ।

२५. पद्मपुराण, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज, पूना ।

२६ ब्रह्मपुराण, १८९५ ई०, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज, पूना ।

२७. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

२८. ब्रह्माण्डपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

२९. भविष्यपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

३०. मत्स्यपुराण, १९०७ ई०, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज, पूना ।

३१. मार्कण्डेयपुराण, रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता ।

३२. लिंगपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

३३. विष्णुपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

34. The Vishnudharmottara, Vol. III, Second Edition 1928, Translated by Stella Kramrisch, Ph. D, Calcutta University Press.

३५. वायुपुराण, १६०५ ई०, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना।

३६. वाराहपुराण, १८६३ ई०, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता।

३७. शिवपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

३८. श्रीमद्भागवतपुराण (दो भाग), १९९७ वि०, गीता प्रेस गोरखपुर।

३९. स्कंदपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

४०. हरिवंशपुराण (भाग १), अंग्रेजी अनुवाद, सम्पादक—डी० एन० बोस, प्रकाशक—दत्ता बोस एण्ड कम्पनी, दमदम, बंगाल।

तंत्र-साहित्य—

४१. अहिर्बुध्न्य संहिता, प्रथम संस्करण १९१६ ई०, सम्पादक—एम० डी० रामानुजाचार्य, प्रकाशक—आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास।

४२. श्री मालिनीविजयोत्तरतंत्र, १९२२ ई०, प्रकाशक—रिचर्स डिपार्टमेंट, जम्बू, काश्मीर स्टेट।

४३. श्री नेत्रतंत्र भाग १, १९२६ ई० ,, ,,

४४. ,, भाग २, १९३९ ई० ,, ,,

४५. श्री स्वच्छंदतंत्र भाग १, १९२१ ई० ,, ,,

४६. ,, भाग २, १९२३ ई० ,, ,,

४७. ,, भाग ३, १९२६ ई० ,, ,,

४८. ,, भाग ४, १९२७ ई० ,, ,,

४९. ,, भाग ५ अ, १९३० ई० ,, ,,

५०. ,, भाग ५ ब, १९३३ ई० ,, ,,

५१. ,, भाग ६, १९३५ ई० ,, ,,

५२. तंत्रसार, ले०—अभिनवगुप्त, १९१८ ई० ,, ,,

५३. तंत्रालोक, ले०—अभिनवगुप्त, भाग १, १९१८ ई० ,, ,,

५४. ,, ,, भाग २, १९२१ ई० ,, ,,

५५. ,, ,, भाग ३, १९२१ ई० ,, ,,

५६. ,, ,, भाग ४, १९२२ ई० ,, ,,

५७. ,, ,, भाग ५, १९२२ ई० ,, ,,

५८. ,, ,, भाग ६, १९२२ ई० ,, ,,

५९. ,, ,, भाग ७, १९२४ ई० ,, ,,

६०. तन्त्रालोक, ले०—अभिनवगुप्त, भाग ८, १९२६ ई०, प्रकाशक—रिसर्च डिपार्टमेंट, जम्मू—काश्मीर स्टेट।
६१. „ „ भाग ९, १९३८ ई० „ „
६२. „ „ भाग १०, १९३३ ई० „ „
६३. „ „ भाग ११, १९३८ ई० „ „
६४. „ „ भाग १२, १९३८ ई० „ „
६५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, (भाग १), १९१८ ई० „ „
६६ „ „ (भाग २), १९२२ ई० „ „
६७ प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १९११ ई० „ „
६८ प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १९३८ ई०, प्रकाशक—आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास।
६९ शिवसूत्रविमर्शिनी, १९११ ई०, प्रकाशक—रिसर्च डिपार्टमेंट, जम्मू—काश्मीर स्टेट, श्रीनगर।
७० स्पन्दकारिका, १९१३ ई०, „ „
७१. शिवदृष्टि, १९३४ ई०, ले०—उत्पलदेव, „ „
७२. शैवपरिभाषा, प्रथम संस्करण, १९५० ई०, ले०—श्री शिवाग्रयोगीन्द्र-ज्ञानशिवाचार्य, प्रकाशक—ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, मैसूर।
७३. त्रिपुरा-रहस्य, ज्ञानखंड, प्रथम संस्करण १९२५ ई०, सम्पादक—पं० गोपीनाथ कविराज, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस।
७४. त्रिपुरा-रहस्य, माहात्म्य खंड, प्रथम संस्करण १९३२ ई०, सम्पादक—मुकुन्दलाल शास्त्री, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस।
७५. कामकला-विलास, प्रथम संस्करण, १९१५ ई०, ले०—पुण्यानन्द, प्रकाशक—एम० वी० श्रीनिवासाचार्य, बाल मनोरमा प्रेस, मद्रास।
७६. शिवताण्डवस्तोत्र, प्रकाशक—बा० ठाकुरदास गुप्त बुकसेलर, बनारस।
७७ शिवमहिम्नस्तोत्र, प्रकाशक— „ „ „

अन्य संस्कृत-ग्रन्थ—

७८ अमरकोश, प्रथम संस्करण १९७० वि०, ले०—अमरसिंह, प्रकाशक-वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
७९. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, तृतीय संस्करण, २००८ वि०, ले०—महाकवि कालिदास, प्रकाशक—भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस।
८० कामसूत्रम् द्वितीय संस्करण, १९२९ ई०, ले०—श्री वात्स्यायन मुनि, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस।

८१. काव्यालंकार, प्रथम संस्करण, १९८५ वि०, ले०—भामह, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस।

८२. काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः, प्रथम संस्करण, १९२७ ई०, ले०—वामनाचार्य, प्रकाशक—ओरियंटल बुक एजेंसी, पूना।

८३. काव्यादर्श, द्वितीय संस्करण, १९९० वि०, ले०—आचार्य दंडी, प्रकाशक—मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर।

८४. काव्यप्रकाश, २००८ वि०, ले०—आचार्य मम्मट, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस।

८५. काव्यमीमांसा, प्रथम संस्करण, १९५४ ई०, ले०—राजशेखर, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्—पटना।

८६. कुमारसंभव, द्वादश संस्करण, १९३५ ई०, ले०—कालिदास, प्रकाशक—पाण्डुरंग जावजी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

८७. तर्कसंग्रह, प्रथम संस्करण, १९९१ वि०, ले०—श्री अन्नम्भट्ट, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस।

८८. तर्कभाषा, द्वितीय संस्करण, १९४३ ई०, ले०—श्री केशव मिश्र, प्रकाशक—ओरियंटल बुक एजेंसी, पूना।

८९. दशरूपक, पंचम संस्करण १९४१ ई०, ले०—श्री धनंजय, प्रकाशक—सत्यभामाबाई पांडुरंग, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

९०. ध्वन्यालोक, तृतीय संस्करण, १९२८ ई०, ले०—आनन्दवर्धनाचार्य, सम्पादक—म० म० पं० दुर्गाप्रसाद, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

९१. नाट्यशास्त्र, प्रथम संस्करण, १९२९ ई०, ले०—भरतमुनि, सम्पादक—बटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस।

९२. निरुक्त, प्रथम संस्करण, १९८२ वि०, ले०—महर्षि यास्क, प्रकाशक—क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

९३. पंचदशी, प्रथम संस्करण, १९९१ वि०, मूल लेखक—श्रीविद्यारण्य-स्वामी, व्याख्याकार—पं० रामावतार विद्याभास्कर, प्रकाशक—पं० कृष्ण कुमार शर्मा, रतनगढ़, बिजनौर।

९४. पातंजलि योगदर्शन, प्रथम संस्करण, १९५५ ई०, मूल भाष्यकार—श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य, सम्पादक—भगीरथ मिश्र आदि, प्रकाशक—लखनऊ विश्वविद्यालय।

९५. पातंजलि महाभाष्य (प्रथम भाग), प्रथम संस्करण, १९३५ ई०,

टीकाकार व सम्पादक—महेश शर्मा, प्रकाशक—श्री सीताराम मुद्रण यन्त्रणालय, बनारस।

९६ बोधसार, प्रथम संस्करण १९८९ वि०, ले०—नरहरिस्वामी, व्याख्याकार—पं० रामावतार विद्याभास्कर, प्रकाशक—डा० कायमसिंह, मैनपुरी।

९७ महाभारत, प्रथम संस्करण, १९०७ ई०, सम्पादक—पं० रामचन्द्र शास्त्री, किंजवडेकर, प्रकाशक—शंकर नरहरि जोशी, पूना।

९८ महाभारत, प्रथम संस्करण, १९५५-५८ ई०, टीकाकार—पं० रामनारायण दत्त शास्त्री, सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर।

९९ मनुस्मृति, छठा संस्करण, १९९३ वि०, टीकाकार—पं० जनार्दन झा, प्रकाशक—हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता।

१०० मनुस्मृति, मेधातिथि भाष्य, प्रथम संस्करण, १९३९ ई०, सम्पादक—म० म० गंगानाथ झा, प्रकाशक—रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता।

१०१ मेघदूत, चतुर्थ संस्करण, १९४७ ई०, ले०—कालिदास, प्रकाशक—गोपाल नारायण एण्ड क०, बम्बई।

१०२ योगवाशिष्ठ, द्वितीय संस्करण, १९१८ ई०, ले०—वाल्मीकि मुनि, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

१०३ रस-गंगाधर, चतुर्थ संस्करण, १९३० ई०, ले०—पंडितराज जगन्नाथ, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

१०४ रघुवंश, पंचम संस्करण १९०४ ई०, ले०—कालिदास, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

१०५ लिंगधारण-चन्द्रिका, प्रथम संस्करण, १९२८ ई०, भूमिका लेखक तथा सम्पादक—एम० आर० सखरी, बम्बई।

१०६ वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथम संस्करण १९५५ ई० ले०—आचार्य कुन्तक, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

१०७ वाल्मीकि रामायण, तृतीय संस्करण, १९०६ ई०, सम्पादक—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

१०८ बृहद्देवता, प्रथम संस्करण, १९०४ ई०, मूल लेखक—शौनक, सम्पादक—आर्थर अन्थोनी मैक्डानल, प्रकाशक—हरवर्ड यूनीवर्सिटी, कैम्ब्रिज।

१०९. वृत्तरत्नाकर, द्वितीय सम्स्करण, १९४८ ई०, ले०—भट्ट केदार, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस।

११०. श्रीमद्भगवद्गीता, प्रथम संस्करण, १९८८ वि०, शंकराचार्य कृत भाष्य-सहित, अनुवादक—श्रीजयदयाल गोयन्दका, प्रकाशक—गीता प्रेस गोरखपुर।

१११. शिशुपाल-वध, चतुर्थ संस्करण, १९०५ ई०, ले०—माघ, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

११२. सर्वदर्शनसंग्रह, द्वितीय संस्करण, १९२८ ई०, ले०—सायण माधव, प्रकाशक—आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना।

११३. साहित्यदर्पण, पंचम संस्करण, १८७५ शाके, ले०—पं० विश्वनाथ कविराज, व्याख्याकार तथा सम्पादक—श्रीयुत हरिदास सिद्धान्त वागीश भट्टाचार्य, प्रकाशक—श्री हेमचन्द्र तर्कवागीश, कलकत्ता।

११४. सांख्यदर्शन, प्रथम संस्करण, १९५० वि०, ले०—महर्षि कपिल, प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

११५. सिद्धान्त कौमुदी, चतुर्थ संस्करण, १९३५ ई०, ले०—भट्टोजी दीक्षित, सम्पादक—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, प्रकाशक—तुकाराम जवाजी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

११६ सौंदर्य-लहरी, प्रथम संस्करण, १९५२ ई०, ले०—श्रीमत् शंकराचार्य, प्रकाशक—वी० रामास्वामी शास्त्रुलु एण्ड संस, चेन्नपुरी (दक्षिण भारत)।

२—बौद्ध-जैन-ग्रन्थ

११७ कल्पसूत्र (भाषा), १८७५ ई०, अनुवादक—कवि रायचन्द, प्रकाशक—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, मुद्रक—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

११८. कालसप्ततिका (प्राकृत), १९६८ वि०, ले०—धर्मघोष सूरि, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

११९. जातक-खंड १, २, ३—प्रथम हिन्दी संस्करण, १९४१ ई०, अनुवादक—भदंतकौसल्यायन, प्रकाशक—ज्ञानलोक, प्रयाग।

१२०. जैन-तत्व-दिग्दर्शन, ले०—विजयधर्म सूरि, प्रकाशक—श्री यशोविजय ग्रंथमाला, भावनगर।

१२१. जैन-बौद्ध-तत्वज्ञान, प्रथम संस्करण, १९३४ ई०, सम्पादक व प्रकाशक—सीतलप्रसाद, सूरत।

१२२. बौद्ध-दर्शन, प्रथम संस्करण, १९४६ ई०, ले०—बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक—शारदा मंदिर, बनारस।

१२३ मज्झिमनिकाय, हिन्दी संस्करण १९३३ ई०, अनुवादक—त्रिपिटकाचार्य राहुल सांस्कृत्यायन, प्रकाशक—महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस।

१२४ महापुराण, ले०—भगवज्जिनसेनाचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस।

३—ईसाई-मुस्लिम धर्म-ग्रन्थ

१२५ बाइबिल—धर्मशास्त्र, अर्थात् पुराना और नया धर्म-नियम, हिन्दी संस्करण, १९२६ ई०, प्रकाशक—ब्रिटिश एण्ड फारेन बाइबिल सोसाइटी इलाहाबाद।

126 The Holy Quran 1951, Translated by Abdullah Yusuf Ali, Published by Sheikh Muhammad Asharaf, Lahore

४—तमिल-ग्रन्थ

१२७ तमिल तथा तमिलर (तमिलम् तमिलरम्), प्रथम संकरण, १९५३ ई०, ले०—एम० ई० बीरबाहु पिल्ले तथा एस० ए० रामास्वामी, प्रकाशक—ओट्र मई आफिस, मद्रास।

५—हिन्दी-ग्रन्थ

१२८ अजातशत्रु, तेरहवाँ संस्करण, २००८ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, प्रयाग।

१२९. आधुनिक साहित्य, प्रथम संस्करण, २००७ वि०, ले०—नन्ददुलारे बाजपेयी, प्रकाशक—भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग।

१३० आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, ले०—डा० नगेन्द्र, प्रकाशक—गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

१३१. आधुनिक कवि (भाग १), तृतीय संस्करण, २००३ वि०, ले०—महादेवी वर्मा, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

१३२. आधुनिक कवि (भाग २), तृतीय संस्करण, २००३ वि०, ले०—सुमित्रानन्दन पंत, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

१३३. आधुनिक मनोविज्ञान, प्रथम संस्करण, २००५ वि०, ले०—लालजीराम शुक्ल, प्रकाशक—साहित्य भवन कार्यालय, काशी।

१३४. आकाश-दीप (कहानी संग्रह), चतुर्थ संस्करण, २००७ वि०, ले०—जयशंकर प्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग।

१३५. आँसू, नवम संस्करण, २००६ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, प्रयाग।

१३६. आँधी (कहानी-संग्रह), चतुर्थ संस्करण, २००७ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग।

१३७. आर्य-संस्कृति के मूलाधार, प्रथम संस्करण, १९४७ ई०, ले०—बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक—शारदा मंदिर, बनारस।

१३८ आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व, प्रथम संस्करण, १९५३ ई०, ले०—सत्यव्रत सिद्धान्त-लकार, प्रकाशक—विजयकृष्ण लखनपाल, विद्या-विहार, देहरादून।

१३९ इरावती, तृतीय संस्करण, २००६ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, प्रयाग।

१४०. इन्द्रजाल (कहानी-संग्रह), तृतीय संस्करण, २००७ वि०, ले०—जयशंकर प्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग।

१४१. उद्धवशतक, १९१९ ई०, ले०—जगन्नाथदास 'रत्नाकर', प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग।

१४२. एक घूँट, द्वितीय संस्करण, १९९६ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भण्डार, प्रयाग।

१४३. कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पाँचवाँ संस्करण, १९५० ई०, ले०—रामनाथ 'सुमन', प्रकाशक—छात्र-हितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग।

१४४. करुणालय, द्वितीय संस्करण, १९८५ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भण्डार, बनारस सिटी।

१४५. कवि और काव्य, प्रथम संस्करण, १९३६ ई०, ले०—शान्तिप्रिय द्विवेदी, प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग।

१४६. कवि प्रसाद—आँसू तथा अन्य कृतियाँ, प्रथम संस्करण, २००१ वि०, ले०—विनयमोहन शर्मा, प्रकाशक—शिवाजी प्रकाशन मन्दिर, लखनऊ।

१४७. कबीर-ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, २००८ वि०, सम्पादक—डा० श्यामसुन्दरदास, प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

१४८. कबीर का रहस्यवाद, चौथा संस्करण, १९४१ ई०, ले०—डा० रामकुमार वर्मा, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

१४९ कला और संस्कृति, प्रथम संस्करण, १९५२ ई०, ले०—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।
१५०. कंकाल, सप्तम संस्करण, २००९ वि० ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भण्डार, प्रयाग।
१५१ कानन-कुसुम, चतुर्थ संस्करण, १९९६ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, बिहार।
१५२ कामना, चतुर्थ संस्करण, २००७ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भण्डार, प्रयाग।
१५३ कामायनी, अष्टम् संस्करण २००९ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
१५४ कामायनी-अनुशीलन, प्रथम संस्करण, २००२ वि० ले०—रामलालसिंह, प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
१५५ कामायनी-दर्शन, प्रथम संस्करण, १९५३ ई०, ले०—कन्हैयालाल सहल तथा विजयेन्द्र स्नातक, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
१५६ कामायनी सौन्दर्य, द्वितीय संस्करण, २०१० वि०, ले०—डा० फतहसिंह, प्रकाशक—मुनि विनयसागर साहित्याचार्य, सुमति सदन, कोटा (राजस्थान)।
१५७ कामायनी और प्रसाद की कविता-गंगा, प्रथम संस्करण, १९५४ ई०, ले०—शिवकुमार मिश्र, प्रकाशक—रवि प्रकाशन, कानपुर।
१५८ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, चतुर्थ संस्करण, २०१० वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
१५९. काव्यदर्पण, प्रथम संस्करण, २००४ ई०, ले०—रामदहिन मिश्र, प्रकाशक—ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर।
१६० काव्य के रूप, प्रथम संस्करण, २००४ वि०, ले०—बा० गुलाबराय, प्रकाशक—प्रतिभा प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली।
१६१ चन्द्रगुप्त, अष्टम् संस्करण, २००९ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, भारती भंडार, प्रयाग।
१६२ चित्राधार, द्वितीय संस्करण, १९८५ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—साहित्य सरोज कार्यालय, बनारस सिटी।
१६३ चिन्तामणि (भाग १), द्वितीय संस्करण, १९४० ई०, ले०—रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
१६४ चिन्तामणि (भाग २), प्रथम संस्करण, २००२ वि०, ले०—रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक—सरस्वती मन्दिर जतनबर, काशी।

१६५. छाया (कहानी-सग्रह), चतुर्थ संस्करण, २०१० वि०, ले०—जयशङ्करप्रसाद, प्रकाशक—भारती भडार, लीडर प्रेस, प्रयाग ।

१६६. छायावाद का पतन, प्रथम सस्करण, १६४८ ई०, ले०—डा० देवराज, प्रकाशक—वाणी-मन्दिर प्रेस, छपरा ।

१६७. छायवाद युग, १६५२ ई०, ले०—डा० शम्भुनाथसिंह, प्रकाशक—सरस्वती मन्दिर, बनारस ।

१६८. छन्द प्रभाकर, पचम मस्करण, १६७६ वि०, ले०—जगन्नाथप्रसाद 'भानु', बिलासपुर ।

१६९. जनमेजय का नागयज्ञ, षष्ठ संस्करण, २००६ वि०, ले—जयशङ्करप्रसाद, प्रकाशक—भारती भडार, लीडर प्रेस, प्रयाग ।

१७०. जयशङ्करप्रसाद, प्रथम संस्करण, १६६७ वि०, ले०—नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक—भारती भडार, लीडर प्रेस, प्रयाग ।

१७१. जायसी-ग्रन्थावली, तृतीय सस्करण, २००३ वि०, सम्पादक—रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

१७२. झरना (कविता-संग्रह), पंचम सस्करण, २००४ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग ।

१७३ तितली, छठा सस्करण, २००८ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, प्रयाग ।

१७४ दर्शन-दिग्दर्शन, द्वितीय सस्करण, १६४७ ई०, ले०-राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—किताब महल, प्रयाग ।

१७५. देवी भागवत (हिन्दी), प्रथम सस्करण, १६४१ ई०, अनुवाद—भगवानदास अवस्थी, प्रकाशक—ज्ञानलोक, प्रयाग ।

१७६. ध्रुवस्वामिनी, आठवाँ सस्करण, २००५ वि०, ले०—जयशंकर-प्रसाद, प्रकाशक—भारती भडार, प्रयाग ।

१७७. पल्लव, पाँचवाँ सस्करण, २००५ वि०, ले०—सुमित्रानन्दन पत, प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग ।

१७८ प्रगतिवाद, प्रथम सस्करण, १६४६ ई० ले०—शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशक—प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद ।

१७९. प्रतिध्वनि (कहानी-सग्रह), चतुर्थ सस्करण, २००७ वि०, ले०—जयशंकर प्रसाद, प्रकाशक—भारती भडार, लीडर प्रेस, प्रयाग ।

१८०. प्रसाद और उनका साहित्य, १६४० ई०, ले०—विनोदशंकर व्यास, प्रकाशक—शिक्षा सदन, काशी ।

१८१. प्रसाद का जीवन और साहित्य, ले०—डा० रामरतन भटनागर,

प्रकाशक—रघुनाथ सिंह, राजधानी प्रकाशन, मालीवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली।

१८२. प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व, १९५५ ई०, सम्पादक—महावीर अधिकारी, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

१८३. प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन, २००२ वि०, ले०-किशोरीलाल गुप्त, प्रकाशक—साहित्य-रत्नमाला कार्यालय, बनारस।

१८४ प्रसादजी की कला, सम्पादक—बा० गुलाबराय, प्रकाशक—साहित्य-रत्न भंडार, आगरा।

१८५ प्रबन्ध-प्रतिमा, १९९७ वि०, ले०—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रकाशक—भारती भंडार, प्रयाग।

१८६. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, १९५३ ई०, ले०—डा० रांगेय राघव, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

१८७ प्रिय-प्रवास, पंचम संस्करण, ले०—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', प्रकाशक—खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर।

१८८ प्रेम-पथिक, १९७०, वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, प्रयाग।

१८९. बिहारी-रत्नाकर, द्वितीय संस्करण, १८९४ वि०, टीकाकार—श्रीजगन्नाथ दास 'रत्नाकर', प्रकाशक—गङ्गा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।

१९० भारतीय साहित्य-शास्त्र, द्वितीय खंड, २००५ वि०, ले०—बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक—प्रसाद परिषद्, काशी।

१९१. भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा, संशोधित संस्करण, १९५६ ई०, ले०—डा० गुलाबराय, प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर।

१९२. भारतीय संस्कृति, द्वितीय संस्करण, २००० वि०, ले०—शिवदत्त शर्मा, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

१९३ भारत की प्राचीन संस्कृति, १९४८ ई०, ले०— रामजी उपाध्याय, प्रकाशक—किताब महल, प्रयाग।

१९४ भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, १९५२ ई०, ले०—बी० एन० लूनिया, प्रकाशक—लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

१९५ भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास (प्रथम भाग), १९५२ ई०, ले०—सत्यकेतु विद्यालंकार, प्रकाशक—सरस्वती सदन, मंसूरी।

१९६. भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, द्वितीय संस्करण, १९५० ई०,

लें०—डा० न० कि० देवराज तथा डा० रामानन्द तिवारी, प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग ।

१९७. भारतीय दर्शन, १९४२ ई०, ले—बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक—प० गौरीशंकर उपाध्याय, काशी ।

१९८. भाषा-विज्ञान, तृतीय संस्करण, २००४ वि०, ले०—डा० श्यामसुन्दरदास, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग ।

१९९. महाराणा का महत्व, तृतीय संस्करण, २००५ वि०, ले०—जयशंकरप्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।

२००. मत्स्यपुराण—हिन्दी संस्करण, २००३ वि०, अनुवादक-श्रीरामप्रताप त्रिपाठी, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

२०१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, द्वितीय संस्करण, १९४४ ई०, संकलन कर्त्ता—गंगाप्रसाद पांडेय, प्रकाशक—इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ।

२०२. मनोविज्ञान, हिन्दी संस्करण, १९५५ ई०, मूल ले०—डा० यदुनाथ सिन्हा, अनुवादक—डा० गोवर्द्धनप्रसाद भट्ट, प्रकाशक—लक्ष्मीनारायण एण्ड संस, आगरा ।

२०३. मनोविज्ञान, हिन्दी संस्करण, १९५२ ई०, मूल ले०—राबर्ट, एस० वुडवर्थ, अनुवादक—उमापति राय चंदेल तथा डा० गोवर्द्धनप्रसाद भट्ट, प्रकाशक—दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, लखनऊ ।

२०४ माध्यमिक भौतिक विज्ञान, चतुर्थ संस्करण, १९५६ ई०, ले०—डा० बनारसीलाल कुलश्रेष्ठ, प्रकाशक—आगरा बुक स्टोर, आगरा ।

२०५. मानव की कहानी (भाग १), १९५१ ई०, ले०—रामेश्वर गुप्त, प्रकाशक—चेतनागार ब्यावर, राजस्थान ।

२०६. मीराबाई की पदावली, द्वितीय संस्करण, २००१ वि०, सम्पादक—परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

२०७. मेरे निबन्ध—जीवन और जगत, १९५५ ई०, ले०—बा० गुलाबराय, प्रकाशक—गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा ।

२०८. यूरोपीय दर्शन, द्वितीय संस्करण १९५२ ई०, ले० म० म० रामावतार शर्मा, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।

२०९. योगवाशिष्ठ—वैराग्य और मुमुक्षु प्रकरण, हिन्दी संस्करण १९९७ वि०, प्रकाशक—वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, बम्बई ।

२१०. रसज्ञरंजन, तृतीय संस्करण १९३८ ई०, ले०—महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—साहित्यरत्न भंडार, आगरा ।

२११. रहस्यवाद और हिन्दी कविता, २०१३ वि०, ले०—बा० गुलाबराय

तथा डा० शम्भुनाथ, प्रकाशक—सरस्वती पुस्तक-सदन, आगरा।

२१२ राज्यश्री, सातवाँ संस्करण, २००७ वि०, ले०—जयशंकर प्रसाद, प्रकाशक—भारती भंडार, प्रयाग।

२१३ रामचरितमानस (मूल गुटका), १९९९ वि०, ले०—गोस्वामी तुलसीदास, प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर।

२१४ रूपक-रहस्य, १९८८ वि०, ले०—डा० श्यामसुन्दरदास, प्रकाशक—इंडियन प्रेस, प्रयाग।

२१५ लहर (कविता-संग्रह), तृतीय संस्करण २००४ वि०, ले०—जयशंकर प्रसाद प्रकाशक—भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग।

२१६ लोक-जीवन और साहित्य १९५५ ई०, ले०—डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशक—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

२१७ वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, २००८ वि०, ले०—रामनरेश वर्मा, प्रकाशक—ज्ञानमंडल, काशी।

२१८ वायुपुराण, हिन्दी संस्करण, २००८ वि०, अनुवादक—रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री, प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

२१९ विशाख, पंचम संस्करण, २००४ वि०, ले०-जयशंकर प्रसाद, प्रकाशक-भारती भंडार, प्रयाग।

२२० विजनवती, १९३७ ई०, ले०—इलाचन्द्र जोशी, प्रकाशक—अंचना मंदिर, बीकानेर।

२२१ विवेचना (लेख संग्रह), द्वितीय संस्करण, २००७ वि०, ले०-इलाचन्द्र जोशी, प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

२२२ विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास, १९५१ ई०, मूल लेखक—सर डब्ल्यू० सी० डैंपियर, अनुवादक—प्रो० कृष्णानन्द द्विवेदी, प्रकाशक—युग प्रकाशन, दिल्ली।

२२३ विज्ञान हस्तामलक, १९३६ ई०, ले०—रामदास गौड़, प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग।

२२४ विज्ञान के चमत्कार, द्वितीय संस्करण, १९४७ ई०, ले०—भगवती प्रसाद श्रीवास्तव, प्रकाशक—ज्ञानमंडल पुस्तक भंडार लि०, काशी।

२२५ साधना, हिन्दी संस्करण, ले०-रवीन्द्रनाथ टैगोर, अनुवादक-सत्यकाम विद्यालंकार, प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

२२६ साहित्य, द्वितीय संस्करण, १९४६ ई०, ले०—रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

२२७. साहित्य समालोचना, द्वितीय संस्करण, १९३८ ई०, ले०—

रामकुमार वर्मा, प्रकाशक—हिन्दी भवन, जालंधर—प्रयाग।

२२८. साहित्य और सौन्दर्य, ले०—डा० फतहसिंह, प्रकाशक—संस्कृति सदन, कोटा (राजस्थान)।

२२९. साहित्यालोचन, आठवाँ संस्करण २००५ वि०, ले०—डा० श्याम सुन्दरदास, प्रकाशक—इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।

२३०. सिद्धान्त और अध्ययन, द्वितीय संस्करण, २००६ वि०, ले०—बा० गुलाबराय, प्रकाशक—प्रतिभा प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली।

२३१. संचयन (महावीरप्रसाद द्विवेदी के लेखों का संग्रह), सं० कर्त्ता-प्रभात शास्त्री, प्रकाशक—साहित्यकार संघ, प्रयाग।

२३२. संस्कृति के चार अध्याय, १९५६ ई० ले०—रामधारीसिंह, 'दिनकर', प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली।

२३३. स्कंदगुप्त विक्रमादित्य, दसवाँ संस्करण, २००९ वि०, ले०—जयशंकर प्रसाद, प्रकाशक—भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।

२३४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सातवाँ संस्करण, २००८ वि०, ले०—पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस।

२३५. हिन्दी साहित्य में विविधवाद, २०१० वि०, ले०—डा० प्रेमनारायण शुक्ल, प्रकाशक—पद्मजा प्रकाशन, कानपुर।

२३६. हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, २०१० वि०, ले०—रवीन्द्रसहाय वर्मा, प्रकाशक—पद्मजा प्रकाशन, कानपुर।

२३७. हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्वितीय संस्करण, १९४४ ई०, ले०—हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

२३८. हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी, १९४५ ई०, ले०—नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक—इण्डियन बुक डिपो, लखनऊ।

२३९. हिन्दी साहित्य, १९५० ई०, ले०—डा० भोलानाथ, प्रकाशक—हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

२४०. हिन्दी काव्य-विमर्श, चतुर्थ संस्करण, १९५५ ई०, ले०—बाबू गुलाबराय, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

२४१. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, २००५ वि०, ले०—डा० भगीरथ मिश्र, प्रकाशक—लखनऊ विश्वविद्यालय।

२४२. हिन्दी कविता में युगान्तर, १९५० ई०, ले०—डा० सुधीन्द्र, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

२४३. हिन्दी विश्वकोष, १९३० ई०, सम्पादक-नगेन्द्रनाथ वसु, कलकत्ता।

२४४ हिन्दी ध्वन्यालोक, १९५२ ई०, व्याख्याकार-आचार्य विश्वेश्वर, सम्पादक—डा० नगेन्द्र, प्रकाशक—गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

२४५ हिन्दुत्व, १९९५ वि०, ले०—रामदास गौड, प्रकाशक— सेवा उपवन, काशी।

२४६ हिन्दू-सभ्यता, प्रथम संस्करण १९५५ ई०, मूल ले०—डा० राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवाद—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

६—अँग्रेजी ग्रन्थ

247 A Constructive Survey of Upnisadic Philosophy (1926), by R G Ranade, Oriental Book Agency, Poona

248 A History of Indian Literature Vol. I (1927), by M Winternitz, Calcutta University Press, Calcutta

249 A History of Aesthetic (1949), by Bernard Bosanquet, George Allen and Unwin Ltd, London

250. A History of Philosophy (1955), by Frank Thilly, Central Book Depot, Allahabad

251 A Treasury of Science (1954), Edited by Harlo Shapley Samual Raport and Helen Right, Angons and Roberson, London Sidney

252 A Vedic Reader (1954), by A N Macdonell, Geoferey Cumberlege, Oxford University Press, London.

253 Abhinavagupta—A Study of History and Philosophy (1935), by Dr. K C Pandey Chowkhamba Sanskrit Series Benaras

254 An Introduction to the Study of Literature (1935), by W. M Hudson, Harrap & Co, London

255 Appreciations (1931), by Walter Pater, Macmillan & Co, Ltd London

256 Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art (1911), by S H Butcher, Dover Publications, London

257 Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion, Geography, History and Literature (1928), by John Dowson

258 Collected Works of Sir R G Bhandarkar Vol II

(1928), edited by Narayan Bapuji Utgikar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

259 Collected Works of Sir R. G Bhandarkar, Vol. IV (1929), edited by Narayan Bapuji Utgikar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona

260. Collected Essays in Literary Criticisim (1938), by Herbert Read, Faber and Faber Ltd, London

261 Countries of the Mind, Second Series, London.

262 Dr. D C. Kunhan Raja Presentation Volume (1946), Adyar Library, Madras

263. Encyclopaedia Britanica (1768), Encyclopaedia Britanica Ltd., London, Chicago, Toronto.

264. Encyclopaedia of Social Science (1935), The Macmillan Co., New York.

265 History of Western Philosophy (1947), by B Russel, George Allen & Unwin Ltd., London.

266 History of Philosophy—Eastern and Western, Vol I (1932), Chief Editor—Dr. S. Radhakrishnan, George Allen & Unwin Ltd., London.

267 Historical Introduction to Modern Psychology (1949), by G Murphy, Routledge & Kegan Paul Ltd , London.

268. Judgment in Literature (1951) by W. Basil Worsfold, J M Dent & Sons Ltd., London

269. Kashmir Shaivaism Part I. (1914), by J C. Chatterjee, The Research Department Jammu & Kashmir State, Srinagar

270 Medieval English Literature (1942), by W P. Ker, Oxford University Press, London.

271. Mind and Matter (1931), by Stout, Cambridge University Press, London

272. Myth of Ancient Greece and Rome, by E. M Barens, Blackie & Sons Ltd., London

273. Oxford Lectures on Poetry (1950), by A. C. Bradley, Macmillan & Co. Ltd. London.

274. Poetics (1949), by Aristotle, Everyman's Library Series New York.

275 Principles of Literary Criticism (1947), by I A. Richards, Kegan Paul Trench Trabner & Co Ltd, London

276 Practical Criticism (1949) by I A. Richards, Routledge & Kegan Paul Ltd, London

277 The Theory of Drama (1931), by A. Nicol, George G Harrap & Co Ltd, London

278 The Idea of Great Poetry, by L. Abercrombe Martin Secker Adelphi

279 The Epic (1922), by L. Abercrombe, Martin Secker, Adelphi

280 The Idea of God in Saiva Siddhanta (1955), by T M P Mahadevan, Annamalai University

281 The Chief Currents of Contemporary Philosophy (1950), by Dhirendra Mohan Dutt, Calcutta University

282 The Principles of Philosophy (1944), by H M Bhattacharya Calcutta University

283 The Flood Legend in Sanskrit Literature (1950), by Surya Kanta Shastri S Chand & Co, Delhi

284 The Vedic Age (1951), edited by R C Majumdar, George Allen & Unwin Ltd, London

285 The Mystery of the Mahabharat (1931), by N V Thadani Bharat Publishing House, Karachi

286 The Religion and Philosophy of Vedas and Upnisads (1925), by A. B Keith, Herberd University Press London

287 The Sivadvait of Srikantha (1930), by S S Suryanarayana Sastri, University of Madras

288 Theory of Aesthetic (1909) by Benedetto Croce, translated by Douglas Ainslie Macmillan and Co Ltd, London

289 Vedic India (1915), by Z. A. Ragozin T Fisher Unwin Ltd, London

पत्र-पत्रिकाएँ

१. इन्दु, १९६६ वि० से १९७१ वि० तक, इन्दु कार्यालय, बनारस।
२. आलोचना, १९५३ ई०, त्रैमासिक—आलोचना राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
३. कल्याण—उपनिषद् अंक, जनवरी १९४९ ई०, गीता प्रेस, गोरखपुर।
४. कल्याण—संक्षिप्त मार्कण्डेय-ब्रह्मपुराण अंक, १९४७ ई०, गीता प्रेस, गोरखपुर।
५ कल्याण—हिन्दू-संस्कृति-अंक, जनवरी १९५० ई०, गीता प्रेस, गोरखपुर।
६ कल्याण—वेदांत-अंक, अगस्त १९३६ ई०, गीता प्रेस, गोरखपुर।
७. कल्याण—शिवांक, अगस्त १९३३ ई०, गीता प्रेस, गोरखपुर।
८. कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, १९८५ वि०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस।
९ गंगा-वेदांक, जनवरी १९३२ ई०, गंगा कार्यालय, कृष्णगढ़, सुल्तानगंज भागलपुर।
१०. जागरण, १९३२ ई०, जागरण कार्यालय, काशी।
11. The Vision, July 1955, Anandashrama, P.O Kanhangad, S. India.
१२. नई धारा, २००३ वि०, अशोक प्रेस, पटना।
१३ साप्ताहिक आज, २००० वि०, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।
१४. सरस्वती, १९१४ ई०, सरस्वती कार्यालय, प्रयाग।
१५. सुधा, १९२८ ई०, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।
१६. हिमालय (मासिक), २००३ वि०, पुस्तक भण्डार, हिमालय प्रेस, पटना।
१७ हंस, १९३९ ई०, सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी।

—: • :—